VIDYA BHARATI LIBRARY S N.....

* ओ३म् *

सामवेदसंहिता

भाषा-भाष्य

भाष्यकार

श्री पण्डित जयदेव शर्मा,

विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ.

प्रकाशक

आर्य्यसाहित्यमण्डल, लिमिटेड अजमेर.

मुद्रक—

श्रीदुर्गा प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर.

द्वितीयावृत्ति २०००	सं० १९८८ वि०	मूल्य ४) रुपये

आर्य्य साहित्यमण्डल, लिमिटेड अजमेर के
लिये सर्वाधिकार सुरक्षित,



श्री बाबू दुर्गाप्रसाद अध्यक्ष के प्रबन्ध से
श्रीदुर्गा प्रिंटिङ्ग प्रेस, धानमण्डी,
अजमेर में मुद्रित.

BHARATIYA VIDYA BHAVAN LIBRARY S N ....

॥ ओ३म् ॥

सामवेद भाष्य के प्रथम संस्करण की

भूमिका

तमिद् वर्धन्तु नो गिरो वत्सं संशिश्वरीरिव ।
य इन्द्रस्य हृदं सनिः ॥ सामवेद १३३६ ॥

तं धेनवो वत्समिवासृताभिमवस्य हार्दं महिमानमेशम् ।
गिरो गुरारायतमस्य नित्यं निषीयमाना विदुषरपुष्यन् ॥

(१)

वेद मानव जाति के ईश्वरप्रदत्त धर्मशास्त्र हैं । वे संख्या में चार हैं । ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद । सृष्टि के आदि में अग्नि वायु आदित्य और अंगिरा इन चार ऋषियों के हृदय में परमात्मा ने उक्त चार संहिताओं का प्रकाश किया । सृष्टि का आरम्भ हुए आर्य ज्योतिषियों की गणना के अनुसार १९६०८५३०२६ वर्ष बीत गये हैं, तदनुसार वेदों को उत्पन्न हुए भी इतने ही वर्ष बीते समझने चाहिये । इसका स्पष्ट विवरण महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेदोत्पत्ति प्रकरण में किया है । चारों वेदों के चार ही विषय हैं (१) विज्ञान, (२) कर्म, (३) उपासना और (४) ज्ञान । ईश्वर से लेकर तृण पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान 'विज्ञान' शब्द से कहा जाता है । कर्म दो प्रकार का है एक मोक्षसाधना और दूसरा इह लोक के व्यवहारों की साधना । ईश्वर की स्तुति और आत्मसाक्षात्कार पूर्वक ईश्वरप्रणिधान करना उपासना कहाती

है। ज्ञानकाण्ड में ईश्वर, प्रकृति और जीव विषयक विशेष ज्ञान का विवरण है। इन चार विषयों का विशेष रूप से चार वेदों में वर्णन किया गया है। जिसपर विशेष विस्तार से ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में महर्षि दयानन्द ने 'वेदविषयविचार' विषय में बहुत विचार किया है। इस ग्रंथ में उपासना विषय को दर्शाने वाले ग्रन्थ "सामवेद" का ही भाष्य प्रस्तुत किया गया है जिससे भक्तिरस के पिपासु जन उपनिषदों और सूरदास कबीर एवं भागवत आदि ग्रन्थों में जो भक्तिरस प्राप्त करते हैं उससे भी अधिक और स्वच्छ परमार्थदर्शक भक्तिरस का लाभ सामवेद में प्राप्त करें। भाष्य पढ़ने के पूर्व पाठकों के समक्ष हम भाष्य से सम्बद्ध अन्य विषयों पर प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं इसलिये यह भूमिका लिखने का प्रयास है।

(२) सामवेदसंहिता

प्रकाशित सामवेद संहिताओं में से हमारी दृष्टि में प्रामाणिक पांच संहिताएं ही आई हैं.—

(१) *सायणभाष्यसहित सामवेदसंहिता श्री सत्यव्रतसामश्रमी द्वारा* प्रकाशित जिसको बंगाल एशियाटिक सासायटी ने १८७६ ई० में प्रकाशित किया।

(२) सायणभाष्यसहित सामवेद संहिता जिसको श्री जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य ने १८९२ ई० में प्रकाशित किया।

(३) अजमेर नगर से श्रीमती परोपकारिणी सभा ने मूलमात्र सामवेद संहिता प्रकाशित की है।

(४) श्री पं० तुलसीरामजी मेरठ निवासी ने मेरठ से अपने भाषा और संस्कृत भाष्य सहित प्रकाशित की है।

(५) रेव० जे० स्टीवन्सन ने लण्डन से एक सामसंहिता प्रकाशित की है। बनारस निवासी श्री पं० कृपाराम शर्मा ने भी एक सामवेद

संहिता प्रकाशित की, परन्तु उसको हमने अपनी गणना में नहीं रक्खा और विशेषता न होने से उस पर विचार भी नहीं किया। उक्त पाचों प्रकाशित संहिताओं में अपनी २ विशेषता है। रेव० जे० स्टीवन्सन की छापी संहिता में अरण्य काण्ड और महानाम्नी आर्चिक का भाग नहीं है शेष सभी संहिताओं में उक्त दोनों भाग हैं। उक्त रेवरेण्ड महोदय ने अपनी संहिता में वे भाग क्यों नहीं समावेशित किये उसका विशेष कोई कारण उल्लेख नहीं किया। इसका उचित कारण यही प्रतीत होता है कि पंडित स्टीवन्सन ने राणायनीय शाखा के पाठानुसार ही संहिता का प्रकाश किया है। परन्तु भारतवर्ष में तीन शाखाओं का अधिक प्रचार है कौथुम शाखा गुजरात में, जैमिनीय शाखा कर्नाटक में और राणायनीय शाखा महाराष्ट्र में प्रचारित है। परन्तु क्योंकि चतुर्वेदभाष्यकार सायण के भाष्य सहित सामवेद संहिता में ये भाग उपलब्ध हैं इसलिये इन भागों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस कारण इन भागों को हमने भी अपने भाष्य में रक्खा है। यहां यह कहना भी अप्रासंगिक नहीं है कि चतुर्वेदानुवादकार प० ग्रीफिथ ने भी इस अंश को अपने अनुवाद में स्थान नहीं दिया; क्योंकि वे भी स्टीवन्सन के अनुयायी हैं।

पं० जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य ने अपने प्रकाशित सायण भाष्य में इसको स्थान दिया है। इस प्रकार ऐशियाटिक सोसायटी के सायणसामग्री के सम्पादित सायण भाष्य में भी उक्त दोनों खण्डों को स्थान प्राप्त है।

(३) शाखाभेद

अथर्ववेद परिशिष्ट के चरणव्यूह प्रकरण में इस प्रकार लिखा है-

(१) "तत्र सामवेदस्य शाखासहस्रमासीत्। अनध्यायेष्वधीयाना सर्वे ते शक्रेण विनिहता [प्रावेशीना:]।

(२) तत्र केचिदशिष्टाः प्रचरन्ति । तद् यथा—राणाय नीया., साद्य [त्य] मुग्रा कालापा ,महाकालापा कौथुमा , ला ङ्गलिकाश्चेति । कौथुमानां षड्भेदा भवन्ति । तद् यथा—सारा. यणीया वातरायणीयाः वैतधृताः प्राचीनास्तैजसा. अनिष्ट. काश्चेति ।

अर्थात्—सामवेद की हजार शाखाएं थीं । लोग उनको अनध्याय के दिनों में भी पढ़ते थे, अतः इन्द्र ने उन सबका विनाश कर दिया । कुछ शाखाएं बची हैं जैसे राणायनीय, साद्य[त्य]मुग्र, कालाप महाकालाप, कौथुम, और लाङ्गलिक । इनमें से कौथुम शाखा के छ भेद हैं सारायणीय, वातरायणीय वैतधृत, प्राचीनतैजस, और अनिष्टक ।

चरणव्यूह के इस लेख से अन्य व्यूहों में कुछ भेद भी है जैसे—चरणव्यूह दर्शाते हुए वाचस्पत्य बृहदभिधान और शब्दकल्पद्रुम में लिखा है कि

'सामशाखाभेदा यथा—आसुरायणीयाः, वासुरायणीया, वार्त्तान्तवेया, प्राञ्जलाः, ऋग्वर्णभेदा, प्राचीनयोग्या., ज्ञान योग्या, राणायनीयाश्च। राणायनीयानाञ्च भेदा, राणायनीया, शाट्यायनीया (शावायनीया शाट्यमुग्रिया इति वा) पारायणीया, सात्यवला, सात्यद्रवा इति वा) मौद्गला खल्वला महाखल्वला कौथुमा. जैमिनीयाश्च।"

अर्थात् इसके अनुसार आसुरायणीय, वासुरायणीय, वार्त्तान्तवेय, प्राञ्जल, ऋग्वर्णभेद, प्राचीन योग्य, ज्ञानयोग्य, राणायनीय ये आठ मुख्य भेद हैं जिनमें से राणायनीय शाखा के पुनः नव भेद हुए, जैसे राणायनीय शाट्यायनीय, (शावायनीय या शाट्यमुग्रिय,) पारायणीय, सात्यवल या सात्यद्रव, मौद्गल, खल्वल और महाखल्वल, कौथुम और जैमिनीय ।

इसके अतिरिक्त सामवेद का और शाखाभेद कैसे और कब हुआ इस विषय में विष्णुपुराण में उक्त शाखाओं के नामों से भी भिन्न २ नामों की सूचना मिलती है।

सामवेदतरो शाखा व्यासशिष्य स जैमिनि ।
क्रमण येन मैत्रेय विभेद शृणु नन्मम ॥
सुमन्तुस्तस्य पुत्रोऽभूद् सुकर्माऽस्याप्यभूत् सुत ।
अधीतवन्तावेकैका सहिता तौ महामुनी ॥
सहस्र सहितामेद सुकर्मा तत्सुतस्तत ।
चकार न च सच्छिष्यौ जगृहाते महाव्रतौ ॥
हिरण्यनाभि कौशल्य पाष्यञ्जिश्च द्विजोत्तम ।
उदीच्या सामगा शिष्या तस्य पञ्चशता स्मृता ॥
हिरण्यनाभात्तावन्य सहिता यैर्द्विजोत्तम ।
गृहीतास्तेऽपि चोच्यन्ते पण्डितै प्राच्यसामगा ॥
लाकाक्षि कुथुमिश्चैव कुषीदिर्लाङ्गलिस्तथा ।
पौष्यञ्जिशिष्यास्तद्भेदा सहिता बहुलीकृता ॥
हिरण्यनाभशिष्यश्च चतुर्विंशति संहिता ।
प्राचाच कृतिनामासो शिष्येभ्य सुमहामति ॥
तैश्चापि सामवेदोऽयो शाखाभेदैर्बहुलीकृत' ।

अर्थ- व्यासदेव के शिष्य जैमिनि ने शाखाओं का भेद इस क्रम से किया कि उनका पुत्र सुमन्तु हुआ। सुमन्तु का पुत्र 'सुकर्मा'। उन दोनों ने एक एक संहिता पढ़ी। सुकर्मा ने सहस्र संहिता भेद किये। उस के दो शिष्य हुए हिरण्यनाभि कौशल्य, और पौष्यञ्जि। लाकाक्षि, कुथुमि, कुशीदी और लाङ्गलि ये पौष्यञ्जि के शिष्य थे उनको 'उदीच्यसामग' कहते थे। और हिरण्यनाभ के पाच सौ शिष्य थे उनको 'प्राच्यसामग' कहते थ। हिरण्यनाभ का एक शिष्य कृति' नाम था, उसने अपने शिष्यों

को चौबीस संहिताओं का उपदेश किया। उसके शिष्य प्रशिष्यों ने भी सामवेद की बहुत शाखाएं करदीं।

इस उद्धरण में कुथुमि और लाङ्गलि ये दो नाम (अथर्व परिशिष्ट) चरणव्यूह के शाखाभेदों में भी आये हैं। प्राच्यसामग कदाचित् प्राचीन योग्य हों और शेष सब नाम नवीन ही हैं। यह पुराणप्रदर्शित शाखा भेद चरणव्यूह में कहे जैमिनीयशाखा के उपभेद को बतलाता है, परन्तु ऐसा अनुमान करने में यही बाधा है कि कौथुम और लाङ्गलशाखा स्वतन्त्र हैं वे जैमिनीय शाखा के भेद नहीं हैं। यह बाधा भी तब नहीं रहती जब भागवतपुराण प्रोक्त शाखाभेद पर दृष्टिपात करते हैं। उसमें पौष्यञ्जि के शिष्यों का नाम लागाक्षि माङ्गलि, कुल्य कुषीद और कुक्षि लिखा है। इसी प्रकार के नाम भेद से हम पुराणोक्त शाखा भेद विशेष विश्वास योग्य प्रतीत नहीं होता।

पुराण के उद्धरण से ऐसा भी प्रतीत होता है कि व्यासदेव के समय यह शाखाभेद नहीं था, जैमिनी के शिष्यों से ये शाखाभेद हुए। और जितने २ शिष्य उतनी २ शाखाएं हो गईं। इसका तात्पर्य यही है कि गुरुभेद से शाखाभेद हुआ अर्थात् गुरुओं की प्रतिभा-भेद से शाखाओं में यत्किंचित् भेद हो जाने से ही शाखाभेद हो गया। उनमें बहुतसी शाखाएं लुप्त हो गईं। क्यों ? चरणव्यूह ने तो उनका कारण यही दर्शाया कि अनध्याय के दिनों में विद्यार्थियों ने पढ़ना शुरू किया, इससे कुपित इन्द्र ने वज्र से उन शाखाध्यायियों का विनाश किया। अन्धविश्वासी लोग इस कथा पर विश्वास करने में संकोच अनुभव न करेंगे। परन्तु इसका गूढ़ार्थ यही है कि सामवेद का स्वाध्याय गुरुपरम्परा से लोप हो गया और विनोद या गायनमात्र समझकर विद्यार्थीगण अनध्याय के दिनों में सामगान सीखने आते हों। इस पर गुरु या आचार्यों ने अपने सामवेद को गौण विषय बनते देख, अपने वेद का अपमान जान शिष्यों

को देना बंद कर दिया हो और इस प्रकार मुख्य शिष्यों के अभाव से वे शाखाएं या कालान्तर में गुरु परम्परा से खण्डित हो गई हों। वैदिक युग में इन्द्र और गुरु शब्द पर्यायवाची थे, इसी आधार पर यह कथा गढ़ी गई प्रतीत होती है।

इसी प्रसंग में हम यह भी कह सकते हैं कि शेष शाखाओं के यद्यपि नाम भी लुप्त से हो गये हैं तो भी उनका कुछ आभास उपलब्ध नामों के साहचर्य से पा सकते हैं। जैसे पाणिनि व्याकरण के पैलादिगण (२ । ४ । ५६) में राणि, शब्द का पाठ है । अपत्यार्थ में 'फिञ्' प्रत्यय करने से 'राणायनि' ऐसा प्रयोग होता है । यह एक साम शाखा का प्रवर्त्तक हुआ है उसी प्रकार पैल ऋक्शाखा का प्रवर्त्तक हुआ। इस गण में पठित और भी कितने ही नाम हैं वे भी अन्य शाखाप्रवर्त्तक होने सम्भव हैं। उसी प्रकार तौल्वलादि गण, (२ । ४ । ६१) यस्कादि (२ । ४ । ६३) गोपवनादि (२ । ४ । ६७) तिकाकितवादि (२ । ४ । ६८) उपकादि (२ । ४ । ६९) गण भी दर्शनीय हैं। उन गणों में भी नाना वेदशाखा प्रवर्त्तकों के नाम हैं। इसी प्रकार शार्ङ्गरवादि (४ । १ । ७३) क्रौडनादि (४ । १ । ८०) अश्वपत्यादि (४ । १ । ८४ उरसादि (४ । १ । ८६) विदादि (४ । १ । १०४) गर्गादि (४ । १ । १०५) तिकादि (४ । १ । १५४) गहादि (४ । २ । १३८) शौनकादि (४ । ३ । १०६) रैवतिकादि (४ । ३ । १३१) गण हैं उन में नाना शाखा प्रवर्त्तकों के नाम आते हैं। सात्यमुग्रि आदि शुद्ध नाम भी व्याकरण सूत्रों में प्राप्त हैं उनके सहयोग में अन्य नामों की भी संगति का अन्वेषण कर लेना चाहिये।

(४) साम-ब्राह्मण

उक्त शाखाभेद पर विचार करने से यह बात भी स्पष्ट होती है कि गुरु प्रवचन भेद से ही यह शाखाभेद हो गया है । परन्तु इससे ऐसा प्रतीत नहीं होता कि सामवेद की शाखाभेद से सामसंहिता में भेद हुआ

हो। क्योंकि परम्परा से मूलसंहिता एक ही थी और जैमिनि, कौथुम और राणायनीयादि का ब्राह्मण भी छान्दोग्य एक ही है। इसी मुख्य ब्राह्मण के प्रथम पच्चीस अध्यायों का प्रौढ़ ब्राह्मण, बीच के पाच ब्राह्मणों को अद्भुत या षड्विंश ब्राह्मण और शेष दश अध्यायों का नाम छान्दोग्य उपनिषद् है। इस उपनिषद् भाग में भी प्रथम दो अध्याय 'मन्त्र ब्राह्मण' कहात हैं और आर्षेय, सामविधान, देवताध्याय, वंश, संहितोपनिषत् आदि नामों स प्रसिद्ध ब्राह्मण अनुब्राह्मण नाम स प्रसिद्ध हैं, इसी महाब्राह्मण को कौथुम शाखा में ताण्डय महाब्राह्मण नाम से पुकारा जाता है।

(५) साम-संहिता

बहुतसे विद्वानों का मन्तव्य है कि सामवेद मूल केवल ७५ मन्त्रों का ही है। और शेष समस्त मन्त्र ऋग्वेद से ही संगृहीत हैं, अत उनका ग्रहण ऋग्वेद से ही हो जाता है। यह उनका कथन तभी ठीक हो सकता है जब कि ऋग्वेद और सामवेद दोनों संहिताओं का प्रयोजन एक ही हो। परन्तु यदि प्रयोजन भिन्न २ हैं तो संहिता में समानता होने पर भी उनका पृथक् २ होना आवश्यक है।

सामवेद के दो भाग हैं एक पूर्वार्चिक भाग और दूसरा उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक के साथ ही महानाम्नी आर्चिक भी संयुक्त ही समझी जाती है। पूर्वार्चिक में ग्रामगेय गान और आरण्यक गान दो भाग हैं। ग्रामगेय गान का तात्पर्य यह है कि वे सामगान जो जनसमूह में गान किये जायें। आरण्यक गेय गान जो वन के परिव्राजक, मुमुक्षुमार्ग पर जीवन बिताने वाले तपस्वी यति लोग गान करें। इसके अतिरिक्त 'महानाम्नी' आर्चिक में शक्वरी छन्द का उपसर्ग पदों के साथ रक्खा है यह भी विशेष गायन रीति का निदर्शक है। इसके बाद उत्तरार्चिक में ऊहगान और ऊह्यगान का प्रतिपादन है जो एक मन्त्र के गान के अतिरिक्त दो, तीन, चार, पाच, छ ऋचाओं का एक गान है।

वास्तव में देखा जाय तो "गीतिषु सामाख्या" (जैमिनीय मीमांसा सूत्र) गान की रीति का नाम ही साम है परन्तु बिना छन्दोमय ऋचाओं के गान किस आधार पर वास कर। वह ऋचाओं में ही निवास करेगा। इसी लिये वेदों के सिद्धान्तरूप उपनिषद ग्रन्थों में यही निर्णय किया है कि "ऋच्यध्यूढं साम गीयते।" ऋग्वेद में आश्रय पाय हुए साम का ही गान किया जाता है। फलत अब यह एक स्पष्ट अर्थ निकल आता है कि गानविद्या के मर्मों के आश्रयभूत मन्त्रों की संहिता सामसंहिता है। जैसा कि श्री स्वामी शबर ने मीमांसादर्शन में नवमाध्याय के २७ वें सूत्र "अर्थैक्यादविकल्प स्यात्" पर स्पष्ट कहा है।

"सामवेदे सहस्र गीत्युपाया। आह कतमे गीत्युपाया नाम। उच्यते। गीतिर्नाम क्रिया ह्यभ्यन्तरप्रयत्नजन्या स्वरविशेषाणाम भिव्यञ्जिका सामशब्दाभिलप्या। सा नियतप्रमाणासृचि गीयते। तत्सम्पादनार्थोऽयमृगक्षरविकारो विश्लेषो विकर्षणमभ्यासो विराम स्तोभ इत्येवमादय सर्वे सामवेदे समाम्नायन्त॥"

अर्थ-सामवेद में हजारों गीति के उपाय हैं। गीति का अर्थ है गान क्रिया। यह अभ्यन्तर प्रयत्न से उत्पन्न होकर विशेष स्वर को उत्पन्न करती है, उसीको "साम" शब्द से कहा जाता है। यह नियत प्रमाण वाली ऋचा में गाई जाती हैं। उस गान क्रिया को उत्पन्न करने के लिये ऋचा के अक्षरों में विकार; विश्लेष, विकर्षण; अभ्यास; विराम और स्तोभ आदि किये जाते हैं। इन सबका सामवेद में आचार्य लोग उपदेश करते हैं। परन्तु सामान्य संहिता पाठ में विकार, विश्लेष, विकर्षण अभ्यास, विराम और स्तोभ आदि के बिना ही ऋचायें रहती हैं परन्तु प्रयोगकाल में उद्गाता उन ऋचाओं के वर्णों में विकार आदि करके गाता है।

(६) सामगान

यद्यपि इस साम वेदभाष्य में गायन के विषय का विवरण नहीं किया और न गान योग्य सामरूप को प्रकट किया है तो भी सामविषयक गायन

का साधारण परिचय पाठकों को करा देना आवश्यक है। सो नारदीय शिक्षा के अनुसार सक्षेप से देते हैं।

(१) उरस् कण्ठ और शिर इन तीन स्थानों से शब्द उठता है। *तीनों स्थानों का क्रम से प्रात सवन माध्यन्दिनसवन और तृतीय सवन के* समान जानना चाहिये। इन तीनों स्थानों पर सातों स्वर विचरते हैं। इन स्थल मे विचरत हुए सातों स्वर कानों में सुनाई नहीं देते।

(२) सात स्वर, तीन ग्राम इक्कीस मूर्छनाएं और ४९ तान होते है। ये सब 'स्वरमण्डल कहाता है। षड्ज ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पचम धैवत निषाद, ये सात स्वर है। षडज मध्यम गान्धार, ये तीन ग्राम हैं। षड्जग्राम में १४, मध्यमग्राम में २० और गान्धार ग्राम में १५ तान होत है। ऋषि, पितर और दवभद से प्रत्येक की सात मूर्छनाए हैं, जैसे *नन्दी विशाला*, सुमुखी, चित्रा, चित्रवती, सुखा, और बला ये ७ देवमूर्छनाए हैं। आप्यायिनी, विश्वभृता, चन्द्रा, हेमा कपर्दिनी मैत्री याईती हृष्यका उत्तरायता और रजनी ये ऋषियों की ७ मूर्छना है। देव, पितृ और ऋषि इनकी मूर्छनाओं के गन्धर्व, यज्ञ और मनुष्य क्रम से अनुयायी हैं। लौकिक मूर्छनाए ऋषियों की हैं। षड्ज से देव, ऋषभ से ऋषि गान्धार से पितर, मध्यम से गन्धर्व पञ्चम स सबजन निषाद से यज्ञ और धैवत से अन्य प्राणी प्रसन्न होते हैं।

(३) *गान के दस गुण हैं=रक्त*, पूर्ण, अलकृत, प्रसन्न, व्यक्त, विकुष्ट श्लक्ष्ण, सम, सुकुमार और मधुर।

(४) स्वरभेद पाच प्रकार का है। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचित और निघात। आर्चिक में उदात्त अनुदात्त और स्वरित ये तीन ही है। स्वरित से परे उदात्त ही प्रचित कहाता है। स्वरित दो प्रकार का होता है एक वर्ण स्वार और दूसरा अतीत स्वार। उच्च और नीच दोनों क बीच को ही स्वार कहा जाता है। उदात्त में निषाद और गान्धार, अनु

दात्त में ऋषभ और धैवत और स्वरित में षड्ज मध्यम और पञ्चम रहते हैं। विशेष ज्ञान नारदीय शिक्षा एवं अन्य गानग्रन्थों से जानना चाहिये सामवेदियों में सामवेद संहिता की ऋचाओं के नाना गान स्वरूपों की कल्पना गानशास्त्र के अनुसार की है। वे गान संहिताएं मन्त्रसंहिता से भिन्न होती हैं। उसका कुछ नमूना दर्शाते हैं।

मन्त्र—अग्न आयाहि वीतय गृणानो हव्यदातये। निहोता सत्सि बर्हिषि॥

४ २र र १ २
गेयगान—ओग्नाइ। आया हीं३ वोइ वोईतोया २इ।
१ १ २र २र १ १ १ २र
तोया २इ। गृण ना ह। व्यदाताया २इ। तोया २इ ना३ हो
१ ३ १र ३ ३
ता सा २ ३। त्सा २ इ। वा २ ३ ४ औ हो वा हां २ इ ४ पी।१।

यह गोतम ऋषि का पर्क साम कहाता है। इसी प्रकार इसी ऋषि का दूसरा पर्क इस प्रकार है।

१ ४ ४र ५र ४ ४ र र २ २
अग्न आया हि। वो ५ इ तया इ गृणा नो हव्य दा १ ता
२ ३ ५ १ २ १
.३ यै। नि होता २ ३ ४ सा। त्सा २ ३ ४ इ वा। हा २ ३ ३ ४
१ १
इ पो ६ हा इ॥ ३॥

इन दोनों पर्कों के भीतर काश्यप ऋषि का 'बार्हिष' है जैसे—

४ ५ ४र ५र ५ १ र र २
अग्न आया हो वो। तयाइ। गृणाना हव्य दाना। २ ३ या
१र र २ १ ५ १ ३ ५
इ नि होता सत्सि बर्हा २ ३। हांप। बर्हा २ इ पा १ ३४ औ
र २ १ १ १ १
हो वा। बर्हीं ३ पी २ ३ ४ ५।

इसी प्रकार स्तोम उक्थ गान और उद्गानों के भी विशेष रूप निर्धारित हैं। उन ही का विशेष परिज्ञान करना सामवेद का परिज्ञान करना है।

(७) सामवेदभाष्य

अभी तक जितने भी वेदभाष्य उपलब्ध हैं वे सामवेद संहिता पर अल्पकृत भाष्य ही हैं। जिनमें बहुत से तो लुप्त हो ही गये हैं। निघण्टु के टीकाकार देवराज यज्वा ने स्कन्दस्वामी, भवस्वामी, राहदेव, श्रीनिवास, माधवदेव उवटभट्ट भास्कर मिश्र, भरतस्वामी इन आठ प्राचीन भाष्य कारों के नाम दर्शाये हैं। इन सब में से केवल माधवीय विवरण के कुछ अंश उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त सायण भाष्य प्राप्त है। श्री० प० तुलसीरामजी ने भी सामवेद का एक भाष्य प्रसिद्ध किया है। इन सब भाष्यों के होते हुए भी वेद के मन्त्रों का अन्वयानुसारी ऐसा भाषा भाष्य उपलब्ध नहीं था जिसको सुगम सुन्दर और हृदयगम भाषा में शब्दार्थों के पृथक् २ ज्ञान करने के साथ २ पढ़ लेते। इसलिये इस भाष्य को प्रकाशित करने की आवश्यकता हुई।

इसके अतिरिक्त हम यह भी स्पष्ट शब्दों में कहना उचित समझते हैं कि अभी तक जितने भाष्य हुए हैं उनमें से एक भी ऐसा भाष्य नहीं जो सामवेद के वास्तविक उद्देश्यभूत उपासना काण्ड के लक्ष्य को दर्शा सके। श्री सायणाचार्य ने तो यज्ञपरक अर्थ कर के ही अपने कार्य को पूर्ण किया है। प्रायः जो भाष्य सायण का ऋग्वेद के मन्त्रों पर है उसका ज्यों का त्यों ही उठाकर रख दिया है। उसमें विशेष फेर फार नहीं है। परन्तु सर्वे कि सामवेद का विषय उपासनाकाण्ड है इसलिये सामवेद के मन्त्रों का यज्ञपरक अर्थ करना संगत प्रतीत नहीं होता। इसके अनन्तर मेठ शिवसी श्री स्वामी तुलसीरामजी का भाष्य है। उनके समस्त भाष्य में कुछ एक स्थलों को छोड़कर प्रायः सायण भाष्य को ही अनुसरण

किया है। हमने उक्त दोनों भाष्यों म से किसी का भी अनुसरण नहीं किया। ऐसा करने के बहुत से कारण हैं।

(१) सायण ने अपने भाष्य में ऐतिहासिक पक्ष को बहुत पुष्टि दी है जो वेदों को साक्षात् ईश्वर वचन मानने में भारी विघातक है। इससे वेदों का महत्व भी बहुत घट जाता है।

(२) यज्ञपरक अर्थ करलेने में यद्यपि सायण सफल हुआ है तो भी एक दोष उसके भाष्य में यह है कि जो विशेषण जिस पदार्थ के योग्य होना चाहिये वह उस पर नहीं लगता और जो विशेषण जिस पदार्थ में नहीं घटते वे उस पर लगाये जारहे हैं। इससे वेदमन्त्रों में असत्यार्थ प्रतिपादन करने का भारी कलंक आता है। केवल यज्ञ में आग्नेय अग्नि, सोम आदि पदार्थों के वर्णन में सामवेद का अधिक भाग लगा हुआ देखकर सायण भाष्य के अनुसार विचार करने से यह प्रतीत होगा कि वेदमन्त्र में अनावश्यक गीत गा गा कर मन्त्र पूरे किये गये हैं और उनका गूढ़ तात्पर्य कुछ नहीं है। यही प्रभाव योरोप के विद्वानों पर भी पड़ा है। इसी कारण योरोप के अनुवादक भी सायण के पीछे २ पग रखते हुए उसी प्रकार असंगत अर्थ करते गये हैं जिस प्रकार सायण ने किये हैं। उससे भी बढ़कर योरोप के अनुवादकों ने कहीं २ स्वतन्त्र भी अर्थ किये हैं परन्तु ऐतिहासिक पक्ष को छोड़ कहीं भी उन्होंने वेद के यौगिक अर्थों पर विचार नहीं किया। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि वेदार्थ के करने में विद्या के परम भण्डार, ईश्वरीय ज्ञान के आदरणीय ग्रन्थों का जिस गम्भीरता से वेदभाष्य प्रकट होना चाहिये था वैसा अभी तक किसी ने भी करने का प्रयास नहीं किया। हम अपने मन्तव्य को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिये कुछ एक नमूने अन्य भाष्यों के उद्धृत करते हैं जिससे पाठक हमारे कथन का अभिप्राय समझ सकेंगे। जैसे—

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥

यह सामवेद का प्रथम मन्त्र है । इसमें सायण ने 'अग्नि' शब्द से साधारण भौतिक अग्नि का ही ग्रहण किया है और इसी प्रकार समस्त आग्नेय काण्ड में अग्नि शब्द से यज्ञ के कुण्ड में प्रज्वलित अग्नि के सिवाय दूसरा पदार्थ नहीं लिया है । क्योंकि सायण लिखते हैं—

'हे अग्ने ! अङ्गनादिगुणविशिष्ट त्वं आयाहि अस्मद् यज्ञं प्रत्यागच्छ । किमर्थं वीतये हविषां चरुपुरोडाशादीनां भक्षणाय ।

अर्थात् हे चमक आदि गुणों से युक्त अग्ने ! तू आ अर्थात् हमारे यज्ञ में आ । क्यों ? वीतये चरु पुरोडाश आदि हवियों के खाने के लिये । चरु आदि खाने वाला अग्नि सिवाय भौतिक अग्नि के दूसरा पदार्थ नहीं है । इससे आगे तीसरा मन्त्र है—

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ।

इस मन्त्र में अग्नि का विशेषण है 'विश्ववेदस' । जिसका सायण स्वयं अर्थ करते हैं—

'विश्वानि वेत्ति इति विश्ववेदा, यद्वा वेद इति धननाम, विश्वं सर्वं वेदो धनं यस्य तम्' ।

अर्थात् समस्त पदार्थों को जानने वाला या समस्त साधनों का स्वामी 'विश्ववेदा' कहाता है । परन्तु सायण के अनुसार यह विशेषण 'अग्नि' का है । भौतिक अग्नि जड़ होने से न तो समस्त ज्ञानवान् है और न समस्त धनों का स्वामी हो सकता है । इसी प्रकार इस मन्त्र में 'सुक्रतु' शब्द पड़ा है । जिसका अर्थ सायण ने 'निष्पादकत्वेन शोभनकर्माणम् अथवा शोभनं क्रतुरिति प्रज्ञा नाम शोभनप्रज्ञं वा' किया है अर्थात् यह अग्नि यज्ञनिष्पादक होने से सुक्रतु' है, या क्रतु प्रज्ञा, अर्थात्

शोभनप्रज्ञ वह अग्नि है यह विशेषण भी भौतिक अग्नि में व्यर्थ है क्योंकि जड़ अग्नि न यज्ञ का कर्ता है और न प्रज्ञावान् ही है। फलतः ये विशेषण किसी चेतनावान् पदार्थ के होने उचित हैं। यह दोष न केवल आग्नेय काण्ड के अग्नि देवता के मन्त्रों में है, प्रत्युत इन्द्र, सोम, उषा आदि देवता के मन्त्रों में भी सायण कृत अर्थों में यही दोष विद्यमान है। क्योंकि सायण ने इन्द्र को एक विशेष रूपवान् हाथों पैरों वाला, घोड़ों से युक्त रथपर चढा हुआ माना है इसलिये उसमें भी "ईशानमस्य जगतः" "ईशानमस्य तस्थुष" (पू० अ० ३ । १) चराचर जगत् का स्वामी आदि विशेषण नहीं घटेंगे, उसी प्रकार पावमान काण्ड में सोम का वर्णन किया है। सायण ने सर्वत्र सोम, इन्दु, पवमान आदि शब्दों से सोमलता और उसके रसों का ही ग्रहण किया है। उस लता या सोमरस में-"जनिता अग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनिता इन्द्रस्य जनितोत विष्णोः" (पू० अ० ५ । ६ । ५) इत्यादि सूर्य, इन्द्र और विष्णु का उत्पादक विशेषण नहीं घटेंगे। उसी प्रकार सोम को "यो रायामानेता य इषानाम् ।" (पू० अ० ५ । ११ । ५) धनों और अन्नों का लाने वाला बतलाया गया है, यह विशेषण भी सोमरस में नहीं घटेंगे।

परन्तु ये सभी मन्त्र परमेश्वरपरक हैं। उनके विशेषण परमेश्वर ही में मुख्यवृत्ति से घट सकते हैं इसलिये उन मन्त्रों का मुख्यार्थ परमेश्वर को और गौण अर्थ अन्य पदार्थों को दर्शावेगा। हमने अपने भाष्य में स्थान २ पर इस विशेषता को दर्शाया है और स्थान २ में वेदमन्त्रों के अर्थ को उपनिषदों और दर्शनों के उद्धरणों से पुष्ट किया है, पाठक यथास्थान देख लेंगे। यहां अधिक ग्रन्थ का विस्तार नहीं दिखाकर अब हम सामवेद का भाष्य प्रारम्भ करने के पूर्व वेद के सिद्धान्तों पर पाठकों का ध्यान आकर्षण करना चाहते हैं।

(८) सिद्धान्त दिशा विचार

यह हम पहले दर्शा चुके हैं कि सामवेद का मुख्य विषय उपासना काण्ड है। वेदों में सिवाय ईश्वर के और किसी देवता की उपासना प्रतिपादित नहीं की है। यह सिद्धान्त कोई नवीन नहीं है। योरोप के विद्वान् एवं सायण के मतानुयायी भले ही वेद के मन्त्रों में पर्वतों, नदियों और वृक्षों या आग जल, वायु आदि जड़ पदार्थों की स्तुति मानते हैं परन्तु ऐसा उनका मानना उनकी वेद के सिद्धान्तों से अनभिज्ञता को बतलाता है। उन ही के पीछे चलने वाले नयी रोशनी के पले भारतीय विद्वान् भी बहुत से उस भ्रमजाल में पड़ गये हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि वे लोग वेद का वेद के सिद्धान्त भाग से अलग कर लेते हैं। उनको यही धारणा है कि वेद और उपनिषद् दो भिन्न पदार्थ हैं। उनका ऐसा समझना ही उनको भ्रम में डाल देता है। योरोप के विद्वानों की दृष्टि में उपनिषदें बाद में बनीं अर्थात् ईश्वर, जीव आदि दार्शनिक सिद्धान्तों की उन्नति बाद में हुई। इसी धारणा से वे उपनिषदों को वेदों से अलग कर देते हैं। वास्तव में उपनिषदों का ज्ञान वेदों से किसी अवस्था में अलग नहीं किया जा सकता। उपनिषदें वेदों के सिद्धान्त प्रदर्शक ग्रन्थ हैं। यदि शरीर में से आत्मा को पृथक् कर दिया जाय तो शरीर केवल हाड़, मांस, चाम का मुर्दा मात्र दिखायी देता है और शरीर के अंगों की शक्तियों का चमत्कार नहीं जाना जा सकता। आज नाक, कान, त्वचा, वाणी व साधन और अन्तःकरण मन ये संसार में जितना चमत्कार उत्पन्न कर रहे हैं वे सब हम जड़ शरीर से नहीं हो सकते परन्तु आत्मा के होने पर ही ये सब चमत्कार दिखाई दे रहे हैं। उसी प्रकार जब आत्मस्वरूप उपनिषद्, ब्रह्मविद्या को वेदों के शरीर से अलग कर लिया जाता है उस समय वेद के मन्त्र अग्नि जल, नदियों और पर्वतों की स्तुतियों से भरे हुए प्रतीत होते हैं। परन्तु जब उनके आधार

में ब्रह्मविद्या रूप दीपशिखा उपनिषद् को रख दिया जाता है तो वेद ज्ञान का अपूर्व भण्डार दिखाई देता है। यह मन्तव्य बहुत प्राचीन काल से उपनिषत्कारों ने स्वयं स्वीकार किया है। जैसे कठक में—

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योम्
इत्येतत्॥ २। १५)

'समस्त वेद जिस परम पद का पुनः २ प्रतिपादन करते, समस्त तप जिस का दर्शाते हैं, जिसका प्राप्त करने के लिये ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस पद का संक्षेप से कहता हूं ओम्' यह है।' अर्थात् सब वेद ईश्वर का प्रतिपादन पुनः २ करते हैं। इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय उपनिषत् में पञ्चविध आत्मा का अन्न प्रयत्नमय स्वरूप दर्शाते हुए पांच कोशों का दर्शाया है, वह बहुत ध्यान देने योग्य है। वहां अन्नरसमय पुरुष के पांच अंग दर्शाये गये हैं —

अन्नरसमय—(१) शिर, (२) दक्षिण पक्ष, (३) उत्तर पक्ष, (४) आत्मा (धड़) (५) आश्रय पुच्छ।

प्राणमय—(१) प्राण, (२) व्यान, (३) अपान, (४) आकाश, (५) पृथिवी।

मनोमय—(१) यजु, (२) ऋग्, (३) साम, (४) आदेश, (५) अथर्व।

विज्ञानमय—(१) श्रद्धा (२) ऋत, (३) सत्य, (४) योग, (५) महः।

आनन्दमय—(१) प्रिय, (२) मोद, (३) प्रमोद, (४) आनन्द, (५) ब्रह्म।

ये पाचों कोश उत्तरोत्तर एक दूसरे के भीतर प्रविष्ट हैं, इनमें (१) शिर. स्थानीय शिर, प्राण, यजु , श्रद्धा और प्रिय ये क्रमश. एक ही के सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम रूप है। इसी प्रकार दक्षिण पक्ष व्यान, ऋक्, ऋत, मोद, उत्तर पक्ष, अपान, साम, सत्य, प्रमोद और आत्मा (धड़) आकाश, आदेश, योग, आनन्द और आश्रय (पुच्छ), पृथिवी, अथर्व, महः, ब्रह्म इनको भी समझना चाहिये। यदि इन सबका कोई एक आश्रय उपनिषत् कार ने बतलाया है तो ब्रह्म को ही बतलाया है। इसी प्रकार स्थान २ पर वेदत्रयी का सार अ, उ, म् को बतलाया है। फलत. यह कहना कि ब्रह्म विद्या को वेदों से पृथक् किया जा सकता है केवल साहसमात्र है।

यदि उपनिषदों या ब्रह्मविद्या को वेदों से अलग भी करना चाहें तो भी वे अलग हो नहीं सकतीं, क्योंकि उपनिषदों की स्वतंत्र सत्ता ही कुछ नहीं रह जाती यदि उनका मूल काट दिया जाय। ईश उपनिषद् साक्षात् यजुर्वेद का ४० वां अध्याय है। इस अध्याय का विस्तृत विवरण बृहदारण्यक उपनिषद् यजुर्वेद के ब्राह्मण शतपथ का एक अंश है। इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् तैत्तिरीय ब्राह्मण का एकांश है। और ऐतरेय उपनिषद् ऐतरेयारण्यक का एक अंश है। छान्दोग्य उपनिषद् छान्दोग्य ब्राह्मण के आरण्यक भाग का एकांश है। जब सभी यहीं २ उपनिषदें वेद और वेद के व्याख्यानों के अंश ही है तब उनको वेद से अलग करना वैदिक ऋषियों के ज्ञान भण्डार के साथ भारी अन्याय है। जिस प्रकार दीपक को निकाल लेने से घर सूना प्रतीत होता है उसी प्रकार उपनिषदों या ब्रह्मविद्या को वेद से परे कर लेने पर वेदसमुदाय भी अन्धकारमय हो जाता है। यही कारण है कि कर्मकाण्ड को ज्ञानकाण्ड से अलग कर लेने पर सिवाय अविद्या के कुछ शेष नहीं रहता। मध्यकालीन विद्वानों ने समस्त कर्मकाण्ड में वेद के मन्त्रों का विनियोग पाकर वेदों का अर्थ कर्मकाण्डपरक कर लिया। परन्तु उन्होंने यह नहीं विचारा कि

उनके ऐसा करने से वेदभवन अन्धकारमय हो जायगा और वास्तव में वैसा ही हुआ भी। कर्मकाण्ड का मुख्य रखकर वेदमन्त्रों का यज्ञपरक अर्थ करने से दो प्रवृत्तियां जागीं। एक तो कल्पित मनगढ़न्त कर्मकाण्ड गढ़ २ कर उसमें वेदमन्त्रों का मनमाना विनियोग होने लगा जिससे गोमेध, नरमेध, अश्वमेध आदि पवित्र यज्ञों का क्रियाकाण्ड भी भ्रष्ट हो गया, दूसरा वास्तविक वेदों का परमार्थ और विज्ञानमय अर्थ लुप्त हो गया। और उसमें ऐतिहासिक अर्थ और लौकिक अभिधार्थ ही लिया जाने लगा। भाष्यकारों ने अपना मतलब साधने के लिये प्राचीन ग्रंथों के उद्धरणों से काम तो लिया परन्तु वेदार्थ करने की शैली को नहीं अपनाया।

वेदों की सबसे उच्च कोटि की व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में की गई है। उनमें जहां साथ २ यज्ञ की शैली और लोक व्यवहार को दर्शाया है वहां यज्ञ की क्रिया का अध्यात्म अर्थ भी किया है। जब समस्त वैदिक कर्मकाण्ड का अर्थ अध्यात्मपरक है तो कोई कारण नहीं की उसमें विनियुक्त मन्त्रों का अर्थ अध्यात्मपरक न हो। भाष्यकारों ने ब्राह्मण ग्रन्थों के इस रहस्य को नहीं समझा। इसी से वे वेदों का जब अध्यात्मपरक अर्थ नहीं लगा सके तब वेद को नित्य ईश्वरज्ञान मानकर भी उनका ऐतिहासिक अर्थ करने एवं भौतिक पक्ष में अर्थ कर उनके गूढ़ ब्रह्मपरक विशेषणों को भी न सुलझा सके। अब हम पाठकों के समक्ष ब्राह्मणकार या उपनिषत्कार ऋषियों के मन्त्रार्थ करने की रीति पर कुछ प्रकाश डालते हैं।

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयम्॥

(ऋग्वेद मं० ४। सू २७। म० १)

इसका प्रतीयमान साधारण अर्थ है—"मैंने गर्भ में ही इन देवों के सब रूप जान लिये, मुझे सौ लोहे के कोट घेरे हुए थे और मैं श्येन

या बाज पक्षी होकर बड़े वेग से निकल आया।" यह एक पहेली सी है। इस ऋग्वेद के मन्त्र का व्याख्यान ऐतरेयोपनिषद (अ० २) में इस प्रकार है-

"पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद्रेतः। तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेज: सम्भूतमात्मन्येवात्मान बिभर्ति। तद् यदास्त्रियां सिञ्चत्यथैनज् जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ॥ १ ॥ तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति यथा स्वमङ्गं। तथा तस्मादेनां न हिनस्ति। साऽस्यैतमात्मानमत्र गतं। भावयति ॥ २ ॥ सा भावयित्री भावयितव्या भवति। तं स्त्री गर्भं बिभर्ति। सोऽग्रे कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति। स यत्कुमारं जन्मनाऽग्रेऽधिभावयति आत्मानमेव तद् भावयति एषां लोकानां सन्तत्या। एवं सन्तता हि इमे लोकाः। तदस्य द्वितीयं जन्म ॥ ३ ॥ सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्य प्रतिधीयते। अथ अस्य अयमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति। स इत प्रयन्नव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म। तदुक्तमृषिणा।

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन् अधः श्येनो जवसा निरदीयमिति।

गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच। स एवं विद्वान् अस्माच्छरीरभेदादूर्ध्वमुत्क्रम्य अमुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामान् आप्त्वाऽमृत समभवत् समभवत्।

अर्थ—पुरुष में ही प्रथम यह गर्भ होता है। वह पुरुष में वीर्य रूप से रहता है वह वीर्य सब अङ्गों से शुक्र रूप में उत्पन्न होता है। उसको

पुरुष अपने ही शरीर में आत्मा रूप से धारण करता है। जब वह मैथुन द्वारा स्त्री के गर्भ में आधान करता है तब उसको उत्पन्न करता है। यह उस आत्मा का प्रथम जन्म है। तब वह गर्भ स्त्री के एक अंग के समान हो जाता है इसलिये वह उसको कोई पीड़ा नहीं देता। स्त्री भी अपने पति के ही आत्मा को अपने भीतर प्रविष्ट हुआ समझ कर उसका पालन करती है। उसका पालन करती हुई स्त्री अपने पति के पालन योग्य होती है। स्त्री उस आत्मा को अपने गर्भ में पालन पोषण करती है। उत्पन्न हो जाने पर उसका पिता उसको जातकर्म आदि द्वारा अपनाता है। पिता जो उस कुमार को पालता है एक प्रकार से अपने को ही उस रूप में विचार करता है वह भी इसलिये कि ये लोक सन्तति द्वारा ही फैलते हैं, इसलिये यह लोक सन्तति वाला ही रहे। इस प्रकार पुत्र का यह जन्म आत्मा का द्वितीय जन्म है। यही आत्मा बड़ा हो जाने पर पुनः शास्त्रोक्त विधि द्वारा पिता का प्रतिनिधि होकर उसके स्थान पर हो जाता है। और इधर यह पिता का आत्मा जीवन को सफल करके बूढ़ा हो, चल बसता है। यहां से जाकर पुनः वह पैदा हो जाता है। यह उसका तीसरा जन्म है। इसी प्रकार वेदमन्त्र ने भी कहा है कि—(गर्भे नु सन्नित०)—अर्थात् 'मैंने गर्भ में ही इन देवों के सब रूप जान लिये मुझे लोहे के सौ कोट घेरे हुए थे श्येन पक्षी के समान मैं आत्मा बड़े वेग से निकल आया" इति। गर्भ में ही सोते हुए वामदेव ने इस प्रकार कहा। वह वामदेव इस शरीर के बन्धन को तोड़कर परलोक में सर्वाभिकाम होकर अमृत, मुक्त हो गया।

उपनिषत्कार ने यह एक वेदमन्त्र की सगति लगा कर दर्शाई है और आत्मा के अमर होने का और मुक्त होने का सिद्धान्त दर्शाया है। इसी प्रकार अन्य २ मन्त्रों की भी व्याख्या ब्राह्मणों और आरण्यकों में प्राप्त होती है। इस व्याख्या में दो स्थान देने योग्य विचार बिन्दु हैं जैसे

(१) सो लोहे की कोटें (शतं आयसी: पुर:) और (२) बाज के समान वेग से बाहर निकलना। इन दोनों घटनाओं का वर्णन प्राय: अग्नि और इन्द्र और सोम तीनों देवताओं के विषय में रूपान्तर में आयेगा १०० पुरी ९९ पुरी या ९० पुरी का वर्णन जैसे—

इन्द्र के विषय में—

अया वीती परिस्रव यस्त इन्दो मदेष्वा। अवाहन्नवतीर्नव॥

(साम० उ० अ० ९। ५। १। १)

इन्द्र ने सोम के मद में ९९ पुरियों का विनाश किया है।

इन्द्र और अग्नि दोनों के विषय में जैसे—

इन्द्राग्नी नवतिं पुरो दासपत्नीरधूनुतम्। साकमेकेन कर्मणा॥

(साम० उ० अ० १६। १। १। २)

दोनों को शत्रु के ९० पुरी का विनाशक बतलाया है।

केवल अग्नि के विषय में जैसे—

"प्रभूर्जयन्त महाविपोधां मूरैरमूर पुरां दर्माणम्॥"

(साम० पूर्व० अ० १। ८। २)

उक्त सभी उदाहरणों में पुरों का या परकोटों का विनाश सर्वत्र समान है और संख्या भी ९९, १००, ९० समान ही है अत: इन सबकी संगति एक ही अर्थ में होना आवश्यक है। इस प्रकार उपनिषत् ने एक मन्त्र की संगति दर्शाकर वेद के एवं सभी स्थलों की व्याख्या कर दी है। प्राय: उपनिषत्कारों, आरण्यककारों और ब्राह्मणकारों का एसी ही व्याख्यान शैली देखने में आती है जिससे वेदमन्त्रों की अध्यात्मव्याख्या स्पष्ट हो जाती है। परन्तु भाष्यकारों ने इन व्याख्याओं पर विशेष ध्यान नहीं दिया।

अब हम सामवेद गत देवताओं पर विचार करते हैं ·

सामवेद के देवता (१)

सामवेद गत देवताओं पर विचार करने के पूर्व देवता शब्द पर सामान्य रूप से विचार कर लेना उचित है। इस विषय पर वेद विषय में प्रमाण ग्रन्थ सबसे अधिक यास्क का निरुक्त है। यास्क लिखते हैं—

"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्धपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्देवत· स मन्त्रो भवति"।

जिस वस्तु की अभिलाषा करके मन्त्रद्रष्टा ऋषि जिस देवता में अपने अभिप्राय का स्वामित्व निश्चित जानकर स्तुति करता है उस मन्त्र का वही देवता कहा जाता है।

वेदों की ऋचाएं तीन प्रकार की है (१) परोक्षकृत (२) प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक। परोक्षकृत मन्त्रों में देवता को प्रथम पुरुष बनाकर क्रिया में भी प्रथम पुरुष का व्यवहार किया है। प्रत्यक्षकृत मन्त्रों में 'तू' इस प्रकार देवता को कह कर क्रिया में मध्यम पुरुष का प्रयोग किया है और आध्यात्मिक में 'अहं' इस प्रकार उत्तम पुरुष का प्रयोग किया गया है।

निरुक्तकार यास्क लिखते हैं-

माहाभाग्याद्देवताया. एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्य आत्मानोऽन्ये देवा· प्रत्यङ्गानि भवन्ति। अपिच सत्त्वानांप्रकृति· भूमभि ऋषय स्तुवन्तीत्याहुः। प्रकृतिसार्वनाम्न्याच्चतरेतर जन्मानो भवन्ति. इतरेतरप्रकृतय· कर्मजन्मान· आत्मजन्मानः। आत्मैव एषां रथो भवत्यात्मा अश्व आत्मा आयुधम्, आत्मा इषवः आत्मा सर्वं देवस्य०।" इत्यादि॥

अर्थ—देवता का बड़ा ऐश्वर्य होने से एक आत्मा का बहुत प्रकार से वर्णन किया गया है। एक आत्मा के ही अन्य देवता अङ्ग प्रत्यङ्ग हो जाते हैं। और नाना प्रकार के सामर्थ्य देखकर भी अनेक नामों से ऋषियों ने स्तुतियां की है। और वह आत्मा सब पदार्थों में समान रूप से मूलकारण होने से सभी नाम उस महान् आत्मा के ही होने सम्भव हैं, इस कारण से भी उस ही आत्मा की नाना नामों से स्तुति की जाती है। उस महान् आत्मा का ऐसा ही विशेष ऐश्वर्य होने के कारण वेद के देवता इतरेतरजन्मा हैं अर्थात् एक दूसरे के मूलकारण और कार्य हो जाते हैं। बहुत से कर्मभेद से देवताओं की कल्पना है। परन्तु वह सब महान् आत्मा से ही उत्पन्न है। वही उनका रथ है, वही अश्व है, वही आयुध है, वही हपु है, वह सब कुछ देव परम आत्मा स्वयं है। बहुत से स्थलों पर पुरुष के समान अङ्गों वाला देवता मान कर उनकी स्तुति की है और पुरुष के समान ही उसके कर्म भी दर्शाये हैं जैसे—

आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि" हे इन्द्र दो घोड़ों से आप आओ'। और जैसे "आद्धि इन्द्र गिव च' 'हे इन्द्र खा और पी इसी प्रकार अचेतन पदार्थों से भी देवता की स्तुति की है। जिस प्रकार अग्नि, वायु, आदित्य सोम, प्रावा आदि नामों से भी बहुतसी स्तुतियां है। परन्तु सब स्थानों पर पुरुषों के समान ही कर्म करने वाले देवता का निरूपण किया है।

देवता का क्या स्वरूप है इसकी व्यवस्था के लिये निरुक्तकार यास्क का मत है कि तीन ही देवता हैं पृथिवी पर अग्नि अन्तरिक्ष में वायु या इन्द्र और द्यौ में सूर्य। या देवताओं के महा ऐश्वर्य होने से और नाना कर्म होने से एक के ही बहुत से नाम हैं। जहां कर्म पृथक २ होने से देवता पृथक् पृथक् हैं वहां जिस प्रकार बहुत से कर्म करने वाले एक ही काम को आपस में बांटकर कार्य करते हैं उसी प्रकार वे भी रहते हैं, वे एक

दूसरे के उपकारक भी हो जाते हैं। यहां इनकी व्यवस्था नरराष्ट्र के समान ही समझनी चाहिये।

और भी स्पष्टता के लिये निरुक्तकार ने इन देवताओं को तीन विभागों में बांट दिया है। हवि का वहन करना देवताओं का आवाहन करना या दृष्टिविषयक सब काम अग्निविषयक समझा जाय। पृथिवी स्थानी देव गण अश्व, शकुनि आदि निघण्टु (अ० ५ ख० ३) में पढ़ दिये हैं अग्नि के सस्तविक देव इन्द्र, सोम वरुण, पर्जन्य, ऋतु है। अर्थात् इन नामों से भी अग्नि की स्तुति की गई है।

इसी प्रकार मध्यस्थानी देवता निघण्टु (अ० ५, ख० ४, ५) में पढ़ दिये गये हैं। उनमें मुख्य इन्द्र या वायु है। सब बल कर्म इन्द्र नाम से कहे जाते हैं, इसका कार्य रस का अनुप्रदान करना और वृत्र का वध करना है। अग्नि सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति ब्राह्मणस्पति, पर्वत कुत्स विष्णु, वायु आदि इसके सस्तविक देव है। तृतीय स्थान के देवता निघण्टु (५, ख० ६) में पढ़े गये हैं। रश्मियों से रस का लेना और धारण करना आदित्य का कार्य है। इसके सस्तविक देव चन्द्रमा, वायु और सवितर है।

निरुक्तकार यास्क का यह देवता विभाग केवल भौतिक विज्ञान के वर्णन में ही लागू होता प्रतीत होता है। समाज क्षेत्र में वेदज्ञान को प्रवृत्त कराने के लिये यास्क की व्याख्या केवल यही है कि "नदेवनर राष्ट्रमिव" नरराष्ट्र के समान ही वेद में देवराष्ट्र की व्यवस्था समझनी चाहिये। इस प्रकार उन्हीं देवनामों से यथास्थान राज्यप्रबन्ध, और समाज की वर्णव्यवस्था का भी वर्णन निकल आयगा। और अध्यात्म वर्णन के लिये यास्क का सिद्धांत यही है कि 'महाभाग्याद्देवतायाः एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एक ही महान् आत्मा की उसके महान् ऐश्वर्य के कारण नानारूप से स्तुति की गई है।

इसीलिये दैवतकाण्ड या ज्ञान या कर्मकाण्ड की व्याख्या कर चुकने पर स्वयं निरुक्तकार ने ऊर्ध्वमार्ग गति या उपासना मार्ग पर दृष्टि डालकर लिखा है। अथैतदनु प्रवदन्ति अथैतं महान्तमात्मानमेषमर्गण: प्रविशति। इन्द्रमित्रं वरुणमाग्निमाहुरिति। यह सब ऋचाओं का समूह उस महान आत्मा का ही वर्णन करता है। इस प्रकरण में यास्क ने सोम, इन्द्र, आदित्य विष्णु आदि देवताक ऋचाओं का उल्लेख करके आध्यात्म विषय को उत्तम रीति से दर्शाया है। इसमें यही ध्यान देने योग्य बात है कि महान् आत्मा के निम्नलिखित पर्याय यास्क ने दर्शाये हैं-

हंस । धर्म । यज्ञ । वेन. । मेध । कृमि । भूमि । विभु । प्रभु । शंभु । रामु । भुवनम् । भविष्यत् । आप: । महस् । व्योम । यश. । मह. । स्वर्णीकम् । स्तनीकम् । सतीकम् । सनीनम् । गहनम् । गभीरम् । गह्वरम् । कम् । अग्रम् । हवि । सत्र । सदनम् । ऋतम् । योनि. । अमृतस्य योनिः । सत्यम् । नीरम् । हवि. । रवि । सत् । पूर्णम् । सर्वम् । अक्षितम् । बर्हि. । नाम । सरिः । अपः । पवित्रम् । अमृतम् । इन्दु. । द्यौ । स्व । स्वर्ग । शम्बरम् । अम्बरम् । वियत् । व्योम । बर्हि. । धन्व । अन्तरिक्षम् । आकाशम् । आप. । पृथिवी । भू । स्वयंभू । अत्वा । पुष्करम् । सागर । समुद्र । तप । तेज: । सिन्धु । अर्णव । नाभि । वृक्ष । ऊर्ध्व । तत् । यत् । किम् । ब्रह्म । वरेण्यम् । हंस । आत्मा । भवति । वधन्यदवानम् । यद् वाहिष्ठा शरीराणि । अन्यत्र च संस्कृते । यज्ञ आत्मा भवति । एतेन सन्वते ।

इन हंस आदि उक्त शब्दों से आत्मा और परमात्मा के स्वरूप को वेदमन्त्रों में दर्शाया गया है। इसलिये आध्यात्म ज्ञान के खोजक को चाहिये कि वह मन्त्र पर विचार करने के पूर्व ही प्रथम इन शब्दों की उपस्थिति को

देखले और फिर आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करे तो कि सन्दोह मन्त्रों का आध्यात्मिक रहस्य खुल जाता है । अब हम सामवेद गत देवताओं को संक्षेप से एक २ की आलोचना करते हैं और बतलाते हैं कि किस प्रकार उपासनाकाण्ड में इन देवताओं की संगति लगती है ।

अग्नि (१०)

प्रथम आग्नेय काण्ड है । इस काण्ड भर में अग्नि देवता का लक्ष्य करके ही सब मन्त्र हैं । वह अग्नि क्या पदार्थ है ? इसका विवेचन वेद के सिद्धान्त या आश्रयभूत उपनिषदों में देखिये ।

(१) कठोपनिषद् में नचिकेता ने गुरु यम से प्रश्न किया है—

स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्र ब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम् ।

आप उस स्वर्ग देने वाले अग्नि को जानते हैं मुझ श्रद्धालु को उसका उपदेश करें । इसके उत्तर में यम ने कहा है ।

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन् ।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम् ।
लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै० । इत्यादि ।

कठ० १ । १ । १३ १४ ।

मैं तुमको उसी स्वर्ग देने हारे अग्नि का उपदेश करता हूं । वह अनन्त लोकों को प्राप्त कराता और अनन्त लोकों का आश्रयस्थान है । वह सब लोकों का आदि मूल कारण है ।

इस अग्नि का नाम भी नचिकेत' अग्नि ही है ।

पाठक समझ सकते हैं यह कैनसी अग्नि है । यह नचिकेत अग्नि 'नासिकेत' प्राणस्वरूप अग्नि है ।

आत्मा का प्रतिपादन करते हुए पुन लिखा है —

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभि (क०२।१।८)
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निरेतद्वै तत् ।

गर्भिणी जिस प्रकार गर्भ को धारण करती हैं उनके समान अरणियों में जो जातवेदा विद्यमान है, जागने हार हविष्मान् पुरुषों द्वारा प्रतिदिन स्तुति करने योग्य जो अग्नि है, वह यह अग्नि आत्मा है। अर्थात् आत्मा का प्रतिनिधि ही यज्ञाग्नि है दूसरा पदार्थ नहीं। फलत यज्ञपरक मन्त्रों का मुख्य प्रतिपाद्य वह आत्मा ही है। मन्त्रों का तो केवल प्रतिनिधिवाद से यज्ञों में विनियोग किया जाता है। (इस उक्त मन्त्र की विशेष व्याख्या देखिये अवि० स० ७१) यह वही अग्नि है, हृदय में छुपे हुए जिसको योगी लोग ध्यान निर्मंथन के अभ्यास से साक्षात् देख लेते हैं।

(२) इस रहस्य को श्वेताश्वतर उपनिषद् में बड़े उत्तम रूप में कहा है।

वन्द्येयथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाश ॥
स भूय एवेन्धनयोनिग्राह्यस्तद्वोभय वै प्रणवेन देहे ॥

जिस प्रकार अपने कारण भूत अरणियों में अग्नि की मूर्ति नहीं देख पड़ती और न अग्नि के सूक्ष्मरूप का विनाश ही होता है और बाद में भी उसको उसके मूलकारणभूत इंधन से ही मथन द्वारा ग्रहण किया जाता है उसी प्रकार दोनों आत्मारूप अग्नि में भी इस देह में प्रणव के मनन से प्रकट होते हैं।

अर्थात्—स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मंथनाभ्यासाद्देव पश्येन्निगूढवत् ॥

अपने देह आत्मा को अधर अरणि और प्रणव ओंकार को उत्तर अरणि बनाकर ध्यानरूप मन्थन दण्ड को पुनः रगड़ २ कर ज्योतिःस्वरूप, देव, अर्थात् प्रकाशस्वरूप आत्मा का दर्शन करे।

तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिरापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥

तिलों में तेल, दही में घी, नदियों में जल और अरणियों में अग्नि जिस प्रकार उपलब्ध होती है उसी प्रकार आत्मा में ही वह परमात्मा व्यापक रूप में जाना जाता है, योगी जन उसको सत्य अर्थात् भूतहित, अहिंसा आदि यम, नियम, सत्याचरण और तप से प्राप्त करते हैं।

इसी अभिप्राय को दर्शाने वाले अन्य वाक्य भी देखने योग्य हैं। जैसे—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्॥

अर्थ—अग्नि के प्रकाश को ही मानो सविता जगदुत्पादक प्रभु ने इस पृथिवीरूप देह में छिपाया था। अर्थात् पृथिवी में जिस प्रकार अग्नि है उसी प्रकार देह में आत्मा है। इसी प्रकार—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपस्तत्प्रजापतिः॥
नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः।
अनादिमत्वं विभुत्वेन वर्त्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा॥

इन दो मन्त्रों में अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः, नील, पतङ्ग, हरित, लोहिताक्ष आदि सब नाम उसी ब्रह्म परमात्मा के गुण एवं स्वरूप के निदर्शक हैं।

मैत्रायणी उपनिषद् में:—

"अथ य एषोऽन्तरे हृत्पुण्डरीके एवाधितोऽन्नमत्ति स एषोऽग्निरिति चित्त. सोऽयं कालाग्निरुद्रः सर्वभूतान्नमत्ति ।"
(मैत्रा० ६ । २)

हृदय कमल में स्थित यह अग्नि (आत्मा) है जो अन्न खाता है और वह मोक्षधाम, द्यौ: में स्थित कालाग्नि नामक परमेश्वर रूप अग्नि है जो प्रलय काल में समस्त भूतों को खाजाता है, लीन कर लेता है।

एष हि खलु आत्मा ईशानः शंभुर्भवो रुद्र. प्रजापतिर्विश्वसृड् हिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंस शान्तो विष्णुर्नारायणोऽर्क सविता धाता सम्राज इन्द्र इन्दुरिति य एष तपत्यग्निना पिहितः सहस्रांशव आनन्दमयेनैष वा विज्ञिज्ञासितव्योऽन्ये एतत्व: । (मैत्रायणी उप० ५ । ८)

वही आत्मा ईशान, शम्भु आदि नामों से कहा जाता है वही अग्नि ज्योति: अर्थात् प्रकाश से आवृत होकर प्रकाशित होता है।

शिर. पक्षौ पुच्छपृष्ठप्राणेषोऽग्निः । 'प्राणो वै वायुः प्राणोऽग्निः ।''' असौ वा आदित्य इन्द्र. सैषोऽग्निः ५६ ३६॥''' इद्धोऽग्निरिव विश्वरूप. ॥

इत्यादि स्थलों में यह परब्रह्म ही अग्नि शब्द से लिया गया है उसको ही

'तस्मादग्निर्यतस्यश्चेतव्य.' ॥ ६ । ३४ ॥

इत्यादि स्थलों में उपासना करने का उपदेश है।

प्रश्नोपनिषद् में—

"स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते ।"

इन्द्र (११)

लौकिक साहित्य में इन्द्र का अर्थ राजा है। पौराणिक साहित्य में इन्द्र एक काल्पित स्वर्गका राजा और अपनी देव कथाओं का विलासी पात्र है। परन्तु वैदिक साहित्य में इन्द्र का अर्थ आत्मा है। आत्मा शब्द से जीवात्मा और परमात्मा दोनों का ग्रहण है। जैसा इस देह में आत्मा है उसी प्रकार विश्वमय ब्रह्माण्ड में परमात्मा है जिसका वर्णन 'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ इत्यादि विशाल अलंकारों से किया जाता है। इसी को 'यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्' इत्यादि अलंकारों से ज्येष्ठ ब्रह्म बतलाया है।

यह अन्तरात्मा इन्द्र है। इसके लिये सर्व प्रसिद्ध प्रमाण देह की इन्द्रियां हैं जिनका नाम ही इन्द्र के आधार पर है। पाणिनि आचार्य ने इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति लिखी है—

इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा

(पा० ५ । २ । ९३)

इन्द्र आत्मा का ज्ञापक लिङ्ग उसका देखा, उससे उत्पन्न, उससे सेवित और उसकी शक्ति से युक्त होने के कारण ही इन्द्रिय कहाते हैं। इसके अतिरिक्त सब कथा कथानकों में प्रसिद्ध पुराणगत इन्द्र कोई पदार्थ नहीं है। वह भी आलंकारिक रूप से इसी इन्द्र आत्मा के समर्थ, सिद्ध, ऐश्वर्यवान् आदि रूपों का दर्शाव है। दूसरा इन्द्र वह परमात्मा है जिसका वर्णन वेद में स्थान २ पर आता है। जैसे 'इन्द्रा महा रोदसी पप्रथच्छवा' (साम० उत्त० अ० १६ । २ ८ । २ ।)

अब यह तो पाठक भाष्य में देखेंगे कि समस्त इन्द्र पर्व इन्द्र विषयक है और उत्तरार्चिक में भी इन्द्र विषयक बहुतसी ऋचाएं हैं।

यहां थोड़ासा उपनिषदों के मन्तव्यों का उल्लेख करते हैं—

(१) एतरेय उपनिषद् में—

'स एतमेव पुरुष ब्रह्म ततमपश्यदु इदमदर्शमिती ँ तस्मा दिद॰द्रा नाम। इद॰द्रो ह वै नाम तमिदन्द्र सन्तादि॰द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया हि देवा ।

वह मुमुक्षु इस पुरुष का ही ब्रह्मरूप से देखता है।

और कहता है 'इदम् अदर्शम्' इससे उस ब्रह्म का नाम 'इदन्द्र' है इसका ही परोक्षरूप 'इन्द्र' है।

बृहदारण्यक में-

इन्धो ह वै नाम एष योऽय दक्षिणेऽक्षन् पुरुष । त नो एत मिन्न स॰तमिन्द्र इत्याक्षते ४ । २ । २ ॥

दक्षिण चक्षु में द्रष्टा रूप से विराजमान आत्मा ही 'इन्ध' है उसको ही इन्द' कहते हैं ,स इन्द्र स एषोऽक्षप न (१ । ५ । १२), यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी (६ । ४ । २२)। इन्द्रस्याथ व्रज कृत्न सार्गल सपरिश्रम (६ । ४ । २३) इन स्थलों पर इन्द जीवात्मावाचक है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में—

स मे इन्द्रो मधया स्पृणातु। (१ । ४ । १) श न इन्द्रो बृह स्पति। (१ । १ । १) स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा । सामवद उत्तरा॰ अ॰ १ । ८) इन स्थलों पर इन्द शब्द परमात्मावाचक निर्विवाद है।

यहां विवाद योग्य बात यही है कि सामवेद में इन्द के साथ दो तीन विशेष घटनाएं प्राय जुड़ी हैं। एक तो इन्द्र का सोमपान दूसरा इन्द्र का वज्र से पुर भेदन और तीसरा वृत्रहनन। उपनिषत्कार इनको क्या मानते हैं इस पर भी कुछ प्रकाश डालना उचित है।

१ सोमपान के प्रकरण को सोमदेवता के प्रकरण में स्पष्ट करेंगे। पुर भेदन के विषय को अग्नि के प्रकरण में स्पष्ट कर आये हैं। वज्र के विषय में गीता में व्यासदेव स्वयं भगवान् को ही 'आयुधानामहं वज्रम्' सब आयुधों में श्रेष्ठ वज्र स्वीकार करते हैं। सब दुःखों के भवबन्धन के छेदन करने हारा ईश्वर ही स्वतः ज्ञानस्वरूप सबसे उत्तम वज्र है।

काठक उपनिषद् में-

प्राण प्रजाति नि सृतम्। महद् भय वज्रमुद्यतम्।
य तद् विदुरमृतास्ते भवन्ति। (६। २)

ईश्वर की शक्ति प्राण को वज्र कहा है।

क्षुरिकोपनिषत् में-

मनसस्तु क्षुर गृह्य सुतीक्ष्ण बुद्धिनिर्मलम्।
इन्द्रवज्र इति प्रोक्तम्॥

ज्ञान ध्यान में तत्पर मन को ही वज्र लिखा है। उस वज्र द्वारा सुषुम्ना सहित १०१ नाड़ियों के बन्धन का ध्यान योग से काटता है। जैसे लिखा है-

द्वासप्ततिसहस्राणि पतिनाड़िषु तैतिलम्।
छिद्यते ध्यानयोगेन सुषुम्नैका न छिद्यते।
योगनिर्मल धारेण क्षुरेणानलतेजसा॥
छिन्देन्नाडिशतं धीर प्रभावादिह जन्मनि॥

ये शत नाड़ी ही आसुरी पुर हैं जिनको कहीं ९९ या ९० भी कहा जाता है। इनमें व्याप्त तैतिल=अन्धकार को ही अध्यात्म योगी वृत्र कहते हैं। इसका विवरण स्थान २ पर पाठकगण भाष्य में ही देखेंगे। इन्द्र और वृत्र की कथा की आलंकारिक व्याख्या का विस्तृत विवरण महर्षि नि

ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में स्पष्टरूप से 'ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषय' में कर दिया है। उसको पुनः यहां उठाकर रखना पिष्टपेषण होगा।

(१२) सोम देवता

सोम क्या पदार्थ है इसका निर्णय कठिन है। याज्ञिक लोगों का सोम एक लता है, जिसके रस पान करने के लिये विशेष विधि है। जो सोमपान तैयार करने की विधि महीधर आदि भाष्यकारों ने दी है वह बहुत सरल है। सर्ज की छाल, त्रिफला, सूठ, पुनर्नवा पीपल, गजपीपल आदि नाना ओषधियों में धान और जौ की खीलें मिला, कूटकर उनको कलश में बंद करके, उसे तीन दिन तक रक्खा जाता है और फिर उसे कम्बल के टुकड़े से छानकर उसमें दूध मधु आदि मिलाकर पान किया जाता है। छानने और पान करने का इन सब क्रियाओं को करते समय सोम देवता के मन्त्रों का पाठ किया जाता है परन्तु उनमें सोम कोई पदार्थ नहीं गिना जाता है। उसमें प्रतिनिधि वाद से ही सोम की कल्पना करके सोमदेवताक मन्त्रों का प्रयोग किया गया है। महीधर के काल के सोम सौत्रामणि को देखकर यह कहना कि समस्त सोमदेवताक मन्त्र इसी सुरारूप सोम का वर्णन ही करते हैं यह भारी भूल होगी। ब्राह्मण ग्रन्थों ने यज्ञ में रखी यज्ञक्रियाओं की व्याख्या करने का यत्न किया है। उसमें वे सोम के निमित्त प्रतिनिधि पदार्थों का मन्त्र में आये शब्दों का अर्थ स्वीकार नहीं करते, प्रत्युत, जिस मुख्य अर्थ के अभिप्राय से वह शब्द मन्त्रों में पढ़ा गया है उसका ही वहां खोलकर बतला देते हैं! इस प्रकार ब्राह्मण और ऋषियों के मत से वह मन्त्र सोमद्रव्यपरक न होकर अध्यात्मपरक हो जाता है। यज्ञकाण्ड को खोलकर दिखाने एवं उसके यज्ञव्याख्यानुसार सोमपरक मन्त्रों की अध्यात्म व्याख्या कर दिखाने के लिए यहां स्थान नहीं और न यहां अवसर है। तो भी ब्राह्मण

कारों ने सोम, सवन के प्रकरण में सोम के जो २ अर्थ किये है उनपर पाठकों का ध्यान खींचते हैं।

जैसे—

श्रीर्वै सोम (श० ४। १। ३। ६) राजा वै सोमः (श० १४। १। ३। १२) यदाह गयोऽसि इति सोमं वा एतदाह (गो० पू० ५। १४) सोमो वै प्रजापति (श० ५। १। ५। २६) यदाह श्येनोऽसि इति सोमं वा एतदाह। एष ह वा अग्निर्भूत्वा संश्रयायति। (गो० पू० ५। १२) यो वै विष्णुः सोम सः (श० ३। ३। ४। २१) योयं (वायु) पवते एष सोमः (श० ७। ३। १। १) स यदाह सम्राड् असि इति सोमं वा एतदाह। एष ह वै वायुर्भूत्वा अन्तरिक्षलोके सम्राजति। (गो० पू० ५। १३) एष वै यजमानो यत् सोम (तै० १। ३। ३। ५) क्षत्रं वै सोमः (श० ३। ४। १। १०) सोमो वै यशः (तै० २। २। ८। ८) एषा केवला यत्सोमाहुति (श० १। ७। २। १०) प्राणः सोमः (श० ७। ३। १। ४५) रेतः सोमः (ऐ० १३। ७) सोमो वै ब्राह्मण (तै० २। ७। ३। १) एष वै ब्राह्मणानां सभासाहः सखा (श० १०। ७। १। १०) इत्यादि।

अर्थात्-सोम के अर्थ श्री, राजा, प्राण, प्रजापति, गूढरूप, अग्नि विष्णु, परमात्मा, वायु, सम्राट्, क्षत्रिय, वीर्य, यश, केवल आनन्दमय, परब्रह्म का लय, वीर्य और ब्राह्मण आदि सभी सोम शब्द से लिये जाते हैं और प्रकरणानुसार सभी अर्थ सोम के स्थान २ पर लिये भी गये हैं। प्रकरणों का परिज्ञान मन्त्र के भीतर आये विशेषणों से जाना जायगा। यदि विशेषण कुछ और बतलावें और वहां सोम के कुछ और अर्थ ले लिये जावें तो यह वेद मन्त्र के साथ वहां अन्याय होगा।

सोम को सोमविक्रयी से खरीदकर बड़े आदर से शकट पर लादकर उसे पत्थरों से कूटा जाता है और पुन उसे दशापवित्रनामक वस्त्र से एक द्रोणकलश नामक घट में छान लिया जाता है। द्रोणकलश में जल होते हैं उनको वसतीवरी' नामक 'आप' कहा जाता है। जिस वस्त्र से छाना जाता है उसको बालों से बना होने के कारण 'अव्या' या 'अव्यय' या 'अव्या वार' शब्द से पुकारा जाता है। उसी को दशापवित्र या पवित्र नाम से भी पुकारा जाता है। सामवेद के प्राय बहुतसे मंत्रों में साम को इस पवित्र' नामक वस्त्रखण्ड से छानने का वर्णन किया है। सायण ने प्राय बहुतसे मन्त्रों में से सोम के छाने जाने परक कई अर्थ किये हैं। परन्तु हमने सायणकृत अर्थों की उपेक्षा की है क्योंकि सोमलता और कूटा हुआ सोमरस जो जड़ पदार्थ हैं उसमें ऐसे विशेषणों का आना जो जड़ पदार्थ में नहीं लग सकते हमें सायणकृत अर्थों के न मानने के लिये बाधित करता है। उदाहरणार्थ—

जैसे—

पुनान सोम जागृविरव्या वारे परिप्रिय ।
विप्रोऽभवोऽङ्गिरस्तम मध्वा यज्ञ मिमिक्षण ॥
(अवि० स० ५१६)

सायण ने इसका अर्थ यह किया है—

' हे साम जागरणशील छाना जाता हुआ तू मेषी=भेड़ के बालों से बने दशापवित्र नामक वस्त्रखण्ड पर बहता है, हे अंगिरों में श्रेष्ठ मेधावी तू पितरों का नेता होता है, वह तू हमार यज्ञ को मधु अर्थात् अपने रस से सींच।

सोमरस को अवश्य यज्ञ में भेड़ के बालों से बने कम्बल के टुकड़े से छाना जाता है इसमें सन्देह नहीं। परन्तु उक्त मन्त्र में 'जागृवि'=जागरणशील, 'विप्र'=मेधावी', 'अङ्गिरस्तम'=अङ्गिरसों में श्रेष्ठ, ये विशेषण

ऐसे हैं जो कभी जड़ सोमरस पर लगने उचित नहीं है, इसलिए सायण का अर्थ अशुद्ध है, क्योंकि इसमें योग्यतारहित पदों से वाक्य बनाया गया है। जिस वाक्य के पदों में योग्यता, आकाङ्क्षा और आसत्ति तीनों हों वही वाक्य कहाता है अन्यथा उन्मत्तप्रलाप है। इसी प्रकार 'जागृवि' आदि विशेषण किसी चेतन की आकाङ्क्षा करते हैं क्योंकि उनमें चेतन में लगने की ही योग्यता है, परन्तु सायण ने उन विशेषणों को एक जड़ पदार्थ पर लगा दिया है इसलिये सायण का लिखा पदसमुदाय वाक्य नहीं बन सकता। क्योंकि जड़ सोमरस न मेधावी है, न ऋषियों में श्रेष्ठ है और न जागरणशील है। तब प्रश्न यह होता है कि इसका सामर्थ्य क्या है (देखिये आलोकभाष्य पृष्ठ २५७) 'अंगिरस्तम' सोम क्या है इस पर विचार कीजिये। इसके ऋषि दृष्टा सप्तर्षि हैं। अर्थात् उपनिषत्कार जिन सात ऋषियों को शिर के सात प्राण बतलाते हैं उसके ज्ञाता इस तत्व को साक्षात् करते हैं अर्थात् सात मूर्धागत प्राण अपने में मुख्य अंगिरा =अंग के रसरूप मुख्य सामान्य प्राण या आत्मा को कहते हैं कि हे 'अंगिरस्तम' सबसे अधिक प्रकाशमान! हे 'जागृवि' जागरणशील तू कभी न सोने वाला है, शेष सब इन्द्रियां थक २ कर सो जाती हैं परं प्राणात्मा कभी नहीं सोता। यदि वह सोजाय तो मृत्यु हो जाय, श्वास न चले। वह स स चलाने के लिये उस समय प्राणरूप से जागृत रहता है वह आत्मा 'विप्र' अर्थात् मेधावी है मेधा बुद्धि उसके पास है, वह आत्मा (प्रियः) सबसे अधिक प्रिय और सबका पोषक है।

उपनिषत् कहती है-"न ह वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति"।

स्त्री भार्या होने के कारण स्त्री प्रिय नहीं, प्रत्युत अपने लिये ये यह जाया प्रिय है। फलतः यह आत्मा सबसे अधिक प्रिय है, इस प्रकार प्रिय हे सोम! सब के प्रेरक! तू (अग्नाः वारे) अग्नि के वारों, अर्थात्

अवि के बाल ? भेड़ के बाल नहीं, प्रत्युत अवि=चितिशक्ति, जो सब अंगों को रक्षा करती है, या अवि=प्राण, उसके वरण=व्यापार प्रवृत्ति इन द्वारा (पुनान) परिष्कृत होता हुआ (न यज्ञं मध्वा मिमिक्ष) हमारे यज्ञ को अमृत अर्थात् चैतन्य से सींच।

पाठक विचार कीजिये अब कोई बात असंगत नहीं रहगई। इसी प्रकार साधक आत्मा के प्रति यह उपदेश है कि वह अपना चितिशक्ति के संचारों और प्राण के निरोधों द्वारा अपने को परिष्कृत शुद्ध करे और अपने यज्ञ, देवपूजा ईश्वरप्रणिधान को आनन्दमय और अमृतमय करे, अपने जीवन में आनन्द-घन का दर्शन करे। इसमें कोई खींचातानी की बात नहीं है। स्पष्ट २ विशेषणों के बल से यहां सोमशब्द आत्मापरक है।

हमारे इस विचार के पोषक प्राचीन ब्राह्मणकारों के सिवाय एक परम वेदज्ञ महर्षि यास्क ही हैं। महर्षि यास्क ने परमात्मा और आत्मा के तत्व का वर्णन करने के लिये सोम देवता के मन्त्रों का भी उल्लेख किया है।

जैसे—

सोम पवते जनिता मतीनां, जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।
(ऋग्० सं० ९२७)

सोम मतियों का उत्पादक द्यौ का उत्पादक और पृथिवी का उत्पादक है। यह तत्वार्थ सोमरस पर नहीं लगता क्योंकि वह द्यौ और पृथिवी को उत्पन्न नहीं कर सकता। इसलिये यास्क लिखते हैं—

'अथैत महान्तमात्मानमेतानि सूक्तानि एता ऋचोऽनुप्रयदन्ति"

अर्थात् ये ऋचाएं महान् आत्मा का वर्णन करती हैं। इसी को जी आत्मापरक भी लगाया है। लिखते हैं—

"अथाध्यात्म सोम आत्माऽभ्येतस्मादेवाऽन्द्रियाणां जनिता इत्यर्थः।
अपि वा सर्वाभिर्विभूतिभिर्विभूतत आत्मेत्यात्मगतिमाचष्टे।"

अर्थात्, अध्यात्म पक्ष में सोम आत्मा भी इसी मन्त्र से कहा गया है क्योंकि वह (मतीना) इन्द्रियों का उत्पादक है। अथवा वही सब विभूतियों को प्राप्त करता है इस प्रकार आत्मा की गति कही है।

ब्रह्मा देवानां पदवी कवीनां···सोम. पवित्रमत्येति रेभन्।
(ऋ० ८। ६६। ६)

इस मन्त्र को यास्कमुनि ने आधिदैविक पक्ष में सूर्य और अध्यात्म में आत्मापरक लगाया है। और 'दशापवित्र'='पवित्र' के सब रहस्य को स्वयं खोल दिया है। इस मन्त्र में सोम का 'श्येनो गृध्राणां', "महिषो मृगाणां' इत्यादि विशेषणों से उपदेश किया है और अन्त में कहा है कि वह 'पवित्र' पर शब्द करता हुआ जाता है। सायण के अनुसार तो "घर घराता हुआ सोम दशापवित्र नामक वस्त्र पर पड़कर छन जाता है" यह अर्थ हुआ और बाकी विशेषण सब असंगत रह जाते हैं। यास्कमुनि कहते हैं—

"महिषो मृगाणामिति अयमपि महान् भवति मृगाणां मार्गणकर्मणामिन्द्रियाणां। श्येनो गृध्राणामिति श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञानकर्मण' । गृध्राणि इन्द्रियाणि गृध्यतेर्ज्ञानकर्मण., यत एतस्मिन्नस्तृप्यन्ति।"

अर्थात् मृगों में महिष अर्थात् मार्गण करने वाली, विषयों को ढूंढ निकालने वाली इन इन्द्रियों में सबसे बड़ा और गृध्रों में श्येन अर्थात् बाज, के समान, गृध्र अर्थात् विषयों के ज्ञानसाधन इन्द्रियों में से श्येन अर्थात् ज्ञान सम्पन्न वह आत्मा है। इसी प्रकार उक्त मन्त्र में देव, कवि, विप्र और वन ये सब नाम इन्द्रियों के हैं जो उनके भिन्न २ गुण दर्शाते हैं। उनमें यह आत्मा ही सबसे अधिक गुणशाली है, वह पवित्र अर्थात् इन्द्रियगण पर ही (रेभन्) स्तूयमान अर्थात् प्रशंसित होकर उत्तम रूप से (अत्येति) अधिक बल शाली होकर उनका भोग करता है, इस प्रकार:—

'सोमं गावो धेनवो वावशाना ० ॥ अन्तःसमुद्र ०
" बृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दु ॥ महत्तत्सोमो महिषश्चकार० ॥

ये मन्त्र सोमपरक होकर भी आत्मपरक ही यास्क मुनि ने माने हैं और स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—

'समुद्र आत्मा', 'इन्दुरात्मा' ।

समुद्र और इन्दु दोनों शब्दों का अर्थ आत्मा है ।

जब यास्क जैसा मुनि इसमें सामदेवताक मन्त्रों को आत्मा के वर्णन में लगाने की दिशा दिखाता है तो कोई कारण नहीं कि उपासना काण्ड का परम वेद सामवेद का पावमान काण्ड एवं सोम सूक्तों का परम चरम अभिप्राय ईश्वर और आत्मापरक न हो । और इस विषय पर कुछ उपनिषदों के प्रमाण भी ध्यान देने योग्य हैं जिनको हम क्रम से देते हैं—

१. मैत्रेयी उपनिषद् में स्वहृदयार्चन प्रकार लिखते हुए लिखा है—

"विज्ञानोऽस्मि विशेषोऽस्मि सोमोऽस्मि सकलोऽस्म्यहम् ।"

यहां आत्मा को ही 'सोम' कहा है । इसी प्रकार—

"सोमसंज्ञोऽयं भूतात्मा,'

स्पष्ट लिख दिया है । छान्दोग्य में कितना सुन्दर लिखा है—

"अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् । एष हि आत्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते । अथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत् । तदरश्च ह वै एषश्च अर्णवो ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरम्मदीयं सरस्तदश्वत्थ सोमसवनं तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम् ॥"

(छा० ८ । ५ । ३)

अर्थ—यह जो 'अनाशकायन' और 'अरण्यायन' कहा जाता है । यह भी ब्रह्मचर्य का व्रत ही है क्योंकि क्षुधा पर वश करके और अरण्य

पास में गुरु की अधीनता में रहकर जो ब्रह्मचर्य का पालन कर आत्मा के परम ज्ञान को प्राप्त करता है वह नष्ट नहीं होता। ब्रह्मलोक में 'अर' और 'नय' इन नाम के समुद्र या दो तालाब हैं। उसी तृतीय द्यौ., स्वर्ग लोक में 'ऐरंमदीय' नामक 'सरः' है और 'सोमसवन' नामक 'अश्वत्थ' है। वहीं 'अपराजिता' ब्रह्मपुरी है, वहा ही प्रभु परमेश्वर का दिया ईश्वर ज्ञान या ब्रह्मज्ञानमय स्वर्ग है यह सब अध्यात्म ज्ञान की कथा है। यहां सोमसवन नामक अश्वत्थ आत्मा ही है, वह ऐरंमद ज्ञानानन्दमय ब्रह्म ही यहां 'सरः' ताल या रसमय मोक्षपद हैं। वही ब्रह्मपुरी है वहा ही ब्रह्म ज्ञान है। यह सब आलंकारिक वर्णन है। इसी प्रकार–

"तन् मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन"

(छान्दो० ३) ६ । १)

यहां सोम का अर्थ प्राण हैं।

"आर्द्रं उद्वेतसोऽसृजत तदु सोमः।"

यहा सोम का अर्थ वीर्य है। मुण्डक में "सोमात्पर्जन्यः" (१।१५) यहां सोम का अर्थ सूर्य है। "यास्ते सोम प्राणांस्तां जुहोमि" (महानारायणोप० १७ । ६) यहा सोम का अर्थ आत्मा है।

'सोमं पिब वृत्रहन्' (महानारायणोप० २०२) यहां सोम का अर्थ ब्रह्मानन्द रस है। "अपाम सोममभृता अभूम" यहां आत्म ज्ञान और ब्रह्मज्ञान ही सोमार्थ है "सोमो भूत्वा रसात्मक·" (गीता) यहा सोम का अर्थ परमात्मा की शक्तिरूप समष्टि रस है। इसके अतिरिक्त सोमपान करने हारे पुरुषों के विषय में भी देखिये। 'सोमपा अभयङ्करः" (महानारा० उप० २० । ५) यहां सोम का अर्थ समस्त संसार है। उसका पालन एवं प्रलयकाल में पान कर जाने हारा परमात्मा 'सोमपा' शब्द से कहा गया है। 'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः' तीनों वेदों के ज्ञाता, योगाभ्यासी, ब्रह्मज्ञ, निष्पाप पुरुष 'सो-

मयं' शब्द से कहे गये हैं। इसी प्रकार ' इन्द्रियं सोमपीथं ' (तै० १ । ३ । १० । २) यहां इन्द्रिय को सोम अर्थात् ज्ञान का पान करने हारा कहा है। "समित्पाणे सोम्यादर" हे सोम्य ! शिष्य ! समिधा ले आओ। इस स्थान में ज्ञानपिपासु शिष्य भी सोम्य कह गये हैं। ब्रह्मविदिव भासि (छा० उप० ४ । ९ । २) सोम्य यहां भी शिष्य को ही सम्बोधन किया गया है। उपनिषदों में सोम्य शब्द का बहुत ही अधिक प्रयोग आता है। गीता में भी—भूत्वा पुनः सोम्यवपुर्महात्मा। इत्यादि प्रयोग है।

इतने उद्धरणों से पाठक महोदय अवश्य सोम शब्द के विशेष अर्थों और प्रयोगों को देखकर विचार कर सकते हैं कि वेद साहित्य में सोम विषयक मन्त्रों पर किस रीति से विचार करना चाहिये। विस्तारभय से और अधिक न लिखकर यही कहेंगे कि आप स्वयं सामवेद का स्वाध्याय करें और मंत्रों पर विचार करें।

उषा देवता (१३)

कुछ मन्त्र और सूक्त उषा देवता के भी है। यह उषा देवता क्या पदार्थ हैं इसका निरूपण हम इस स्थान पर विशेष नहीं करना चाहते परन्तु आग्रह करेंगे कि इस विषयक मन्त्रों पर ही हमने विशेष विवरण खोला है वहां देखलें।

यों तो वेद का विषय बड़ा गम्भीर है। वेद के प्रत्येक शब्द में ज्ञान भरा हुआ है। जिस दृष्टि से विचार करें उस दृष्टि से नये २ सत्य और गूढ़ तत्वों का प्रकाश होता प्रतीत होता है। परन्तु वेदों का स्वाध्याय छूट जाने से वेदमय सरस्वतीरूप कामधेनु के न तो परिपालक ही रह गये हैं और न उस रस का आस्वादन करने हारे भावुक ही रहे हैं, अस्तु।

पास में गुरु की अधीनता में रहकर जो ब्रह्मचर्य का पालन कर आत्मा के परम ज्ञान को प्राप्त करता है वह नष्ट नहीं होता। ब्रह्मलोक में 'अर' और 'एय' इन नाम के समुद्र या दो तालाब हैं। उसी तृतीय द्यौ, स्वर्ग लोक में 'ऐरंमदीय' नामक 'सर' है और 'सोमसवन' नामक 'अश्वत्थ' है। वहीं 'अपराजिता' ब्रह्मपुरी है वहां ही प्रभु परमेश्वर का दिया ईश्वर ज्ञान या ब्रह्मज्ञानमय स्वर्ग है यह सब अध्यात्म ज्ञान की कथा है। यहां सोमसवन नामक अश्वत्थ आत्मा ही है, यह परमद ज्ञानानन्दमय ब्रह्म ही यहां 'सर' ताल या रसमय मोक्षपद हैं। वही ब्रह्मपुरी है वहां ही ब्रह्म ज्ञान है। यह सब आलंकारिक वर्णन है। इसी प्रकार–

"तन् मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन"

(छान्दो० ३ । ६ । १)

यहां सोम का अर्थ प्राण है।

"आर्द्र उद्वतसोऽसृजत तदु सोम:।"

यहां सोम का अर्थ वीर्य है। मुण्डक में "सोमात्पर्जन्य:" (१।१२) यहां सोम का अर्थ सूर्य है। "यास्ते सोम प्राणांस्तां जुहोमि" (महानारायणोप० १७ । ६) यहां सोम का अर्थ आत्मा है।

'सोमं पिब वृत्रहन्' (महानारायणोप० २०२) यहां सोम का अर्थ ब्रह्मानन्द रस है। 'अपाम सोममभूता अभूम" यहां आत्म ज्ञान और ब्रह्मज्ञान ही सोमार्थ है "सोमो भूत्वा रसात्मक " (गीता) यहां सोम का अर्थ परमात्मा की शक्तिरूप समष्टि रस है। इसके अतिरिक्त सोमपान करने वाले पुरुषों के विषय में भी देखिये। 'सोमपा अमयङ्कर" (महानारा० उप० २० । ५) यहां सोम का अर्थ समस्त संसार है। उसका पालन एवं प्रलयकाल में पान कर जाने वाला परमात्मा 'सोमपा' शब्द से कहा गया है। 'त्रैविद्या मां सोमपा पूतपापा.' तीनों वेदों के ज्ञाता, यज्ञाभ्यासी, ब्रह्मज्ञ, निष्पाप पुरुष सो

मणं' शब्द से कहे गये हैं। इसी प्रकार 'इन्द्रिय सोमपीथ' (तै० १।३।१०।२) यहां इन्द्रिय का सोम अर्थात् ज्ञान का पान करने हारा कहा है। "समित्पाणिं सोम्यादर" हे सोम्य! शिष्य! समिधा ले आओ। इस स्थान में ज्ञानपिपासु शिष्य भी सोम्य कह गये हैं। ब्रह्मविदिव भासि (छा० उप० ४।९।२) सोम्य यहां भी शिष्य को ही सम्बोधन किया गया है। उपनिषदों में सोम्य शब्द का बहुत ही अधिक प्रयोग आता है। गीता में भी—भूत्वा पुनः सोम्यवपुर्महात्मा। इत्यादि प्रयोग है।

इतने उद्धरणों से पाठक महोदय अवश्य सोम शब्द के विशेष अर्थों और प्रयोगों का देखकर विचार कर सकते हैं कि वेद साहित्य में सोम विषयक मन्त्रों पर किस रीति से विचार करना चाहिये। विस्तारभय से और अधिक न लिखकर यही कहेंगे कि आप स्वयं सामवेद का स्वाध्याय करें और मंत्रों पर विचार करें।

उषा देवता (१३)

कुछ मन्त्र और सूक्त उषा देवता के भी हैं। यह उषा देवता क्या पदार्थ हैं इसका निरूपण हम इस स्थान पर विशेष नहीं करना चाहते परन्तु आग्रह करेंगे कि इस विषयक मन्त्रों पर ही हमने विशेष विवरण खोला है वहां देखलें।

यों तो वेद का विषय बड़ा गम्भीर है। वेद के प्रत्येक शब्द में ज्ञान भरा हुआ है। जिस दृष्टि से विचार करें उस दृष्टि से नये २ सत्य और गूढ़ तत्वों का प्रकाश होता प्रतीत होता है। परन्तु वेदों का स्वाध्याय छूट जाने से वेदमय सरस्वतीरूप कामधेनु के न तो परिपालक ही रह गये हैं और न उस रस का आस्वादन करने हारे भावुक ही रहे हैं, अस्तु।

(१४) उपसंहार

उपसंहार में हम पाठकों का इस भाष्य की कुछ विशेषताओं के सम्बन्ध में भी दो एक बात कहना चाहते हैं। वेदमन्त्रों की भाष्यशैली बहुत सरल रक्खी गई है। जहां तक हो सका है वेद के प्रत्येक पद को पृथक् २ कालमों में रखकर प्रत्येक अर्थ को दर्शाते हुए मन्त्र का सरल अर्थ कर दिया है। अग्नि इन्द्र आदि विशेष देवता वाचक शब्दों का प्रायः यथास्थान स्पष्ट कर दिया है। केवल अर्थमात्र पढ़ने से ही उसका सरल अर्थ आप से ही आप स्पष्ट हो जाता है। विशेष मन्त्रों पर उपनिषद् आदि प्रमाण ग्रन्थों के उद्धरण देकर भावार्थ भी दर्शाया गया है। जिन शब्दों का विशेष अर्थ किया है उसका टिप्पणी देकर प्रमाणित भी किया गया है। प्रत्येक मन्त्रके साथ अन्य वेदसंहिताओं के जहां पाठभेद टिप्पणी में दिये गये हैं वहां प्रत्येक मन्त्र के साथ २ अन्य वेद की प्रतीक भी दी है।

(१५) सामवेद के प्रतीक संकेत

सामवेद के तीन भाग हैं एक पूर्वार्चिक और दूसरा उत्तरार्चिक और तीसरा मध्यभाग महानाम्नी आर्चिक हैं। पूर्वार्चिक के ४ भाग हैं (१) आग्नेय काण्ड, (२) ऐन्द्र काण्ड, (३) पवमान काण्ड और (४) आरण्यक काण्ड। ये चारों काण्ड ६ प्रपाठक में बटे हुए हैं। सायण के अनुसार इनका पांच अध्यायों में बांटा गया हैं। प्रपाठकों में अर्धप्रपाठक और दशतियों का विभाग है। अध्यायों में खण्डों का विभाग हैं। परन्तु अर्ध प्रपाठक के विभागों में भी दशतियों की संख्या बराबर आगे चलती जाती है। इसलिये पूर्वार्चिक में अर्धप्रपाठकों को हमने अनावश्यकता ही जाना है। उत्तरार्चिक में २१ अध्याय और ९ प्रपाठक हैं। इन प्रपाठकों के भी अर्धप्रपाठक है इनमें दशतियों का विभाग नहीं हैं। प्रत्युत सूक्तों का विभाग है। कई संहिताओं में पूर्वार्चिक भाग में दशतियों की संख्या अलग २ करदी हैं। इसलिये प्रायः सामवेद के मन्त्र की प्रतीक (पूर्वा०, प्र०, अर्द्ध०, प्र०, दश०, म्र०) इस रीति से दर्शाते है।

अन्तिम निवेदन

वेद के प्रगाढ विद्वानों के समक्ष मेरा यह आलोक भाष्य एक बहुत ही तुच्छ आलोक है जो चतुष्मान् शास्त्रालोचक धीमान् पुरुषों की दृष्टि में भी सामान्य दीपकालोक के समान है। यद्यपि नाना विद्यासूर्यों के आलोकों के समक्ष दीपकालोक नगण्य है तो भी उनके अभाव में दीपकालोक भी लोचनों के लिये पर्याप्त आश्रय है। मार्गमात्र दर्शी देने का प्रयोजन ही इस आलोक से सिद्ध हो सकता है। गभीर गुहागत तत्वों का प्रदर्शन करने के लिये और भी अधिक विस्तृत सूर्योलोक की आवश्यकता है। पुरातन विद्वानों के चरणचिह्नों पर चलते हुए इस तुच्छजन के आलोक प्रदर्शन में यदि कुछ त्रुटि भी हो गई हो तो मानुष स्वभाव के लिये वह असगत नहीं, प्रत्युत बालक के गिरन के समान वह भी शोभा ही है। मेरे ग्रन्थ पर दृष्टिपात करते हुए बहुतसे विज्ञगण मेरी त्रुटि देख कर इसलिये प्रसन्न होंगे कि उनको वह बात भी ज्ञात है जो मुझे नहीं ज्ञात है। उनकी इस प्रसन्नता पर मैं भी प्रसन्न होऊगा यदि वे महानुभाव त्रुटिस्थल पर अपना विशेष ज्ञान मुझे जनाकर महानुभावता प्रकट करें। जिससे अगला सस्करण और भी गुणसम्पन्नरूप में प्रकाशित हो। और यदि केवल अपना पाण्डित्य दिखाने के भाव से या, किन्हीं अन्य दुर्भावों से कोई अन्यथा प्रलाप करेंगे और गुणग्रहण की अपेक्षा दोषग्रहण ही करने पर लगे रहेंगे तो ऐसे महानुभावों की कुचोदना पर किसी का वश नहीं और न उससे कोई सत्फल ही प्राप्त हो सकेगा। हम भी कुमारिल के शब्दों में यही कहना चाहते हैं—

आगमप्रवणश्चाहं नापराद्धं स्खलन्नपि।
नहि सद्वर्त्मनागच्छन् स्खलितेष्वप्युपेक्षते ॥ इति शिवम्।

केसरगज
अजमेर

विद्वानों का अनुचर
जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार,
मीमासातीर्थ

भूमिका विषय-सूची

		पृष्ठ
१.	उपक्रम	१
२.	सामवेद संहिता	२
३.	शाखाभेद	३
४.	साम ब्राह्मण	७
५.	साम संहिता	८
६.	सामवेदभाष्य	१२
७.	सिद्धान्त दिशा विचार	८
८.	इन्द्र	३२
९.	सोमदेवता	३९
१०	उषा देवता	४३
११,	उपसंहार	४४
१२	सामवेद के प्रतीक संकेत ...	४४
१३.	अन्तिम निवेदन	४६
१४.	ग्रन्थ संकेत सूची . ..	४६
१५.	द्वितीय संस्करण की भूमिका	४७

—•—

॥ ओ३म् ॥

सामवेदसंहिता

पूर्वार्चिकः (छन्द आर्चिकः)

आग्नेयं काण्डम्

प्रथमप्रपाठकस्य प्रथमार्द्धे

प्रथमोऽध्यायः

परमेश्वर की स्तुति

॥ द० १ ॥ १, २, ४, ७, ६ भरद्वाजऋषे बार्हस्पत्य । ३ मेधातिथि काण्व । ५ उशना । ६ सुदीतिपुरुमीळौ । ८ वत्स काण्व । १० वामदेव ॥ गायत्रीछन्द ॥

[१] अग्न आ याहि वीतये गृणानो ह॰व्यदातये ।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ १ ॥ ऋ० ६ । १६ । १० ॥

भा०—हे अग्ने परमात्मन् [१] (वीतये [१]) सर्वत्र प्रकाशक और व्यापक होने और (ह॰व्यदातये) हव्य अर्थात् दान और भोग योग्य पदार्थों के प्रदान करने के लिये आप (आ याहि) प्राप्त हों । आप (गृणान [२]) स्तुति करते

१—१ वीतये—वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु ।

२ गृणान—गृ स्तुतौ । व्यत्ययेन कर्मणि शानच्प्रत्ययः ।

योग्य, (होता[3]) सब पदार्थों के देने वाले, यज्ञ में आसन पर होता के समान (बर्हिषि[4]) यज्ञ, आत्मा या ब्रह्मपद में (नि सत्सि) विराजमान हैं।

[२] त्वमग्ने यज्ञानाꣳहोता विश्वेषाꣳ हित.।
देवेभिर्मानुषे जने ॥ २ ॥ ऋ० ६ । १६ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन्[1] (त्वम्) तू (विश्वेषाम्) समस्त (यज्ञानाम्) यज्ञों, देव उपासनाओं का (होता) स्वीकार करने वाला होकर और (देवेभि[1]) देवों, विद्वानों द्वारा (मानुषे जने) मनुष्य जनों में, यज्ञ में अग्नि के समान (हित.) सर्वोपास्य रूप से स्थापित किया है।

[३] अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ ३ ॥ ऋ० १ । १२ । १ ॥

भा०—हम (विश्ववेदसम्[1]) सर्वज्ञानी, सर्वधनी सर्वेश्वर, (होतारम्) होता, सर्वप्रद, (अस्य) इस (यज्ञस्य) यज्ञ, ब्रह्मपद के (सुक्रतुम्[1]) सुक्रतु उत्तम कर्त्ता, विधाता और ज्ञाता (अग्निं) अग्नि को (दूतं[3]) दूत अर्थात् उपास्यरूप से (वृणीमहे) वरण करते हैं। इस प्रकार बहुत उत्तम विद्वान् को भी कार्यसाधक दूत रूप से वरण करना चाहिये।

---

३ होता—दाता। आह्वाता वा। आह्वान करने वाला। ईश्वर सबको अपने पास बुलाता है। और संसार में सबको खाने और परोपकार करने के लिये पदार्थ भी देता है।

४ बर्हिषि—बर्हि यज्ञ, अन्तरिक्षम्, उदकम्, आसन, मुख।

२—१ देवेभ्यो दीनेभ्य ऋत्विग्भ्य एतन्नाम दुष्यन्तो भवतीति वा। निरु०।

३—१ वेदस्, वेदोऽनुपसर्गादसि। वित् ज्ञान। वेद धन। नि० ३। २। १०॥
२, क्रतु कर्मनाम। नि० २। १। प्रज्ञानाम च। नि० ३। ९॥
३ दूत। दवतेर्दीप्तिकर्मण.। दुनोति गच्छति इत्यस्य वा स दूत, यद्वा दुनोति सन्देशं वा। द० उ०।

[४] अग्निर्धृत्राणि जङ्घनद्द्रविणस्युर्विपन्यया ।
समिद्ध शुक्र आहुत ॥ ४ ॥ ऋ० ६ । १६ । ३४ ॥

भा०—(विपन्यया) विशेष स्तुति द्वारा (द्रविणस्यु [1]) उपासकों के द्रव्य, बल और भक्तिभाव को स्वीकार करने वाला 'अग्नि' परमेश्वर (समिद्ध) चमकता हुआ, (शुक्र) शुद्ध, कान्तिमान् (आहुत) भली प्रकार से स्तुति किया या स्मरण किया हुआ (धृत्राणि [2]) आत्मा को घेरने वाले पापों को, विघ्नों को और अन्धकारों को (जघनद्) नाश करे ।

[५] प्रष्ठं वो अतिथिꣳ स्तुषे मित्रमिव प्रियम् ।
अग्ने रथं न वेद्यम् ॥ ५ ॥ ऋ० ८ । ८४ । १ ॥

भा०—(व) तुम्हारे (प्रेष्ठम्) सब से अधिक प्रिय, (मित्रम् इव प्रियम्) मित्र के समान प्यारे, (अतिथिम् [1]) सर्वव्यापक, अतिथि के समान आदरणीय ईश्वर की (स्तुषे) स्तुति करता हूं । हे अग्ने ! प्रकाश स्वरूप ! तू (रथं न वेद्यम् [2]) रथ के समान समस्त पदार्थों का प्राप्त कराने हारा, या रस के समान अनुभव वेद्य है ।

[६] त्वं नो अग्ने महोभि पाहि विश्वस्या अरातेः ।
उत द्विषो मर्त्यस्य ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । ७१ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! प्रकाशस्वरूप ! (त्वं) तू (नः) हमें (विश्वस्याः) समस्त प्रकार के (अरातेः) सुख न देने वाले मनुष्य से (महोभिः)

४—१ छन्दसि परेच्छाया वक्तव्या । द्रविणमिति वित्तनाम (नि० २ । १) धननाम च नाम च (नि० २ । १०)

२ रक्षः प्रभृतीनि तमांसि वा । सा० । शत्रुसैन्यानि । मा० वि० ।

५—' अग्निम् ' इति पाठभेदः ऋ० ।

१ ' अतेरिथिन् ' अतिथिः । अभ्यतितो गृहान् इति । नि० ।

उत्तम सुखसाधनों, धनों द्वारा (पाहि) पालन कर, बचा । (उत) और (द्विषः मर्त्यस) द्वेष करने वाले मनुष्य से भी (पाहि) बचा ।

कानून स्वामी जो भृत्यों और प्रजाओं का भाग उनको न दे और द्वेषी जो क्रोध या वैर से दूसरे को दण्ड दे, उन दोनों से रक्षा की प्रार्थना है ।

[७] एहयूषु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थतरा गिर ।
एभिर्वर्द्धास इन्दुभि ॥ ७ ॥ ऋ० ६ । १६ । १६ ॥

भा०—हे अग्ने ! (एहि उ) आ । (ते) तेरे लिये (इत्था[1]) इस प्रकार की वैदिक सत्य वाणियां और (इतरा[2] गिर) उनसे दूसरी लौकिक, या देववाणी से अतिरिक्त असुरवाणियों को मैं तेरी स्तुति में (ब्रवाणि) कहता हूं । (एभि इन्दुभि) इन परम ऐश्वर्यों से तू (वर्द्धास) महिमा में बड़ा है ।

ईश्वर अपने सामर्थ्य, ज्ञान और सौम्य गुणों द्वारा सब से बड़ा है और सब वाणियें उसकी ही स्तुति करती हैं ।

[८] आ ते वत्सो मना यमत्परमाच्चित्सधस्थात् ।
अग्ने त्वा कामये गिरा ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । १२ । ७ ॥

भा०—(वत्स[1]) तेरे पुत्र के समान स्तुतिकर्ता उपासक (ते मन[2]) तेरे मनन करने योग्य सत्यज्ञान को (परमात् चित् सधस्थात्) परम उत्कृष्ट स्थान से (आ यमन्) वश करता प्राप्त करता है । हे (अग्ने) अग्ने ! परमेश्वर ! (त्वा कामये) मैं तुझे ही चाहता हूं ।

आत्मा में साक्षात् ब्रह्म से मनन करने योग्य सत्य ज्ञान को प्राप्त करता है और ईश्वर के प्रति प्रेम प्रकट करता और उसे चाहता है ।

७—१ 'इत्था' इति पदात् विकरणव्यत्ययेन । इत्था सत्या । मा० वि० । इत्थाशब्दात् सत्यनामसु पठितात् । इत्थमित्यस्य छान्दसमलोपं दीर्घं कृत्वा ।
२ इतरा सत्यतो अन्या । मा० वि० ।

८—१ वदतेर्यादिः स । उ० या० ३ । ६२ । २ मन ज्ञाने (स्वादि) ।

[९] त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत ।
मूर्ध्नो विश्वस्य वाघत ॥ ९ ॥ ऋ० ६ । १६ । १३ ॥

भा०—हे अग्ने प्रकाशस्वरूप [1] (त्वाम्) तुझे (अथर्वा [2]) अहिंसक, प्रजापति, ज्ञानी विद्वान् (विश्वस्य वाघत) समस्त ब्रह्माण्ड का वहन करने वाले (मूर्ध्नः) मूर्धा स्थान, सर्वोच्च (पुष्कराद् अधि) पुष्कर अर्थात् सबको पुष्ट करने वाले तरे शक्तिमान् विराट् स्वरूप से ही (निर् अमन्थत) अरणियों से अग्नि के समान, मथन करके तुझे प्रकट करता है, तेरा ज्ञान करता है ।

[१०] अग्ने विवस्वदा भरास्मभ्यमूतय महे ।
देवो ह्यास नो दृशे ॥ १० ॥

भा०—हे अग्ने [1] (अस्मभ्यम्) हमारी (महे ऊतये) बड़ी रक्षा के लिये (विवस्वत्) विशेष सुखपूर्वक निवास योग्य ऐश्वर्य से युक्त, गृह, यज्ञ आदि को (आभर) प्राप्त करा । क्योंकि (नः) हमारे (दृशे) देखने और मार्ग दिखाने के लिये (देव हि असि) प्रकाशमान, विद्वान्, ज्ञानवान् परमदेव तू ही है ।

इति प्रथमा दशतः । प्रथम खण्ड ।

॥ २ । १ आयुर्वाहि । २ वामदेव । ३, ८, ९ प्रयोग । ४ मधुच्छन्दा । ५, ७ शुन शेप । ६ मेधातिथि काण्व । १० वत्स काण्व । गायत्री छन्द ॥

[११] नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टय ।
अमैरमित्रमर्दय ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ७१ । १० ॥

भा०—हे अग्ने । हे (देव) देव [1] (कृष्टयः [2]) मनुष्य (ते) तुझे (ओजसे [2]) बल के लिये (नमः गृणन्ति) नमस्कार कहते हैं । तू

११—१ कृष्टिरिति मनुष्यनाम । नि० २।३॥ २ ओज इति बलनाम । नि० २।९।

(अमै [३]) बलों से (अमित्रम्) शत्रु को (अर्दय) पीड़ित कर । भक्त भगवान् से त्राण मागते और वन्दना करते हैं कि खल दण्डित हों ।

[१३] दूत वो विश्ववेदस हव्यवाहममर्त्यम् ।
यजिष्ठमृञ्जसे गिरा ॥ २ ॥ ऋ० ४ । ८ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! प्रकाशस्वरूप ! (विश्ववेदसम्) समस्त धनों के स्वामी, समस्त ज्ञानसपन्न (हव्यवाहम्) समस्त भोग्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले, (अमर्त्यम्) कभी न मरने वाले अमृत (दूतम्) दूत के समान परोपकारी सखापास्य, (यजिष्ठम्) सृष्टिमय महान् यज्ञ के करने वाले, अथवा सबसे बड़े उपास्य (व) तुमको मैं (गिरा) वेदवाणी द्वारा (ऋञ्जसे[३]) अपने अनुकूल करता हू, आपकी साधना करता हू । अथवा हे मनुष्यो ! (व दूत) आप लोगों के उपास्य, सबधर, अमृत रूप देवकी वाणी से (ऋञ्जस) स्तुति करता हू ।

[१४] उप त्वा जामयो गिरो देदिशतीर्हविष्कृत ।
वायोरनीके अस्थिरन् ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । १०२ । १३ ॥

भा०—हे अग्ने ! (हविष्कृत) स्तुति और हव्य सम्पादन करने वाले पुरुष की (जामय गिर) वाणियां, भगिनियों के समान, एक ही स्थान पर उत्पन्न होने वाली, अथवा सत्य फलको पैदा करने वाली, (दादिशती) तेरे गुणों को प्रकट करती हुई (वायो) सर्वव्यापक सर्वज्ञ तेरे ही (अनीके) समीप (उप अस्थिरन्) पहुचती हैं, तुझ में ही घटती हैं ।

[१५] उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ॥ ४ ॥ ऋ० १ । १ । ७ ॥

---

३ रणैरस्मभ्यं । भा० वि० ।

१२—१ ऋञ्जति प्रसाधनकर्मा । नि० ४ । १ ।

भा०—हे अग्ने ! (दिवे दिवे) प्रतिदिन (दोषा वस्त) सायं प्रातः, दिन रात (वयम्) हम सब लोग (धिया) अपनी बुद्धि द्वारा और कर्म द्वारा (नमो भरन्त) नमस्कार करते हुए या यज्ञ की हवि प्रस्तुत करते हुए (त्वा) तुझको (एमसि) प्राप्त होते हैं ।

[१५] जरा॑बोध॒ तद्वि॑विडि॒ढि वि॒शे वि॒शे॒ यवि॑ष्ठ्याय ।
स्तोम॑ रु॒द्राय॒ दृश॑ीकम् ॥ ५ ॥ ऋ० १ । २७ । १० ॥

भा०—हे (जराबोध) स्तुतियों द्वारा ज्ञान करने एवं प्रकट करने योग्य ! अग्ने ! (विशे विशे) प्रत्येक प्रजा के हित के लिये (तत् विविड्ढि) उस परम स्थान या हृदय में प्रवेश करो जहां लोग (यविष्ठ्याय) यज्ञ, आत्मा के योग्य हितैषी, उपास्य, (रुद्राय) दुष्टों का दण्ड करके रुलाने वाले तुझ ईश्वर के लिये (दृशीकम्) दर्शनीय (स्तोमम्) स्तुति पाठ करते हैं ।

अर्थात् जिस हृदय में कर्मव्यवस्था का भय करके दुष्टों के दण्डकर्त्ता ईश्वर के लिये स्तुति की जाती है, हे स्तुति द्वारा हृदय में प्रकाशित होने वाले परमात्मन् ! आप भक्ति द्वारा प्रत्येक मनुष्य के उस हृदय में प्रकट हो । फलतः, डर से ईश्वर की स्तुति करने की अपेक्षा सब लोग प्रेम और भक्ति से ईश्वर को हृदय में स्थान दें ।

[१६] प्रति॒ त्य चारु॑मध्व॒रं गो॒पीथा॑य प्रहूयसे ।
मरु॑द्भिरग्न आ ग॑हि ॥ ६ ॥ ऋ० १ । १९ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! तू (त्य) उस (चारुम् अध्वरम्) सुन्दर, हिंसा रहित यज्ञ अमर आत्मा की (गोपीथाय) रक्षा करने के निमित्त (प्र हूयसे) पुकारा या याद किया जाता है । तू (मरुद्भि) विद्वानों द्वारा या प्राणों द्वारा उनकी साधना से हमारे हृदय में (आ, गहि) प्रकट हो ।

[१७] अश्व॑ न त्वा वार॒वन्त॑ वन्दध्या अ॒ग्निं नमो॑भि ।
स॒म्राज॑न्तमध्व॒राणा॑म् ॥ ७ ॥ ऋ० १ । २७ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! तू (वारवन्त अश्व न) कष्ट निवारण के साधन रूप बालों से युक्त अश्व के समान (वारवन्त) कष्ट निवारक साधनों से सम्पन्न अथवा अज्ञान वारक, ज्ञानदीप्तियों और विघ्ननिवारक साधनों से सम्पन्न और (अध्वराणा सम्राज त) हिंसा रहित धर्म कार्य, यज्ञों के महान् सम्राट्, उनके प्रकाशक और उनमें स्वयं प्रकाशमान उस तुझ (अग्निं) अग्नि, प्रकाश स्वरूप ईश्वर को (नमोभि) हृदय के विनयों द्वारा (वन्दध्यै) वन्दना करते हैं।

[१८] और्वभृगुवच्छुचिमप्नवानवदाहुवे।
अग्निं समुद्रवाससम् ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । १०२ । ४ ॥

भा०—(समुद्रवाससम्[१]) समुद्र, आकाश में व्यापक (शुचिम्) शुद्ध (अग्निम्) अग्नि, ईश्वर को (और्वभृगुवत्, अप्नवानवद्) और्वभृगु पृथ्वी के गर्भगत और अप्नवान अर्थात् ओषधि रसों में विद्यमान अग्नि के समान (आहुवे) स्मरण करता=जानता हूं।

'और्वभृगु' अग्नि पृथ्वी के गर्भ में रह कर समस्त पदार्थों को अपने ताप से भर्जन करती और पकाती है। 'अप्नवान' अग्नि रसों और आप धियों में शान्त भाव से रहती है और रस अन्न क्षार रूप में प्रकट होती है। उसी प्रकार तेजोमय कान्तिमान् ईश्वर को समस्त ब्रह्माण्ड में सामर्थ्य रूप में जानना चाहिये।

[१९] अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः ।
अग्निमिन्धे विवस्वभि ॥ ९ ॥ ऋ० ८ । १०२ । २२ ॥

भा०—(अग्निम्) अग्नि, प्रकाशस्वरूप ईश्वर को (मनसा) हृदय से (इन्धान) काशित करता हुआ (मर्त्यः) मनुष्य (धियम्) बुद्धि

१८—१ समुद्र इत्यन्तरिक्षनाम, नि० १ । ३

१९—'धिं' इति ऋ० ।

या कर्म को (सचेत) प्राप्त हो । (विवस्वभि) सूर्य के समान विद्वानों द्वारा मैं (अग्निम्) उस प्रकाशक रूप ईश्वर का (इन्ध[1]) हृदय में प्रज्वलित करता हूं ।

ईश्वर के मानस ध्यान से मनुष्य बुद्धि और कर्म को सुधारें, उत्तम विद्वानों के सग से ईश्वर का ज्ञान करें ।

[२०] आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योति पश्यन्ति वासरम् ।
परो यदिध्यते दिवि ॥ १० ॥ ऋ० ८ । ६ । ३० ॥

भा०—(पर दिवि) द्यौलोक से भी परे अति अधिक दूर (यत्) जो सूर्य (इध्यते) प्रकाशमान है । (आत् इत्) और (वासरम्) दिन को प्रकाश करने वाले जिस (ज्योति) सूर्य को लोग (पश्यन्ति) देखते हैं वह भी (प्रत्नस्य) अति प्राचीन आदिकाल के परम (रेतस) वीर्यवान्, जगत् के विधाता ईश्वर की ही (ज्योति) तेज है ।

तस्य भासा सर्वमिद विभाति । (कठ उप० २ । १५)

इति द्वितीया दशति । द्वितीय खण्ड ।

॥ द० ३ ॥ १ प्रयोग । २, ५, ९ भरद्वाज । ३, १० वामदेव । ४, ६ वसिष्ठ । ७ विरूप । ८ शुन शेप । ९ गोपवन । १० वामदेव । ११ वप्य । १२ मधातिथि । १३ त्रिशिरा त्वाष्ट सिन्धुद्वीप अम्बरीष, तृत आप्तयो वा । १४ उशना काव्य । गायत्री ॥

[२१] अग्निं वो वृधन्तमध्वराणां पुरूतमम् ।
अच्छा नप्त्रे सहस्वते ॥ १ ॥ ऋ० । १०२ । ७ ॥

भा०—प्रयाग ऋषि । (व) तुम्हारे (अध्वराणाम्) यज्ञों या हिंसा रहित परोपकर के कार्यों के (नप्त्रे) बन्धु, सहायक (सहस्वते) बल-

शाली, (व वृधन्तम्) तुमको बढ़ाने वाले, (पुरुतमम्) सब से श्रेष्ठ इन्द्रियों के स्वामी अन्तरात्मा के समान (पुरुतमम्) और महान् लोकों के स्वामी (अग्निम्) अग्नि परमेश्वर का (अच्छा) सब से श्रेष्ठ जानो।

[२२] अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यष्टॄसद्विश्च नभ्रिणम्।
अग्निर्नो वसते रयिम् ॥ २ ॥ ऋ० ६। १६। १८॥

भा०—(अग्नि) अग्नि अग्रणी राजा के समान, ईश्वर (तिग्मेन, शोचिषा) अपने तीक्ष्ण तेज से (विश्वम्) समस्त (नभ्रिणम्) प्रजा के धन और प्राण खाजाने वाले दुष्टों का (नि यसत्) नियमन करता है, व्यवस्था में रखता है। और वही (अग्नि) अग्नि परसन्तापक (नः) हमें (रयिं) धन और सुखमय जीवन (वसते[1]) देता है,

[२३] अग्न मृड महाँ असय्य आ देवयुं जनम्।
इयथ बर्हिरासदम् ॥ ३ ॥ ऋ० ४। ९। १॥

भा०—हे अग्न[1] परमेश्वर तू (मृड) हमें सुखी कर। (महान् असि) तू बड़ा है। (देवयुम्) विद्वान् और देव के प्रिय (जन) पुरुष को (अय[1]) तुम प्राप्त होते हो। और (बर्हि) यज्ञ, उपासना में (आसदम्) उपस्थित होने के लिये (इयथ) आते हो।

[२४] अग्ने रक्षा णो अंहस प्रति स्म देव रीषत।
तपिष्ठैरजरो दह ॥ ४ ॥ ऋ० ७। १५। १३॥

२२—[1] वनत इति ऋ०।

२३—[1] अन्वर्धी इति ऋ०।

२४—[1] प्रतिष्म इति, ऋ०।

भा०—हे (देव) उपास्य देव प्रभो ! हे (अग्ने) हे अग्ने ! स्व-प्रकाश !(नः) हमें (अंहसः) पाप और पापी (रीषतः) हिंसक शत्रु से (रक्ष) रक्षा कर, बचा और (अजरः) कभी हीनबल न होने वाला तू (तपिष्ठैः) तपाने वाले तेजों शस्त्रों से उसको (प्रति दह स्म[1]) भस्म कर डाल ।

[२५] अग्ने युङ्क्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधव ।
अर वहन्त्याशवः ॥ ५ ॥ ऋ० ६ । १६ । ४३ ॥

भा०—हे देव ! हे अग्ने ! (ये) जो (ते) तेरे (साधवः) साधु स्वभाव वाले या योग साधना करने वाले (अश्वासः) अश्व के समान इन्द्रिया, गतिशील, ज्ञानी साधक हैं, उनको (युङ्क्ष्व) लगा, यागाभ्यास में प्रवृत्त करा । वे गतिशील, ज्ञानी, (आशव) हरएक कार्य में शीघ्र सिद्धि प्राप्त करने वाले साधक (अरम्) पर्याप्त उत्तम रूप से (वहन्ति[1]) ज्ञान और उत्तम कार्य के भार को धारण करते और उद्देश्य तक पहुंचाते हैं ।

[२६] नि त्वा नक्ष्य विश्पते द्युमन्त धीमहे वयम् ।
सुवीरमग्न आहुत ॥ ६ ॥ ऋ० ७ । १५ । ७ ॥

भा०—हे (नक्ष्य) सब के सेवन योग्य, शरण योग्य ! हे (विश्पते) समस्त प्रजा के पति ! हे (आहुत !) सब से पुकारे और बुलाये और याद किये गये तथा हवि, भक्ति द्वारा आदर किये गये पूजित ! हे (अग्ने) अग्ने ! (द्युमन्तं) प्रकाशस्वरूप (सुवीरम्) उत्तम सामर्थ्यवान् तेरा (वयम्) हम (धीमहे[1]) ध्यान करते हैं ।

[२७] अग्निमूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् ।
अपां रेतांसि जिन्वति ॥ ७ ॥ ऋ० ८ । ४४ । १६ ॥

२५—१. 'युङ्क्ष्वा', 'वहन्ति मन्यवः' इति ऋ० ।

२६—१. 'देव धीमहि' इति ऋ० ।

भा०—(अयम्) यह (अग्नि) अग्नि (मूर्धा) सब का शिरोमणि, (दिव ककुत्) द्यौलोक या सूर्य के ककुद् भाग के समान उत्तम, वहन करने वाला, आश्रय और (पृथिव्या पति) पृथिवी का पति, स्वामी है। वही (अपाम्) सब लोकों के (रेतांसि) बीजभूत समस्त स्थावर और जगम प्राणियों को (जिन्वति) तृप्त करता है, जीवन देता है।

[२८] इम मू षु त्वमस्माकꣳ सनिं गायत्रं नव्याꣳसम्।
अग्ने देवेषु प्र वोचः ॥ ८ ॥ ऋ० १ । २७ । ४ ॥

भा०—हे अग्ने ! (त्वम्) तू (इमम्) इस (नव्यासम्) नवीन सप्तम अति स्तुत्य (सनिम्) अन्न आदि के समान सेवनीय (अस्माकम्) हमारे (गायत्रम्) प्राणों की रक्षा करने वाले साधन, एवं छन्द, ज्ञान को (देवेषु) देवों, पाचभूतों, इन्द्रियों और विद्वानों में (प्र वोचः) उत्तम रूप से कह, प्रकट कर।

[२९] त त्वा गोपवनो गिरा जनिष्ठदग्ने अङ्गिरः ।
स पावक श्रुधी हवम् ॥ ९ ॥ ऋ० ८ । ७४ । ११ ॥

भा०—हे अग्ने ! (त, त्वा) उस पूर्व प्रकार से स्तुत तुझको (गोपवन) वाणियों और इन्द्रियों के वश करने वाला पुरुष (गिरः) अपनी वाणी से (जनिष्ठत्) प्रकट करता है। हे (अङ्गिरः) प्रकाशस्वरूप या अङ्गों में रस या बल के समान विद्यमान अग्ने ! हे (पावक) मल आदि से पवित्र करनेहारे ! (स) वह तू हमारी (हवम्) स्तुति को (श्रुधि) श्रवण कर।

[३०] परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत्।
दधद्रत्नानि दाशुषे ॥ १० ॥ ऋ० ४ । १५ । ३ ॥

२८—अस्माभ्यम्' इति 'नवासम् इति' त० ।

२९—'य त्वा' इति ऋ० ।

भा०-(वाजपतिः[1]) बल, वीर्य, अन्न, ज्ञान का स्वामी (कविः[2]) क्रान्तदर्शी, मेधावी (अग्निः) अग्नि, परमेश्वर (दाशुषे) दान करनेवाले को (रत्नानि) रमणीय पदार्थ, (दधत्) देता हुआ, (हव्यानि) हवन करने योग्य पदार्थों और भक्तिपूर्वक स्तुति वचनों को (परि अक्रमीत्) स्वीकार करता है।

[३१] उद् त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ ११ ॥ ऋ० १। ५०। १ ॥

भा०-(केतवः[1]) ज्ञान करने, करानेवाले रश्मियों के समान प्रज्ञाएं या विद्वान्गण (सूर्यं) सूर्य के समान प्रकाशमान, समस्त संसार के उत्पादक उस सविता, (जातवेदसे) सब पदार्थों के जाननेहारे या वेदों के मूलकारण (त्य उ) उस (देव) परमात्मा देव को ही (उद् वहन्ति) धारण करते हैं कि (विश्वाय) समस्त संसार उसको (दृशे) देख ले, जान ले।

सब विद्वान् उसे ज्ञान का मूलकारण और सब प्राणियों का प्रेरक सबसे ऊपर बतलाते हैं कि सब उसको जानलें और उसके दिये ज्ञान से स्वयं भी सब कार्य व्यवहारों को जानें।

[३२] कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे।
देवममीवचातनम् ॥ १२ ॥ ऋ० १। १२। ७ ॥

भा०—हे पुरुष! तू उस (कविम्) क्रान्तदर्शी, मेधावी सर्वज्ञ (अध्वरे सत्यधर्माणं[1]) यज्ञ में, जगत् में सत्य धर्मों को धारण करने वाले (देव) दिव्यगुणों से युक्त दाता (अमीवचातन) दुःखदायी रोगों का नाश करने वाले

३०—१ वाज इत्यन्ननाम, (नि० २। ७।) २ कविरिति मेधाविनाम, (नि० ३ ॥ १५।)
३१-१ केतुरिति प्रज्ञानाम। नि० ३। ९ ॥
३२-१. सत्यकर्माणं। सा० वि०।

(अस्मिन्) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर की (उपस्तुहि) दत्तचित्त होकर स्तुति अर्थात् गुण वर्णन कर ।

[३३] शं नो देवीरभिष्टये शं नो भवन्तु पीतये ।
शंयोरभिस्रवन्तु न ॥ १३ ॥ ऋ० १० । ९ । ४ ॥

भा०—(न) हमारे लिये (देवी) दिव्य गुणों से युक्त जल (अभिष्टये[1]) हमारे अभिलषित सुख कार्यों के लिये (शम्) सुखकारी, कल्याणकारी हों । (न, पीतये, शम्) हमारे पान करने के लिये भी सुखकारी हों । (न) हमारे लिये (शम्) कल्याणकारी होकर ही (अभि स्रवन्तु) सब ओर से बहें और सुखों की वर्षा करें[1] ।

[३४] कस्य नूनं परीणसि धियो जिन्वसि सत्पते ।
गोपाता यस्य ते गिरः ॥ १४ ॥ ऋ० ८ । ८४ । ७ ॥

भा०—[प्रश्न] हे (सत्पते) सज्जनों के प्रतिपालक[1] तुम (नूनम्) निश्चय से (कस्य) किसके (धियः) कर्मों और स्तुतियों और मन सङ्कल्पों को (परीणसि) बहुधा (जिन्वसि[2]) पूर्ण करते, स्वीकार करते हो ? [उत्तर] (यस्य) जिसकी (ते गिरः) तेरे निमित्त प्रकट हुई वाणियां (गोपाताः) अपनी इन्द्रियों को वश करने के लिये हैं ।

जो पुरुष अपनी इन्द्रियों को जीतने के लिये ईश्वर स्तुति, उपासना, प्रार्थना करते हैं ईश्वर उनकी मनोकामना पूर्ण करते हैं ।

इति तृतीयः खण्डः ॥

३३—१ 'आपो भवन्तु' इति ऋ० । १ अभिलाषाद्, अभिगमनस्नानादिना सम्पुनातिवत्यः । भा० वि० ।

३४—१ 'पतिस्त्वं', 'दम्पते' इति च ऋ० । २ परिणतिरिति बहुनाम, (नि० ३ । १)

॥ ४ ॥१, शयुर्बार्हस्पत्य ३ शयुस्तृणपाणिर्वा । २ भर्ग प्रागाथ । ४ वसिष्ठ ॥ ५ भर्ग प्राग्थो भरद्वाजो वा । ६ प्रस्कण्व काण्व ॥ ७ तृणपाणि । ८ त्रिरूप । ९ शुन शेप आजीगर्ति । ८, ९ भर्ग प्रागाथोवा । १० सोभरि काण्व । बृहती ॥

[३५] यज्ञा यज्ञा वो अग्नये गिरा गिरा च दक्षसे ।
प्र प्र वयममृत जातवेदसं प्रिय मित्र न शंसिषम् ॥१॥

ऋ० ६ । ४८ । १ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (व) आप लोग (दक्षसे) बलशाली, सर्वशक्तिमान् (अग्नये) अग्नि परमेश्वर की (यज्ञा यज्ञा[1]) प्रत्येक यज्ञ में और (गिरा गिरा च) प्रत्येक वेदवाणी से गुण कीर्त्तन करो । (वयम्) हम भी (अमृत) उस अमृत, मृत्यु से रहित (जातवेदसम्) वेदों के एकमात्र उत्पन्न करनेहारे, सर्वज्ञ, परमेश्वर को (प्रिय मित्र न) प्रिय मित्र के समान (प्र शंसिषम्) कीर्त्तन करते हैं ।

[३६] पाहि नो अग्न एकया पाह्यूऽउत द्वितीयया ।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जाम्पते पाहि चतसृभिर्वसो ॥२॥

ऋ० ८ । ६० । ९ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमेश्वर ! (एकया[1]) एक वेदरूप वाणी से (न पाहि) हमारी रक्षा करो, पालन करो । (उत) और (द्वितीयया[2]) दूसरी वेदमयी वाणी से (पाहि) पालन करो । (तिसृभि[3]) तीनों (गीर्भि)

३५–१ शुभासुत्रा इति सप्तम्या लुक् (पा० ७ । १ । ३९) वीप्सायां द्विर्वचनम् ।

३६–१ 'ऋग्-लक्षणया' इति मा०, वि० ।

२ यजुर्लक्षणया मा० वि० ।

३ ऋग्यजु सामलक्षणाभि इति मा० वि० ।

वेद वाणियों से (पाहि) पालन कर । हे (ऊर्जांपते) सब अन्नों और बलों के अधिपते ! हे (वसो) सब के भीतर बसने और सबको बसाने वाले वसो ! (चतसृभि ४) चारों वेदवाणियों से (पाहि) पालन कर ।

ज्ञान, विज्ञान क्रिया और उपासना इन चार भेदों के पृथक् २ निरूपण करने से चार वेद हैं । प्रत्येक से प्रजा का पालन करना ही मन्त्र का अभिप्राय है ।

[३७] बृहद्भिरग्ने अर्चिभि शुक्रेण देव शोचिषा ।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य रेवत्पावक दीदिहि ॥ ३ ॥

ऋ० ६ । ४८ । ७ ॥

भा०—हे (देव) दानादि गुणसम्पन्न ! (यविष्ठ) सब से महान् युवतम ! सब से अधिक यौवन सम्पन्न, कभी निर्बल न होने वाले, हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप हे (रेवत् !) समस्त धनों के स्वामी हे कान्तिमन् ! हे (पावक) सबको अपने तेज से पवित्र करने वाले ! तू (शुक्रेण) निर्मल (शोचिषा) तेज से (भरद्वाजे) ज्ञान और बल वीर्य को धारण करने वाले पुरुष में (समिधान) विशेष रूप से प्रदीप्त होते हुए (बृहद्भि) बड़े (अर्चिभि.) कान्तियों, ज्वालाओं, तेजों से (दीदिहि) प्रकाशमान होवो ।

[३८] रेवॅ अग्ने स्वाहुत प्रियास सन्तु सूरयः ।
यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वान्दयन्त गोनाम् ॥ ४ ॥

ऋ० ७ । १६ । ७ ॥

---

४ ऋग्यजुःसामनिगदैश्चतुर्भि । मा० वि० ।

३७–'रेवत्र शुक्र दीदिहि पुरुत्रावत्' इति ऋ० ।

भा०—हे अग्ने परमेश्वर ! हे (स्वाहुत) उत्तम रीति से यज्ञ में उपासित ! (सूरयः) विद्वान् लोग जो सबकी मति को प्रेरित करते हैं वे (प्रियासः) प्रिय (सन्तु) हों । (यन्तारः) दान करने वाले या (जनानां) प्रजाओं को (यन्तारः) नियम व्यवस्था में रखने वाले (ये) जो (मघवानः) धन ऐश्वर्यसम्पन्न हैं और जो (गोनाम्) गौओं, इन्द्रियों और वेद वाणियों के (ऊर्वम्) समूह को (दयन्त.) पालन करते, वश में रखते और औरों को दान करते हैं वे भी सर्वप्रिय हों ।

[३९] अग्ने जरितर्विश्पतिस्तपानो देव रक्षसः ।
अप्रोषिवान् गृहपते महाँ असि दिवस्पायुर्दुरोणयुः ॥५॥
ऋ० ८ । ६० । १९ ॥

भा०—हे (देव) देव ! हे अग्ने ! हे (जरित.) स्तुति योग्य या उपदेश करनेहारे ! तू (विश्पति.) प्रजा का स्वामी है । (रक्षसः) राक्षसों, दुष्ट पुरुषों को (तपानः) सन्ताप देता है । हे (गृहपते) ब्रह्माण्ड रूप गृह के स्वामिन् ! तू गृहमेधी के समान (अप्रोषिवान्) कभी भी प्रवास में न रहने वाला, सदा विद्यमान (दिवस्पायुः) द्यौलोक की रक्षा करनेहारा, (दुरोणयुः) सबके गृहों या देहों की मंगल कामना करनेवाला (महान्, असि) सब से बड़ा है ।

[४०] अग्ने विवस्वदुपसश्चित्रं राधो अमर्त्य ।
आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ उषर्बुधः ॥६॥
ऋ० १ । ४४ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! (त्वं उपस.) तू उषा का (विवस्वत्) वास करने योग्य, विविध सुखों, ऐश्वर्यों का साधक (दाशुषे) यज्ञादि परोपकार करनेवाले

३९–'तेपानो', 'गृहपतिः' इति ऋ० ।

पुरुष को (चित्र राध) नाना प्रकार का धन, ज्ञान (आवह) प्राप्त करा। हे (अमर्त्य) मरणरहित नित्य ! हे (जातवेद) समस्त उत्पन्न पदार्थों में निवास करने वाले, सबको जानने वाले, वेदों के मूलकारण (त्व) तू (अद्य) आज (उपर्बुध) सूर्योदय के साथ ज्ञानसम्पन्न एवं जागृत होने वाले (दधान्) इन्द्रियगण को (दाशुषे) इस मनुष्य को (आवह) पुनः प्राप्त करा।

१ २ ३ २ ३ १८ ३ १ २
[४१] त्व नश्चित्र ऊत्या वसो राधाꣳसि चोदय।
३ २ ३।२ ३२२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३।२ ३ २२
अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाध तु चे तु न ॥७॥
ऋ० ६। ४८। ९॥

भा०—हे (वसो) सब को बसाने वाले अग्ने ! (त्व) तू (चित्र) नाना शक्ति सम्पन्न, दर्शनीय (ऊत्या) अपने रक्षासामर्थ्य से (राधांसि) धनों, बलों, सामर्थ्यों का (न चोदय) हमारे प्रति प्रेरित कर। (त्व) तू (अस्य) इस (राय) धन ऐश्वर्य का (रथी) रथ में बैठे महारथी के समान विजेता या रस ग्रहण करनेहारा (असि) है। और तू (न) हमारे (तुचे) सन्तान के लिये (गाध तु) प्रतिष्ठा ऐश्वर्य का भी (विदा) प्राप्त करा।

१८ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[४२] त्वमित्सप्रथा असग्ने त्रातर्ऋत कवि ।
२ २ ३ १ २ ३ १ २
त्वा विप्रास समिधान दीदिव आ विवासन्ति वेधस ॥८॥
ऋ० ८। ६०। ५॥

भा०—हे अग्ने ! हे (त्रात) रक्षा करने हारे ! (त्वम् इत्) तू ही (सप्रथा ?) सब प्रकार से विख्यात है। तू ही (ऋत) सत्य, ज्ञानस्वरूप, (कवि) मेधावी क्रान्तदर्शी है। हे (दीदिव ?) दीप्यमान, तेज स्वरूप ! हे (समिधान) प्रकाशमान ! तुझको ही (वेधस) स्तुति करने

४२-१ सप्रथा सर्वैः पृथु । नै० ६। २। ७। २ दीदिव दानवत्यृषि । मा० वि०।

हारे (विप्रासः) विद्वान् लोग (आ विवासन्ति) भजन, कीर्त्तन करते और प्रकट करते हैं।

[४३] आ नो अग्ने वयोवृधꣳ रयिं पावक शꣳस्यम्।
रास्वा च न उपमाते पुरुस्पृहꣳ सुनीती सुयशस्तरम्॥६॥
ऋ० ८। ६०। ११॥

भा०—हे अग्ने! हे (पावक) पवित्र करने हारे! (नः) हमें (शस्यम्) प्रशंसा के योग्य, (वयोवृधम्) आयु को बढ़ाने वाला (रयिम्) धन ऐश्वर्य (रास्व) दे। हे (उपमाते) ज्ञानसम्पन्न, हे सृष्टि के कर्त्ता! (सुनीती) उत्तम धर्म की नीति से (नः) हमें (पुरुस्पृहम्) जिस धन को बहुत लोग चाहते हैं और (सुयशस्तरम्) जिसके प्राप्त करने से उत्तम यश भी प्राप्त होता है वह भी (रास्व) दे।

[४४] यो विश्वा दयत वसु होता मन्द्रो जनानाम्।
मधोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्यग्नये॥१०॥
ऋ० ८। १०३। ६॥

भा०—(यः) जो अग्नि, ईश्वर (विश्वा वसु) सब प्रकार के वास करने योग्य, जीवनोपयोगी धन (दयते) दान करता है या सब वास करने वाले प्राणियों की रक्षा करता है वह (होता) सब को अन्न आदि पदार्थ देने वाला (जनानाम् मन्द[1]) और सब प्राणधारी जन्तुओं को आनन्द देने हारा है। (अस्मै) इस (अग्नये) अग्नि के लिये (मधो) मधु, ऋग्वेद के (स्तोमाः) स्तुतिपूर्ण मन्त्र (प्रथमानि) उत्तम या सबसे पूर्व प्रस्तुत (मधो पात्रा न) मधु से पूर्ण मधुपर्क के पात्रों के समान ही (प्रयन्ति) पुरस्कार में प्रस्तुत किये जाते हैं।

४३–'स्वयशस्तरम्' इति ऋ०।

पुरुष को (चित्र राध) नाना प्रकार का धन, ज्ञान (आवह) प्राप्त करा । हे (अमर्त्य) मरणरहित, नित्य ! हे (जातवेद) समस्त उत्पन्न पदार्थों में निवास करने वाले, सबको जानने वाले, वेदों के मूलकारण (त्वं) तू (अद्य) आज (उषर्बुध) सूर्योदय के साथ ज्ञानसम्पन्न एवं जागृत होने वाले (देवान्) इन्द्रियगण को (दाशुषे) इस मनुष्य को (आवह) पुनः प्राप्त करा ।

१ २ ३ २ ३ २४ ३ १ २
[४१] त्वं नश्चित्र ऊत्या वसो राधांसि चोदय ।
३ २ ३१२ ३२१ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३१२ ३ २१
अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधं तु चे तु नः ॥७॥

ऋ० ६ । ४८ । १ ॥

भा०—हे (वसो) सब को बसाने वाले अग्ने ! (त्वं) तू (चित्र) नाना शक्ति सम्पन्न, दर्शनीय (ऊत्या) अपने रक्षासामर्थ्य से (राधांसि) धनों, बलों, सामर्थ्यों को (न चोदय) हमारे प्रति प्रेरित कर । (त्वं) तू (अस्य) इस (राय) धन ऐश्वर्य का (रथी) रथ में बैठे महारथी के समान विजेता या रस ग्रहण करनेहारा (असि) है । और तू (न) हमारे (तुचे) सन्तान के लिये (गाधं तु) प्रतिष्ठा ऐश्वर्य को भी (विदा) प्राप्त करा ।

२४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ २
[४२] त्वमित्सप्रथा असग्ने त्रातरृतः कविः ।
१२ २ ३ १ २ ३ १ २
त्वा विप्रासः समिधान दीदिव आ विवासन्ति वेधसः ॥८॥

ऋ० ८ । ६० । ५ ॥

भा०—हे अग्ने ! हे (त्रात) रक्षा करने हारे ! (त्वम् इत्) तू ही (सप्रथाः[1]) सब प्रकार से विख्यात है । तू ही (ऋतः) सत्य, ज्ञानस्वरूप, (कविः) मेधावी, क्रान्तदर्शी है । हे (दीदिव[2]) देदीप्यमान, तेज स्वरूप ! हे (समिधान) प्रकाशमान ! तुझको ही (वेधसः) स्तुति करने

४२-१. सप्रथा सर्वत. पृथु । ने० ६ । २ । ७ । २, दीदिव दानवत् इति । मा० वि० ।

हारे (विप्रासः) विद्वान् लोग (आ विवासन्ति) भजन, कीर्त्तन करते और प्रकट करते हैं।

[४३] आ नो अग्ने वयोवृधꣳ रयिं पावक शꣳस्यम्।
रास्वा च न उपमाते पुरुस्पृहꣳ सुनीती सुयशस्तरम् ॥९॥
ऋ० ८। ६०। ११ ॥

भा०—हे अग्ने ! हे (पावक) पवित्र करने हारे ! (नः) हमें (शंस्यम्) प्रशंसा के योग्य, (वयोवृधम्) आयु को बढ़ाने वाला (रयिम्) धन ऐश्वर्य (रास्व) दे। हे (उपमाते) ज्ञानसम्पन्न, हे सृष्टि के कर्त्ता ! (सुनीती) उत्तम धर्म की नीति से (नः) हमें (पुरुस्पृहम्) जिस धन को बहुत लोग चाहते हैं और (सुयशस्तरम्) जिसके प्राप्त करने से उत्तम यश भी प्राप्त होता है वह भी (रास्व) दे।

[४४] यो विश्वा दयत वसु होता मन्द्रो जनानाम्।
मधोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्वग्नये ॥१०॥
ऋ० ८। १०३। ६ ॥

भा०—(यः) जो अग्नि, ईश्वर (विश्वा वसु) सब प्रकार के वास करने योग्य, जीवनोपयोगी धन (दयते) दान करता है या सब वास करने वाले प्राणियों की रक्षा करता है वह (होता) सब को अन्न आदि पदार्थ देने वाला (जनानाम् मन्द्रः) और सब प्राणधारी जन्तुओं को आनन्द देने हारा है। (अस्मै) इस (अग्नये) अग्नि के लिये (मधोः) मधु, ऋग्वेद के (स्तोमाः) स्तुतिपूर्ण मन्त्र (प्रथमानि) उत्तम या सबसे पूर्व प्रस्तुत (मधोः पात्रा न) मधु से पूर्ण मधुपर्क के पात्रों के समान ही (प्रयन्ति) पुरस्कार में प्रस्तुत किये जाते हैं।

४३–'स्वयशस्तरम्' इति ऋ०।

उस भगवान् की सबसे प्रथम स्तुति करनी चाहिये जो समस्त प्राणियों की रक्षा करता, सबको अन्न देता और आनन्द देता है।

इति चतुर्थी दशतिः । चतुर्थं खण्डम् ।

॥ द० ५ ॥ १ वसिष्ठो वासदेवो वा । २ भर्ग प्रागाथः । ३, ७ सौभरि काण्व । ४ मनुर्वैवस्वत । ५ सुहोत्रपुरुमीढाजमीढा । ६ प्रस्कण्व काण्व । ८ मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च काण्वौ । ९ विश्वामित्र । १० कण्व घौर ॥ वृहती ॥

[४५] एना वो अग्निं नमसाजो नपातमाहुवे ।
प्रियं चेतिष्ठमरतिꣳ स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥१॥
ऋ० ७ । १६ । १ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (एना) इस (नमसा) अन्न द्वारा (ऊर्जः नपातं) बल को क्षीण न होने देने वाले (प्रियम्) सबसे उत्तम, प्यारे, (चेतिष्ठम्) सबसे अधिक ज्ञानवान् और ज्ञान कराने हारे, (अरतिं) स्वामी (स्वध्वरं) उत्तम, हिंसा से रहित, जो न मारे, न मरे, नित्य, (विश्वस्य दूतम्) समस्त संसार को ज्ञान का संदेश देने वाले या सब के स्वयं संताप निवारक उपास्य और (अमृतम्) स्वयं नित्य, अविनाशी (अग्निं) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर का (आहुवे) स्मरण करता हूं।

[४६] शेधा वनेषु मातृषु सन्वा मर्तेष्वन्धते ।
अतन्द्रो हव्यं वहसि हविष्कृत आदिदेवेषु राजसि ॥२॥
ऋ० ८ । ६० । १५ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमेश्वर ! तू (वनेषु) जंगलों में अग्नि के समान, देवों में जाठर के समान, सब प्राणियों की आत्माओं में और (मातृषु)

४६—'मात्र' 'हव्य' इति ऋ० ।

माताओं के गर्भों और भूमियों में चेतन बीजरूप से (शेषे) प्रसुप्त होकर व्याप्त रहता है । (त्वा) तुझको (मर्त्तास.) मरणधर्मा, देहवान् प्राणि-गण (इन्धते) प्रदीप्त करते, प्रकट करते और ज्ञान करते हैं । तू (अतन्द्र) आलस्य से रहित होकर (हविष्कृत.) हवि सम्पादन करने वाले पुरुष के (हव्यं) प्रस्तुत किये ज्ञान को (वहसि) ले जाता है । (आत् इत्) और अनन्तर तू ईश्वर (देवेषु) देवों, विद्वानों और जीवों और इन्द्रियों के बीच में सबसे उत्कृष्ट होकर (राजसि) प्रकाशित होता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[४७] अदर्शि गातु वित्तमो यस्मिन् व्रतान्यादधु ।

३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

उपो षु जातमार्यस्य वर्द्धनमग्निं नक्षन्तु नो गिरः ॥ ३ ॥

ऋ० ८ । १०३ । १ ॥

भा०—(गातुवित्तमो[1]) समस्त मार्गों लोकों को भली प्रकार जानने वाला, पृथिवी का उत्तम ज्ञाता, वह अग्नि (अदर्शि) प्रकट होता है (यस्मिन्) जिसमें, जिसके बल पर दीक्षित लोग (व्रतानि[2]) अपने शुभ-कर्म और संकल्पों को (आदधु·) धारण करते हैं । उस (सुजातम्) शुभ गुणों से युक्त, उत्तम प्रकार से प्रकट होने हारे, (आर्यस्य वर्धन) श्रेष्ठ पुरुष की उन्नति करनेहारे (अग्निम्) अग्नि, परमेश्वर को (न गिरः) हमारी वाणियां (नक्षन्तु[3]) प्राप्त हों ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[४८] अग्निरत्थे पुरोहितो शावाणो बर्हिरध्वरे ।

३ १ २ ३ २ ३२ ३ १ २

ऋचा यामि मरुतो ब्रह्मणस्पते देवा अवो वरेण्यम् ॥४॥

ऋ० ८ । २७ । १ ॥

४७–'नक्षन्त नो गिर' इति ऋ० । १. गातुरिति पृथिवीनाम । नि० १ । १ । २ व्रतमिति कर्मनाम । नि० २ । १ । ३ नक्षतिर्व्याप्तिकर्मा । नि० २ । १८ ।

४८–'मरुतो ब्रह्मणस्पति देवान्' इति ऋ० ।

भा०—(उक्थे) उक्थ नाम यज्ञ में (अग्नि) अग्नि, ज्ञानी विद्वान् (पुरोहित) पुरोहित होता है और (अध्वरे) हिंसारहित यज्ञ में (प्रावाण) सोमसम्पादन के लिये, एव ज्ञानयुक्त कर्म सम्पादन के लिये विद्वान् पुरोहित नियुक्त होते हैं और (बर्हि) कुशा भी लाई जाती है। हे (मरुत) दव गण, विद्वानो, प्रजाजनो, अध्यक्ष लागो ! हे (बृहस्पते) वेदवित्, सब विद्वानों के मुख्य ! हे (देवा) विद्वान् लोगो ! (ऋचा) ऋग्वेद के अनुसार (वरेण्यम्) सबसे अधिक वरण करने योग्य (अव) रक्षा या शरण को (यामि[1]) मैं प्राप्त करू।

३ १ २ ३ ३ २ १ १ २ ३ १ २

[४९] अग्निमीडिष्वावसे गाथाभि शीरशोचिषम्।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

अग्निं राये पुरुमीढ श्रुत नरोग्निं सुदीतये छर्दि ॥५॥

ऋ० ८ । ७१ । १४ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (शीरशोचिषम्[1]) सुत ज्योति वाले, (अग्नि) अग्नि, परमेश्वर का (अवसे) अपनी रक्षा, पालन के लिये (गाथाभि) नाना प्रकार के वेदमन्त्रों और विज्ञान कथाओं स (ईडिष्व) वर्णन कर। हे (पुरुमीढ[2]) और बहुत ज्ञान सिचे ! पुरुष ! (अग्निम्) अग्नि, ज्ञानवान् का आश्रय (राय) धनादि विभूति प्राप्ति के लिये ल। (श्रुत) उसी प्रसिद्ध या विद्वान् अग्नि ज्ञानी के समान प्रभु को (नर[3]) नेता और

---

१ यामि इति याञ्चाकर्मसु पठितम्। नि० ३ । १९ ।

४९–'अग्निं सुदीतये छर्दि' इति ऋ०।

१ शीर अनुशायिनमिति वा आशीनमिति वा इति। निरु० ४ । २ । १४ ॥

२ हे पुरुमाद ! मतीवान्तरात्मन् ! इति मा० वि०।

३ नर इति मनुष्यनाम। नि० २ । ३ । नर नरावारम् इति मा० वि०।

४ 'छर्दि ष्टं सतीपने' चुरादि ।

नरनारी भी अपना आश्रय बनाते हैं । (सुदीतये) प्रकाश करने के निमित्त भी वह (अग्नि) अग्नि ही (छर्दि·) दीप्तिमय प्रकाश है । अथवा (छर्दि; सुदीतेपे अग्नि·) घर को प्रकाशित करने के लिये दीपक के समान भी वही ज्ञानमय प्रभु हृदयगृह का और ब्रह्माण्ड का प्रकाशक है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५०] श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्देवैरग्ने सयावभिः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
आ सीदतु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावभिरध्वरे ॥६॥

ऋ० १ । ४४ । १३ ॥

भा०—हे (श्रुत्कर्ण) श्रवण करने में समर्थ, कर्णेन्द्रिय से सम्पन्न अग्ने ! ज्ञानवन् ! (श्रुधि) आप हमारा निवेदन सुनो । (सयावभिः) समान गति, ज्ञान से सम्पन्न (वह्निभिः) कार्यभार को उठाने में दक्ष, एवं प्रकाशमान (देवैः) देवों के साथ (मित्र) मित्र, सबको स्नेह करने वाला (अर्यमा) न्यायकारी, स्वामी के पद पर स्थापित, (प्रातर्यावभिः) प्रातःकाल, देवयजन स्थान में आने वाले विद्वानों के सहित (अध्वरे बर्हिषि) हिंसारहित यज्ञ एवं आसन पर (आसीदतु) विराजमान हो ।

१२१२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[५१] प्र दैवोदासो अग्निर्देव इन्द्रो न मज्मना ।
१ २ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ १२ २१ ३ १ २
अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य शर्मणि ॥७॥

ऋ० ८ । १०३ । २ ॥

भा०—(दैवोदासो अग्निः) द्युलोक में उत्पन्न होने वाला अग्नि (देवः) प्रकाशमान होकर (इन्द्रो न) चमचमाते विद्युत् या सूर्य के समान (मज्मना[1]) बलपूर्वक (मातरं पृथिवीं अनु) समस्त प्राणियों की माता

५०–'आसिदन्तु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावाणो अध्वरम्' इति ऋ० ।

५१–'अग्निर्देवां अच्छा', 'नाकस्य सानवि' इति ऋ० । 'मज्मना' इति बहुत्र, प्रायः

१. मज्मनेति बलनाम । नि० २ । ९ ॥

पृथिवी की ओर (प्र विवावृते) नाना प्रकार से पहुच कर उसको ढक लेता है, उस पर जालसा बिछा देता है और (नाकस्य) अन्तरिक्ष के (शर्मणि) आश्रय में (तस्थौ) स्थिर है ।

अर्थात् सूर्यलोक से आया तेज प्रभाव वेग से पृथिवी पर गिरता है और वायु में लीन होकर पृथिवी को छाये रहता है । सूर्य से निकलते हुए जीवन के मूलकारण 'आयनङ्ग' पृथिवी माता पर पहुचते हैं । यही वैज्ञानिकों का सिद्धान्त है ।

ईश्वर पक्ष में—(दैवोदास अग्नि) तेजोमय परमेश्वर के आश्रय में विद्यमान् ज्ञानवान् (देव) स्वयप्रकाश (इन्द्र न) विद्युत् या सूर्य के समान (मज्मना) अपने बल से (मातरम् पृथिवीम् अनु) सब प्राणियों के उत्पन्न करनेवाली माता पृथिवी पर (प्र विवावृते) विशेष रूप से रहता है । और पुन (नाकस्य) नाक स्वर्ग, सुखमय, आनन्दमय मोक्ष के (शर्मणि) आश्रय में (तस्थौ) विराजता है ।

[५२] अध ज्मो अधवा दिवो बृहतो रोचनादधि ।
अया वर्धस्व तन्वा गिरा मम जाता सुक्रतो पृण ॥८॥
ऋ० ८ । १ । १८ ॥

भा०—हे अग्ने ! (अध ज्म ?) पृथिवी के नीचे (अधवा) और (बृहतः) विशाल, सब पर आच्छादित, (रोचनात्) कान्तिमान् (दिव) सूर्यमण्डल के (अधि) ऊपर भी (अया) इसी (तन्वा) रूप से (वर्धस्व) तू सर्वत्र फैला हुआ है । हे (सुक्रतो) हे सुन्दर ससार के बनाने वाले कारीगर ! (गिरा) अपनी वेदमय ज्ञान वाणी से (मम) मेरे (जाता) प्रजाजनों का (पृण) पालन कर और पोषण कर ।

५२—अध ज्म इति बहुत्र पाठ । १ ज्मेति पृथिवीनाम । नि० १ । १ ॥

१ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २
[५३] कायमानो वना त्वं यन्मातॄरजगन्नपः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
न तत्ते अग्ने प्र मृषे निवर्त्तनं यद् दूरे सन्निहाभुवः ॥९॥
अ० ३ । ९ । २ ॥

भा०— हे अग्ने ! जीव ! (त्वं) तू (वना) वनों का दहों का (कायमान[1]) सञ्चय या कामना करता हुआ (यत्) जो (मातृ[2]) माता स्वरूप उत्पादक (अपः) कर्मों को (अजगन्) प्राप्त हो गया उनमें लग गया है। (तत्) वह (ते) तेरा (निवर्त्तनं) अपने मार्गसे भ्रष्ट होना (न प्र मृषे) सहन नहीं होता (यद्) कि (दूर[3] सन्) विषय वासनाओं और कर्मबन्धनों से दूर रहकर भी (इह) इस कर्मबन्धनमय जीवलोक में (आ भुवः) पुनः प्रादुर्भाव हुआ, उत्पन्न हुआ है।

ईश्वरपक्ष में—(वना) भोग योग्य लोकों को (कायमान) बनाने की कामना करता हुआ (यत्) जब तू (मातृ अपः) सब जगत् के उत्पादक मूल प्रकृति के परमाणुओं को (अजगन्) थाम लेता है (तत ते निवर्तनम्) उस समय तेरा निगूढ व्यापार (न प्र मृषे) नहीं प्रतीत होता है कि (यत् दूरे सन्) उस प्रकृति से दूर, सर्वथा भिन्न, असंग रह कर भी (इह आभुवः) इसमें व्यापक होकर सृष्टि रचने में समर्थ होता है।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४] नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते ।
३ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितो यं नमस्यन्ति कृष्टयः ॥१०॥
ऋ० १ । ३६ । १९ ॥

५३–'इत्याह' इति ऋ०। १ वायू पूजानिशामनयोरिति धात्वोर्ग्रहणात्। कायमनश्चायमान कामयमान इति वा। निरु० ४। २। १४।
२ मातरः इति नदीनाम। नि० १। १३॥ ३ ६। ५ इति पञ्चमः।

भा०—हे अग्ने ! (ज्योति) ज्योति स्वरूप, ज्ञानमय, प्रकाशरूप (त्वाम्) तुझको (शश्वते[1] जनाय) नाना प्रकार की प्रजाओं के लिये (मनु) मननशील पुरुष ने (निदधे) पूर्णरूप से प्रकाशित किया । और (य) जिसको (कृष्टय) मनुष्यगण (नमस्यन्ति) नित्य नमस्कार करते हैं वह तू (कण्व) मेधावी पुरुष के हृदय में वह (ऋतजात) सत्य ज्ञान या वेद रूप से प्रकाशमान होकर (अक्षित) आनन्द रस रूप में सिक्त होकर (दीदेथ) प्रकाशित हो ।

इति पञ्चदशी दशति । पञ्चम खण्ड ।

इति प्रथमाऽर्धप्रपाठक ।

॥ द० ६ ॥—१, ७ वसिष्ठ । २, ३, ५ कण्वो घौर । ४ सौभरि काण्व । ६ उत्कील आत्कीलो वा कात्य । ८ विश्वामित्र ॥ २ बृहस्पति । ३ यज्ञ । बृहती ॥

[५५] देवा वो द्रविणोदा पूर्णां विवष्ट्वासिचम् ।
उद्वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्वमादिद्वो देव ओहते ॥१॥

ऋ० ७ । १७ । ११ ॥

भा०—हे मनुष्या[1] (व) तुम्हारा (देव) देव इष्ट, भक्तिपात्र परमेश्वर (द्रविणोदा) सब प्रकार के द्रव्यों को देने हारा है । इसलिये वह (पूर्णाम्) भरी हुई (आसिचम्) स्रुवा को ही (विवष्टु) कामना करता है (वा) और (उत् सिञ्चध्व) खूब ऊपर से आहुति भरकर डालो (वा) और (उप पृणध्व) उसको पुन भरो (आत् इ) तब शीघ्र ही (व) तुम्हारे लिये (देव) वह दिव्य गुण ईश्वर (ओहते[1]) अभिलषित फल देगा ।

५४-१. शश्वत् बहुनाम (नि० ३ । १ ।)

५५-'विवष्ट्यासिचम्, इति ऋ० ।

१ ओहते वर्धयति । मा० वि० । वहतेरत्र । सा० । वहतेरत्र । मा० वि० ।

जो ईश्वर सब कुछ देता है उसके नामपर कंजूसी से दान न देकर खुले हाथ दान करना चाहिये। पात्र में दान देने से फल भी शीघ्र प्राप्त होता है।

२३ १ २ ३ २ ३ २ ३२ ३ १ २
[५६] प्रेतु ब्रह्मणस्पति प्र देव्येतु सूनृता।
१ २ २१२ २१२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ॥ २ ॥

ऋ० १ । ४० । ३ ॥

भा०—(ब्रह्मणस्पतिः[1]) ब्रह्म का पालक विद्वान् या ईश्वर ब्रह्मणस्पति (प्र एतु) हमारे पास आवे। (सूनृता) वेदवाणी (देवी) दिव्य-गुणों से सम्पन्न (प्र एतु) उत्तम रूप से हमें प्राप्त हो। (देवाः) विद्वान् या इन्द्रियगण (नर्यं) मनुष्यों के हितकारक (वीरम्) वीर्यसम्पन्न (पङ्क्ति-राधसम्) पंक्ति, दश से साधन योग्य या परिपक्व ज्ञान से प्राप्य (यज्ञं) यज्ञ को (नः) हमें (अच्छा[2]) भली प्रकार (नयन्तु) प्राप्त करावें।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ १२ २२ ३ २
[५७] ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता।
३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे ॥ ३ ॥

ऋ० १ । ३६ । १३ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमेश्वर तू (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये (ऊर्ध्वः) उन्नत होकर (सु तिष्ठ) भली प्रकार स्थिर रह। (देव सविता न) दिव्य गुणों से सम्पन्न सविता, सूर्य या विद्वान् के समान आप (वाजस्य) अन्न और ज्ञान को (सनिता) देनेहारे हो। (यत्) जिस कारण (अञ्जिभिः[1]) गुणों का प्रकाश करने हारे (वाघद्भिः) यज्ञकार्य का

५६–१. ब्रह्मणस्पतिः—ब्रह्म अन्न, तस्य पतिः, ब्रह्म वेदः, तस्य पतिः।

२. अच्छ आप्तुं सन्मानयितुमिति मा० वि०।

५७–१. अञ्जिभिः स्वगुणप्रकाशकैः छन्दोभिः, इति मा० वि०।

सम्पादन करने हारे विद्वानों द्वारा हम आपको (वि ह्वयामहे) बुलाते हैं और आपकी स्तुति उपासना करते हैं ।

२उ ३।१ २१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[५८] प्र यो राये निनीषति मर्त्तो यस्ते वसो दाशत् ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

स वीरं धत्ते अग्न उक्थशंसिनं त्मना सहस्रपोषिणम् ॥४॥

ऋ० ८ । १०३ । ४ ॥

भा०—हे वसो[1] ! समस्त संसार को आश्रय देने वाले ! (यः) जो (मर्त्तः) मरणधर्मा पुरुष (राये) अमृत धन के निमित्त (प्र निनीषति[2]) तुझ तक पहुंचना चाहता है या कोई श्रेष्ठ कार्य सम्पादन करना चाहता है या प्रेम प्रकट करना चाहता है । और (य) जो (ते) तुझे (दाशत्) समर्पण करता है (सः) वह हे अग्ने ! परमेश्वर (उक्थशंसिनम्) वेदवक्ता (सहस्रपोषिणम्) हजारों को भरण पोषण करने वाले (वीरम्) वीर पुत्र को (त्मना) अपने सामर्थ्य से (धत्ते) धारण करता या उत्पन्न करता है ।

ईश्वर को स्मरण करने और उसको आत्मसमर्पण करने वाले धार्मिक धर्मात्मा के घर में जो पुत्र उत्पन्न होते हैं वे स्वयं विद्वान्, वेदवक्ता और सहस्रों को पालने पोषने में समर्थ होते हैं ।

१ २ ३।१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[५९] प्र वो यहुं पुरूणां विशां देवयतीनाम् ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २

अग्निꣳ सूक्तेभिर्वचोभिर्नमामहे यꣳ समिदन्य इन्धते ॥५॥

ऋ० १ । ३६ । १ ॥

भा०—(यं) जिस अग्नि, राजा या ईश्वर को (अन्य इत्) अन्य पुरुष भी (सम् इन्धते) प्रज्वलित प्रदीप्त करते, हृदय में जगाते हैं, उस

५८-'प्रय राये निनीषति' इति ऋ० । १. वसुमन्नग्ने । सा० । २. नी अग्ने । स्वादि. । प्रापण रचन । भाव. प्रेम ।

५९-'वचोभिरीमहे' इति ऋ० । 'सोमिरन्य ईळते' इति ऋ० ।

(देवयतीनाम्) दिव्यगुणों से सम्पन्न होना चाहने वाली (पुरूणाम्[1]) पालन पोषण करने में समर्थ, बलवान्, शरीर में इन्द्रियों के समान (विशा) प्रजाओं के (यह्वम्[2]) व्यवस्थापक, महान्, अधिष्ठातारूप अग्नि को (सूक्तेभि) वेद के सूक्तों द्वारा (प्रतूर्णीमहे) खूब अच्छी प्रकार वरण करते हैं । यहां आत्मा और राजा का भी वर्णन है।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १२ २२
[६०] अयमग्नि सुवीर्यस्येशे हि सौभगस्य ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
राय ईशे स्वपत्यस्य गोमत ईशे वृत्रहथानाम् ॥ ६ ॥

ऋ० ३ । १६ । १ ॥

भा०—(अयम्) यह (अग्नि) अग्नि, परमेश्वर और राजा (सुवीर्यस्य) उत्तम वीर्य, सामर्थ्य का और (सौभगस्य) सौभाग्य का (हि) भी (ईशे) स्वामी, अधिष्ठाता है । वही अग्नि (राय) समस्त धनों का (ईशे) स्वामी है । वही (स्वपत्यस्य) सुन्दर पुत्र प्रजा का (गोमत) गौ आदि पशुओं से सम्पन्न (राय) धन धान्य का (ईशे) स्वामी है । वही (वृत्रहथाना) वृत्र, विघ्नकारी पापों, पापी पुरुषों के मारने वाले बल और साधनों का भी (ईशे) स्वामी है ।

१२ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २
[६१] त्वमग्ने गृहपतिस्त्वꣳ होता नो अध्वरे ।
१२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
त्व पोता विश्ववार प्रचता यासि च वार्यम् ॥ ७ ॥

ऋ० ७ । १६ । ५ ॥

भा०—हे अग्ने ! (त्व) तू (गृहपतिः) घर का स्वामी है, (त्व) तू (न) हमारे (अध्वरे) यज्ञ, हिंसारहित श्रेष्ठ कर्म में (होता) यज्ञ-

---

१ पुरूणि इन्द्रियाणि । द० उ० । २, यह इति महन्नाम । नि० ३ । ३ ।

६०–'ईशमह,' इति ऋ० ।

६१–'यक्षि वेषि च' इति ऋ० ।

मान और समस्त भाग्य पदार्थों के दान और स्वीकार करने वाला या विद्वान् दिव्य गुणों पुरुषों और शक्तियों को बुला कर हमें प्राप्त कराने वाला है। हे (विश्ववार) समस्त संसार के वरण करने योग्य या सब विघ्नों के वारण करनहारे रक्षक[1] (त्व) तू (पाता[1]) सब कार्यों का परिशोधक, निरीक्षक (प्रचेता) उत्कृष्ट मतिसम्पन्न है। तू ही (वार्यम्) सब का प्रसन्न करने वाला वरणयोग्य श्रेष्ठ पदार्थ ऐश्वर्य का (यवि) दाता है और (यासि च[2]) हमें प्राप्त कराता है या स्वयं स्वीकार करता है।

[६२] सखायस्त्वा ववृमहे देव मर्त्तास ऊतये।
अयान्नपातꣳ सुभगꣳ सुदꣳससꣳ सुप्रतूर्तिमनेहसम् ॥८॥
ऋ० ३। १९। १॥

भा०—हे अग्ने[1] परमात्मन्[1] (सखाय) हम सब समान ख्याति वाले (मर्त्तास) मरणधर्मा पुरुष या इन्द्रियगण (ऊतय) अपनी रक्षा के लिये (अपां नपातम्[1]) अप अर्थात् कर्मों और ज्ञानों के नपात् अर्थात् अपत्य, उत्पन्न हुए महाप्राण रूप या हम प्रजाओं को विनष्ट न होने देने वाले (सुभग) सुख से सेवन योग्य उत्तम ऐश्वर्यवान् (सुदससं[2]) शुभ कर्म करने वाले (सुप्रतूर्त्तिं[3]) पापियों और पापों के विनाशक (अनेहसम्[4]) क्लेश और उपद्रवों से रहित (त्वा देव) तुझ देव को (ववृमहे) वरण करते हैं।

१ पोता शोधयिता। मा० वि०। २ यासि याचसे इति मा० वि०। सुभगं सुशीलं इति ऋ०।

६२–१ अपां नपात्। अपत्यमेव च, यथा अङ्गस्य ओषधय। ततो रसाग्निर्विशेषः। अथवा आपोमय प्राण इति सुखप्राणत्वादस्यो नान्यत्वात्तत्पत्यत्वम्।
२ दस कर्मनाम (नि० २। १), ३ तूतुनिर्हिंसार्थे स्वादि।
४ अनेहसं उपद्रवरहितं सा०। अक्रोधम्। मा० वि०। एष क्रोधनाम। नि० २। १३।

इन्द्रियगण जिस प्रकार आत्मा को वरते हैं उसी प्रकार मनुष्य अपनी रक्षा के लिये इन गुणों से सम्पन्न को ही राजा मुख्यपति नियुक्त और उसी प्रकार ईश्वर को भी वरण करे।

इति पष्ठी दशतिः । षष्ठः खण्डः ।

॥ ७ ॥ ऋषि–१ रथवाश्वोवामदेवोवा । २ उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः । ३ बृहदुक्थो वामदेव्यः । ४ कुत्सः । ५, ६ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । ७ वामदेवः । ८, १० वसिष्ठः । ९ त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः ॥ १, ३, ५, ९ त्रिष्टुभः । २, ४ जगत्यौ । १० विपाट्विराड्गायत्री ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६३] आ जुहोता हविषा मर्जयध्वं नि होतारं गृहपतिं दधिध्वम् ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
इडस्पदे नमसा रातहव्यं सपर्यता यजतं पस्त्यानाम् ॥१॥

भा०—हे पुरुषो ! (हविषा) स्तुति और अन्नादि द्वारा (आजुहोत) आदरपूर्वक आहुतियें दान करो और (मर्जयध्वं) सत्कार करो और सुखी करो। (होतारं) सब प्रकार के भोग्य अन्न आदि देने वाले उस होता स्वरूप (गृहपतिं) गृह स्वामी के समान प्रभु को (नि दधिध्वम्) अच्छी प्रकार सेवा शुश्रूषा और धारणा ध्यान द्वारा स्मरण करो। (इडः) इला-पृथिवी यज्ञवेदी और अन्नादि के (पदे) स्थान पर या अवसर पर और (पस्त्यानाम्) घरों के बीच में (रातहव्यं) हवि चरु आदि पुष्टिकारक पदार्थ और आनन्द के दायक स्वामी की नमसा) नमस्कार और उपहार द्रव्यों द्वारा (सपर्यत) पूजा सत्कार करो।

३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[६४] चित्र इच्छिशोस्तरुणस्य वक्षथो न यो मातरावन्येति धातवे ।
३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २
अनू ऊधो यदजीजनदधाचिदा ववक्षत्सद्यो महि दूत्यं चरन्परः ॥

ऋ० १४ । ११७ । १ ॥

६३–१. पस्त्यानि गृहाणि । नि० ३ । ४ । तेषु ये निवसन्ति ते पस्त्याः । ग० वि० ।

६४–'अन्येति धातवे' 'यदजीजनद' 'अधाचन ववक्ष सद्यो' इति पाठभेदः, ऋ० ।

भा०—परमात्मा अग्नि का श्लेषपूर्वक शिशु रूप से वर्णन । प्रथम शिशु के पक्ष में—(शिशो.[1]) उस शिशु रूप (तरुणस्य) तरुण अग्नि आत्मा का (इद् वक्षथ[2]) भी यह वहन करने का कार्य (चित्र इत्) आश्चर्यजनक है (य) जो (धातवे) रस पान के लिये भी (मातरौ) माता पिता किसी के पास भी (न अन्वेति) नहीं जाता है । और आश्चर्य यह है कि (अनूधा.) बिना दूध के ही अब वह उत्पन्न हुआ (अधा चित्) तब ही (सद्य) तुरन्त (महि) बड़े भारी (दूत्य चरन्) दूत के कार्य के समान गगनातमन करता हुआ (आववक्षत्) कार्य भार को उठा लेता है ।

ईश्वर परमात्मा व्यापक, सर्वत्र सुप्त के समान व्यापक होने से यास्तुत्य होने से शिशु है, वह नित्य सामर्थ्यवान् होने से 'तरुण' है । उसका विश्व को वहन करने या धारण करने का कार्य अद्भुत है । वह अपने बल प्राप्त करने के लिये (मातरौ) मातृभूत द्यौ और पृथिवी दोनों के अधीन नहीं रहता । वह ससार को स्वय उत्पन्न कर चुकने पर भी 'अनूधा' अर्थात् स्वयं उसको धारण करता है । अतएव वह (सद्य) निरन्तर (महि) बड़ा भारी (दूत्य चरन्) विश्व को उपतापन या तप का कार्य करता हुआ इस ससार का (अववक्षत्) उठा रहा है ।

३२ ३ १२ ३१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६५] इद त एक पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा संविशस्व ।

३ १ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

संवेशनस्तन्वे३चारुरेधि प्रियो देवानां परमे जनित्रे ॥ ३ ॥

ऋ० १० । ५६ । १ ॥

भा०—हे आत्मस्वरूप अग्ने[1] (इदम्) यह प्रत्यक्ष संसार और यह लोक (ते) तेरा (एकम्) एक रूप है । (पर [3]ऊँ) और परलोक का स्वरूप

१. शिशो शमनीयस्य । मा० वि० । २. वक्षथ.-वहन गमनम् । मा० वि० ।

३. चित्र पूज्य । मा० वि० ।

६५-'सवेशने तन्व' इति ऋ० ।

(ते) तेरा (एकम्) एक दूसरा स्वरूप है । तू इन दोनों को अतिक्रमण करके (तृतीयेन) तीसरे उत्कृष्ट (ज्योतिषा) ज्योति, ब्रह्मज्ञान से (संविशस्व) लीन हो । वहां (संवशन) सुख के प्रवेश करने योग्य होकर (तन्वे) पुन शरीर ग्रहण के लिये (चारु) भली प्रकार गमनशील (एधि) रह, (परमे) उत्कृष्ट (जनित्रे) उत्पत्तिस्थान में (देवानाम्) दिव्य गुण वाले अपने इन्द्रियगण के सामर्थ्यों का (प्रिय) प्रेमपात्र होकर रह ।

ईश्वरपक्ष में—यह प्रत्यक्ष लोक तेरा एक रूप है । पर सूर्य आदि तेरा दूसरा रूप है । तू ही तीर्णतम, तृतीय, सर्वोत्कृष्ट ज्योतिरूप सर्वत्र व्यापक है । तू व्यापक होकर (तन्वे) जगत् के विस्तार करने के लिये भी (चारु एधि) सर्वत्र व्याप्त होता है । तू (देवाना) देव, पञ्चभूतों या मुक्तात्माओं के परम उत्पादक रूप में भी उनका (प्रिय) प्रिय अर्थात् उनमें सबसे अधिक श्रेष्ठ है ।

सायण ने इस मन्त्र को बृहदुक्थ ऋषि के मुख से अपने मृत, पुत्र के प्रति कहाया है । "तेरा यह एक अंश शरीर इस श्मशानाग्नि में जाय, दूसरा अंश प्राणवायु में मिल जाय, तीसरा अंश सूर्यज्योति में लीन हो जाय और पुनः शरीर धारण के लिये तैयार होकर सूर्यलोक में प्रसन्न होकर रह ।"

३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६६] इमꣳस्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया ।
३ २ ३ ३ १ २ ३ १ ४२ ३ १२ ४२ ३ १ २२
भद्रा हि न. प्रमतिरस्य संꣳसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥३
ऋ० १ । ९४ । २ ॥

भा०—(अर्हते) पूजा सत्कार करने योग्य (जातवेदसे) समस्त पदार्थों के जानने वाले, वेदों के उत्पादक ईश्वर के लिये (इमं स्तोमं) यह स्तुति-वाक्य हम लोग (रथम् इव[1]) रमणीय पदार्थ, उपहार करने योग्य वस्तु के

६६-१ रथमिव, यथा तक्षा रथ सुस्वरोति तथा (सा०) । यथा रथ गमयति तथा स्तोम गमयेम, इति मा० वि० ।

समान (सम्) उत्तम रीति से (मनीषया) अपनी बुद्धि से (महेम) प्रस्तुत करते हैं। (अस्य) इस (अग्ने) अग्नि के (संसद्) समाख्यान, संगम या सत्सङ्ग में (नः) हमारी (प्रमतिः) उत्तम मति सदा (भद्रा हि) कल्याण संकल्प वाली बनी रहे। हे अग्ने ! ईश्वर ! (वयं) हम लोग (तव) तेरे संग (सख्ये) मित्रभाव में (मा रिषाम[2]) कभी कष्ट न पावें, कभी पीड़ित न हों।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ २

[६७] मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्यो वैश्वानरमृत आ जातमग्निम्।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ ३ १ २ ३ २

कविꣳ सम्राजमतिथिं जनानामासन्नः पात्रं जनयन्त देवाः॥५॥

ऋ० ६। ७। १॥

भा०—(दिवः) द्यौलोक के (मूर्धानं) शिरोभाग और (पृथिव्याः) पृथिवी के (अरतिं) स्वामी, (ऋते) सत्य, यज्ञ या समस्त ब्रह्माण्ड में (आ जातम्) सर्वत्र प्रादुर्भूत, व्याप्त, (वैश्वानरम्) सब प्राणियों में व्यापक, (कविम्) मेधावी, क्रान्तदर्शी (सम्राजम्) खूब प्रकाशमान सब के सम्राट्, (जनानां अतिथिम्) मनुष्यों में अतिथि के समान अति आदर से पूजा के योग्य (नः) हमारा (आसन्) मुख भाग में स्थित, अर्थात् सब के प्रमुख (अग्निम्) अग्नि, ज्ञानवान् परमेश्वर को ही (पात्रं[1]) हमारी स्तुतियों और सत्कार का पात्र या पालक (देवाः[2]) विद्वान् पुरुष (जनयन्त) प्रकट करते, बतलाते हैं।

२ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

[६८] वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेभिरग्ने जनयन्त देवाः।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

तं त्वा गिरः सुष्टुतयो वाजयन्त्याजिं न गिर्वाहो जिग्युरश्वाः॥६॥

ऋ० ६। २४। ६॥

६७—१ पात्रं पात्तारं। सा०। २ देवाः. ऋत्विजः स्तोतारः। म०।

६८—ऋग्वेदे पाठभेदो यथा—'वि त्वदापो न पर्वत्स्य पृष्ठादुक्थेभिरिन्द्राग्नयन्त यज्ञे। स त्वामि सुष्टुतिभिर्नजन्त आजिं न ज्मन्गिर्वाहो जिग्युरश्वाः॥'

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर ! (देवाः) स्तुति करने वाले या तेरे दिव्य-गुणों को जानने वाले विद्वान् लोग (उक्थेभिः) यज्ञों, ज्ञानचर्चाओं द्वारा (पर्वतस्य) पर्वत या मेघ के (पृष्ठात्) तट या एक देश से (आपो न) जलधाराओं के समान (त्वत्) तुझ से (वि जनयन्त) नानाप्रकार के कार्य सम्पादन करते या तुझे नाना प्रकार से उत्पन्न करते या प्रकट करते हैं। अथवा (देवाः) दिव्यगुण के सूर्य आदि पदार्थ तुझ से, मेघ से जलधाराओं के समान, स्वयं प्रकट होते हैं। हे परमेश्वर (गिर्वणाह·) गिरा, वाग् या वाणियों द्वारा प्राप्त या ज्ञान करने योग्य अग्ने ! (अश्वाः) अश्व (आजिं न) जिस प्रकार संग्राम भूमि में (जिग्युः) विजय करते हैं, उसी प्रकार (सु स्तुतयो गिरः) उत्तमरूप से गुणवर्णन करने वाली वेदवाणियां (तं त्वा) उक्त प्रकार के गुणों से सम्पन्न तुझको (वाजयन्ति) बढ़ाती हैं, पुष्ट करती हैं, तुझे समृद्ध करती हैं, अलंकृत करती हैं।

२ ३ १ २ ३१ २ ३ १ २१ ३२३ १२
[६९] आ वोराजानमध्वरस्य रुद्रं होतारंसत्ययजंरोदस्योः
३ २ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम् ॥७॥
ऋ० ४ । ३ । १ ॥

भा०—(अध्वरस्य) कभी हिंसा का पात्र न होने वाले, कभी न मरने वाले यज्ञ के (राजानम्) अधिपति (रुद्रम्[1]) घोर गर्जना के साथ गमन करते हुए या पापियों के रुलाने वाले, (रोदस्यो.) द्यौ· और पृथिवी दोनों लोकों को (सत्ययजम्) सत्य के बल से दान देने वाले अथवा उनमें व्यक्त जगत् रूप से, सत्य यज्ञ करने वाले (होतार) आकाश से और पृथिवी से

६९–१. रुद्रो रौतीति सतो, रोरूयमाणो द्रवतीति वा । रोदयतेर्वा, यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्व-मिति काठकम् । यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम् इति नि० १० । १ । ५ ॥ रुद् रोदनत्वभाव । मा० वि० ।

अन्न और जल की आहुति देने वाले (हिरण्यरूपम्) मनोहर, सुवर्ण रूप को धारण करनेहारे तेजोमय (अग्निं) सूर्य के समान परमेश्वर को (अचित्तात्) चेतनारहित (तनयित्नोः[2]) अशनिविद्युत् से भी (पुरा) पूर्व अर्थात् उससे भी उत्कृष्ट (अवसे) अपने रक्षार्थ (कृणुध्वम्) उत्पन्न कर लो, जानो ।

३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७०] इन्धे राजा समर्यो नमोभिर्यस्य प्रतीकमाहुतं घृतेन ।
१ २ ३ २ २ ३ २ ३ १२ २१३ १ २
नरो ह्व्येभिरीडते सबाध अग्निरग्रमुपसामशोचि ॥ ८ ॥

ऋ० ७ । ८ । १ ॥

भा०—(अर्यः) स्वामी राजा) सब से अधिक कान्तिमान् (नमोभि) आदर वचनों से (सम इन्धे) खूब प्रज्वलित होता है । (यस्य) जिसका (प्रतीकम्[1]) स्वरूप (घृतेन) घृत, स्नेह, कान्ति या पुष्टिकर पदार्थों से (आहुतं) पूरित, हरा भरा है । उस (उपसाम् अग्रम्) उषाकाल में सब से पूर्व प्रकट होने वाले उस अग्नि को (नरः) विद्वान् लोग (सबाधः) उद्वेगों या क्लेशों या विघ्नों से बाधित होकर (ह्व्येभि) स्तुतियों से और उत्तम २ पदार्थों से (ईडते) भजन करते हैं । अग्नि के पक्ष में—अग्नि अन्न से प्रज्वलित होता है । रोगों से पीड़ित लोग उत्तम चरुओं से होमते हैं ।

राजा के पक्ष में—राजा आदर वचनों से आदृत होता है और शत्रुओं से पीड़ित प्रजाजन उसकी स्तुति करते हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[७१] प्र केतुना बृहता याग्न्यिरारोदसी वृषभो रोरवीति ।
३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे महिषो ववर्ध ॥ ९ ॥

ऋ० १ । ८ । १ ॥

---

२ तनयित्नुरशनि । सा० ।

७०–'आग्निरग्रम्' इति ऋ० । १ प्रतीक नाम मुख । मा० वि० ।

७१–'दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे' इति ऋ० ।

भा०—(अग्निः) अग्नि, परमेश्वर (बृहता) बड़े भारी (केतुना) विज्ञानमय प्रकाश के साथ (प्र यति) प्रकट होता है । (रोदसी) द्यौलोक और पृथिवी लोक दोनों में वह (वृषभ) सब से श्रेष्ठ, ज्ञानों और सुखों की वर्षा करने वाला (रोरवीति) शब्द करता है, उपदेश करता है । (दिवश्चित्) अन्तरिक्ष लोक के भी (अन्तात्) एक प्रान्त से उदित होकर (उपमाम्) समीप, हृदय देश में ही (उद्आनट्) उदित हुआ, प्रकाशित हुआ है । (अपा) समुद्रों के बीच सूर्य के समान लोकों एवं कर्मों और ज्ञानों के (उपस्थे) बीच वह (महिषः) महान् सामर्थ्यवान् (ववर्द्ध) सब से यश और नाम में बड़ा है ।

केतु=ध्वजा, ज्ञान । उपस्थे=अन्तरिक्षे ।

३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[७२] अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युतं जनयत प्रशस्तम् ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २
दूरेदृशं गृहपतिमथव्युम् ॥ १० ॥ ऋ० ७ । १ । २ ॥

भा०—(नरः) नेता, अग्रणी लोग (दीधितिभिः) किरणों और अंगुलियों द्वारा (अरण्योः) अरणियों के बीच में (हस्तच्युतम्) हाथों के बल से उत्पन्न हुए, अग्नि के समान द्यौ और पृथिवी के बीच में अपनी शक्ति से स्वयं स्थित, (प्रशस्तम्) सबसे उत्तम, निर्दोष (दूरे दृशम्) दूर तक दिखाई देने वाले या दूर तक देखने वाले, (गृहपतिम्) घर के स्वामी के समान समस्त प्रजा के रक्षक (अथव्युम्) गतिशील, दूर तक पहुचने वाले, व्यापक (अग्निम्) अग्नि, परमेश्वर को (जनयत) उत्पन्न करते, प्रकट करते हैं ।

अर्थात् जैसे अरणियों के बीच अग्नि, प्राण और अपान के बीच में आत्मा, माता पिता के बीच में पुत्र है उसी प्रकार द्यौ. और पृथिवी के बीच वह परमेश्वर शक्तिरूप से प्रकट है ।

इति सप्तमी दशतिः । सप्तम खण्ड ॥

॥ द० ८ ॥ ऋषि —१ वृषणश्विरौ । २, ५ वसुश्रि । ३ भारद्वाज । ४, ७ विश्वामित्र । ६ वसिष्ठ । ८ पायु ॥ देवता—१, २, ४–८ अग्नि । ३ सुर ॥ त्रिष्टुप् ॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[७३] अयोध्यग्नि समिधा जनाना प्रति धेनुमिवायतीमुषासम् ।
३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २
यह्वा इव प्रयामुज्जिहाना प्रभानव सिस्रते नाकमच्छ ॥१॥

ऋ० ५ । १ । १ ॥

भा०—(जनाना समिधा) लोगों की लगाई लकड़ी से जिस प्रकार (अग्नि अबोधि) सामान्य अग्निहोत्र का अग्नि (धेनुम् इव) दुधार कपिला गाय के समान (आयतीम् प्रति उषासम्) आते हुए प्रत्यक उषाकाल में (अबोधि) प्रदीप्त होती है उसी प्रकार यह (अग्नि) अग्नि के समान तेजस्वी आत्मा भी (जनाना समिधा) जनों के प्रदीप्त प्राणरूप काष्ठों से (प्रति उषासम्) प्रति प्रात काल प्राणायामों द्वारा (अबोधि) चेताया जाता है । (उज्जिहाना) ऊपर उड़ते हुए पक्षीगण जिस प्रकार (वयाम् प्रसिस्रते) शाखा पर जाते हैं । और जिस प्रकार (यह्वा) बड़ पुरुष (वयाम् इव) व्यापक उदारनीति की ओर बढ़ते हैं और जिस प्रकार (भानव) सूर्य के किरण (नाकम्) आकाश की ओर (प्रसिस्रत) व्यापते हैं उसी प्रकार (यह्वा) बड़े २ शक्तिशाली आत्मा (उज्जिहाना) उत्क्रमण करते हुए (वयाम्) उस व्यापक परमेश्वरी शक्ति की तरफ़ जाते हैं और (भानव) ज्ञान प्रकाश से प्रकाशित होकर आदित्य के समान तेजस्वी योगी मुक्तजन (नाकम्) परम सुखमय, आनन्दमय परम पद का (प्र सिस्रत) प्राप्त करते हैं ।

७३–'सिस्रते' इति ऋ० । पश्चिम इत्यधिको भाषार्थो माध्वीयविवरणे ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
[७४] प्र भूर्जयन्तं महां विपोधां मूरैरमूर पुरां दर्माणम्।
१ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २
नयन्तं गीभिर्वनान्विय धा हरिश्मश्रु न वर्मणा धनर्चिम् ॥२

ऋ० १९। ४६। ५।

भा०—(भूः)[1] सबके उत्पत्तिस्थान, भू आदि लोकों को (प्र जयन्त) उत्तम रीति से विजय करने वाले (मूरैः) मोहयुक्त जीवों द्वारा गृहीत (पुरां) शरीरों के (दर्माणम्) नाश करने वाले, उनको मुक्ति दिलाने वाले, (अमूरं) स्वयं मोह रहित, (गीभिः) वेदवाणियों द्वारा (वनां) भजन करने योग्य (धियं नयन्तं) हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में ले जाने वाले, (हरिश्मश्रु न) सुवर्ण के समान कान्तियुक्त किरण वाले सूर्य के समान (वर्मणा) कवच से (धनर्चिम्) विभूतिमान् उस अग्नि को (धा) हृदय में धारण कर।

त्रिपुरारि, पशुपति, भूतिभृत्, विश्वेश्वर आदि की शिवविषयक कल्पना ब्रह्म के विषय में इसी मन्त्र के आधार पर है। हरिश्मश्रु, हिरण्यकेश आदि शब्दों के धात्वर्थ समान हैं।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
[७५] शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि।
२ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
विश्वाहि माया अवसि स्वधावन्भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु ॥३

ऋ० ६। ५८। १।

भा०—हे पूषन्[1] अग्ने[1] (ते) तेरा (शुक्रं) कान्तिमान्, प्रकाशमान् रूप (अन्यत्) दूसरा है। और (यजतम्) आपका मिलने वाला, उपास्य, शिवरूप (अन्यत्) और है। (अहनी) ये दिन और रात के समान दोनों

७४-(ऋ) 'भूरा' इति ऋ०। उत्तरार्धे, 'नयन्तो गर्भे वनां धिय धु हिरिश्मश्रु नार्वाण धनर्चिम्।' इति ऋ०।

१. भूर्ग्रहण प्रदर्शनार्थं, त्रीनपीलोकान् जयन्त इति मा० वि०।

७५-'स्वधावो' इति ऋ०।

(विपुरूपे) भिन्न २ रूप के हैं । हे अग्ने ' तू (द्यौ इव असि ') सूर्य के समान है । हे (स्वधावन्) अन्नपते ' प्राणपते ' जीवेश्वर ' भूतपते ' (हि विश्वा) क्योंकि तू समस्त संसार की सब प्रकार की (माया) मायाओं, सृष्टियों को (अवसि) पालन करता है । हे (पूषन्) समस्त संसार के पोषण करने हारे (इह) इस लोक में (ते) तेरा (रातिं) दान (भद्रा) कल्याण और सुख के देने वाला (अस्तु) हो ।

ईश्वर ने अग्नि और सोम, प्राण और रयि दोनों से समस्त संसार को बनाया है । वह दोनों का सूर्य के समान प्रेरक है । सब चराचर सर्ग जो प्रकृति के विकार से बनी (माया) सृष्टियां हैं, उनको वही पालन करता है, यहां ब्रह्मा, विष्णु शिव तीनों रूपों का क्रम से वर्णन किया गया है ।

१ २ ३ १ २ २ १ २ २ ३ २ २
[७६] इडामग्ने पुरुदꣳसꣳ सनिं गोः शश्वत्तमꣳ हवमानाय साध ।
१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
स्यान्न सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥४॥

ऋ० १ । ३ । ६ । ११ ।

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर ! तू (हवमानाय) स्तुति भजन करने वाले पुरुष के लिये (पुरुदसम्) बहुत कर्मों से सम्पन्न या इन्द्रियों को पुष्टिदायक, (गो सनिं) गोधन, इन्द्रिय, वाणी या सरस्वती, विद्या के देने हारे, (शश्वत्तम) चिरकाल तक (इडाम्) अन्न, ज्ञान एवं भक्ति को (साध) प्राप्त करा । (न) हमारा (सूनु) पुत्र (तनय [1]) अगली सन्तान का विस्तार करने वाला वंशधर (विजावा [2]) नाना प्रकार की सन्तानों का उत्पन्न करने हारा (स्यात्) हो । (ते सा सुमति) तेरी वही शोभन मति (अस्मे) हमारे लिये (भूतु) बनी रहे ।

७६ पुरुदसम् । सा० भा० ।

१. तनय पुत्र, तनोति विस्तारयति सन्ततिमिति । २ विजावा विविध जनयिता पुत्राणां, अनेन प्रकारेण वंश्यादिच्छेदं वारयति । सा० वि० ।

[७७] प्र होता जातो महान्नभोविन्नृषद्मा सीददपा विवर्ते ।
दधद्यो धायी सुत ते वयाꣳसि यन्ता वसूनि विदते तनूपा ॥५॥
ऋ० १० । ४ । १ ।

भा०—(य) जो अग्नि (महान्) बड़ा (होता) स्तुतियोग्य, नाना पदार्थों का दान करने वाला (नभोविन्) आकाश और अन्तरिक्ष में व्यापक या उसको उत्तम रूप से जानने वाला (जात) प्रकट है, वह (नृषद्मा) समस्त प्राणियों में विराजमान है । वही (अपा विवर्ते) अन्तरिक्ष में स्तनस्थ प्रजाओं के भीतर भी (धायी) धारक पोषक रूप से विद्यमान है । वही (ते) तेरे लिये (वयांसि) अन्नादि पदार्थ और आयु का (दधत्) धारण करावे । (तनूपा) शरीरों की रक्षा करने वाला वह (यन्ता) सबका नियन्ता (विदते) नियम से अपना कार्य सम्पादन करने वाले पुरुष को (वसूनि दधत्) नाना प्रकार के सुखसाधन देता है ।

[७८] प्र सम्राजमसुरस्य प्रशस्तं पुष्टिं कृष्टीनामनुमाद्यस्य ।
इन्द्रस्येव प्र तवसस्कृतानि वन्दद्वारा वन्दमाना विवष्टु ॥६॥
ऋ० । ७ । ६ । १ ।

भा०—(असुरस्य) प्राणों और ज्ञानों से सम्पन्न (कृष्टीनां) प्रजाओं के (अनुमाद्यस्य) हर्षों और सुखों में सुखी होने वाले, (पुष्ट)

७७—'नृषद्मा' 'अपामुपस्थे' 'दधियों' 'धायी सत' ऋ० ।

१ अपां विवर्तोऽन्तरिक्षलोके । मा० वि० । २ 'धायी सुत' इति पाठे धायी धारयिता, 'सुत इत्यक पदम् । अभिसुते इत्यर्थ । पदकारस्तु 'धायी । सु । ०', इति पदद्वय चिन्तेत् ।

७८—'प्र सम्राजो' 'प्रशस्ति' 'वन्देदारु वन्दमानो विवक्ति' इति ऋ० । 'वन्दमानो विवक्ति इति स० सा० ।

पुरुष के (सम्राजम्) सबसे अधिक शोभा, कान्ति से युक्त स्वरूप का (प्रशस्तम्) प्रशंसनीय (प्र जानीत) जानो। मनुष्य (इन्द्रस्य इव) इन्द्र के समान (तवसः[२]) बलशाली उस पुरुष के (कृतानि) किये गये (च दद्वारा) नमस्कार पूर्वक वन्दमाना) स्तुति युक्त कार्यों को (प्र विवक्तु) अभिलाषा कर।

३२ ३१ २१ ३१२३१२ ३१२ ३१२
[७९] अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इवत्सुभृतो गर्भिणीभि ।
३१२३१२ ३१२३१२ क२१ ३२
दिवेदव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्नि ॥७॥

ऋ० ३ । २९ । २ ।

भा०—(अरण्यो) दो अरणियों में जिस प्रकार (जातवेदा) अग्नि (निहित) गुप्त रीति से रहता है और (गर्भिणीभि) गर्भिणी स्त्रियों द्वारा (गर्भ इव) जिस प्रकार गर्भ बड़ी सुरक्षा से पालन किया जाता है, उसी प्रकार द्यौ और पृथिवी के बीच में उनका प्रकाशक अग्नि परमेश्वर भी (निहित) उनके भीतर व्यापक है। और (गर्भिणीभि) जगत् की धारक शक्तियों द्वारा (इत् सुभृत) उत्तम रूप से सुरक्षित है। (दिवे दिवे) प्रतिदिन (जागृवद्भि) जागने वाले सावधान चैतन्य, ज्ञानी (हविष्मद्भि) हव्य आदि पदार्थ और स्तवन आदि से सम्पन्न (मनुष्येभि) मनुष्यों द्वारा वह (अग्नि) सर्व प्रकाशक ज्ञानवान् परमेश्वर (ईड्य) उपासना किया जाता है।

३१२ ३२३२ ३१२ ३१२
[८०] सनादग्ने मृणसि यातुधानान्न त्वा रक्षाꣳसि पृतनासु जिग्यु ।
१२ ३१२ ३२३ १२३ १२ ३१२
अनु दह सहमूरान् कयादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्याया ॥८॥

ऋ० १० । ८७ । १९ ।

---

१ अमुरिति प्रज्ञानाम नि० ३ । ९ ॥ रक्षान् असुर० ।

७९—'सुभितो गर्भिणीषु' इति ऋ० ।

८०—कव्यादो' इति ऋ० ।

भा०—हे अग्ने [1] परितापकारिन् तू (सनात्) प्राचीनकाल से (यातुधानान्) दुष्ट पुरुषों का (मृणसि) पीड़ित दलित करता रहा है। (पृतनासु) सेना संग्रामों में (रक्षांसि) राक्षस लोग (न त्वा) तुझको कभी भी नहीं (जिग्युः) जीत सके हैं। (मूरान्) मूढ़ (कवाद [1]) कच्चा मांस खाने वाले राक्षसों को (मह) एक ही साथ तू (अनु दह) तेज से भस्म कर डाल। वे (ते) तेरी (दैव्यायाः) दिव्यगुणों से युक्त (हेत्याः) शस्त्र की धार से (मा मुक्षत) न बच पावें।

इति अष्टमी दशतिः । अष्टमं काण्डं ॥

॥ द० ९ ॥ १ गतप्रभः । २ वामदेव । ३, ४ भरद्वाज । ५ मृत्युगाथी हैरण्यस्तूपिर्वा । ६, ७ गोपवन । ८ पुरुमीढ । १० वामदेव अदितिर्वा ऋषिर्वा ॥ अनुष्टुप् ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[८१] अग्न ओजिष्ठमा भर द्युम्नमस्मभ्यमध्रिगो ।
१ २ ३ ४ ५ ६ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
प्र नो राये पनीयसे रत्सि वाजाय पन्थाम् ॥१॥
अ० ५ । १० । १ ।

भा०—हे अग्ने [1] (ओजिष्ठम् [1]) अतिशय बलकारी (द्युम्नम्) धन धान्य सुवर्ण रत्न आदि (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (आ भर) प्राप्त करा। हे (अध्रिगो [2]) अक्षय सामर्थ्यवान् देव [1] (नः) हमारे लिये (पनीयसे) स्तुति योग्य, प्रशंसनीय एवं व्यवहार व्यापार आदि करने योग्य (राये) सम्पत्ति के लिये और (वाजाय) अन्न आदि पदार्थों की प्राप्ति के लिये (पन्थाम्) मार्ग, उपाय (प्र रंसि [3]) तैयार कर, हमें सुझा।

१ कवाट् । रक्षकारणेऽदन्तोऽपि क्वन् (स० मा०)
८१—'प्रनो राया परीणसा इति ऋ० । १ अग्ने ओजो बलम् (नि० २ । ७) १ अक्षय इन्द्रशक्तिमन् । अग्ने नौ । (नि० मा०) १ रं विस्तृत । रंसि ।

१ २ ३२३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[८०] यदि वीरो अनुष्यादग्निमिन्धीत मर्त्यः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आजुह्वद्धव्यमानुषक् शर्म भक्षीत दैव्यम् ॥२॥

ऋ० ५ । २ । ६ ॥

भा०—(यदि) जब पुरुष (वीरः[1]) ब्रह्मचर्य से वीर्यवान् (अनुष्यात्) हो तब वह (मर्त्यः) मरणधर्मा पुरुष (अग्निं) ईश्वररूप अग्नि का (इन्धीत) प्रदीप्त करे अपने अन्तरात्मा में जगावे और (आनुषक्) निरन्तर (हव्यं) प्राणापान रूप आहुतियां को (आजुह्वत्) उसमें हवन समर्पण करता हुआ (दैव्यम्) देव परमेश्वर से प्राप्त (शर्म) सुख और शान्ति को (भक्षीत) भोग करे ।

जब मनुष्य वीर्यवान् हो तो वह गृहस्थ प्रवेश के साथ २ अग्नि आधान करे, और उसमें हव्य चरु की आहुति दे ।

३ १ २ ३ १ ३२३ ३१२ १२
[८१] रथेवस्ते धूम ऋण्वति दिवि सञ्छुक्र आततः ।
३ २३ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ॥ ३ ॥

ऋ० ६ । २ । ६ ।

भा०—हे अग्ने[1] (रथेव) कान्तियुक्त जाज्वल्यमान (ते धूम) तेरा धूम बल कपान का सामर्थ्य, विभूति, मन्यु और कोप (दिवि ऋण्वति) समस्त द्यौ सूर्य रूप में परिणत या प्रकट हो रहा है । वह (शुक्र) अत्यन्त शुक्लवर्ण, कान्तियुक्त होकर (आतत) सब तरफ विस्तृत है । (सूरो न) सूर्य के समान (कृपा) सामर्थ्यस्वरूप (द्युता) दीप्ति या सामर्थ्य शक्ति से (त्वं) तू (रोचसे) सर्वत्र प्रकाशित है ।

---

८२ १ वीरः । पुत्र । मा० ।

८१—दिवि पप्रुक्षं इति ऋ०

[८४] त्वञ्हि वैतवद्यशोऽग्ने मित्रो न पत्यसे ।
त्वं विचर्षणे श्रवो वसो पुष्टिं न पुष्यसि ॥ ४ ॥

ऋ० ६ । २ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! (हि) जिस कारण से (त्व) तू (वैतवद्) सबको निवास देने वाले (यश) अन्न, बल को (मित्र न) सूर्य के समान (पत्यसे) नाना प्रकार से प्राप्त करता या उत्पन्न करता है। हे (विचर्षण) विशेषरूप से सब के द्रष्टा ! (वसो) हे सबको निवास देने वाले अग्ने ! तू (श्रव) अन्न और ज्ञान को (पुष्टिम् न) पोषण सामर्थ्य के समान ही (पुष्यसि) स्वयं बढ़ाता और पुष्ट करता है, उनमें बल उत्पन्न करता है।

[८५] प्रातरग्नि. पुरुप्रियो विशः स्तवेतातिथि[८५]।
विश्वे यस्मिन्नमर्त्ये हव्य मर्त्तास इन्धते ॥ ५ ॥

ऋ० ५ । १८ । १ ॥

भा०—(पुरुप्रिय) बहुतसे प्राणियों का प्यारा या इन्द्रियों को प्रेरणा या पूर्ति, सन्तुष्टि देने हारा (अग्नि) अग्नि, परमात्मा और आत्मा (अतिथिः) इस शरीर या ब्रह्माण्ड रूप गृह में व्यापक है। उसका (विश) सब प्रजाएं (प्रात.) प्रात काल, सबसे पूर्व (स्तवेत) उपासना करें, स्तुति करें (यस्मिन्) जिस (अमर्त्ये) मरण रहित, अविनाशी आत्मामें (विश्वे) समस्त (मर्त्तास.) मरणधर्मा शरीरधारी प्राणी (हव्य) अन्न रूप हवि और स्तुति को (इन्धते) प्रदान कर प्रज्वलित रखते हैं, जीवित रखते हैं।

---

८५ विशामग्निं यो अमर्त्यो हव्या मर्त्येषु रण्यति' इति ऋ० । 'विशे स्तवेत इति० सा० विश्स्तवेत' स० सा०

१२ ४३ २३१२ ३१२
[८६] यद्वाहिष्ठ तदग्नये बृहदर्च विभावसो ।
१ २ ३ २३२ज ३१२
महिषीव त्वद्रयिस्त्वद्वाजा उदीरते ॥ ६ ॥

ऋ० ५ । २५ । ७ ॥

भा०—हे (विभावसो) हे विशेष प्रकार की कांति से युक्त, धन से सम्पन्न ! (बृहत्) तू सब से अधिक (अर्च) प्रकाशमान् हो । (महिषी इव[1]) जिस प्रकार इस बड़ी भारी पृथ्वी से अन्न रत्न आदि प्राप्त होते हैं उसी प्रकार (त्वद् रयि) तुझ से ही समस्त धन और (त्वद वाजा) तुझ से ही समस्त अन्न (उदीरते) उत्पन्न होते हैं । इस कारण (यद्) जो (वाहिष्ठ) प्राप्त करने या उपहार करने योग्य पदार्थों में सबसे श्रेष्ठ भाव और अन्नादि है (तत् अग्नये) वह उस परमेश्वर के और अग्नि लिये ही है ।

३१ २ ३ १ २ ३१२ ३२
[८७] विशो विशो वो अतिथिं वाजयन्त पुरुप्रियम् ।
३ २ ३ २३१२ ३२ ३२ ३ १ २
अग्निं वो दुर्यं वच स्तुषे शूषस्य मन्मभि ॥ ७ ॥

ऋ० ८ । ७४ । १ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (व) तुम लोग (विश विश अतिथिं) समस्त प्रजाओं के अतिथि के समान पूज्य या सब प्रजाओं में व्यापक (पुरुप्रियम) सब के प्रिय (अग्निं) अग्नि परमेश्वर का (वाजयन्त) अर्चना करते और बढ़ाते रहत हो । मैं (शूषस्य) सुख प्राप्ति के लिये (दुर्यं[1]) गृह या इस देह के लिये हितकारी इस (अग्निं) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर विषयक (वच) वाणी से (मन्मभि) मनन करने योग्य साधनों से (व) आप लोगों के प्रति (स्तुषे) ठीक २ प्रकार से वर्णन करता हूं ।

८६–१ महिषीं यथा राज्ञ्यं[1]मिति । ग० वि० ।

८७–१ दुर्या गृहा । नि० ३ । ४ । १ ।

३२उ ३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
[८८] बृहद्वयो हि भानवेऽर्चा देवायाग्नये ।
३ १र २ २र ३ १ २ ३ २ ३२
यं मित्रं न प्रशस्तये मर्तासो दधिरे पुरः ॥ ८ ॥

ऋ० २ । १६ । १ ॥

भा०—(भानवे) भानु, कान्तिस्वरूप (देवाय) सब के प्रकाशक (अग्नये) अग्नि के लिये (बृहद्) सब से बड़ा (वयः[1]) अन्नभाग या आयु का भाग (अर्चे) भक्तिरूप में दे । (यं) जिसको (प्रशस्तये) उत्तम कीर्ति होने के कारण (मर्तासः) मनुष्य लोग (मित्रम् इव) अपने हृदय के इष्ट मित्र, स्नेही के समान (पुरः) सदा अपनी चक्षुओं के आगे (दधिरे) रखते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
[८९] अगन्म बृत्रहन्तमं ज्येष्ठमग्निमानवम् ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यं स्म श्रुतर्वन्नार्चे बृहदनीक इध्यते ॥ ९ ॥

ऋ० ८ । ७४ । ४ ॥

भा०—(बृत्रहन्तमं) विघ्न, उपद्रव और यज्ञविनाशक दुष्ट जीवों को नाश करने वाले, (ज्येष्ठं) सब से अधिक श्रेष्ठ, प्रशंसा करने योग्य, (आनवं) मनुष्यों के हितकारी, (अग्निं) अग्नि परमेश्वर और आत्मा को (अगन्म) हम प्राप्त हों (यं) जो अग्नि (आर्चे[2]) नक्षत्र लोकों से और ज्ञानेन्द्रियगण से सम्पन्न, (श्रुतर्वन्) बड़े लोकों और प्राणेन्द्रियों

८८ -'प्रशस्तिभिर्मर्तासो' इति ऋ० ।

८९-'आगन्म' इति ऋ० । 'यस्य श्रुतर्वा बृहन्नार्शो अनीक एध्ये' इति ऋ० ।

१ ऋणात इति अधुम् । ऋतेरौणादिक स, । उ० ३ । ६६ । इन्द्रियम् । ऋषेरिन्द्रियत्व बृहदारण्यकोपनिषदि सुस्पष्टम् सप्तर्षिव्याख्याने ।

से युक्त देह में और भौतिक बड़ी २ शक्तियों से युक्त ब्रह्माण्ड में (बृहद् नीक) प्राणमय बलों और विशाल पञ्चभूतों के बल से युक्त होकर (इष्यते) प्रकाशित या जाग्रित, जागृत रहता है ।

३ १२ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[९०] जात परेण धर्मणा यत्सवृद्धि सहाभुव ।
३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ ३
पिता यत्कश्यपस्याग्नि श्रद्धा माता मनु कवि ॥ १० ॥

भा०—हे अग्ने ! तू (परेण धर्मणा) परम उत्कृष्ट तपस्या और सदाचार के बल से (जात) उत्पन्न या प्रकट हुआ है (यत्) क्योंकि (सवृद्धि) अपने साथ लगे हुए कर्मचारीगण इन्द्रियों के (सह) साथ मिलकर (आभुव) तू सब कार्य करने में समर्थ है । यह अग्नि आत्मा (कश्यपस्य [1]) इस ज्ञान के पान करनेहारे मन का (पिता) पालक है और उसकी (माता) जन्मभूमि (श्रद्धा [2]) सत्य का धारण करनेहारी बुद्धि है और (मनुकवि) मननशील क्रान्तदर्शी पुरुष आत्मा ही इसका गुण है ।

परमात्मा के पक्ष में (परेण धर्मणा) परम उत्कृष्ट, धारण सामर्थ्य से (यत्) जो (सवृद्धि) साथ वर्तमान शक्तियों के साथ (आभुव) विद्यमान है । तू (कश्यपस्य पिता) सूर्य आदि लोक और ज्ञानी पुरुषों का पालक है । (अग्नि) प्रकाशस्वरूप, (श्रद्धा) सत्य का धारक, (माता) जगत् का कर्त्ता, (मनु) ज्ञानवान् (कवि) मेधावी और पारदर्शी है ।

इति नवमी दशति । नवम खण्ड ।



९०-१. यद्यपि परपदो भाति । सा० । २. अदिति सत्यनाम, नि० १ । १० ।

॥ द० १० ॥ १ अग्निस्तापसः । २ वामदेवः । ३ वामदेव. कश्यपः । असितो देवलो वा । ४ भर्गाहुतिः सोमो वा । ५ पायु· । ६ प्रस्कण्वः ॥

देवता—१ विश्वेदेवाः । २ अङ्गिराः । अनुष्टुप् ॥

[९१] सोमं राजान वरुणमग्निमन्वारभामहे ।
आदित्य विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ १ ॥

ऋ० १० । १४१ । ३ ॥

भा०—हम (सोमं) शान्तिदायक, सब जगत् के प्रेरक और उत्पादक (राजानं) प्रकाशमान, (वरुणं) सब पापों के निवारक, (अग्निं) ज्ञान-स्वरूप, सन्मार्ग के नेता परमेश्वर को (अनु आरभामहे) प्रतिदिन स्मरण करते हैं । (च) और (आदित्य) सब रसों के ग्रहण करने हारे, अखण्ड, (विष्णुं) सर्वत्र व्यापक (सूर्यं) सब के प्रेरक, सर्वप्रकाशक, (ब्रह्माणं) सब से महान्, ज्ञान के भण्डार (बृहस्पतिं) वेदवाणी के स्वामी को नित्य स्मरण करते हैं ।

[९२] इत एत उदारुहन्दिवः पृष्ठान्यारुहन् ।
प्रभूजयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययु. ॥ २ ॥

भा०—(भूजयः[1]) पृथिवी को विजय करने हारे राजर्षि लोग (यथा) जिस प्रकार (पथ·) मार्ग से (द्यां ययुः) द्यौलोक, या आदित्य लोक, या स्वर्ग को जाते हैं । उसी प्रकार (एते) ये (अङ्गिरस·) योगी, ज्ञानी

९१—'सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे । आदित्यान्०' इति ऋ० ।

९२—१. भूजय. भूज्जतिः पावकर्मा हविर्भा पक्तारः इति सा० । भू-जयः इति पदकारः । भूः पृथिवी तां ये महावीराद्येनानुष्ठानेन जिन्वन्ति, ते इति (सा० वि०) भूर्जयः वर्षिष्ठा ।

लोग भी (इत) इस लोक से (दिव पृष्ठानि) आदित्य के समान प्रकाशमान मोक्ष के सुखों को (रुरुहन्) ऊर्ध्वगति से प्राप्त करते हैं ।

अपने २ धर्म के पालन से राजर्षि और ब्रह्मर्षि दोनों समान लोक में जाते हैं । अथवा (भू) गृहस्थाश्रम को विजय करके आश्रम परम्परा से निकलकर कर्मिष्ठ लोग जिस मार्ग से मोक्ष का लाभ करते हैं उसी प्रकार से ब्रह्मज्ञानी गृहस्थ में न जाकर भी मोक्ष लोक को ज्ञान के बल से प्राप्त करते हैं ।

[१३] रायो अग्ने महस्त्वा दानाय समिधीमहि ।
ईडिष्वाहि महो बृहन् द्यावा होत्राय पृथिवी ॥ ३ ॥

भा०—हे अग्ने ! ह (बृहन्) आत्मा और मानस में आनन्द की वर्षा करने वाले प्रभो ! (त्वा) तुझको (महे) बड़े भारी विशाल (रायो) अनुपम धन के निमित्त (दानाय) अपने को आत्मसमर्पण करने के लिये हम साधक लोग (समिधीमहि) उत्तम रीति से योग द्वारा प्रज्वलित करते हैं । (हि) क्योंकि (द्यावापृथिवी) द्यौलोक और पृथिवी लोक दोनों (महे होत्राय[1]) उसी परमेश्वर रूप कालाग्नि में बड़ी भारी आहुति के लिये हैं । तू भी उसी की (ईडिष्व) स्तुति कर ।

[१४] दधन्वे वा यदीमनु वोचद् ब्रह्मेति वेरु तत् ।
परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवाभुवत् ॥ ४ ॥

ऋ० २ । ० । १३ ॥

३—१. ज्ञानग्रहणश्चात्र प्रदर्शनार्थम् । मा० वि० ।
२ दधन्वे धारयति धारणेनात्र श्रवण गृह्यते । मा० वि० ।

१४—'अग्निर्हि वक्ता' इति ऋ० । 'नेमिश्चक्रमिवाभवत्' इति ऋ० ।

भा०—(इन्) इस अग्नि को लक्ष्य करके ही (दधन्वे[1]) अथर्वा आदि यज्ञिक जिसको धारण करते या शिष्यगण गुरुमुख से श्रवण और स्मरण करते हैं और वे हमारा या शिष्य आदि (ब्रह्म) परमन्त्र का (अनु वोचत्) पुनः पाठ या उच्चारण करते हैं (तत् उ) यह सब भी (वे) ज्ञानवान् प्रकाशस्वरूप अग्नि का ही है। क्योंकि (नभि चक्रम् इव) जिस प्रकार लोह का हाल चक्र के चारों ओर उसका टेक लेता है उसी प्रकार यह अग्नि भी (विश्वानि काव्यानि) समस्त विद्वानों के बनाए काव्यों, ग्रन्थों और कार्यों का (आभुवत्) व्याप रहा है। अर्थात् समस्त विश्व का महित्व, इस प्रभु की ही महिमा का गान करता है।

[१५] प्रत्यग्ने हरसा हर शृणाहि विश्वतस्परि।
यातुधानस्य रक्षसो बलं स्फुर्ज वीर्यम् ॥ ५ ॥

ऋ० १० । ८७ । २५ ॥

भा०—हे अग्ने ! (यातुधानस्य) हिंसक दुष्ट पुरुष का (विश्वतः परि) समस्त संसार पर जो (हरः) उनके प्राण हरण करने वाला अत्याचार कारी बल है उसको (हरसा) दुष्ट के प्राण निकालने वाले बल क्रोध, मन्यु से (शृणाहि) नाश कर। और (रक्षस) दुष्ट राक्षस के (बल) बल, सैन्य बल, (वीर्यं) सामर्थ्य और यौवन का भी (स्फुर्ज) भून डाल।

[१६] स्यग्ने यन्तू रिह रुद्रा आदित्या उत।
यजा स्वध्वरं जनं मनुजातं घृतप्रुषम् ॥ ६ ॥

ऋ० ? । ४८ । ? ॥

०५—शृणाहि' इति ऋ०। [वि]श्वतः वीर्यम्' इति ऋ०।

०६—यन्तू [इ]ह। रुद्रा। [आ]दित्या। [घृ]तप्रुषम् [त]मप्रयसम्। मा० वि०।

भा०—हे अग्ने ! तू (गोमत) पशु, रश्मियों और इन्द्रियों तथा वेदवाणियों से सम्पन्न (वाजस्य) अन्न, धन, ज्ञान और वीर्य का (ईशान) स्वामी है । हे (सहसो यहो) बलपूर्वक प्रकट होने वाले, महान् (जातवेद) सर्वज्ञ सर्वेश्वर देव ! (अस्मे) हमें (महि) बहुत उत्तम (श्रव) अन्न, धन, कीर्ति और ज्ञान का (देहि) दान कर ।

[१००] अग्ने यजिष्ठो अध्वरे देवान् देवयते यज ।
होता मन्द्रो वि राजस्यति स्रिध ॥ ३ ॥ ऋ० ३ । १० । ७ ॥

भा०—हे ज्ञानवन् ! परमेश्वर ! तू (यजिष्ठ) सब से अधिक यजन शील दानी सगतिकारक है । तू (अध्वर) पुण्य दानादि कार्य में (देवयते) विद्वानों और देव ईश्वर की कामना करते हुए पुरुष के लिये (देवान्) विद्वानों का (यज) एकत्र कर, परस्पर सगति करा । तू स्वय (होता) सब को दान देने और देव लोगों को आह्वान करने वाला, (मन्द्र) सब को प्रसन्न करने वाला होता हुआ (स्रिध) शत्रुगण को (अति वि राजसि) अतिक्रमण करके विशेषरूप से उन पर शासन करता है, उन पर विराट् होकर रहता है ।

[१०१] जज्ञान सप्त मातृभिर्मेधामाशासत श्रिये ।
अय ध्रुवो रयीणां चिकेतदा ॥ ५ ॥ ऋ० १० । १०२ । ४ ॥

भा०—(अय) यह (ध्रुव) नित्य, कभी विचलित न होने वाला (सप्त मातृभि) सात माताओं, सृष्टि के निर्माता पाच भूत महत् अहकार

१०१—'जज्ञान सप्तमातर', 'यथामशासत' 'चिकेतयत्' इति ऋ० 'अचिक तयत्' इति । सा० ।

१ सप्तमातर — सप्त छन्दासि 'सप्त होत्रा' सप्त सेमसस्था, इति (मा० वि०) ।

इनसे (जज्ञान·) सृष्टि को प्रकट करता हुआ (श्रिये) अपने विभूतिरूप शोभा या आश्रय के लिये (मेधाम) उत्तम धारणा शक्ति पर (आशासत) वश करता है। वही परमेश्वर (रयीणा) समस्त ऐश्वर्यों को (आ चिकेतन्) भली प्रकार से जानता है।

अध्यात्म में—यह ध्रुव आत्मा प्रमाता, इन्द्रियों से ज्ञान करता हुआ (श्रिये) अपने कल्याण के लिये (मेधाम् आशासत) मेधा बुद्धि को धारण करता है। (रयीणाम्) सब प्राणों के वीर्यों को जानता है।

सप्त मातरः=सात प्रमाता, ज्ञान साधन सात मुख्य प्राण हैं जिनको उपनिषत्कार सात ज्वाला, सात ऋषि, सात रथ, सात अश्व, सात अग्नि, सात वह्नि आदि नामों से पुकारते हैं। (नासिकेत) अग्नि ध्रुव अग्नि है जिसका ज्ञान अध्रुव यज्ञ कार्य से नहीं होता। 'नह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्'' । का० उप० ॥ इनको ही सात छन्द, सात होता, सात सोम संस्थाओं के नामों से भी पुकारते हैं।

[१०२] उत स्या नो दिवा मतिरदितिरूत्यागमत्।
सा शंताता मयस्करदप स्रिधः ॥६॥ अ० ८ । १८ । ७ ॥

भा०—(उत स्या) और वह (अदिति[1]) कभी खण्डित न होने वाली, दृढ, ईश्वरीय बलवती, सत्य, (मतिः) मननशक्ति, (दिवा) प्रतिदिन (ऊत्या) हमारी रक्षा के लिये (नः आगमत्) हमें प्राप्त हो। (सा) वह (शंताता) शान्ति उत्पन्न करने वाली (मयस्करत्) आभ्यन्तर सुख और आनन्द दे। और (स्रिधः[2]) शत्रु या दोष जिनका सत्य ज्ञान से

१०२–'शन्नाति' 'उतत्या' इति पाठभेदौ। 'सुध', 'स्रिधः' इति पाठभेदौ।

१. सकलप्रपञ्चधारणेच्छदीना इतिस्वन्दस्वामी। अदितिर्देवमाता (मा०वि०)

२. स्रिधिर्वधनार्थः (सा०)

बाध होना सम्भव है, ऐसे भ्रम अज्ञान और विपर्यय या मिथ्या ज्ञानों को वह (अप) दूर करे ।

[१०३] ईडिष्वा हि प्रतीव्या३यजस्व जातवेदसम् ।
चरिष्णु धूममगृभीतशोचिषम् ॥७॥ ऋ० ८ । २३ । १ ॥

भा०—(जातवेदस) पदार्थों का ज्ञान करने वाले (चरिष्णु) व्यापक, दूरगामी ज्ञान साधनों से सम्पन्न, (धूमम्) सबको कंपाने वाले, सब के प्रवर्त्तक, (अगृभीतशोचिषम्) अम्लानिहत कान्ति से सम्पन्न, कभी न बुझने वाले, अमर, (प्रति व्या) प्रत्येक देह या पदार्थ में व्यापक आत्मस्वरूप या ब्रह्मस्वरूप अग्नि को ही, हे पुरुष ! तू (ईडिष्व हि) उपासना किया कर और (यजस्व) उसी को प्राप्त कर, उसी में आत्म समर्पण कर ।

[१०४] न तस्य मायया च न रिपुरीशीत मर्त्यः ॥
यो अग्नये ददाश हव्यदातये ॥८॥ ऋ० ८ । २३ । १५ ॥

भा०—(य) जो पुरुष (हव्यदातये) ज्ञानदाता (अग्नये) अग्नि परमात्मा और आचार्य के प्रति अपने का (ददाश) समर्पण कर देता है (तस्य) उस पुरुष का (रिपु) शत्रु (मर्त्यः चन) मनुष्य भी (मायया) बुद्धि द्वारा (न ईशीत) कभी उस पर वश नहीं कर सकता ।

[१०५] अप त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम् ।
दविष्ठमस्य सत्पते कृधी सुगम् ॥९॥ ऋ० ५ । ५१ । १३ ॥

१०३–'प्रतीव्य' इति ऋ० ।

१०४–'हव्यदातिभिः' इति ऋ० ।

भा०—हे (सत्पते) सत्पुरुषों के प्रतिपालक ! (त्य) उस (वृजिन) पापशील, त्याग करने योग्य (रिपु) हिंसक, शत्रु, (स्तेन) चोर (दुरा ध्यम्) दुःख से वश करने योग्य, (दविष्ठ) हृदय से दूर, द्वेषी पुरुष को (अप-अस्य) दूर कर। और हमारे लिये उसको (सुग) सुखसे वश करने योग्य (कृधि) बना दे।

[१०६] श्रुष्टयग्ने नवस्य मे स्तोमस्य वीर विश्पते।
नि मायिनमपसा रक्षसो दह ॥१०॥ ऋ० ८ । २३ । १४॥

भा०—हे (वीर) वीर्यवन् ! हे विश्पते ! प्रजा के पालक ! (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! (मे) मेरे (नवस्य) नूतन (स्तोमस्य) स्तुति को (श्रुष्टी) श्रवण करके (मायिन) माया छल कपट आदि से युक्त, मायावी (रक्षस) राक्षसों और दुष्ट भावों को (तपसा) अपने तेज से (नि दह) सर्वथा भस्म कर।

इति प्रथमा दशतिः । इति एकादश खण्डः

॥ ऋ० २ ॥ १ ४ प्रयोगो भार्गव सौभरि काण्वो वा । २, ३, ५, ६, ७ सौभरि । ८ विश्वमना वैयश्व ॥ बृहती ॥

[१०७] प्र मंहिष्ठाय गायत क्रतान्ने बृहत शुक्रशोचिषे।
उप स्तुतासो अग्नये ॥१॥ ऋ० ८ । १०३ । ८ ॥

१०६–'बृहत्' इति ऋ० ।

१०७–१. कृधि इति स्वरभक्त्यागमेन निर्दिष्टः । बलादेशश्छान्दसः ।

भा०—(महिष्ठाय[1]) सबसे अधिक दानशील (अतान्ने) यज्ञ करनेहारे, सत्यमय, (बृहते) महान्, (शुक्रशोचिषे) देदीप्यमान, कान्ति से युक्त (आवये) प्रकाश स्वरूप, ज्ञानी परमेश्वर का हे (उप स्तुतास.[2]) हे स्तोतागण ! (प्रगायत) उत्तम रूप से कीर्तन करो।

[१०८] प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तरति वाजकर्मभिः ।
यस्य त्वं सख्यमाविथ ॥२॥ ऋ० ८ । १९ । ३० ॥

भा०—हे अग्ने ! (यस्य) जिसके (त्वम्) तू (सख्यम्) मैत्रीभाव को (आविथ) प्राप्त कर लेता है (स) वह (तव) तेरे (सुवीराभि) उत्तम शक्तिसम्पन्न, (ऊतिभि.) रक्षासाधनों द्वारा और (वाजकर्मभि.) अन्न के उत्पादन और ज्ञान के सम्पादन और बल के कार्यों से (तरति) सब विघ्नों को पार कर जाता है।

[१०९] तं गूर्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे ।
देवत्रा हव्यमूहिषे ॥३॥ ऋ० ८ १५ १ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (तं) उस (स्व:-नरं) सब के नेता अथवा उस सुखस्वरूप, मोक्षमार्ग के पथदर्शक, परम (देवम्) देव की (गूर्धय) स्तुति कर, उसके गुणों का गान कर। (देवास) देव-विद्वान् लोग इन्द्रियां या पंचभूत उस (देवम्) प्रकाशमान देव को (अरतिं[1]) सर्वज्ञ या अति

१०८-'सुवीराभिस्तिरते वाजभर्मभि' इति ऋ० ।
'सख्यमावरे' इति ऋ० । 'आवरे' इति म० मा० ।
वाजभर्मभिः इति पाठः शुद्धः, मान्तो 'वाजभर्मा' इत्यान्नानत् (मनु०)
१०९-'गूर्धया', 'हव्यमोहिरे' इति ऋ० ।
१. अरतिम् अलमतिं सर्वज्ञमिति मा० वि० ।

प्रीतिमान् स्वामी (दधन्विरे) स्वीकार करते हैं । वह (देवत्रा) दिव्यगुण सम्पन्न विद्वान् पञ्चभूतों और इन्द्रियों में (इव) उनके भीतर शक्ति ज्ञान और भोग्य पदार्थों का (अहिव) पहुंचाता है ।

[११०] मा नो हृणीथा अतिथिं वसुरग्निं पुरुप्रशस्त एषः ।
य सुहोता स्वध्वरः ॥४॥ अ० ८ । १०३ । १२ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (नः) हमारे (अतिथिं) अतिथि के समान पूजनीय देव के प्रति (मा हृणीथा) क्रोध या अनादर मत कर । (एषः) यह (पुरु-प्रशस्तः) बहुत उत्तम प्रशंसा और आदर करने योग्य है । वह (वसुः) वास देने योग्य सबके भीतर बसने वाला और सबका बसाने वाला (अग्निः) अग्नि के समान ज्ञान रूप प्रकाश से सम्पन्न है । (यः) जो (सुहोता) उत्तम पदार्थों का दाता और प्रतिगृहीता और (स्वध्वरः) उत्तम हिंसा रहित कार्यों का अनुष्ठाता, पालक है ।

[१११] भद्रा नो अग्नेराकृतिर्भद्रा हेतिः सुमग भद्रा अध्वरे ।
भद्रा उत प्रशस्तयः ॥५॥ अ० ८ । १९ । १९ ॥

भा०—(नः) हमारा (आकूत) भली प्रकार उपासित, (अग्नि) परमेश्वर (भद्र) हमारे कल्याण के लिये हो । हे (सुभग) उत्तम ऐश्वर्य वान् आत्मन् ! परमेश्वर ! (हेतिः) हमारा दिया दान हमें (भद्रा) कल्याण कारी सुखदायी हो । हमारा (अध्वरे) हिंसा रहित कर्म यज्ञ भी (भद्रा) कल्याणकारी सुख शान्ति और ऐश्वर्य का दायक हो, (उत) और (प्रशस्तयः) हमारे सर्वोत्तम आदि भी (भद्रा) कल्याणकारी सुखदायी हों ।

११०—[१] मा नो हृणीतामतिथिम्" इति ऋ०। २ मा हृणीता मानवसो इति । म० । वि० । इति तुरीयोऽनुवाकः । नि० २ । १२ ॥

[११२] १ २ यजिष्ठं त्वा ववृमहे ३।२ १ ३।२ देव देवत्रा २।१।३ १२ होतारमप्रयम् ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥६॥ ऋ० ८ । १८ । ३ ॥

भा०—(यजिष्ठं) दान आदि करने हारे, सर्वोपास्य (देवत्रा देवं) देवों के देव, (होतारम्) सब पदार्थों के दाता, (अमर्त्यम्) अविनाशी मरणरहित, (अस्य यज्ञस्य) इस जीवनयज्ञ के (सुक्रतुम्) उत्तम प्रकार से सम्पादन करने हारे (त्वा) तुझ को (ववृमहे) हम वरण करते हैं, तेरा भजन करते हैं ।

[११३] १ २ ३ १।२ २।१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
तदग्ने द्युम्नमाभर यत्सासाहा सदने कञ्चिदत्रिणम् ।
३ १।२ ४।२ उ ४।२
मन्युं जनस्य दूढ्यम् ॥७॥ ऋ० ८ । १९ । १५ ॥

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर ! (तद्) वह (द्युम्नम्) अन्न, धन ज्ञान और बल (आ भर) हमें प्राप्त करा, जो (सदने) हमारे घर में, यज्ञगृह में, हमारे शरणस्थान में (कञ्चित्) हर किसी प्रकार के (अत्रिणम्) पापभोगी, चोर, (जनस्य मन्युं) सर्वसाधारण प्राणियों के क्रोध के पात्र (दूढ्य[1]) दुष्ट पुरुष को (सासाह) दबा सकें ।

[११४] १।२ २।२ ३ १ २ ३ ४।२ २।२ ३ १ २ ३ २
यद्वा उ विशपतिं शितः सुप्रीतो मनुषो विशे ।
२।२ ३ २।८ ३ १ २
विश्वेदग्निः प्रति रक्षांसि सेधति ॥८॥ ऋ० ८ । १९ । १३ ।

भा०—(यद्वा उ) जब भी (शितः) मन्यु और न्याय युक्त व्यवस्था के भंग होने पर तीक्ष्ण हुआ (विशपतिं) प्रजाओं का पालक,

---

११३–'यत्सासह सदने' 'जनस्य दूढ्य' इति ऋ० । दूढ्या' इति च स० सा० ।

१. दूढ्य दुर्मति पापमिति० नि० ५ । ४ । ३ ॥

११४–'मनुष्यो विशि' इति ऋ० ।

प्रभु (मनुषो विशे) मनुष्यों और प्रजाओं के निमित्त (सुप्रीतः) प्रसन्न, दत्तचित्त होता है, तब (अग्निः) अग्नि स्वभाव, पापों का दाहक तेजस्वी वह (विश्वा इत्) सब प्रकार के (रक्षांसि) राक्षसों को (प्रति सेधति) दूर करता है ।

राजा प्रजा को बसाने के लिये वह प्रजा के घातक प्राणियों और आततायी पुरुषों को तीक्ष्ण स्वभाव होकर दूर करे और प्रजा पर सदा प्रसन्न रहे ।

अध्यात्म पक्ष में—विश्पति, इन्द्रियों का राजा आत्मा जब योगादि साधनों से तीक्ष्ण होकर इस देह में स्वच्छ निर्मल सुप्रसन्न हो जाता है तब वह आसुरी वृत्तियों पर विजय पाता है और दुष्टों को दूर करता है।

इति द्वितीया दशतिः । इति द्वादशः खण्डः ।

इत्याग्नेयं काण्डम् ।

इति प्रथमोऽध्यायः ।

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकारमीमांसातीर्थविरुदोपशोभितश्रीमत्पण्डितजयदेव शर्मणा विरचिते सामवेदालोकभाष्ये आग्नेयं काण्डं समाप्तम् ।

यज्ञ के विनियोग के अनुसार सायण महीधरादि की पदयोजना संगत है। परन्तु अध्याहार और उद्देश्यार्थता का दूषण है। यही दोष तुलसीरामजी के अर्थ में भी है। हमारी सम्मति में 'ओम्', 'अवन', अवट' ये तीनों शब्द रक्षार्थक अव धातु से बने है, इसलिये यह मन्त्र परमात्मा की स्तुति पर लगना चाहिये।]

[११८] ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १, २
अरमश्वाय गायत श्रुतकक्षाय गव्य।
३ १ २ ३ १ २
अरमिन्द्रस्य धाम्ने ॥ ४ ॥ ऋ० ८ । ९२ । २५ ॥

भा०—हे (श्रुतकक्ष) हे वेदविज्ञान को अपने कुक्षि अर्थात् हृदय में रखने वाले ! (अश्वाय अरं गायत) व्यापक प्रभु या शीघ्र गमनशील, भोक्ता आत्मा के गुणों का वर्णन करो (गव्ये अरं) गौ, ज्ञानस्वरूप आत्मा या इन्द्रियों में श्रेष्ठतम इन्द्रियस्वरूप अन्तरात्मा का या ज्योति, रश्मिरूप भीतरी रत्न का उत्तम रीति से वर्णन करो। (इन्द्रस्य[1]) सब इन्द्रियों के मालिक, स्वयं इन्द्र, महान् आत्मा के (धाम्ने) तेज, सामर्थ्य का (अर गायत) खूब गुण गाओ।

[११९] १२ ३२ ३ २ ३ २ ३ १ २,
तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे।
१२ २२ ३ १ २
स वृषा वृषभो भुवत् ॥ ५ ॥ ऋ० ८ । ९३ । ७ ॥

भा०—(तं) उस (इन्दं) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् प्रभु की हम (वाजयामसि) ज्ञानपूर्वक स्तुति करते हैं। (महे) बड़े भारी (वृत्राय) विघ्नकारी ज्ञान के आवरण करने वाली तामस प्रवृत्तियों को (हन्तवे) विनाश, करने के

११८—'श्रुतक्षो अर' इति ऋ०।

१ इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा (पा० अ० ५ । २ । ९३) इतीन्द्रशब्दाद् घच्। इन्द्रियम्।

लिये (स) वह (वृषभ) ज्ञान और सुखों की वर्षा करने वाला और (वृषा) समर्थ बड़ा बलवान् (भुवत्) है ।

[१२०] त्यामिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः ।
त्वं सन् वृषन् वृषेदसि ॥ ६ ॥ ऋ० १० । १५२ । २ ॥

भा०—हे इन्द्र ! तू (बलाद्) बल से, और (सहस) शत्रुदमन कारी सहनशक्ति स, (ओजस) कान्ति और प्रभाव से (जात सन्) प्रकट होकर ही (वृषन्) हे वृष तुल्य ! सबके भीतर उत्पादक शक्ति के देनेहारे ! समस्त सुखों के वर्षक ! (त्व) तू (वृषा इद्) वृषा वीर्य सेचन में समर्थ ही (असि) है, तू ही सबमें बलवान् श्रेष्ठ और सबका जन्मदाता और मूल कारण है ।

[१२१] यज्ञ इन्द्रमवर्धयद्यद्भूमिं व्यवर्तयत् ।
चक्राण ओपशं दिवि ॥ ७ ॥ ऋ० ९ । १४ । ८ ॥

भा०—(यज्ञ) यज्ञ प्रजापति (इन्द्र) आत्मा को (अवर्धयत्) बढ़ाता है (यद्) क्योंकि यज्ञ ही (दिवि) सूर्य के आश्रय, आकाश में (ओपशं) लटकाकर (आ चक्राण) चक्र के समान चलाता हुआ (भूमिं) भूमि को (वि अवर्तयत्) विशेषरूप से वृत्तगति में घुमाता है । इस अर्थ से 'इन्द्र' का अर्थ सूर्य और 'यज्ञ का अर्थ सौर जगत्' या प्रवर्तक प्रजापति होता है । समस्त ब्रह्माण्ड में इस सौर जगत् के अनुकरण में ही यह यज्ञवेदी और छोटे अनुपात में यह देह रूप यज्ञभूमि बनी है, वेदमन्त्रों में समान रूप से तीनों का वर्णन किया गया है । अध्यात्म पक्ष में—इस जीवन-यज्ञ ने इन्द्र आत्मा के सामर्थ्य को बढ़ा दिया है अर्थात् देहरूप कर्मभूमि को नाना प्रकार की प्रवृत्तियों में बहने दिया । और द्यौलोक रूप मस्तक में वह विद्यमान है, इत्यादि ।

[१२२] यद्दिन्द्राह गथा त्वमीशीय वस्व एक इत् ।
स्तोता मे गोसखा स्यात् ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । १४ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यथा) जिस प्रकार (त्वम्) तू (एक इत्) अकेला ही (वस्व) धन विभूति ज्ञान, जीवन शक्ति का (ईशीय) वश करता है उसी प्रकार (यद्) यदि (अह) मैं जीवात्मा अपनी इन्द्रियों और वसुरूप प्राणों को वश करने में समर्थ होजाऊं तो (गोसखा) इन्द्रियों के समान ही ख्याति से सम्पन्न यह (मे) मेरा आत्मा भी (स्तोता) इस ईश्वर महान् आत्मा की स्तुति करने वाला (स्यात्) होजाय ।

[१२३] पन्यपन्यमित्सोतार आधावत मघाय ।
सोम वीराय शूराय ॥ ९ ॥ ऋ० ८ । २ । २५ ॥

भा०—हे (सोतार) ज्ञान सम्पादन करने वाले साधक मेरे इन्द्रियो ! अथवा हे ज्ञानवाणी पुरुषो ! (मघाय) सबसे अधिक प्रसन्न होने वाले (वीराय) सामर्थ्ययुक्त वीर, विशेष प्रकार से तुम सबको प्रेरणा देने वाले, (शूराय) बलवान् पराक्रमी, आत्मा या परमात्मा के विषयक (पन्य पन्य) प्रशंसनीय, उत्तम २ (सोम) यथार्थ अनुभव रूप आनन्दरस को (आधावत) प्राप्त करने के लिये शीघ्र पहुंचो, शीघ्रता करो ।

सोमसिद्धि प्राप्त करने वाले साधक की यही भावना होती है ।

[१२४] इन्द्र वसो सुतमन्धो दिवो सुपूर्णमुदरम् ।
अनाभयिन् वीरमा ते ॥ १० ॥ ऋ० ८ । २ । १ ॥

१२२—'गोसखा' इति ऋ० ।

भा०—हे (वयो) शरीर में बसने वाले देव ! या शरीर में दश इन्द्रियों और अन्त करण आदि को बसाने वाले इन्द्र ! आत्मन् ! तू (इदम्) इस (सुतम्) उत्पन्न किये (अन्धः) अन्न जीवन धारण सामर्थ्य को (सुपूर्णम् उदरम्) खूब पेट भर कर (विश) ग्रहण कर। हे (अनाभयिन्) भयरहित वीर, यह सब सोम आदि आत्मा (ते) तेरे लिये हम (रातिम) देते हैं, भेंट करते हैं।

"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः" इत्यादि, उपनिषद् की यहाँ सगति होती है। आत्मा को राजा के दृष्टान्त से बृहदारण्यक में उत्तम रीति से समझाया है।

इति तृतीया दशतिः । इति प्रथमः खण्डः ।

॥ द० ४ ॥ ऋषिः—१, २ सुकक्षश्रुतकक्षौ । ३ भारद्वाजः । ४ सुतम्भरः । ५, ६ मधुच्छन्दाः । ७, ९, १० विश्वामित्रः । ८ वसिष्ठः । गायत्री ॥

[१२५] उद्घेदभि श्रुतामघं वृषभं नर्याप्सम्।
अस्तारमेषि सूर्य ॥ १ ॥ अ० ८। ६३। १ ॥

भा०—हे (सूर्य) समस्त जगत् को प्रेरणा करने वाले आत्मन् ! तू (श्रुतामघम्) प्रसिद्धि धन, ज्ञान और कीर्ति सम्पन्न (वृषभम्) सुख और आनन्द को वर्षा करनेवाला, सर्वश्रेष्ठ (नर्याप्सम्) मनुष्यों के हित कारी कर्म करने और रक्षा करने वाले (अस्तारम्) अपने प्रतिपक्षियों और काम क्रोध आदि शत्रुओं को मार गिराने वाले, पराक्रमी वीर पुरुष के प्रति (इत्) ही तू (उत् एषि) ऊपर उठता है, उदित होता है।

सदाचारी, परोपकारी, काम क्रोध दि के जीतने वाले पुरुषोत्तम का आत्मा सूर्य के समान उन्नति को प्राप्त होता है।

[१२६] ३,१ २१ ३ १ २ ३ १ २
यच्च वृत्र हनदगा अभि सूर्य ।
३ १ २ ५ १ २
सर्वं तदिन्द्र ते वशे ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ९३ । ४ ॥

भा०—हे (वृत्रहन्) सूर्य के समान मेघ और अज्ञान-अन्धकार या विघ्नों के नाश करने हारे ! हे (सूर्य) समस्त जगत् के समान इस देह के प्रेरक ! हे आत्मन् ! (अद्य) आज (यत् कत् च अभि) जिस किसी पदार्थ के सन्मुख (उद् अगाः) तू उदित होता है (सर्वं तत्) वह सब (ते) तेरे ही (वशे) वश में है । आत्मवान् पुरुष जिस बात पर अपना संकल्प बांधते हैं वही उनके वश में हो जाता है । शौनक ने यह मन्त्र, पाप नाश करने और जगत् भर का वश करने की साधना का मूलमन्त्र लिखा है ।

यदद्यकच्चवृदिने रवौ स्मरेत्वा पुरंदरम् ।
तृणमपाहृत्य निजं वपुर्वा कुरुते जगत् । (अग्निवेशो शौनक)

[१२७] १,१ २१ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
य आनयत्परावत सुनीती तुर्वशं यदुम् ।
३ ५ ५ २ ३ १ २
इन्द्र स नो युवा सखा ॥ ३ ॥ ऋ० ६ । ४५ । १ ॥

भा०—(यः) जो (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् पुरुष (सुनीती) उत्तम नीति, उपाय साधन द्वारा (तुर्वशं) कामनाओं से वशे और (यदुं) कुपथ में गये पुरुष को (परावत) बहुत दूर से भी (आनयत्) सन्मार्ग पर लेआता है (सः) वह (नः) हमारा (युवा) सदा जवान अजर, अमर, नित्य, (सखा) इष्ट मित्र और समान ख्याति वाला हमारा आत्मा या हृदय देश में विराजमान परमात्मा या आचार्य है । यहां इन्द्र आत्मा, परमात्मा, आचार्य तीनों पर समान भाव से लगता है ।

'तुर्वश'—तुर्वी हिंसायाम् । भ्वादि । कसरराघ् । हिंसन्ति आहिंस्यन्ते व्याप्यादिभिर्वा । यद्वा-तुर त्वरणहिंसनयोः । दिवादि । यद्वा तुर्वशः काम

एषामिति तुर्वशाः। यद्वा चतुर्षु धर्मार्थकाममोक्षेषु वश एषामिति चतुर्वशाः सन्तः, चकारलोपेन तुर्वशाः। दे० य०। तुर्वश इति मनुष्यनाम। नि० २। ३॥

'यदुम्'—यदुः, यमेर्दुक् इति भोज.। यम्यते नियम्यते आचार्येण अपथप्रवृत्तौ राज्ञा वा। यदुरिति मनुष्यनाम। नि० २। ३॥

तुर्वश, द्रुह्यु, अनु, यदु, और पुरु ये ऐतिहासिक पुरुष भी हुए हैं। सायण ने इतिहासपरक ही अर्थ किया है। परन्तु वेद में ये सब मनुष्य के पर्याय शब्द हैं। धात्वर्थों के भेद से भिन्न २ गुण के मनुष्यों के ये वाचक हैं। जैसे-(१) 'तुवी हिंसायां' धातु से अशच् प्रत्यय करने से तुवंश शब्द बनता है। जो प्राणियों को मारें या व्याधि से पीड़ित हों। (२) तुवंश= जिन को काम अर्थात् एषणा हो वे तुवंश कहाते हैं। या (३) जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों को अपने वश करलें वे 'तुर्वश' कहाते हैं। इसी प्रकार 'यदु' वे मनुष्य हैं जो कुमार्ग पर पैर धरने पर राजा व आचार्य द्वारा नियम अवस्था में लाये जावें। आर्षसाहित्य में देव को इष्ट बन्धु कहा जाता है और आचार्य को भी सुहृत् माना गया है। 'सुहृद् भूत्वा आचार्य उपदिशति' (पातं० महाभाष्य)

[१२८] मा न इन्द्राभ्याꣳदिशः सूरा अक्तुभ्या यमत्।
त्वा युजा वनेम तत् ॥४॥ऋ० ८। ६२। ३१॥

भा०— हे (इन्द्र) इन्द्र! ऐश्वर्यवन्! (आदिश) चारों दिशाओं से भी (नः) हमारे (अभि) प्रति (अक्तुषु) रात्रि, अन्धकार युक्त कालों में, राजस तामस अवस्थाओं में भी (सूरः) चुपके २ छापा मारने वाला चोर या हिंसक जन्तु या काम क्रोध आदि शत्रु (नः मा अभि आ यमत्[१]) हम पर काबू न करले, फांस न ले बांधे हम (तत्)

१२८—'आयमत्' इति क०।

उस समय (त्वा युजा) तुझ अपने सहायक द्वारा उसे (वनेम) मार डालें ।

अङ्गु रात्रिनाम । नि० १ । ७ ॥ २. यम परिवेषण (भ्वादि) ३. अय ऋध हिंसार्थो यत चेति भ्वादि ।

[१२६] इन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम् ।
वर्षिष्ठमूतये भर ॥ ५ ॥ ऋ० १ । ७ । २ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (सानसिं) उत्तम प्रकार से विभाग करने योग्य (सजित्वान) अपने शत्रु पर विजय दिलाने वाले, (सदासह) निरन्तर आने वाले आक्रमणों को सहन करने वाले, (वर्षिष्ठ) शत्रु पर बाणों और आयुधों की वर्षा करने वाले या बहुत अधिक (रयिं) सेना का (ऊतये) रक्षा के लिये (आ भर) प्राप्त कर । आत्मा के पक्ष में रयि -प्राण या आत्मिक ज्ञान, बल जो शरीर में स्थान २ पर बटा हुआ है, सब दोषों पर विजय करता है सब कष्टों को सहता है, सब सुखों को उत्पन्न करता है और निरन्तर गति करता है ।

रयि शीङ् शतौ —रीयते गच्छति इति रयि । यद्वा रातेर्दानार्थस्य । गच्छत्याक्रमति शत्रून् इति रयि सेना । कोशपक्षत्वाद् मूर्तिरहिता सत्ता वा रयि । सानसिं सदासहमिति विशेषणबलाद्रयि सेनार्थं ।

[१३०] इन्द्र वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे ।
युजं वृत्रेषु वज्रिणम् ॥६॥ ऋ० १ । ७ । ५ ॥

भा०—(महाधने) बड़े २ संग्राम के अवसर में और (अर्भे) छोटे मोटे परस्पर के कलह या चोरी आदि के अवसर पर भी (वयं) हम लोग (वृत्रेषु) विघ्न और उपद्रवों और विघ्नकारियों पर (वज्रिणं) सदा तलवार या सेना-बल को या दण्ड को धारण करने हार, (युजं) सदा के

सहायक, (इन्दम्) राजा को (वयं) हम (हवामहे) बुलाते हैं उसके गुण कीर्त्तन करते हैं। यहां इन्द्र शब्द राजा वाचक है। राजा के दृष्टान्त से उपनिषदों में मुख्य प्राण और आत्मा का वर्णन किया गया है। आत्मा पक्ष में (महाधने) बड़े भारी योगसाधन और (अभें) सूक्ष्म विचार में भी (वृत्राणि) आत्मा पर पर्दा डालने वाली तामस, व्युत्थान वृत्तियों पर (वज्रिणम्) सूक्ष्मगति या वर्जक शक्ति अर्थात् असत् को छोड़कर सत् को ग्रहण करने वाले विवेक से युक्त आत्मा का स्मरण करें। जैसे काठक में "यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। महद्भयं वज्रमुद्यतम्।" कठ० वल्ली २ ॥

महाधनमिति संग्रामनाम (नि० २। १८।)। अभीं इरते।

[१३१] अपिबत् कद्रुवः सुतमिन्द्रः सहस्रवाह्वे।
तत्रादिदिष्टे पौंस्यम् ॥७। अ० ८। ४५। २६ ॥

भा०—(इन्द्र) राजा (सहस्रवाह्वे) हजारों प्रकार से शत्रु को परास्त करने के लिये (कद्रुवः) विद्वान् ज्ञानी के (सुतम्) ज्ञान का (अपिबत्) पान करता, उपयोग करता है (तत्र) तभी (पौंस्यं) उसका बल (आदिदिष्टे) अधिक चमकता है।

बाहुर्बाधते, परान् बाधते इति बाहुः इति देवराजो यज्वा। कद्रुः कवतेऽसौ कद्रुः विद्वान्। जन्वादिषु औणादिक निपातनम्। उणा० ३। १०२ ॥

आत्मपक्ष में कद्रुव=मन। बाहु=कर्म। मेघ, बाहु=जलधारा। इत्यादि।

[१३२] नयमिन्द्र त्वायवोऽभिप्रनानुमो वृषन्।
विद्धीत्यस्य नो वसो ॥८॥ अ० ७। ३२। ८ ॥

१३१—'अत्रादेदिष्ट' इति ऋ०। अत्रादिदिष्टेति स० सा०।

१३२—'प्रणोनुम' 'विद्धी त्व' इति ऋ०।

भा०—हे (इन्द) ऐश्वर्यवन् ! हे (वृषन्) हे सबसे श्रेष्ठ सुखों के वर्षा करने हारे ! (वयम्) हम (आयव) ज्ञानशील मनुष्य (त्वा) तुझ को (अभि प्र नोनुमः) निरन्तर प्रणाम करते हैं। हे (वसो) सब के भीतर वास करने हारे (नः) हमारे (अस्य) इस सबको तू (विद्धि) निश्चय पूर्वक जानता ही है।

[१३३] आ घा ये अग्निमिन्धत स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्।
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । ४२ । १ ॥

भा०—(ये) जो विद्वान् लोग (अग्निम्) ज्ञानवान् आत्मा को (इन्धते) प्रज्वलित करते हैं और (येषां) जिनका (युवा) अजर, अमर, सदा तरुण, अक्षय बल वाला (इन्द्र) आत्मा (सखा) मित्र है। वे (आनुषक्) निरन्तर (बर्हिः[1]) अपने कर्मबन्धन, देह को (स्तृणन्ति[2]) काट डालते हैं। आत्मा के ज्ञान और प्राण दोनों स्वरूपों को जान लेने वाले विद्वान् कर्मबन्धन से मुक्त होजाते हैं।

'बर्हि' धान्य को कहते हैं। देह की उपमा उपनिषदों में धान्य और वृक्ष से दी है। जैसे १. 'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः' (कठकम्) २. 'ऊर्ध्वमूल अवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातनः।' 'अह वृक्षस्य रोरिवा' (तै० उ०)

[१३४] भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जहो मृधः।
वसु स्पार्ह तदा भर ॥ १० ॥ ऋ० ८ । ४२ । ४० ।

---

१ ११—१ बृहेर्नलोपश्च । बृहि वृद्धौ । अस्य त्रिधास्वरूप बर्हिः, ऋ० ८ । १०२ । ४ अत्रापि बर्हिः शरीर त्रिधातुक बर्हिरिवम् । यथा भागवते- 'यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातौ' इत्यादि ।

२. वृश्चति, छृन्त्ति, स्तृणात्यर्थः पर्यायो धातवः सर्वे वधकर्मणि । नि० २ । १९ ॥

भा०—(विश्वा द्विष) सब द्वेष करने वालों को हे राजन् ! आत्मन् ! (अप भिन्धि) दूर ही काट डाल और (बाध) पीड़ा पहुंचाने वाले, (मृध) संग्रामकारी हिंसक सेनाओं का (परि अंहि) सब ओर नाश कर (स्पार्हम्) हमारी अभिलाषा के पात्र (तद्) उस (वसु) हमारे भीतरी आत्मरूप धन का (आ भर) हमें प्राप्त करा।

बृहदारण्यक उपनिषद् में नचा अर सर्वस्य कामाय सर्वं प्रिय भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति। वेद के शब्दों में आत्मा स्पार्ह वसु या सबसे अधिक प्रिय धन है। 'तत्' यह शब्द उस विस्मृत को याद कराता है जिसको हम अविद्या के कारण भूल गये हैं जिसका मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से पूछा—येनाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्याम्। यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि'। इस पर याज्ञवल्क्य ने उक्त सिद्धान्त कहकर कहा। 'एतावद्वा खलु अमृतम्।' यह तत्' अन्य उपनिषदों में भी है जैसे—'तदेव शुक्र तद् ब्रह्म तदु नाम्येति कथन, तत्त्वमसि श्वेतकेतो इत्यादि।

इति चतुर्थी दशति। द्वितीय खण्ड॥

॥ ० ५ ॥ १ काण्वो घोर। २ त्रिशोक। ३ वत्स काण्व। कुसीदी काण्व।
४ मेधातिथि। ५ शुनश्शेप। ७ रथवीतश्च। ८ प्रगाथ काण्व। ९ कण्व।
१० हरिमिति। गायत्री॥ षड्ज॥

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १
[१३५] इदं नमो वृषभाय स्वराजे सत्यशुष्माय तवसे मरुद्भिः।
१ २ ३ १ २
अस्मिन्नु वीरो विदथे वि राजेन्निया चिन्मन्युर्विशो अस्वक्त ॥ १ ॥ ऋ० १। २७। २॥

भा०—(एषा) इन मरुतों प्राणों के (हस्तयु[1]) हाथों में (कशा) कशा है। (यद् वदान्) यह जो बात कहते हैं (इद एव शृण्व) उसको

१३५-१ हस्तो हन्ते, प्रातुदाने इति। निरु० १, ३, ७।

मैं यहा हा सुनता हू । यह कशा (चित्र) अद्भुत प्रकार स (नियाम) नियम, व्यवस्था का (ऋन्वत) साध रहा है ।

कशा' का वणन अथववद (का० ९ । सू० १) में किया है। जैस-

"य एति मधुकशा रराणा सत् प्राणस्तदमृत निविष्टम् "

परस्यस्याश्चरित पृथिव्या पृथक् नरा बहुधा मामासमाना ।

'अग्नवातान् मधुकशा हि जज्ञ मरुतामुग्रा नसि ।"

साधक प्रत्यक्षदर्शा ऋषि कहता है कि मैं उन मरुतों का कशा (हन्टर) क नाद का सुनता हू यह विचित्र प्रकार स सबका व्यवस्था में बांध है । अथव में इसका मरुतामुग्रा नसि' प्राणिया का उग्र रूप देकर बांधन वाली बतलाया है । इसका स्पष्ट विवरण त्रिपुरदहन क अलकार का व्याख्या म शिव क जगद्व्याय क महारथ पर मरुत् सारथि क हाथा म ओकार का हन्टर बतलाया है । शि० पु० । योगी लोग उसा ओंकार के अनाहत नाद का सुनत हैं । उसा का यहा विवरण है ।

[१३६] इम उ त्या विचक्षत सखाय इन्द्र सोमिन ।
पुष्टावन्तो यथा पशुम् ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ४६ । १६ ॥

भा०—(पुष्टावन्त) पुष्टिकारक पदार्थ घास दाना आदि को हाथ में लिये पशुपालक पुरुष (यथा) जिस प्रकार स्नेह स अपन (पशु') पालतू पशु का देखते हैं उसा प्रकार हे (इन्द्र) ! परमेश्वर ! (इमे) य (सोमिन) सोमरस या आत्मज्ञान क धारण करन वाल पुरुष तर (सखाय) मित्र (त्या) तुमका देखत हैं ।

स्नेह प्रदर्शनमात्र समान धर्म दिखाया गया है । आत्मज्ञान साधक पुरुष मानसस्तुति ज्ञान चर्चा एव ध्यान साधना द्वारा अन्तरात्मा एव ब्रह्म का बुलाते हैं, उसके प्रेम में उसका निरन्तर निहारते हैं कि अब दर्शन

देता है, अब देता है अब ! अब !। गीता में जैसे— 'दवा अप्यस्य रूपस्य नि य दर्शनक लिए ।"

[१३७] समन्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टय ।
समुद्रायेव सिन्धव ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । ६ । ४ ॥

भा०—(अस्य) इस इन्द्र के (मन्यव) क्रोध के सामने या मनन ज्ञान, सकल्प के समस्त (विशा) समस्त (विश) प्रजाए (नमन्त) ऐस झुकती हैं, जैस (सिन्धव) नदिया । समुद्राय इव) समुद में समाजान के लिय आपसे आप बहती ही हुई चली जाती हैं ।

इस 'मन्यु' का गीता म व्यास ने कहा है ।
' कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्त ।"
इस ऋचा की व्याख्या की गई है । जैस—

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगा समुद्रमेवाभिमुख द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥
गीता ११ । २८ ।

झुकना, जैसे—'सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसघा ' । (गीता ११। ३६)

[१३८] देवानामिद्धवो महस्तदृषीमह वयम् ।
वृष्णामस्मभ्यमूतय ॥ ४ ॥ ऋ० ८ । ७२ । १ ॥

भा०—(वृष्णाम्) सुखों और ज्ञानों की धार बरसान वाल (देवानाम्) विद्वान् गुरुओं या प्राणों की (इत्) ही (महत् तत् अव) बड़ी भारी उस रक्षा या शरण को हम (अस्मभ्यम् ऊतय) अपनी रक्षा के लिये (आ वृणीमहे) सब प्रकार स चाहते हैं ।

तैत्तिरीय उप० (व० १ । अनु० १०) में जैसे— " यदि त कर्मविचिकित्सा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणा समर्शिन

युक्ता. आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामा स्यु । यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः । एष आदेश । एष उपदेश । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव । गी० अ० ४ । ३४-३५॥

[१३६] सोमाना स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते ।
कक्षीवन्तं य औशिज ॥ ५ ॥ ऋ० १ । १८ । २ ॥

भा०—हे (ब्रह्मणः पते) ब्रह्मणस्पते ' ज्ञानिन् ' (सोमाना) ज्ञानों के योगसाधन से प्राप्त अनुभवों या रसों को प्राप्त करने के लिये (कक्षीवन्तं) कक्ष, छाती में रहने वाले या प्रसिद्ध प्राण को (स्वरणं) सुख से गमन करने वाला एवं (देदाप्यमान) बलसम्पन्न (कृणुहि) कर (यं) जो प्राण (औशिजं) वश द्वारा साध लिया गया है ।

इस प्रकरण को तैत्तिरीयशाखा में इस प्रकार स्पष्ट किया है— सोम स्वरणमित्याह सोमपीथमेव अवरुन्धे । कृणुहि ब्रह्मणस्पते इत्याह ब्रह्मवर्चस मेवावरुन्धे इत्याह ।" अर्थात् ब्रह्मवर्चस्वी ब्रह्मणस्पति है । उसको ज्ञान में प्रखरता प्राप्त करने का उपदेश है । इसी प्रकार कक्षीवान्' के विषय में यास्क कहते हैं कक्षीवान् कक्ष्यावान् । वशिंग् वष्टे कान्तिकर्मण । (नि० ६ । ३ । १) कक्षो गाहते वस इति नामकाण । ख्यातेर्वा अनर्थकाऽ क्ष्याम । किमस्मिन् ख्यानमिति । कक्षतर्वा तत्सामान्यान्मनुष्यकक्ष । (नि० २ । १ । ५)" इस प्रकार कक्षीवान्, ज्ञानवान् ख्यातिमान्, महापक्षवान्। औशिज=कान्तिसम्पन्न या कामनासम्पन्न। कक्षा=मनुष्य या प्राणी की काँख,

१ १६—'सोमाना' इति ऋ० ।

उसमें निवास करने वाला कहीवान् है। और वही शरीर में जठराग्नि के बल से उत्पन्न होने के कारण 'औशिज' कहाता है। ज्ञानी पुरुष उसका ज्ञान और योगसाधनों द्वारा स्वरण=अधिक शक्ति सम्पन्न, बलवान्, देदीप्यमान करें।

[१४०] बोधन्मना इदस्तु नो वृत्रहा भूर्यासुतिः।
शृणोतु शक्र आशिषम् ॥ ६ ॥ अ० ८ । ६३ । १८ ॥

भा०—(नः) हमारा (शक्र) शक्तिशाली आत्मा (वृत्रहा) तामस आवरणों का नाश करने वाला (भूर्यासुतिः) अति अधिक समाहित वृत्ति वाला होकर, (बोधन्मना) ज्ञानशील चित्त वाला (इत्) ही (अस्तु) हो। और वह (आशिषम्) आशीर्वाद, उत्तम कामना को (शृणोतु) सुने।

[१४१] अद्य नो देव सवित. प्रजावत्सावीः सौभगम्।
परा दुष्वप्न्यं सुव ॥ ७ ॥ अ० ५ । ८२ । ५ ॥

भा०—हे (सवित) सब के प्रेरक, उत्पादक, प्रकाशमान् देव, आत्मन्! (नः) हमारा (प्रजावत्) अपनी प्रजाओं के समान (सौभगं) उत्तम कल्याण (अद्य) आज, अनिदिन (सावीः) उत्पन्न कर। (दुष्वप्न्यं) चित्त में से दुःसंकल्पों के कारण होने वाले तन्द्राकालिक प्रमाद को (परा सुव) दूर कर।

योग के साधनों को करते हुए साधक के आग्रहपूर्वक संयम द्वारा इन्द्रियों का बाह्य निरोध होजाने पर भी मन की पूर्व वासनाएं तन्द्रा के

१४०—'बोधिन्मना' इति ऋ०।
१४१—'अद्यानो', 'दुःस्वप्न्य' 'दुष्वप्नन्द' इति ऋ०।

अवसर पर दुःखभों का कारण होती हैं । उनको दूर करने और शुभ विचारों के प्रबल होने की इस मन्त्र में प्रार्थना है ।

[१४२] क्वा३ स्य वृषभा युवा तुविग्रीवो अनानतः ।
ब्रह्मा कस्तं सपर्यति ॥ ८ ॥ अ० ८ । ६४ । ७ ॥

भा०—(वृषभः) इन्द्रियरूप गौओं में बैल के समान भोक्ता सर्वश्रेष्ठ, मेघ के समान सुखों का वर्षक, (युवा) सदा अजर, (अनानतः) कभी किसी के आगे न झुकने वाला, स्तब्ध, (तुविग्रीव) बहुतसी ग्रीवा वाला, इन्द्र (स्य क) वह आत्मा कहां है ? (तं) उसको (कः) कौन (ब्रह्मा) ब्रह्म को जानने वाला विद्वान् (सपर्यति) उसकी पूजा करता है । अर्थात् हे ज्ञानी पुरुषो ! तुम उस अप्रतर्क्य, अवाङ्मनसगोचर सहस्र शीर्षा पुरुष की विवेचना करो और उसके सच्चे उपासक ब्रह्मज्ञानी को भी पहचान करो ।

कथनिन्द्रो बहुग्रीव ? उच्यते । परमात्मस्वरूपत्वात् । 'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वेन्द्रः श्रुतिमल्लोके सर्वनामसु तिष्ठति, इति मा० नि० । तुवीति बहुनामसु । (नि० ३ । १ । ३ ।) ग्रीवा निगरणात् कृत्स्नमिति अनुशासनं प्रधानाभिपूजितयोगिनि स्तुतिरनुशासनञ्च (पा०)

इन्द्र बहुग्रीव किस प्रकार है ? गीता कहती है—

" ...बहुबक्त्रनेत्रं महाबाहो बाहुरूपादम् ॥"
बहूदरं बहुदंष्ट्राकराल ॥ अ० ११ । २३ ॥
अनेक बक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥

जैसा वेद में भी लिखा है - सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्षः सहस्रपात्' (यजु० ३१ । १ ॥)

१४२—क्वस्यति पाठभेदः, ऋ० ।

[१४३] उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत ॥ ९ ॥ ऋ० ८। ६। २८ ॥

भा०—(गिरीणां) पर्वतों के (उपह्वरे) तट प्रान्त में और (नदीनां च) नदियों के (संगमे) संगम स्थान पर (धिया) ज्ञान शक्ति और कर्म के अभ्यास से (विप्रः) मेधावी पुरुष (अजायत) तैयार हुआ करता है।

तपस्वी लोग एकान्त गिरिकन्दरा और प्राकृतिक रमणीय नदी संगमों पर ध्यान, ज्ञान, तप, जप करके शक्तिमान् होते हैं। आत्मा के पक्ष में—(गिरीणां) मेरुदण्ड के पोरुओं के समीप और इडा, पिंगला और सुषुम्ना इन (नदीनां) नाड़ियों के संगम स्थान त्रिकुटी में ध्यान लगाने से दिव्य ज्ञानवान् पुरुष सिद्ध हो जाता है। अथवा—गिरय.=स्तोतारः। नद्यः= सरस्वत्यः। धीरध्ययनम्। कवियों, ज्ञानप्रवक्ताओं के पास वेदवाणियों के परस्पर संगम स्थल, सभा स्थानों में अध्ययन करने और मनन करने से विप्र, विद्वान्, ब्रह्मज्ञानी होजाता है।

[१४४] प्र सद्यो अग्निं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भिः।
नरं नृषाहं मादयिष्णुम् ॥ १० ॥ ऋ० ८। ११। १ ॥

भा०—(चर्षणीनाम्) तत्त्वदर्शी, आचारवान् पुरुषों के बीच (सद्यः) प्रकाशमान (नव्यं[1]) स्तुति करने योग्य, (इन्द्रं) ऐश्वर्यसम्पन्न (नरं) सबके नेता (नृषाहं) सब मनुष्यों को अपने तेज से दबाने वाले, (मंहिष्ठं) सबसे अधिक पूजनीय परमेश्वर की (प्र स्तोत) उत्तम रीति से स्तुति करो।

१४३—'नदीनां च संगमे' इति ऋ०।

१. नु स्तुतौ (तुदादिः) नव स्तुतिर्योग्यतिरर्थः।

चर्षणय चरणवन्त चरणशीला । चरतिर्गत्यादि । कृषेर्वा । द्रष्टा चाषितारो द्रष्टार । विचर्षणि पश्यतिकर्मा । (नि० २ । २)

चर्षणिश्चाषिता द्रष्टा इति स्कन्दस्वामी । चर्षणय मनुष्या (नि० २ । ३ ।)

इति पञ्चमी दशति । तृतीय खण्ड० ॥

॥ ० ६ ॥ ऋषि —भृगुरुक्ष भृक्षो वा । २ मधातिथि । ३ गोतम । ४ भरद्वाज । ५ विन्दु पूरुष्णो वा । ६, ७ भृगुवत्स शुक्रो वा । ८ वत्स काण्व । ९ शुन शेप । १० शुन शेपो वागदेवो वा ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री । षड्ज ॥

[१४१] अपादुशिग्रयन्धस सुदक्षस्य प्रहोषिण ।
इन्दारिन्द्रा यवाशिर ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ९२ । ८ ।

भा०—(शिप्री) एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने वाला या प्राणों का स्वामी (इन्द्र) ऐश्वर्यशील आत्मा (सुदक्षस्य) कौशलसम्पादन में कुशल, बलसम्पन्न, (प्रहोषिण) उत्तम रीति से हवन, दान आदान करने वाले (इन्द्रः) प्रदान, (यवाशिर) अन्न के सारभूत अंश से मिश्र का परिपक्व (अन्धस) प्राणधारण सामर्थ्य का (अपात्) पान या पालन करता है ।

'प्रहोषिन्'—इसका व्याख्या देखिये (गीता अ० ४ । २३ २१ ।) इसमें बहुत से यज्ञ दर्शाये हैं जैसे १. ब्रह्मार्पण ब्रह्मविद्याग । २ इन्द्रियों की संयम में आहुति । ३ शब्दादि ग्राह्य विषयों की इन्द्रियों में आहुति, ४. ज्ञानेन्द्रिय और ५. प्राणेन्द्रिय कर्मों की संयमाग्नि में आहुति, ६. द्रव्ययज्ञ, ७. तपोयज्ञ ८. योगयज्ञ, ९ स्वाध्याय यज्ञ १० ज्ञानयज्ञ, ११. अपान में प्राण की आहुति, १२. प्राण में अपान की आहुति, १३.

प्राणों की प्राणों में आहुति इत्यादि। इनके कर्त्ता सभी 'प्रहोषी' है। इनमें सबसे श्रेष्ठ सुदक्ष ज्ञानी वह है जो अपने ज्ञानाग्नि अर्थात् चेतना शक्ति में सब कर्म शक्ति अर्थात् अन्न की जीवन शक्ति को एक करके कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

[१४६] इमा उ त्वा पुरुवसोऽभि प्र नोनुवुर्गिर.।
गावो वत्सं न धेनव. ॥ २ ॥ ऋ० ६। ४५। २१ ॥

भा०—हे (पुरुवसो) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर! एवं हे इन्द्रियों में भी सामर्थ्य रूप से बसाने वाले आत्मन्! (इमा) ये (गिर) वाणियां वेदवाणियां (धेनव) दूध देनेहारी, (गाव) गौएं (न) जैसे अपने (वत्सं) बछड़े के पास चली जाती हैं उसी प्रकार (त्वा३) तुझको ही (अभि प्र नानवु) साक्षात् स्तवन करती हैं।

जैसे— सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति उप०।

[१४७] अत्रा ह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्।
इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥३॥ ऋ० १। ८४। १० ॥

भा०—(अत्र ह) यहां निश्चय से (त्वष्टु) दीप्तिमान् तेजस्वी सूर्य की (गो०) गमनशील किरण का (अपीच्यम्) कुछ सुपुष्ट अंश ही (चन्द्रमसो गृहे) चन्द्रमा के घर में (नाम) गया हुआ है। (इत्था अमन्वत) ऐसा मानते हैं।

इस प्रकरण में प्राण ही त्वष्टा है जो गर्भगत पुरुष को ९, १० मास में शनैः २ बनाता है। गर्भाशय का गुप्तभाग चन्द्रमा का घर है जो १६ कलायुक्त है। जो क्रम से एक पक्ष में घटता और १५ दिन में बढ़कर पुनः ऋतुकाल में वेला के समान उदित होता है। उस स्थान पर भी

१४६—१ इमा उत्ता शक्तोऽभिप्रणोनुवुर्गिर। इन्द्र वसो न मातर.। ऋ०।

सृष्टिकर्त्ता परमात्मा की ही यह शक्ति है जो गर्भ में भी गुप्तरूप से विद्यमान है। उस गर्भ में भी गति है। उसमें भी मुख्य प्राण आदित्य का ही अंश प्रसुप्तरूप में शनै २ बढ़ता है। अथवा त्वष्टा पुरुष को कहते हैं पुरुष का वीर्यांश ही गर्भाशय में जाता है। जैसा उपनिषद में लिखा है। 'पुरुषे ह्वा अयमादितो गर्भो भवति। यदेतद् रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेज सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्त्ति। तद्यदा स्त्रियां सिञ्चति अथैनज्जनयति तदस्य प्रथम जन्म, इत्यादि (एत० उप० अ० २। १-६)। प्राणरयि की विवेचना करते हुए उपनिषत्कार (प्रश्न० उ०) ने पुरुष को आदित्य और प्राण और स्त्री को चन्द्र और रयि माना है। इस मन्त्र को उद्धृत करके यास्कने लिखा है—"अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते तदेतेनोपेक्षितव्यम्। आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवति इति। सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति। सोऽपि गौरुच्यते, अथाहगोरमन्वतेति तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः।

अर्थ—आदित्य भी 'गौ' कहाता है। इसकी एक रश्मि चन्द्रमा को प्रकाशित करती है। जैसे यजुर्वेद (१८। ४०) में लिखा है। इस सुषुम्ना को भी 'गौ' कहते हैं जैसे अथाह गोरमन्वत' इत्यादि मन्त्र का व्याख्यान आगे यास्क ने (४। ४) में किया है कि अथाह गो सममसत आदित्य रश्मय। स्व नाम अपीच्य अपगतमपचितमपहितमन्तर्हितं वाऽमुष्य चन्द्रमसो गृहे।"

आधिदैविक पक्ष में यास्क का यह व्याख्यान है। परन्तु शरीर पक्ष में उपनिषदों का मूल सिद्धान्त ग्रहण करने योग्य है। उपनिषदों में गर्भ में जीव की स्थिति पुष्टि और जन्म और शरीर-रचना जीवनयात्रा आदि के प्रश्नों की खूब सूक्ष्म विवेचना की है। छान्दोग्य के तृतीय प्रपाठक में आदित्य की सब रश्मियों की विवेचना मुख्य प्राण को लक्ष्य करके की है।

[१४८] यदिन्द्रो अनयद्रिता महीरपो वृषन्तमः ।
तत्र पूषा भुवत्सचा ॥४॥अ० ६ । ४६ । ४ ॥

भा०—(यत्) जब (वृषन्तम) सर्वत्र, लोम २ में रस का वर्षण उत्तम रूप से करने वाला (इन्द्र) आत्मा (रिता) गति करने वाले (मही अप) बड़ी नाड़ियों को (अनयत्) समस्त शरीर में पहुंचाता है (तत्र) वहां (सचा) साथ ही वह (पूषा) पोषण करने वाले सामर्थ्य से भी युक्त (भुवत्) हो जाता है ।

आत्मा ही देह में सर्वत्र रस पहुंचाता है और पुष्टि भी करता है । विशाल ब्रह्माण्ड में ईश्वर की शक्ति वर्षा भी करती है और अन्न भी उत्पन्न करती है ।

[१४९] गौर्धयति मरुता श्रवस्युर्माता मघोनाम् ।
युक्ता वहीं रथानाम् ॥८॥ अ० ८ । ९४ । १ ॥

भा०—(मघोना) जीवन यज्ञ के सम्पादन करने वाले (मरुता) प्राणों की (माता) उत्पादक जननी (गौ) चेतनस्वरूपा चितिशक्ति (श्रवस्यु) अन्न की या ज्ञान की कामना करती हुई (धयति) अपना सोम रूप ज्ञान पिलाती और वह स्वयं (रथाना) रथस्वरूप दूर तक जाने वाले प्राणेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों में (युक्ता) जुत कर (वही) उन को उठा रही है । आत्मा की चेतना शक्ति इन्द्रियों को चेतन करती है वही उनको पदार्थों तक पहुंचाती है ।

मरुतों की गौ की व्याख्या देखिये—अथर्ववेद (का० १० । सूक्त १०) यह वशा रूप गौ है ।

१४०—१. रहते (निर्वचन) ।

शत कसा शत दाग्धार शत गाम्भार पृष्ठे अस्या ।
य देव स्तस्यां प्राणन्ति स वशां विदुरेषा ॥

यही गौ पृथिवी कही है। इसका वर्णन ऋग्वेद (८। १००। १० ११) में इस प्रकार है।

यद्गाम् वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा ।
चतस्रोऽनुदिश ऊर्जं दुदुह पयांसि क्वचिदस्या परम जगाम ।

[१५०] उप नो हरिभि सुत याहि मदाना पत ।
उप नो हरिभि सुतम् ॥ ६ ॥ ऋ० ८। ९३ ३१ ॥

भा०—(मदानां पत) सब आनन्दों और ज्ञान वित्तों के पालन करने हारे (न) हमारे (हरिभि) ज्ञान इन्द्रियों द्वारा (सुत) उत्पादित ज्ञान को (उप याहि) तू प्राप्त कर। (न) हमारे (हरिभि सुतम्) प्राण इन्द्रियों द्वारा किये कर्म और उनसे उत्पन्न सुख भोग को तू (उप याहि) प्राप्त हो।

[१५१] इषा दाश्वा अहृतन्द्र गृधन्ता अध्वर ।
अच्छाघभृथमानसा ॥ ७ ॥ ऋ० ८ ९३ ३२ ॥

भा०—(अध्वर) हिंसारहित यज्ञ को कभी नष्ट न होने देने वाले ज्ञानमय यज्ञ में (इषा) याग करने वाले या विषयरूप हविष्य का आहुति प्रदान करने वाले (दाश्वा[1]) ग्राह्य विषयाहुति को मन रूप चितिशक्ति की ज्वाला में हवन करनेवाले सात ऋषि सात इन्द्रियों (इन्द्र गृधन्त) आत्मा के अक्षय ज्ञान बोध को प्राप्त हुए (आनसा) ज्ञान और बल से (अघभृथम्) पूर्ण सप्त सिन्धु के आश्रय।

१५१—१ दाश्वांस इति पदपाठः ।

स्नान पर्यन्त (अच्छा) उत्तम रूप से (असृक्षत) यज्ञ करते हैं और विसर्जन करते हैं ।

ब्राह्म यज्ञ की आध्यात्म व्याख्या का यह मूलमन्त्र है । शिर में सात *छिद्र, २ आख, २ नाक, २ कान, १ मुख ये सात ऋषि सात होता हैं मुख्य आसन्य प्राण–आत्मा 'इन्द्र' है, वाक् सरस्वती यज्ञ की सम्पादिका भिषक् है चितिशक्ति शची है । इत्यादि वैदिक अलंकार हैं । विशेष देखो छान्दोग्य उप० (अ० ३ । ख० १६, १७ ।)

[१५२] ३ १३ ३ १२ ३ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रह ।
३ १२ १२
अह सूर्य इवाजनि ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । ६ । १० ॥

भा०—(अहम्) मैं (इत् हि) ही निश्चय से (पितु) अपने पालक पिता परमेश्वर के (ऋतस्य) सत्य, ज्ञान, वेद और शक्ति सामर्थ्य के लिये (मेधाम्) धारणावती बुद्धि का (परि जग्रह) सब ओर से ग्रहण करूं । (अह) मैं (सूर्य इव) सूर्य के समान (अजनि) होजाऊं ।

चतुष्पाद् ब्रह्म की उपासना का फल उपनिषत्कार कहते हैं—' भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एव वेद । " (छान्दो० अ० ३ । ख० १८ ।) ऋत की मेधा का ग्रहण देखिये छान्दोग्य (अ० ३ । ख० १५) इसमें वसुधान कोश (खज़ाना) अपने पिता से प्राप्त किया जा रहा है । जिसका वर्णन उपनिषत्कार ने किया है–

अन्तरिक्षोदर कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति ।
दिशो ह्यस्य स्तनयो द्यौरस्यान्तर बिलम् ॥
स एव काशो वसुधानस्तरिमन् विधमिद श्रितम् ॥

१५२—'पितुष्परि', 'जग्रभ' इति ऋ० ।

इसका वर्णन देखिये तैत्तिरीय उप० (अनु० ४ ।)

[१५३] रेवतीर्न सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजा ।
शुमन्तो याभिर्मदेम ॥ ९ ॥ ऋ० १ । ३० । १३ ॥

भा०—(इन्द्रे) आत्मा के (सधमादे) हमारे साथ २ हर्षयुक्त सुप्रसन्न होजाने पर (नः) हमारी (रेवती) प्राणेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियां (तुविवाजा) खूब बलवती होजाय । (याभिः) जिनके साथ हम (शुमन्तः) अन्न, भोग, गृह आदि से सम्पन्न होकर (मदेम) आनन्द अनुभव करें । गृहस्थ पक्ष में—रेवती स्त्रिय । राष्ट्र पक्ष में-रेवती =प्रजा ।

[१५४] सोम पूषा च चेततुर्विश्वास सुक्षितीनाम् ।
देवत्रा रथ्याहिता ॥ १० ॥

भा०—(सोम) सबका प्रेरक और सबका उत्पादक और (पूषा) सबका पोषण करने हारा परमात्मा (देवत्रा) समस्त देव, पार्थिव भूत और भौतिक शक्तियों में और आत्मा देहस्थ इन्द्रियों में व्यापक है और वही (विश्वासां सुक्षितीनाम्) समस्त निवास योग्य भूमियों, दुनियाओं और समस्त प्राणियोनियों के (रथ्या) दोनों प्रकार के कर्म और भोग योनियों के (हिता) हितकारी होते हुए (चेतत्) आहार व्यवहार का ज्ञान कराते हैं, एवं सन्मार्ग पर चलने के लिये चेताते हैं ।

दो ही मार्ग से ज्ञान प्राप्त होता है एक उपदेश से दूसरी आवश्यकता या निज अनुभव से । परमात्मा प्राणियों को एक तो सोम अर्थात् ज्ञानवान् परम गुरु के रूप में ऋषियों के हृदय में ज्ञान प्रेरित करता है । दूसरा पूषा अर्थात् प्राणी शरीर की आवश्यकता भूख प्यास आदि से प्रेरित होकर पदार्थों को खोजते हैं और निजी अनुभव से अपने हित अहित का ज्ञान करते हैं । ईश्वर दोनों रूप से उनको ज्ञान देरहा है । जैसे रोटी के टुकड़े

स कुत्ते को सधाते हैं उसी प्रकार ईश्वर भी अन्नादि की वासना से पृथ्वी पर अन्नादि रखकर प्राणियों को उसके खोजन और प्राप्त करने के मार्ग में सधाता है। जीव भी कर्म फल, सुख दुःख भोग २ कर पुनः ज्ञानमार्ग पर आजाते हैं। जीवों के भोगों की व्यवस्था करने वाला वह 'पूषा' है। विद्वानों के हृदय में ज्ञान प्रेरणा करने और सबको उत्पन्न करने से वह 'साम' है। दो भिन्न २ व्यवस्थाओं के भिन्न २ रूप पृथक् २ दर्शाने के निमित्त द्विवचन का प्रयोग है।

इति षष्ठी दशतिः। चतुर्थः खण्डः।

॥ ८० ७ ॥ ऋषिः—१, ४ शुनःशेप। २ वसिष्ठः। ३ मेधातिथिर्मेधो। ५ हरिमिठिः। ६, १६ मधुच्छन्दाः। ७ त्रिशोकः। ८ कुसीदः।

९ शुनःशेपः। इन्द्रो देवता॥

[१५५] पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभिप्रगायत।
विश्वासाह शतक्रतु महिष्ठ चर्षणीनाम् ॥१॥ ऋ० ८।९२।१॥

भा०—(व) आप लोग (अन्धसः) जीवन धारण कराने वाले अन्न के सूक्ष्म रस रूप सोम को (आ पान्तम्) अभिमुख प्रत्यक्षरूप में प्राप्त कराने वाले, (विश्वासाह) सब को अभिभव करने समस्त इन्द्रियों से बढ़ जाने वाले, सबको परास्त करने वाले (शतक्रतु) सैकड़ों कर्म करने में समर्थ, सैकड़ों प्रज्ञाओं से युक्त, (चर्षणीनां) तत्वदर्शियों के (महिष्ठ) एकमात्र आनन्द देने वाले, या इन्द्रियों में शक्ति देने वाले पूजनीय उपास्य देव आत्मा और परमात्मा की (अभि प्रगायत) साक्षात् स्तुति करो।

[१५६] प्र व इन्द्राय मादन हर्यश्वाय गायत।
सखाय सोमपाजसे ॥ २ ॥ ऋ० ७।३१।१॥

१५६—१ वै गै स्तुतौ। स्तुतिः प्रशंसेति यास्कः (नि० २।७।३।)

भा०—हे (सखाय) समान कीर्ति वाले मित्र ! (व) आप लोग (सोमपाय) सोम ज्ञान, अन्न रस का पान करने वाले, (हर्यश्वाय) विषयों के प्रति लेजाने वाले, इन्द्रिय साधनों से सम्पन्न (इन्द्राय) ऐश्वर्य सम्पन्न इन्द्र, अपने अन्तरात्मा को (मादन) प्रसन्न करने के लिये (प्र गायत) उत्तम रीति से गान करो, उसका कीर्त्तन करो, उसका ज्ञान करो।

[१५७] ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वयमु त्वा तदिदर्थो इन्द्र त्वायन्त सखाय ।
१ २ ३ १ २
कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । २ । १६ ॥

भा०—(वयम्) हम और (कण्वा) मेधावी विद्वान् लोग, हे (इन्द) आत्मन् ! (त्वायन्त) तेरी कामना करते हुए, तेरे प्रेमी, तुझे प्राप्त करने में लगे हुए (सखाय) समान ख्याति वाले (तदिद् अर्थाः) उस परम तत्व तुझको एकमात्र अपना इष्ट प्रयोजन जानते हुए (त्वा) तेरी (उक्थेभिः) मन्त्रों द्वारा (जरन्ते) स्तुति करते हैं, तेरे स्वरूप का वर्णन करते हैं।

[१५८] १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्राय मद्वने सुत परि ष्टोभन्तु नो गिर ।
३ १ २ ३ १ २
अर्कमर्चन्तु कारव ॥ ४ ॥ ऋ० ८ । १२ । १० ॥

भा०—(नः) हमारी (गिरः) वेदवाणियां (मद्वने) हर्ष, प्रसाद युक्त (इन्द्राय) आत्मा के योग्य (सुते) सोम ज्ञान और उत्तम पदार्थ को (परिष्टोभन्तु) वर्णन करें। (कारवः) कर्मण्य, विद्वान् लोग (अर्कम्) उस पूजा के योग्य उपास्यदेव की (अर्चन्तु) उपासना करें।

इसके पूर्व भी अन्धस्, सोम आदि शब्द आये हैं जिनका अर्थ यज्ञ प्रकरण में याज्ञिक लोगों ने सदा सोमलता का रस ही लिया है, परन्तु उपासना या आत्म विज्ञान काण्ड में ज्ञान और अन्न का सूक्ष्म रस और भोग्य पदार्थ ही लेना उचित है। वेद ने भी इन शब्दों का उस अर्थ में

प्रयोग किया है । जैसे (ऋ० ८ । ६४ । १०)—"अयं ते मानुषे जने सोमः पुरुषु सूयते । तस्येह प्र द्रवा पिब ॥" प्रत्येक मनुष्य में उसकी (पुरुषु) इन्द्रियों में यह सोम उत्पन्न होता है जिसके लिये हे आत्मन्! तू आ और पान कर ।

[१५६] ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अयं त इन्द्र सोमो निपूतो अधि बर्हिषि ।
१ २ ३ २ ३ १ २
एहीमस्य द्रवा पिब ॥ ५ ॥ ऋ० ८ । १७ । ११ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्! (अयं) यह (सोम) सोम, ज्ञान (ते) तेरे लिये (अधि बर्हिषि) प्रति यज्ञ और प्रति देह में (निपूतः) प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा संशोधित, संस्कृत किया जाता है । (इमं) इस समय (अस्य) इसके पान करने के लिये (एहि) आ और (द्रव) शीघ्र आ, (पिब) पान कर ।

बर्हिः, यज्ञः, धान्यम्, कुशः शरीरम्, अन्तरिक्षम् ये इत्यादि पर्याय हैं ।

[१६०] १ २ ३ १, २ ३ १ २ ३ १, २
सुरूपकृत्नुमूतय सुदुघामिव गोदुहे ।
३ २ ३ १ २
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥ ६ ॥ ऋ० १ । ४ । १ ॥

भा०—(गोदुहे) दूध के दोहने के लिये जिस प्रकार (सुदुघाम्) उत्तम रूप से दूध देने वाली गाय को प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार (सुरूपकृत्नुम्) उत्तम ज्ञान और कर्म सम्पादन करने वाले इन्द्र को (ऊतये) अपने को पापाचरण से बचाने के लिये (द्यवि-द्यवि[1]) प्रतिदिन (जुहूमसि) हम स्मरण करते और उसकी स्तुति करते हैं ।

[१६१] ३ १ २ ३ २, ३ १ २ ३ १ २
अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये ।
३ १ २ ३ १ २
तृम्पा व्यश्नुहा मदम् ॥ ७ ॥ ऋ० ८ । ४५ । २२ ॥

१६०—द्यवि द्यवि इति अहर्नाम । नि० १ । २ ।

भा०—हे (वृषभ) अन्तरात्मा में सुख की वर्षा करने हारे श्रेष्ठ ! (सुते) सोम=ज्ञान या साधना, कर्म के उचितरूप से होजाने पर उसके (पीतये) रस पान करने के लिये (सुत) उत्तम ज्ञान का (त्वा अभि क्षरामि) तेरे सन्मुख ही सम्पादन करता हूं । (तृप्त) तू उससे तृप्त हो और (मदम्) हर्ष, सुख को (वि अश्नुहि) प्राप्त कर ।

योगी, अवधूत लोग समाधि-रस को मधरस से तुलना देते हैं और आत्मा को बुलाते हैं । धर्ममेघ समाधि की सिद्धि प्राप्त होजाने पर आत्मा की वह अवस्था होजाती है ।

[१६२] य इन्द्र चमसेष्वा सोमश्चमूषु ते सुतः ।
पिबेदस्य त्वमीशिषे ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । ८२ । ७ ॥

भा०—(य सोम) जो सोम हे (इन्द्र) आत्मन् ! (चमसेषु) चमस पात्रों में (सुत) तैय्यार किया है वह (ते) तेरे लिये (चमूषु) छोटे २ पीने के पात्रों में भी है । (अस्य इत्) इसको ही तू (पिब) पानकर (त्वम्, ईशिषे) तू ही इसका समर्थ स्वामी है ।

'चमसेषु'—सूर्यपक्ष में चमस मेघ हैं, आत्मपक्ष में प्रत्येक पुरुष का मस्तक चमस है । जैसा उपनिषद् में "अर्वाग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न" । "चम्वौ द्यावापृथिव्यौ" । द्यौलोक और पृथिवी लोक चमू हैं । शरीर में द्यौ स्थान मस्तक ही है । उसमें भी सात इन्द्रिय उस इन्द्र के आचमन पात्र हैं उनमें वह ज्ञान ग्रहण करता या मस्तक के कोष्ठ (Cells) ही उसके नाना प्रकार से सोमास्वादन के निमित्त पात्र हैं । इन्द्र ही आत्मा है । इस सिद्धान्त की विशद व्याख्या देखो (ऐतरेय उप० ख०) "स एतमेव

१६२—१. चमु, अदने स्वादि । चमन्ति भक्षयन्ति अनेनेति (उ०) चमस इति मेघनाम । नि० १० । १ ।

पुरुष तत्तमपश्यद् इदमदर्शमिदमदर्शमितीत् । तस्मादिदन्द्रो नामदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्र सन्तमिन्द इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया हि देवा ॥

[१६३] योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे ।
सखाय इन्द्रमूतये ॥ ६ ॥ ऋ० । १ । ३० । ७ ॥

भा०—(योगे योगे) प्रत्येक समाधि काल में और (वाजे वाजे) प्रत्येक ज्ञानप्राप्ति के अवसर में या प्रत्यक बलकर्म के अवसर म (तवस्तरम्) अति बलशाली, अति वेगवान् (इन्द्रम्) इन्द्र आत्मा को हम (सखाय) सब मित्र के समान प्रेमीजन (हवामहे) बुलाते हैं या उसका गुणगान करते हैं ।

योग —"*ता योगमिति मन्यन्त स्थिरामिन्द्रियधारणाम्*" । *गीता०* । योगश्चित्तवृत्तिनिरोध । पात० योगसूत्र १ । १ ॥

दो ही कार्य बल से सम्पादन किये जाते हैं एक घोर सग्राम और दूसरा *ध्यानयोग* । *दोनों में बली आत्मा को ही स्मरण किया और उसका* ही पुकारा जाता है । योगी को बलेषु हस्तिबलादीनि"। हाथियों का बल तक भी प्राप्त हो जाता है । सग्राम क अवसर पर भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन के आत्मा को चेताया । वह योग या सग्राम क अवसर पर इन्द्र का आवाहन था ।

[१६४] आत्वेता निषीदतेन्द्रमभि प्रगायत ।
सखाय स्तोमवाहस ॥ १० ॥ ऋ० १ । ५ । १ ॥

भा०—हे (सखाय) मित्रो ! (आ एत तु) आओ और (आ निषीदत) आमने सामने आकर बैठ जाओ । हे (स्तोमवाहस) स्तुतियों को धारण करने हारे विद्वान् लोगो ! (इन्द्रम् अभि प्रगायत) आत्मा का उत्तम रीति से साक्षात् दर्शन करके उसका यथार्थ वर्णन करो ।

ताण्डय ब्राह्मण में त्रिवृत्, पञ्चदश सप्तदश एकविंश, त्रिणव त्रयस्त्रिंश और चतुर्विंश, चत्वारिंश और अष्टाचत्वारिंश इस प्रकार ६ स्तोमों का वर्णन किया है। इनका विशद प्रकार स गान करने का प्रकार उक्त ब्राह्मण में ही दर्शाया है।

इति सप्तमी दशति । इति पञ्चम खण्ड ।

॥ द० ८ ॥ १ विश्वामित्र । २ मधुच्छन्दा । ३ कुसीद काण्व । ४ त्रित । ५, ८ वामदेव । ६ ७ श्रुतकक्ष । ७ मधातिथि । १० विन्दु ॥

इन्द्रा देवता ॥ गायत्री ॥ षड्ज ॥

[१६५] इद ह्यन्वोजसा सुत राधाना पते ।
पिबा त्वा३ स्य गिर्वण ॥ १ ॥ ऋ० ३ । ५१ । १० ॥

भा०—हे (राधाना पते) हे समस्त धनों ज्ञानों और साधनों के स्वामी ! (इद) यह (ओजसा) बलपूर्वक (सुत) निष्पादित (गिर्वण) हे वाणी से कथन या प्रशंसा करने योग्य (अस्य) इस ज्ञान का (तु) भी (आ पिब) पान कर।

[१६६] महा इन्द्र पुरश्च नो महित्वमस्तु वज्रिण ।
द्यौर्न प्रथिना शव ॥ २ ॥ ऋ० १ । ८ । ५ ॥

भा०—(महान्) बड़ा आत्मा (न) हमारे (पुर च) आगे सदा विद्यमान रहता है (वज्रिण) सब भयों के वारण करने हारे उस आत्मा की (महित्वम् अस्तु) महिमा बनी रहे। (शव) उसका बल ज्ञान (प्रथिना) विस्तृत ज्ञान से (द्यौ न) द्यौलोक या सूर्य के समान है।

१६५—अन्वोजसा इति ऋ०।

१६६—'परश्च नु इति ऋ०।

[१६७] आ त्व न इन्द्र शुमन्त चित्र ग्राभ सङ्गृभाय।
महाहस्ती दक्षिणेन ॥३॥ ऋ० ८। ८१। १ ॥

भा०—हे इन्द्र! (महा हस्ती) बड़े भारी हस्त=धारक प्रयत्न वाला त्व (शुमन्त) अन्न, और गृह से सम्पन्न (ग्राभ) ग्रहण करने योग्य (चित्र) ज्ञान को (दक्षिणेन) उत्तम साधन से (आ सगृभाय) सग्रह कर।

[१६८] अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे।
सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥४॥ ऋ० ८। ६६। ४ ॥

भा०—हे मनुष्य! (गोपतिं) वाणी और रश्मियों, इन्द्रियों के स्वामी पालक (सत्यस्य सूनुम्) सत्य को उत्पन्न करने हार, (सत्पतिम्) सत्य पदार्थ या सज्जनों के पालक (इन्द्रम्) इन्द्र को (यथा विदे) यथार्थ ज्ञान के लिये (अभि प्र-अर्च) साक्षात् रूप से स्तुति कर।

[१६९] कया नश्चित्र आभुवदूती सदावृधः सखा।
कया शचिष्ठया वृता ॥५॥ ऋ० ४। ३१। १ ॥

भा०—(सदावृध) सत्य के बल से अधिक बढ़ने वाला इन्द्र (चित्र) ज्ञान करने योग्य, पूज्य अद्भुत, (नः) हमारा (कया) किस अपूर्व (ऊत्या) रक्षण करने वाले सामर्थ्य या ज्ञान से और (कया) किस (शचिष्ठया) शक्ति सम्पन्न बलयुक्त या बुद्धिमत्तायुक्त आश्चर्यमय शक्ति से, (कया वृता) और किस व्यवहार से (सखा) हमारा मित्र (आभुवत्) हो।

[१७०] त्यमु ष सत्रासाह विश्वासु गीर्ष्वायतम्।
आच्या जरस्यूतये ॥६॥ ऋ० ८। ६१। ७ ॥

भा०—हे विद्वान् स्तोत ! (सत्रासाह) सब को एक साथ विजय कर लेने हारे (व) तुम्हारे (विश्वासु) समस्त (गीर्षु) वाणियों में (आयतम्) विद्यमान, वर्णित (त्यम्) उस आत्मा को (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (आख्यावयसि) साक्षात् कर ।

[१७१] सदसस्पतिमद्भुत प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिं मेधामयासिषम् ॥७। क० १ । १८ । ६ ॥

भा०—(सदसस्पतिं) शरीर के भीतर यथास्थान विराजमान, इन्द्रियों के पालक (अद्भुत) अभूतपूर्व, (इन्द्रस्य प्रियम्) अन्तरात्मा के अत्यन्त प्रिय, (काम्य) कामना करने योग्य (सनिं) सत् असत् का विभाग करने हारे, (मेधाम्) धारणावती उत्कृष्ट आत्मबुद्धि को दान हार विवेक का (अहम्) मैं (अयासिषम्) प्राप्त होऊं ।

[१७२] ये ते पन्था अधो दिवो येभिर्व्यश्वमैरय ।
उत श्रोषन्तु नो भुव ॥८॥

भा०—हे इन्द्र ! आत्मन् ! (ये) जो (पन्थाः) मार्ग (ते) तेरे (दिव अधि) द्यौलोक ब्रह्माण्ड, मस्तक कपाल के नीचे हैं (यभिः) जिन्हों से (व्यश्वम्) नाना प्रकार के अश्वों, इन्द्रियों का (एरय) प्रेरित करता है वे और (नः भुवः) हमारे प्राण या कर्मेन्द्रिय (उत) भी (श्रोषन्तु) तेरी आज्ञा को सुनते हैं ।

[१७३] भद्रं भद्रं न आभरेषमूर्जं शतक्रतो ।
यद्इन्द्र मृळयासि न ॥९॥ ऋ० ८ । ९३ । २८ ॥

भा०—हे शतक्रतो, हे शतप्रज्ञ ! (इन्द्र) आत्मन् ! (यत्) जब (नः) हमें (मृळयसि) सुखी करते हो तब (भद्रं भद्रं) कल्याणकारी,

सुखकारी, (इषम्) अन्न और (ऊर्जम्) बल को (आ भर) प्राप्त कराते हो ।

[१७३] अस्ति सोमो अयं सुत. पिबन्त्यस्य मरुत ।
उत स्वराजो अश्विना ॥१०॥ अ० ८ । ६४ । ४ ॥

भा०—(अयं) यह (सोम.) सोम, ज्ञान या सूक्ष्म अन्नरस, (सुत) निष्पन्न हुआ है (अस्य) इसको (स्वराज) प्राण के बल से गति करने वाले, या स्वयं चेतन (मरुत) इन्द्रियगण प्राणगण या विद्वज्जन (पिबन्ति) पान करते हैं (उत) और (अश्विना) प्राण और अपान भी या विद्वान् स्त्री पुरुष भी उसी का पान करते हैं ।

इत्यष्टमी दशति. । इति षष्ठ खण्ड. ।

॥ द० ९ ॥—१ इन्द्रमातरो देवताया । २ गोषा । ३ इन्द्रः आर्षीः । ४ प्रस्कण्व । ५ गोतम. । ६ मधुच्छन्दा । ७ वामदेव. । ८ वसु. । ९ शुन शेप. । १० बालखिल्य ऋषि ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री । षड्ज ॥

[१७४] ईंखयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते ।
वन्वानास सुवीर्यम् ॥१॥ अ० १० । १४२ । १ ॥

भा०—(ईंखयन्ती) गतिशील, ज्ञानशील (अपस्युव) कर्म करने की इच्छावाली इन्द्रियां (जातं) प्रकट हुए (सुवीर्यम्) उत्तम बलशाली (इन्द्रम्) आत्मा का (वन्वानास) भजन करती हुई या उसको प्राप्त करती हुई (उपासत) उसकी उपासना करती है ।

सायण ने इन्द्र-माताओं पर यह मन्त्र लगाया है । इन्द्र आत्मा के माता, प्रमा के साधन इन्द्रियां ही यहां अभिप्रेत हैं । जैसा ऐतरेयारण्यक

१७४—'वन्वानास सुवीरम्' इति ऋ० ।

में लिखा है—' इन्द्रियें ' कहा करती हैं "तव उप स्मसि" तेरी ही हैं। इत्यादि।

[१७६] नकि देवा इनीमसि ३ १२ नकयायोपयामसि ।
३ १ २
मन्त्रश्रुत्य चरामसि ॥२॥ ऋ० १० । १३४ । ७ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (देवा') हम इन्द्रियगण (नकि इनीमसि) कुछ भी पथादि नहीं करते, (नकि आयोपयामसि) और न कुछ भूल करते हैं। (मन्त्रश्रुत्य) मनन सकल्प द्वारा जो कुछ हम सुन सकते हैं तद नुसार हम (चरामसि) आचरण करते हैं। प्रजा लोकों के पक्ष में—हम मन्त्र और श्रुति वेद के अनुसार चल। हम दोष न करें।

[१७७] दाधा आगाद् बृहद्गाय द्युमद्गामन्नाधर्षण ।
३ १२ ४ ३ १ २ ३ ५
स्तुहि देव सवितारम् ॥ ३ ॥ अथर्व० ६ । १ । १ ॥

भा०—साधक' अपने ही आत्मा के प्रति कहता है, हे (बृहद्गाय) बृहत्साम का गान करने वाले या प्राण स्वर से गान करनेहार ! हे (आधर्षण, जीवन का नाश न करनेहारे आत्मन् ! हे (गामन्) गतिशील ! आत्मन् ! (द्युमद्, दीप) दीप्तिमान्, सब अन्धकारों का नाश करने हारा ईश्वर (आगात्) अब अन्तरात्मा में उदित होगया है। अत तुम (सवितार) सबको प्रेरणा करनेहारे (देव) प्रकाशस्वरूप देव को (स्तुहि) स्तुति कीर्तन कर। विशाका अतिदीप्तमती प्रज्ञा के उदय के अवसर पर साधक की यही दशा होती है।

१७६—नकिर्वा 'मनीमसि' इति च ऋ० । 'पनाभरधिब्रोऽन्त्राणि मन्मभि' इति अधिक पाठ, ऋ० ।

१७७—'दोरो गाय बृहद्गाय द्युमद्धेहि । आथर्वणेव सवितारम्' । इति अथ० ।

१. स्तोतारामवनामन्त्रयते । सा० ।

[१७८] एषा उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिव ।
स्तुष वामश्विना बृहत् ॥ ४ ॥ ऋ० १ । ४६ । १ ॥

भा०—(एषा) यह (उ) ही (उषा) ज्योतिष्मती प्रज्ञा (अपूर्व्या) साधक के अनुभव में पहले कभी न आई हुई, अपूर्व, (दिव प्रिया) मस्तक या मूर्धाभाग को पूर्ण करने वाली या सूर्य के समान तेजस्वी आत्मा के अति प्रिय होती है । हे (अश्विना) गमनशील प्राण और अपान ! आप दोनों के द्वारा उत्तम दशा की प्राप्ति के निमित्त (बृहत्) खूब (स्तुषे) अच्छी प्रकार गुण कहता हूं । साधारणतः उषा के पक्ष में स्पष्ट है ।

[१७९] इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुत ।
जघान नवतीर्नव ॥ ५ ॥ ऋ० १ । ८४ । १३ ॥

भा०—(इन्द्र) आत्मा (दधीच) ध्यान द्वारा प्राप्त करने योग्य परमात्मा की (अस्थभिः) तमोनाशक शक्तियों द्वारा (अप्रतिष्कुत) किसी से भी पराजित न होकर (नव नवती) ८१० (वृत्राणि) ज्ञान के आवरण करने वाले विघ्नों का (जघान) नाश करता है ।

आत्मा की शक्ति प्रकृति के तीन गुण सत्व रजस् तमस् तीन कालों के भेद से ९ प्रकार की हुई । प्रभाव उत्साह और मन्त्र तीन शक्तियों के भेद से २७ प्रकार की हुई । फिर शारीरादि के सम विषम होने से ८१ प्रकार की, दश दिशाओं के भेद से ८१० प्रकार की हो जाती है । इतनी प्रकार की शक्तियों से यह इतनी ही क्षुधादि वृत्तियों पर विजय करता है ।

इन्द्र की कथा भी आलंकारिक है, ऐतिहास से नहीं लिखने ।

[१८०] इन्द्रे हि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः ।
महाँ अभिष्टिरोजसा ॥ ६ ॥ ऋ० २ । १९ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! तू (इहि) आ साक्षात् हो । (अन्धस) प्राण की सूक्ष्म धारणाशक्ति की (विधभि) समस्त (सामपर्वभि) वीर्य के पालनकारी सामर्थ्यों स तू (मन्दि) प्रसन्न और तृप्त होता है और (ओजसा) अपन बल स (महाँ अभिष्टि) बड़ी प्रबल इच्छा शक्ति वाला हाजाता है।

[१८१] आ तू न इन्द्र वृत्रहन्त्समाकमर्द्धमा गहि ।
महान्महीभिरूतिभि ॥ ७ ॥ ऋ० ४ । ३२ । १ ॥

भा०—(वृत्रहन्) हे तामस आवरणों और विघ्नों के निवारक ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (महीभि) बड़ी २ (ऊतिभि) शक्तियों द्वारा तू (महान्) महान् है । तू (अस्माक) हमार (अर्द्धम्) समीप (आगहि) आ ।

[१८२] ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत्समवर्तयत् ।
इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । ६ । ५ ॥

भा०—(तत् अस्य ओज) उस महान् आत्मा का सूर्य के समान वह ओज (तित्विष) चमकता है (यत्) जिससे वह (उभ रोदसी) द्यौ और पृथिवी दोनों को (चर्म इव) चमड़े की तरह (समवर्तयत्) सब ओर ढक रहा है व्याप्त करता है । अथवा—इस आत्मा का वह सामर्थ्य है जिससे वह प्राण अपान दोनों को चर्म या वस्त्र के समान धारण करता है ।

[१८३] अयमु ते समतसि कपात इव गर्भधिम् ।
वचस्तच्चिन्न आहसे ॥ ९ ॥ ऋ० १ । १० । ४ ॥

भा०—(अयम्) यह साधक जिस प्रकार (कपात) कपोत (गर्भधिम् इव) अपनी कपोती के पास आता है उसी प्रकार (ते) तेरे पास (सम् अतसि) आता है इसी कारण (नः) हमारे (तद् वच) उस वचन को (आहस) प्रेम से श्रवण करता है ।

[१८४] वात आ वातु भेषज शम्भु मयोभु नो हृदे।
प्र न आयूंषि तारिषत् ॥ १० ॥ ऋ० १० । १८६ । १ ॥

भा०—(वात) वायुरूप सर्वव्यापक सब का प्राणस्वरूप आत्मा (न) हमारे (हृदे) अन्त करण में (शम्भु) कल्याण और शान्ति कारक, (मयोभु) सुखकारी (भेषजम्) आधि व्याधि को शान्त करनेहारे ओषधि को (आ वातु) प्राप्त कराए और (न) हमें (आयूंषि) समस्त जीवन को (प्र तारिषत्) पार कराए।

जैसे भक्त जगन्नाथ पण्डितराज ने कहा है—

आधिव्याधिनरापराहत यदि क्षेम निज वाञ्छसि।
श्रीकृष्णेति रसायन रसय रे शून्यै किमन्यै रसै ॥

फलतः, इष्टदेव में ओषधि आदि की भावना भी भक्त कर लेते हैं।

इति नाभी दशति। इति सप्तम खण्ड।

॥ ८० १० ॥ ऋषि—१ वत्स। २, ३, ६ वत्स। ४ कुत्सश्च। ५ मनु च्छन्दा। ६ वामदेव। ७ हरिमिठ ॥ ८ वाक्षि सत्यधृति ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्द ॥ षड्ज स्वर ॥

[१८५] य रक्षन्ति प्रचेतसो वरुणो मित्रो अर्यमा।
नकि स दभ्यते जन ॥ १ ॥ ऋ० ४ । १७ । ३ ॥

भा०— प्रचेतस) उत्कृष्ट ज्ञान से सम्पन्न (वरुण) वरण, सबसे श्रेष्ठ (मित्र) मित्र, सबका स्नेही और (अर्यमा) अन्तर्यामी, न्यायकारी जन (य)

१८५—'नू वित्स' इति । ऋ० ।

जिसकी (रक्षति) रक्षा करते हैं (स) वह (जन) मनुष्य (न कि दभ्यते) कभी भी नाश का ग्रास नहीं होता। बृहदारण्यकोपनिषद् के (अ० ३) में इन देवों की पिण्ड और ब्रह्माण्ड में स्थिति का निर्देश किया है।

[१८६] ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
ग॰ यो पु णो यथा पुराश्वयात रथया।
३ २ ३ १ २
वरिवस्या महतामृ ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ४६ । १० ॥

भा०—हे साधक ! (यथा पुरा) पूर्व के समान (गव्या) गौ आदि पशुओं की इच्छा से, (अश्वया) अश्व आदि शीघ्रगामी साधनों की कामना से और (रथया) रथों की कामना से (उत) और (महानाम्) धनों के प्राप्त करने के लिये तू (वरिवस्य) उपासना कर। अध्यात्म में गौ=इन्द्रियां अश्व=मन और रथ=शरीर। इन तीनों को उत्तम रीति से वश करने और बलवान् बनाने की कामना से इन्द्र=आत्मा और परमेश्वर की उपासना आवश्यक है।

[१८७] ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ४ १ २
।मान्त इन्द्र पृ॒त्सु धृत दुहत आशिरम्।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
एनामृतस्य पिप्युषी ॥ ३ ॥ ऋ० ८ ६ । १० ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ते) तेरी (इमा धेनव) ये रसों तक पहुंचने वाली इन्द्रियां (अमृतस्य पिप्युषी) अमृत=मोक्ष ज्ञान को पान करती हुई (एनाम्) इस अनुभवगम्य (आशिरम्) परिपुष्टि हुए (घृतं) विशेष ज्ञान दीप्ति को (दुहते) प्राप्त करती हैं। (अमृतस्य) अमृत पान करके दूध को गौओं के समान (दुहते) उत्पन्न करती हैं।

[१८८] ३ २ ३ १ २ ३ १ १ २
अया धिया च गव्यया पुरुणामन्पुरुहूत।
१२ १ ४ २
यत्सोम सोम आभुव ॥ ४ ॥ ऋ० ८ । ९ । १२ ।

१८६—'वरिवस्या गव्या इति । ऋ० । 'नाम् इति पाठो 'विवरणम्' ।
१८८—'धामन' इति । ऋ०

भा०—हे (पुरु-नामन्) हे सहस्रों, बहुतसे नामों से पुकारे जाने वाले, हे (पुरुस्तुत) नाना प्रकारों से स्तुति के पात्र ! आत्मन् ! (अया गव्यया) इस इन्द्रियों के अनुकूल कामना (धिया च) और ध्यान द्वारा भी (यत्) जो तू (सोमेसोमे) प्रत्येक साम अर्थात् ज्ञान में (आभुव) प्रकट होता है । इसीसे तू साक्षात् किया जाता है ।

'प्रतिबोधविदित मतम्' । इति केन उ० ।

[१८६] पावका न सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥ ५ ॥ ऋ० ८ । ४१ । २६ ॥

भा०—(सरस्वती) वेदवाणी (पावका) हृदय को पवित्र करने वाली (वाजेभि) ज्ञान और कर्मों द्वारा (वाजिनीवती) शक्तिसम्पन्न होकर (धियावसु) ध्यान, धारणा और ज्ञानाभ्यास द्वारा अन्त करण में वास करने हारी (यज्ञं वष्टु) हमारे जीवन यज्ञ को धारण करे । ज्ञान-योग के साथ कर्मयोग द्वारा ही वेद के मन्त्र हृदय को पवित्र करते और जीवन को चिरायु और सफल करते हैं ।

[१९०] क इमन्नाहुषीष्वा इन्द्रं सोमस्य तर्पयात् ।
स नो वसून्याभरात् ॥ ६ ॥

भा०—(इमम् इन्द्रम्) इस इन्द्र आत्मा को (नाहुषीषु[1]) कर्म बन्धन में बंधी मनुष्य प्रजाओं में (सोमस्य) गुण-कीर्तन और ज्ञान-सम्पादन द्वारा (क तर्पयात्) कौन तृप्त कर सकता है ? अथवा (कः) सुखमय प्रजापति ही (सः) वह परमेश्वर ही (नः) हमारे (वसूनि) ज्ञानों और ऐश्वर्यों को (आभरात्) सदा प्रदान करे ।

अजरामरवत् प्राज्ञः विद्यामर्थं च चिन्तयेत् । (स्फुट)

१९०—१. नहुष इति मनुष्यनाम (नि० २ । ३) नह्यन्तेः कर्मभिः पूर्वकृतैः ।

[१११] आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोम पिबा इमम् ।
पदं यविष्ठ सदा मम ॥ ७ ॥ ऋ० १ ७ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ! (हि) क्योंकि हम (ते) तेरे लिये (सुषुम) ज्ञान को उत्तम रूप से सवन, सम्पादन करते हैं अतः तू (आ याहि) आ प्रत्यक्ष हो । और (इमं) इस (सोम) सोमरूप ज्ञान को (पिब) पान कर । (इदं) यह (मम) मेरा दिया (बर्हि) यज्ञ या हृदयरूप आसन है इसमें (आ सद) विराज ।

[११२] महि त्रीणामवस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः ।
दुराधर्षं वरुणस्य ॥ ८ ॥ ऋ० १० । १८५ । १ ॥

भा०—(मित्रस्य) मित्र, आदित्य या प्राण (अर्यम्णः) अर्यमा अन्तर्यामी आत्मा और (वरुणस्य) वरुण, अपान, (त्रीणाम्) इन तीनों की (महि अवः) बड़ी रक्षा और (दुराधर्षं द्युक्षं) असह्य तेज (अस्तु) हो ।

अथवा आदित्य या मित्र चक्षु में स्थित है। यम या अर्यमा हृदय में टेका हुआ श्रद्धा और दक्षिणा में विराजमान है। रेतस्=वीर्य में वरुण स्थित है।

[११३] त्यावतः पुरुवसो वयमिन्द्र प्रणेतः ।
स्मसि स्थातर्हरीणाम् ॥ ९ ॥ ऋ० ८ । ४६ । १ ॥

भा०—हे (पुरुवसो) शरीर और इन्द्रियों में आवास करने हारे ! (इन्द्र) आत्मन् ! (हरीणाम् प्रणेतः) हे इन्द्रियों के प्रेरक ! हे (स्थातः) नित्य अविचारी, ध्रुवस्थ पुरुष ! हम (त्वावतः) तेरे समान स्वामी के ही (स्मसि) हैं ।

इन्द्रियगण आत्मा को एवं प्रजागण भृत्यादि राजा को इसी प्रकार कहते हैं ।

इति दशमी दशतिः । इति अष्टमः खण्डः ।

द्वितीयः प्रपाठकः समाप्तः ॥

१११—'अमोसु द्युक्षम्' इति । ऋ० ।

अथ तृतीयः प्रपाठकः (१)

॥ द० १ ॥ ऋषि·—१ प्रगाथः । २ विश्वामित्रः । ३, १० वामदेवः । ४, ६ श्रुतकक्षः । ५ मधुच्छन्दाः । ७ गृत्समदः । ८, ९ भरद्वाजः । इन्द्रो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

[१६४] उ त्वा मदन्तु सोमा. कृणुष्व राधो अद्रिवः ।
अव ब्रह्मद्विषो जहि ॥ १ ॥ ऋ० । ६ । १ ।

भा०—हे (अद्रिवः[1]) संहारकारी अभेद्यशक्ति से युक्त ! हे आत्मन्, जीव ! (त्वा) तुझको (सोमाः) सोम ज्ञान और ऐश्वर्य (मदन्तु) हर्ष दें । तू (राधः[2]) ज्ञान, धन कृणुष्व सम्पादन कर (ब्रह्मद्विषः) वेद ज्ञान से द्वेष करने हारे पुरुषों और द्वेषयुक्त भावों को (अव जहि) नाश कर ।

[१६५] गिर्वणः पाहि नः सुतं मधोर्धाराभिरज्यसे ।
इन्द्र त्वादातमिद्यशः ॥ २ ॥

भा०—हे (गिर्वणः) वेदवाणियों द्वारा कीर्त्तन करने योग्य ! तू (नः) हमारा (सुतं) सम्पादन किया स्तुतिरूप हव्य (पाहि) पान कर, स्वीकार कर । (मधोः) मधु=ब्रह्मज्ञान, अमृत, ऋग्वेद की (धाराभिः) धारणाओं, ऋचाओं द्वारा (अज्यसे) तुम्हारा स्तवन, सेवन, भजन, ज्ञान किया जाता है । हे आत्मन् ! (त्वादातम् इद्) यह तुम्हारा ही प्रकाशमान (यशः) यश, सामर्थ्य है ।

---

१ ९४—'स्तोमा' इति । ऋ० । १. गत्तेरदिः ।
२. राधसाथ सत्सिद्धौ, स्वादिः ।

देखो—' य इम मध्वद वेद आत्मान जीवमन्तिकात्" इत्यादि (कठ० व० ४ । २ ।)

[१६] सदा व इन्द्रश्चर्षणिपदा उपोनु स सपर्यन् ।
न देवो वृत शूर इन्द्र ॥३॥

भा०—(व) आप लोगों को (इन्द) ऐश्वर्यशील वह इष्टदेव (सदा) नित्य (आ चर्षणिन्) अपने समीप आकर्षण करता है । और (स) वह (नु) ही (सपर्यन्) आदर प्रेम करता हुआ (इन्द्र) आत्मा, परमात्मा (शूर) शीघ्र गति वाला या ज्ञान सम्पन्न (देव) देव क्या (न वृत) नहीं वरण किया जाता ? वह सबसे अधिक वरण करने योग्य है ।

[१७] आ त्वा विशन्त्विन्दव समुद्रमिव सिन्धव ।
न त्वामिन्द्रातिरिच्यते ॥४॥ ऋ० ८ । ९२ । २२ ॥

भा०—(इन्दव) समस्त ज्ञानी पुरुष (त्वा) तुझ में (सिन्धव, समुद्रम् इव) जिस प्रकार नदियां समुद्र में प्रवेश करती हैं उसी प्रकार (विशन्तु) प्रवेश करें । हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वाम्) तुझ से (न अतिरिच्यते) कोई भी बढ़ नहीं सकता, तुझ से पृथक् नहीं रह सकता । आत्मपक्ष में—(इन्दव) द्रवणशील इन्द्रिय प्राणगण आत्मा रूप समुद्र में नदियों के समान प्रविष्ट हैं । उससे कोई भी बढ़ नहीं सकता ।

[१८] इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किण ।
इन्द्र वाणीरनूषत ॥ ५ ॥ ऋ० १ । ७ । १ ॥

भा०—(गाथिन) गाथाओं का गान करने वाले, सामगायक (इन्दम् इत्) आत्मा का ही (बृहत्) बृहत्साम द्वारा (अनु

पत) स्तुति करते हैं । (अर्किण) अर्चा करने हारे ऋग्वेदी (अर्कभि) अपने स्तुति पढ़ा व ऋग्वेद के मन्त्रों से (इन्द्रम्) आत्मा की ही स्तुति करते हैं और (वाणी) यजुर्वेद के मन्त्र भी (इन्द्रम्) आत्मा की ही (अनूषत) स्तुति करते हैं ।

सर्व वेदा यत्पदमामनन्ति इति कठक उप० ।

[१९९] इन्द्र इषे ददातु न ऋभुक्षणमृभु रयिम् ।
वाजी ददातु वाजिनम् ॥६॥ ऋ० ८ । ९३ । ३४ ॥

भा०—(इन्द्र) परमात्मा (इषे) हमारी इच्छानुकूल (न) हमें (ऋभुक्षणम्) बड़ भारी (ऋभु) तेज सम्पन्न, सत्यसामर्थ्य से युक्त (रयिम्) धन, अन्न, ज्ञान का (ददातु) दान करे । (वाजी) सर्वज्ञ, ऐश्वर्यवान् वह हमें (वाजिन) ज्ञान एवं कर्म बल का भी (ददातु) दान कर ।

[२००] इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभीषदप चुच्यवत् ।
स हि स्थिरो विचर्षणि ॥७॥ ऋ० २ । ६१ । १० ॥

भा०—(अङ्ग) हे मनुष्य ! वह परमेश्वर (महद् भयम्) बड़ भारी भय को (अभीषत्) दूर करता है । भयको वह अपच्युच्यवत्) परे हटा देता है (स हि) क्योंकि वह (स्थिर) स्थिर, कूटस्थ और (विचर्षणि) सब का देखने वाला सबका निरीक्षक है ।

[२०१] इमा उ त्वा सुत सुन नद्य ते गिर्वणो गिर ।
गावो वत्स न धेनव ॥८॥ ऋ० ६ । ४५ । २८ ॥

२०१— वत्स गाव' इति पदपाठः, अ० ।

भा०—हे (गिर्वणः) वेदवाणियों द्वारा जानने योग्य ! (त्वा उ) तुझको ही (सुतेसुते) प्रत्येक ज्ञानयज्ञ में (इमाः गिरः) ये वेदवाणियां (धेनवः गाव वत्सं न) दूध पिलाने वाली गौएं जिस प्रकार अपने बछड़े के पास जाती हैं उसी प्रकार (नक्षन्ते) पहुंचती हैं तेरा वर्णन करती हैं।

[२०२] इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये।
हुवेम वाजसातये ॥९॥ ऋ० ६ । ५७ । १ ।

भा०—(इन्द्रा पूषणा) सर्वैश्वर्यसम्पन्न इन्द्र और सबके पालक पूषा परमात्मा को हम लोग अपने (सख्याय) मित्रता, (स्वस्तये) अपने कल्याण और (वाजसातये) ज्ञान बल और अन्नादि सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये (हुवेम) प्रार्थना करते हैं।

[२०३] न किरिन्द्र त्वदुत्तरं न ज्यायो अस्ति वृत्रहन्।
न कयेयं यथा त्वम् ॥१०॥ ऋ० ४ । ३० । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वदुत्तरं) तुझ से ऊंचा और तुझ से अधिक सूक्ष्म, परम कारण (न किः) कोई भी नहीं है। हे (वृत्रहन्) आवरणकारी तामस विघ्नों को दूर करने हारे ! (ज्यायो न अस्ति) और कोई दूसरा तुझ से अधिक बड़ा एवं प्रशंसा करने योग्य भी दूसरा नहीं। (यथा त्वम्) जैसा तू है (एवं नकिः) इस प्रकार का और कोई नहीं, तू अद्वितीय है।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये ।

यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ॥ कठ० उप० ॥

इति प्रथमा दशतिः । नवमः खण्डः ॥

। ऋ० २ ॥ ऋषि —१, ४ त्रिशोक । २ मधुच्छन्दा । ३ वशोदव्या वश्मावा ।
५ गुरुधी । ६, ९ वामदेवा । ७ विश्वामित्रः । ८ गयप्लायस्यौ ऋषी ।
१० श्रुतस्य ॥ इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

[२०४] तरणिं वो जनानां त्रदं वाजस्य गोमतः ।
समानमु प्र शंसिषम् ॥१॥ ऋ० ८ । ४५ । २८ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (वः) आप सब (जनानां तरणिम्) मनुष्यों को तारने वाले पार करने वाले, (त्रदं) प्राण देने वाले या कष्टों को काटने वाले, (गोमतः) इन्द्रियों और पशु आदि से सम्पन्न (वाजस्य) धन अन्न और ज्ञान के (समानम् उ) और सब के प्रति समान भाव से देने वाले, निष्पक्ष सर्वव्यापक प्रभु की मैं (प्र शंसिषम्) स्तुति करता हूं ।

[२०५] अस्तूषीमन्द्र ते गिरः प्रति स्तोमं जुदामसि ।
सजोषा वृषभं पतिम् ॥२॥

भा०—हे (इन्द्र) परमात्मन् ! (ते) तेरे लिये (गिरः) इन वेदवाणियों को (अस्तूषम्) प्रकट करता हूं । वर्षोंक (सजोषाः) प्रेम से या कामना से प्रेरित स्त्री जिस प्रकार (पतिम्) अपने पति के प्रति जाती है उसी प्रकार (वृषभं) सर्वश्रेष्ठ, धर्म से देदीप्यमान, सबके पालक (त्वां प्रति) तेरे प्रति ही समान भावों (उप प्रशंसत) आ रही हैं ।

[२०६] सुनीथो घा स मर्तो या मरुद्भिर्यमयति ।
मित्रेणागस्यदुह ॥३॥ ऋ० ८ । ४९ । ४ ॥

२०६-[मित्र] ऋग्वेदादिभाष्ये, पृ० ९७४, ६०

भा०—(स म ग) वह पुरुष (सुनीथ) उत्तम मार्ग में चला जाता है (य) जिसको (मरुत) देव विद्वान् जाग और (य) जिसकी (अर्यमा) न्यायकारी (मित्र) सब का स्नेही और (अदुह) बिना द्रोह रहित पुरुष (पान्ति) रक्षा करते हैं ।

भगवान् और सन्तों का कृपापात्र पुरुष धन्य है ।

[२०८] यद्वीडावन्द्र यत् स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम् ।
वसु स्पार्ह तदामरे ॥४॥ ऋ० ८ । ६ । ४१ ॥

भा०—हे (इन्द्र) (यद् वाडौ) जो शत्रुओं से न दबने वाले, (यत् स्थिरे) जो स्थिर रहने वाले और (यत् पर्शाने) जो विचारशील पुरुष में (पराभृतम्) रक्षा करना है (तत्) वह (स्पार्हं वसु) सब के अभिलाषा के योग्य बल धन और स्थिरता और ऐश्वर्य (आ भर) हमें प्राप्त करा ।

[२०९] श्रुत वो वृत्रहन्तम प्र शर्धं चर्षणीनाम् ।
आशिष राधस महे ॥५॥ ऋ० ८ । ६ । ६३ ॥

भा०—(व) आप लोग (श्रुतम्) वेद में विख्यात या जगत् में प्रसिद्ध (शर्धं) उत्कृष्ट बलशाली (वृत्रहन्तम) विघ्नों के नाश करने वालों में सबसे श्रेष्ठ का (चर्षणीनां) प्रजाओं की (आशिष) उत्तम कामनाओं की पूर्ति और (महे) बड़े (राधसे) साधना या ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये (प्र) उत्तमता करो ।

[२१०] अर न इन्द्र अश्वयु गव्यु चयायत ।
अर शक्र परस्पयि ॥६॥

---

२०७ पंक्ति ।।।। इति पाठ आर्यशास्त्रालयमारी कौथमालयम् ।

२०८-आयुः इति ऋ० ऋ० ।

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्! हे (शूर) शत्रुओं के हिंसक! (स्वाक्त) तेरे समान! अद्वितीय तेरे ही (अवसे) कीर्तिगान करने के लिये हम (अर गमेम) खूब लगे रहें। हे (शक्र) सर्वशक्तिमन्! (परमस्य) तेरी परम्ता सौंदर्य, परम रूप में ही हम (अर) अच्छी प्रकार (गमेम) लीन रहें मग्न हों।

[२१०] ध्यानावन्त करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्।
इन्द्र प्रातर्जुषस्व न ॥ ७ ॥ ऋ० ३। ५२। २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्! (न) हमारे (प्रात) प्रात काल के अवसर में (ध्यानावन्त) ध्यान धारणा से सम्पन्न (करम्भिणम्) सुख को प्रारम्भ करने वाले (अपूपवन्तम्) अति समीपता दिलाने वाले अथवा दूर और निकट सर्वत्र विद्यमान (उक्थिनम्) ज्ञानसम्पन्न साम, आत्मा को (जुषस्व) ग्रहण करो, स्वीकार करो।

भुने जौ धाना कहाते हैं दही से मिले सत्तू 'करम्भ' कहाते हैं। पके पुरोडाश को अपूप कहा जाता है। परिनिष्ठावाद से सूक्ष्मतर नाम रूप हाड़ मांस का वा ही धाना है। ध्यानयोग से विवेक द्वारा पवित्र किया सत्य ज्ञान सत्तू है उसका विशेष परम अनुभव दधि है जिसका मथन करने पर या विशेष परिपाक होने पर प्राप्त ब्रह्मज्ञान अपूप है जिसमें आत्मा उस ब्रह्म के सबसे समीपतम हो जाता है अथवा 'अप उप वा=अपूपवान्' वह दूर और निकट के सब पदार्थों का ज्ञान है। उस समय अपूप ब्रह्मज्ञान 'उक्थ' है, तद्वान् आत्मा उक्थी है। उसका स्वीकार करने की प्रार्थना है।

[२११] अपा फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः।
विश्वा यदजय स्पृधः ॥ ८ ॥

२११—ऋग्वेदे ऋषिः स ऐन्द्रः। अ० ऋषिः प्रजापतिः, आत्मा वा, त्रि०।

भा०—हे (इन्द) आत्मन् ! (यत्) जब (विश्वा स्पृध) अपने से स्पर्द्धा करने वाली सब तामस वृत्तियों को (अभय) विजय करले तब (नमुचे) कभी न पीछा छोड़ने वाले मृत्यु वा कर्मबन्धन का भी (शिर) शिर या आश्रय (अपा फनन) ज्ञान और कर्मों के बल से अथवा आप्त पुरुषों के शुद्ध ज्ञानोपदेश से (उद् अवर्त्तय) काट डाल ।

[२१२] ३ १ ३ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
इम त इन्द्र सोमा सुतासो ये च सात्वा ।
१ २
तेषा मत्स्व प्रभूवसो ॥ ९ ॥

भा०—हे (इन्द) आत्मन् ! (इम) ये (सोमा) साम ज्ञान (त) तेरे लिये (सुतास) निष्पादन किये हैं (य च) और जो (सात्वा) भविष्य में निष्पादन किये जायेंगे (तेषा) उनसे हे (प्रभूवसो) साम ऐश्वर्यसम्पन्न ! शरीर के वासी आत्मन् ! (मत्स्व) तू सदा प्रसन्न रह ।

[२१३] १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
तुभ्य सुताप सोमा स्तीर्णं बर्हिरमावसो ।
३ १ २
स्तोतृभ्य इन्द्र मृडय ॥ १० ॥ अ० ८ । ६१ । २५ ॥

भा०—हे (विभावसो) तेज कान्तिसम्पन्न ! (इन्द) आत्मन् ! (सोमा) साम, य समस्त अन्त आनन्द रस (तुभ्य) तेरे लिये (सुतास) निष्पादन किये गये हैं (बर्हि) देहरूप यह आसन अथवा ब्रह्मस्वरूप महान् आश्रय (स्तीर्णं) विस्तृत किया गया है । तू (स्तोतृभ्य) सत्य २ गुणकीर्तन करने वालों को (मृडय) सुखी कर ।

इति द्वितीया दशति दशम खण्ड ।

अथ द्वितीयाऽध्याय ।

॥ ० ३ ॥ १ शुन शेप । अग्नय । ३ त्रिष्टु. ४, ९ मण्डिपि । ५ गायत्र । ६ अष्टाडिपि । ७ विषाम्नि अ० त्रिष्टा । ८ प्रस्तरम ॥ इन्द्रो देवता । गायत्री ॥ षड्ज ।

[२१४] आ व इन्द्र क्रिवि यथा वाजयन्त शतक्रतुम् ।
मंहिष्ठ सिञ्च इन्दुभि ॥ १ ॥ ऋ० १ । ३० । १ ॥

भा०—(व) आप लोग (इन्दुभि) सोमों, ज्ञानों, स्तुतियों द्वारा (शतक्रतु) सैकड़ों प्रज्ञाओं और कर्मों से युक्त (मंहिष्ठ) दानशील, पूजनीय, (इन्द) आत्मा का (वाजयन्त) बल और ऐश्वर्य की कामना करते हुए (आ सिञ्च) इस प्रकार तृप्त करो (यथा) जिस प्रकार (क्रिवि[1]) कार्य-साधन करने वाले हथियार या यन्त्र का घृत तैल आदि से सींचते हैं। अथवा—जिस प्रकार (क्रिवि) जलपूर्ण कूप के आश्रय से (वाजयन्त) अन्न चाहने वाले कृषक खेत को जल से सेचन करते हैं उसी प्रकार प्रभु का आश्रय लेकर समाधि रसों से क्षेत्ररूप आत्मा का सेचन करो।

[२१५] अतश्चिदिन्द्र न उपायाहि शतवाजया ।
इषा सहस्रवाजया ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ९२ । २० ॥

भा०—हे (इन्द) आत्मन् ! राजन् ! (अत चित्) इस कारण से ही (शतवाजया) सैकड़ों प्रकार के बलों से सम्पन्न और (सहस्रवाजया) सहस्रों या अनेक बलों से युक्त (इषा) या इच्छा शक्ति या सेनासहित (न) हमें (उप याहि) प्राप्त हो।

[२१६] आ वृन्द वृत्रहा ददे जात पृच्छाद्विमातरम् ।
क उग्राः के ह शृण्विरे । ३ ॥ ऋ० ८ । ४५ । ४ ॥

भा०—(वृत्रहा) विघ्नों का निवारण करने हारा राजा (जात) शक्ति सम्पन्न होकर ही (वृन्द) दण्ड देने और शत्रु का नाश करने हारे बाण या हथियार को (आददे) धारण करता है। और (मातरम्) अपने

२१४—१ करोति येन स क्रिवि, (वा० उ०)

उत्पन्न करनेहारी मातृतुल्य प्रजा से (वि पृच्छात्) नाना प्रकार से पूछता है कि (के उग्रा) तुझ कष्ट देने वाले भयंकर कौन है और (के ह शृण्विरे) कौन हिंसा करते हैं । अथवा-(के ह शृण्विरे) कौन श्रवणशील विद्याभ्यासी और (क उग्रा) कौन उग्र, बलवान वीर क्षत्रिय हैं । शस्त्रधारी पुरुष को जब प्रजा राजा बनाती है तब वह राजदण्ड हाथ में लेता है और प्रजा के दुःखदायी आततायी लोगों को खूब छानबीन करके उन को दण्ड देता है अथवा उनमें बलवान् और विद्वान् प्रजा के शासन और शिक्षण में नियुक्त करता है । आत्मपक्ष में-माता=यथार्थ अनुभवशील चित्त शक्ति वृत्र=अज्ञान, उग्रा =विषयक भाव या ज्ञानमय और श्रवणशील ज्ञानेन्द्रियगण हैं ।

[२१७] ३ १ २ ३ २ ३ १ २
वृषदुत्थ हवामहे सुप्रकरसनम् ।
१ २ ३ २ ३ १ ४
का उ कृण्वन्तमवसे ॥४॥ ऋ० ८ । ३२ । १० ॥

भा०—हम (ऊतय) रक्षा के लिये (सुप्रकरसनम्) अपने हाथों को फैलाये (वृषदुत्थ) अति अधिक बलशालिमान् और (अवसे) राजा की रक्षा करने के लिये (साधु कृण्वन्त) साधन करने वाले राजा के समान परमेश्वर का बुलाते हैं ।

[२१८] ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
ऋतुनीती नो अद्रिवो मित्रो नयति विद्वान् ।
३ २ ३ ३ १ ३
अर्यमा देवैः सजोषाः ॥५॥ ऋ० १ । ९० । १ ॥

भा०—(अद्रिवः) मेघ जलों का नियामक करने हारा, (मित्र) सब का स्नेही (विद्वान्) सर्वज्ञ (अर्यमा) न्यायकारी (देवैः) विद्वान् पुरुषों से (सजोषाः) समान रूप से प्रेम करने हार राजा के समान परमेश्वर (ऋतुनीती) धनयुक्त नीतियों से (नः) हम सब को (नयति) ले जाता है ।

२१८-'नयतु विद्वान्' इति ऋ० ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[२१९] दूरादिहेव यत्सतोऽरुणप्सुरशिश्रितत्।
३ २ ३ १ २
वि भानु विश्वथाऽतनत् ॥ ६ ॥

भा०—(दूरात्) दूर (सत) विद्यमान रहकर भी परमेश्वर सूर्य के समान (यत्) जब (अरुणप्सु) प्रात कालिक प्रभा के समान कान्तिमान् (इह एव) यहां ही (अशिश्रितत्) चमकता है तब (भानु) कान्ति, प्रजा या दीप्ति को (विश्वथा वि अतनत्) सब ओर फैलाता है।

साधक की साधना की सिद्धि के लक्षण विशेष दीप्तियों का मस्तक पर विशेष रूप से चारों ओर दीखना ही है। जैसा लिखा है—

'व्यद्युतद् व्यद्युतदा न्यमीमीषद्' इत्यादि। कन उ०। तद्दूरे तदु अन्तिक इत्यादि। ईश उ०।

१ २ ३ १२ २२
[२२०] आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्।
३ १ २
मध्वा रजांसि सुक्रतू ॥७॥ ऋ० ३। ६२। १६ ॥

भा०—हे (मित्रावरुणौ) मित्र, वरुण, प्राण और अपान (घृतैः) दीप्तियों द्वारा (गव्यूतिम्) इन्द्रियों के मिलने के स्थान त्रिपुटीमार्ग को अथवा गायों के बाड़े के समान एकमात्र आश्रयस्थान आत्मा को (आ उक्षतम्) योगज आनन्द रसों से खूब सचन करो। हे (सुक्रतू) उत्तम प्रज्ञा और कर्म के सम्पादन करने हारे तुम दोनों! (नः) हमारे (रजांसि) रजोभाव से युक्त इन्द्रियों को अथवा हमारे लोकों को द्यौ और पृथिवी या दिन और रात्रि के समान (मध्वा) मधु अर्थात् विशेष चेतना या सवित्सिद्धि द्वारा (उक्षतम्) सेचन करो।

२१९—यत्स्यरुणप्सु', 'विश्वथातनत्' इति ऋ०।

२२०—१. मधु धनतेर्गतिकर्मण।

प्राण और अपान की साधना से त्रिपुटी में दीप्ति और इन्द्रियों में विशेष स्फूर्ति उत्पन्न होती है जिसको 'सवित् ज्ञान' कहते हैं।

[२२१] उदु त्ये सूनवा गिरः काष्ठा यहोष्वत्नत।
वाश्रा अभिज्ञु यातवे ॥८॥ ऋ० १ । ३७ । १० ॥

भा०—(त्ये) वे (गिरः सूनव) वाणी के उत्पादक मरुद्गण (यज्ञेषु) अपने निवासस्थान इन्द्रिय-स्थानों, कार्यव्यापारों में (काष्ठा) अपने जाने की दिशाओं, मार्गों पर इस प्रकार गमन करते हैं जैसे (वाश्रा) गौएं हमारे समय (यातवे) गति करने के लिये (अभिज्ञु) घुटने के प्रति झुककर (अनत) जाती हैं। यहां प्राणों के संचार का स्वरूप बतलाया गया है।

[२२२] इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पांसुले ॥९॥ ऋ० १।२२।१७। यजु०५।१५ ॥

भा०—(विष्णु) देह में सर्वव्यापक वह आत्मा (इदं) इस प्रकार (विचक्रमे) गति करता है कि (त्रेधा) तीन प्रकार से (पदम्[1]) अपनी शक्ति को (निदधे) स्थापन करता है। और (अस्य) इसकी वह शक्ति सामर्थ्य (पांसुले[2]) इन्द्रियों के शयन करने के स्थान देह में (समूढम्) उत्तम रूप से प्रकट है। परमात्मा पक्ष में—ईश्वर की शक्ति तीनों लोकों में है। 'पांसवो लोकाः'। इस ब्रह्माण्ड भर में उसकी शक्ति समूहित या व्याप्त है।

२२१—'अत्मेष्वत्नत' इति पाठः, ऋ०।

२२२—'पशुरे', 'पाशुरे' इति पाठः, य०।

१ पदं पद्यतेर्गतिकर्मणः।

२ पांसव इति वा, पंस्यन्त इति वा, पंस शयन इति वा (नि० १२।१८)

आत्मा की मेधा शक्ति अन्न से रस का ग्रहण इन्द्रिय से ज्ञान निष्पादन और देह में प्राण और रस का सचरण ।

इति तृतीया दशति । एकादश खण्ड ।

॥ ऋ० ४ ॥ ऋषि—१, ७, ८ मेधातिथि । २ वामदेव । ३, ५ मेधातिथिप्रियमेधौ । ४ विश्वामित्र । ६ कौरसो दुर्मित्र । ९ विश्वामित्रा गाथिनोऽभीपाद उत्लो वा । १० श्रुतकक्ष ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्द ॥ षड्ज स्वर ॥

[२२३] अतीहि मन्युषाविणं सुषुवांसमुपरय ।
अस्य रातौ सुत पिब ॥१॥ ऋ० ८ ३२ । २१ ॥

भा०—हे आत्मन् ! तू (मन्युषाविणं) क्रोध को उत्पन्न करने वाले भाव को (अति इहि) छोड़ दे । (सुषुवांसम्) उत्तम रूप से सचालन करने या उत्तम रस सम्पादन करने वाले के (उप ईरय) पास ही सदा स्वस्थ रूप से प्राप्त हो । (अस्य रातौ) उसके आनन्द की दशा में ही तू (सुत) उत्तम ज्ञान का (पिब) आस्वादन कर ।

[२२४] कद्व प्रचेतसे महे वचो देवाय शस्यते ।
तदिद्धयस्य वर्धनम् ॥ २ ॥

भा०—(महे प्रचेतसे) बड़े भारी ज्ञानवान् (देवाय) इष्टदेव के लिये (कद् उ) कुछ भी, तुच्छसा भी (वचः) वचन (शस्यते) स्तुति रूप में कहा जाय (तद् इत् हि) वह ही (अस्य) इस वक्ता के (वर्धनम्) वृद्धिकारक होता है ।

२२३—मन्युषारे', 'सम रात सुत पिब इति ऋ० ।

"अपुरप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्" गीता० । ईश्वर की निरंक थोड़ी आराधना भी आत्मा के बल को बढ़ाती है ।

[२२५] उक्थं च न शस्यमान नागोरयिराचिकेत ।
न गायत्रं गीयमानम् ॥३॥ ऋ० ८ । २ । १४ ॥

भा०—(अयि) सर्वव्यापक परमेश्वर (अगो) इन्द्रिय या वाणी रहित अज्ञानी का (शस्यमान) पढ़े हुए (उक्थं चन) स्तुतिपाठ का भी (न आचिकेत) क्या नहीं जानता ? और क्या (गीयमान) गाये गये (गायत्र) गायत्र साम का भी नहीं जानता ? जानता ही है वह उसको भी स्वीकार करता ही है ।

[२२६] इन्द्र उक्थेभिर्मन्दिष्ठो याजाना च वाजपति० ।
हरिवान्त्सुताना सखा ॥४॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! परमात्मन् ! (उक्थेभि) गुणकीर्तनों से (मन्दिष्ठ) प्रसन्न होने वाला (याजाना च) और ज्ञानसम्पन्न पुरुषों में (वाजपति) ज्ञानों का एकमात्र स्वामी (हरिवान्) इन्द्रिय आदि ज्ञानसाधनों से एवं ईश्वरपक्ष में—पञ्चभूत आदि प्रकृति विकारों से सम्पन्न तू (सुताना) निष्पादित कर्मों, ज्ञानों और उत्पन्न लोकों का (सखा) मित्र है ।

[२२७] आयाह्यप न० सुत याजभिर्माहृणीयथा ।
महाँ इव युवजानि ॥५॥

भा०—हे परम आत्मन् ! (न) हमारे (सुत) प्रस्तुत ब्रह्मानन्द रस या आत्मा रूप सोम के (उप आयाहि) समीप आइये, प्राप्त कीजिये । (याजभि) अर्चों, ज्ञानों और बलों से (मा हृणीयथा) हमें मत हटाइये ।

२२५—'मगोरिराचिकत' इति ऋ० ।

आप (महान्) बड़े वीर्यवान् सामर्थ्यवान् (युवजानि·) अपने प्रपौत्र को भी अपने समय देखने वाले वृद्ध के (इव) समान पूज्यतम हैं ।

'युवजानि —' जीवति तु वंश्ये युवा (पा० ४ । १ । १६३) शाल·ङ्कैर्युवापत्यं पुमान् इत्यादि व्याख्यानदर्शनाद्युवंमन्यालौकिकी शास्त्रसिद्धा च प्राचीनकालपरिचिता । जनरौणादिकोऽनिन् बाहुलकात् (उ० ४ । ९१ ।)

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[२७८] कदा वसो स्तोत्र हूयते वा अव शमशारुधद्वा ।
३ १ ३ २ ३ १ १
दीर्घं सुतं याताप्याय ॥ ६ ॥ ऋ० १० । १०५ । १ ॥

भा०—हे (वसो) सबके प्राणाधार सबमें बसने और सबको बसाने वाले ! (स्तोत्र हूयते·) स्तोत्र या वेदज्ञान का आहरण या लाभ करने वाले पुरुष के लिये तुम (कदा) कब (शमशा) शरीर के भीतर संचरण करने वाले (वा) जीवनरूप जल को (वा अवारुधद्) रोकते हो ? कभी नहीं । (दीर्घं) दीर्घ, लम्बा चौड़ा (सुतं) जीवन (यातापाय) प्राण को आयमन करने वाले का ही प्रदान करते हो ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[२२९] ब्राह्मणादिन्द्र राधस पिबा सोममृतूरनु ।
३ २ ३ १ १ २
तवेदं सख्यमस्तृतम् ॥ ७ ॥ ऋ० १ । १५ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ब्राह्मणात्) ब्रह्म को जानने हारे (राधस) साधना करने वाले विद्वान् के (सोम) ज्ञान और अन्नादि रस को (ऋतून् अनु) प्राणों और इन्द्रियों के साथ (पिब) तू पान कर । (तव) तेरा (इदं) यह (सख्यं) इन्द्रियों के या साधकों के साथ का मैत्रीभाव (अस्तृतम्) कभी नहीं टूटता ।

२२८-'आवरुधा' इति ऋ० । १. दम शरीर, (नि०)

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३०] वयं घा ते अपि स्मसि स्तोतार इन्द्र गिर्वणः ।
१ २
त्वं नो जिन्व सोमपा ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । ३२ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! हे परमात्मन् ! हे (गिर्वणः) एकमात्र वाणी द्वारा स्तुति करने योग्य ! (वयं) हम इन्द्रियगण और हम साधकगण (अपि) भी (ते इ) तेरे ही (स्तोतारः स्म) स्तुति करने वाले हैं । (त्वं) तू (सोमपा) सोम को पान करने हारा होकर (नः) हमें भी (जिन्व) तृप्त कर, हमें भी बलवान् कर । जो सम्बन्ध प्रजा का राजा से और साधकों का प्रभु से है वही इन्द्रियों का आत्मा से है ।

१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
[२३१] एन्द्र पृक्षु कासुचिन्नृमणं तनूषु धेहि नः ।
३ २ ३ १ २
सत्राजिदुग्र पौंस्यम् ॥ ९ ॥

भा०—हे आत्मन् ! हे (उग्र !) हे बलवन् ! (पृक्षु) तुझे स्पर्श करने वाल (कासु चित् तनूषु) किन्हीं देहों में (नः) हम (नृमणं) मनुष्यों के मनन करने योग्य ज्ञानरूप धन को (धेहि) धारण कर और करा । हे (सत्राजिद्) समस्त सत् पदार्थों पर विजय करनेहारे ! (कासुचित्) किन्हीं में (नः पौंस्य) हमें बल धारण करा ।

अर्थात् तू किन्हीं को ज्ञानी ब्राह्मण बनाता और किन्हीं को क्षत्रिय उत्पन्न करता है ।

३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १
[२३२] एवाँसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिरः ।
३ २ ३ १ २
एवा ते राध्यं मनः ॥ १० ॥ ऋ० ८ । ९२ । २८ ॥

२३०—'मघिष्मसि' इति ऋ० ।

भा०—हे इन्द्र आत्मन् ! क्योंकि तू (हि) निश्चय से (वीरयुः) सामर्थ्यवान् वीर को चाहने वाला (एव असि) ही है । और तू (शूर·) शूर और (स्थिर एव) स्थिर ही है, इसलिए (ते मन·) तेरी मननशील मति या ज्ञान भी (राध्यम् एव) आराधना या साधना करने योग्य ही है, अनुकरण करने योग्य है ।

इति चतुर्थी दशतिः । द्वादश खण्डः ।

इति द्वितीयोऽध्यायः ।

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

॥ ८० ५ ॥ ऋषि·—१, ६, ९ वसिष्ठ· । २ भरद्वाज· । ३ बालखिल्याः । ४ नोधा· । ५ कलि प्रागाथ । ७ मेधातिथि· । ८ भर्गः । १० प्रगाथ काण्वः ॥ देवता—१–८, १० इन्द्र· । ९ मरुत· । बृहती । मध्यमः ।

३ १ ३ ३ १ २ ३ १ २
[२३३] अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।
१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
ईशानमस्य जगत स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ १ ॥
ऋ० ७ । ३२ । २२ ॥

भा०—हे (शूर) शूर ! सर्वत्र व्यापक, हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (अस्य जगतः) इस जगत् के और (तस्थुषः) स्थावर संसार के भी (ईशानम्) सामर्थ्य देने वाले प्रभु (स्वर्दृशम्) आदित्य द्वारा सबको प्रकाशित करनेहारे या आदित्य के समान सबको समान भाव से देखनेहारे (त्वा) तुझको हम (अदुग्धाः धेनवः इव) न दुही गई, नई ब्याई हुई गौएं जिस प्रकार अपने वत्स को देखकर झुकती और हम्बाती हैं उसी प्रकार (नोनुमः) आदर से, प्रेम से देखते, झुकते और स्तुति करते हैं ।

[२३४] त्वामिद्धि हवामह सातौ वाजस्य कारव ।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वत ॥ २ ॥
ऋ० ४ । ४६ । २ ॥

भा०—हे (इन्द) ऐश्वर्यवन् ! (वाजस्य सातौ) धन, अन्न ज्ञान और बल के विभाग और प्राप्ति के अवसर पर (त्वाम् इत् हि) तुझको ही हम (कारव) स्तुतिकर्त्ता लोग (हवामहे) स्मरण करते, पुकारते हैं। (वृत्रेषु) विघ्न के अवसरों पर (सत्पतिं) सज्जनों के प्रतिपालक (त्वा) तुझको ही याद करते हैं। (अर्वत) गतिशील सूर्य आदि पदार्थों के (काष्ठासु) सीमाएं नियत करने के लिये अथवा ज्ञान शील भोक्ता इन्द्रियों की भोग मर्यादाओं को सीमित करने के लिये (नर) विद्वान् लोग तेरा ही स्मरण करते हैं।

[२३५] आभि प्र व सुराधसमिन्द्रमर्चा यथा विदे ।
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसु सहस्रेणेव शिक्षति ॥३॥
ऋ० ८ । ४६ । १ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (व) आप लोग (सुराधसम्) उत्तम ज्ञान रूप धनसम्पन्न (इन्द) परमेश्वर को (यथा) यथार्थ रूप से (विदे) जानने के लिये (अभि प्र अर्चे) उसकी अच्छी प्रकार उपासना करो। (य) जो (मघवा) धन यज्ञादि से सम्पन्न (पुरुवसु) अति धनाढ्य, या सब शरीरों में व्यापक रहकर (सहस्रेण इव) मानो हज़ारों प्रकारों से (शिक्षति) शिक्षा देता है और ऐश्वर्य प्रदान करता है।

[२३६] न यो दस्ममृतीषह वर्षोमन्दानमन्धस ।
अभि वत्स न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामह ॥ ४ ॥
ऋ० ८ । ८८ । १ ॥

२३४—'सातौ' इति क० ।

भा०—(वः) आपके (दस्मं) बाधक, शत्रुओं का नाश करने वाले, (अतिसहं) बाधाओं को दूर करने वाले, (वसोः) शरीर में आत्मा के वास कराने वाले, सबमें बसने वाले (अन्धस) प्राण धारण कराने वाले अन्नरस को प्राप्त करके (मन्दान) अत्यन्त प्रसन्न होने वाले (इन्दं) आत्मा को (स्वसरेषु) अपने २ देहों में हम इन्द्रियगण और विद्वान्जन उसी प्रकार (अभि नवामहे) स्तुति करते हैं जिस प्रकार (धेनव) नवप्रसूता गौएं (वत्सं न) बछड़े के प्रति हम्भारती हैं।

१ २ ३, २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२३७] तरोभिर्वो विदद्वसुमिन्द्रं सबाध ऊतये।
३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २
बृहद्गायन्तः सुतसोमे अध्वरे हुवे भरं न कारिणम् ॥५॥
ऋ० ८। ६६। १॥

भा०—हे इन्द्रियगण ! हे साधकजनो ! (वः) तुम्हारे (तरोभिः) वेगों, गतियों द्वारा (विदद्वसुम्) ज्ञान के प्राप्त करने हारे (सबाधः) आप लोग जब पीड़ा सहित हों तो (ऊतये) अपनी रक्षा के निमित्त (बृहद्) बृहत्साम द्वारा (इन्द्रम्) इस ऐश्वर्यवान अपने प्रभु का (गायन्तः) कीर्त्तन करते हुए (सुतसोमे अध्वरे) सोम निष्पादन करने योग्य याग में जिस प्रकार (कारिणं भरं न) ऋत्विग् लोग अपने पोषण-कर्त्ता यजमान को बुलाते हैं उसी प्रकार बुलाया करो, उसका स्मरण किया करो।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[२३८] तरणिरित्सिषासति वाजं पुरन्ध्या युजा।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २
आ व इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरा नेमिं तष्टेव सुद्रुवम् ॥ ६॥
ऋ० ७। २२। २०॥

भा०—(तरणिः) अति वेगवान् या संसार से तराने वाला, आत्मा (पुरन्ध्या) देहरूप पुर को धारण करने हारी बुद्धि को (युजा) अपना

साथी बना कर, समाधि द्वारा (वाज) अन्न आदि कर्म फल और ज्ञान ऐश्वर्य का (सिषासति) ठीक प्रकार से विवेक करता है। (तष्टा इव) जिस प्रकार बढ़ई (सुदुव) उत्तम गति करने योग्य (नेमिं) चक्र के हाल का झुकाता है। उसी प्रकार हे इन्द्रियगण ! मैं साधक (पुरुहूत) प्रत्यक देह में बल सचार करन वाल (व इन्दम्) तुम्हारे स्वामी आत्मा को (गिरा) वेद की ऋचा एव स्तुति से (आ नमे) अपने प्रति झुकाता हू। यह आत्मा के मनोवेग का लक्ष्य करके कहा है।

[२३९] १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
धिया सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमत ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २
आपिर्नो बोधि सधमाद्ये वृधेऽस्माँ अवन्तु ते धिय ॥७॥
ऋ० ८ । ३ । १ ॥

भा०—(इन्द) हे आत्मन् ! (न) हम इन्द्रियों के (गोमत) अपनी गति से सम्पादित (रसिन) भोग या ज्ञान के सुख या बल से सम्पन्न (सुतस्य) उत्पादित ज्ञान का (धिय) पान कर, उपभोग कर (मत्स्व) और प्रसन्न और तृप्त हो। (न) हमारे (सधमाद्ये) एक ही साथ आनन्द भोग करने के स्थान, शरीर में (आपि) बन्धु के समान हमें सदा प्राप्त होकर तू (न) हमें (बोधि) ज्ञानवान् कर। (त धिय) तेरी ज्ञानमय वृत्तियां (वृधे) और भी अधिक उन्नति, वृद्धि के लिये (अस्माँ) हमें (अवन्तु) रक्षा करें।

२ ३ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २
[२४०] त्व हीदि चेरवे विदा भग वसुत्तये ।
१ २ २ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
उद्वावृषस्व मघवन् गविष्टय उदिन्द्राश्वमिष्टये ॥ ८ ॥
ऋ० ८ । ६१ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द) आत्मन् ! तू (चेरवे) तेरी सेवा परिचर्या करन हारे अपन सवक के पास (आ इहि) आ, साक्षात् हो। और (वसुत्तये)

२३९—'सधमाद' इति ऋ० ।

सुख से प्राण धारण करने योग्य वसु या प्राणों का दान करने के लिये (भगं) भजन या सेवन करने योग्य ऐश्वर्य, या सेवने योग्य प्रभु को (विद्म) प्राप्त कर, उसका ज्ञान कर । हे (मघवन्) शक्तिमन् ! (गविष्टय) इन्द्रियों के इष्ट साधन करने के निमित्त (उद् वावृधस्व) उत्तम रीति से सुखों की वृद्धि कर । (उत् अश्वम् इष्टये) और इन्द्रियों में व्याप्त जो भोक्ता रूप आत्मा, अश्व है उसके भले के लिये भी उत्तम रीति से बल दान कर ।

[२४१] न हि वश्चरम चन वसिष्ठ परि मंसते ।
असाकमद्य मरुतः सुते सचा विश्वे पिबन्तु कामिन ॥६॥

ऋ० ७ । ५९ । ३ ॥

भा०—(वसिष्ठ) मुख्य प्राण (व) तुम इन्द्रियों में से (चरम चन) अन्तिम का भी (न हि) नहीं (परिमंसते) तिरस्कार करता । हे (मरुत) इन्द्रिय मार्गों में विचरण करने वाले प्राणो ! (अस्माक सुते) हमारे उत्पन्न किये हुए ज्ञानरस में (विश्वे कामिन) सब अपने रसपान की कामना करने वाले आप लोग (सचा) एक साथ (पिबन्तु) आनन्दामृत का पान करो । इसका विवरण देखो बृहदा० उप० (अ० ६ । १) में वसिष्ठ प्राण का प्रकरण । अथवा—(वसिष्ठ) परमेश्वर (चरमं चन नहि परिमसते) सबसे पिछड़े हुए का भी अनादर नहीं करता । हे (मरुत) मनुष्यो ! (अस्माकम् कामिन) हममें से जो भी परम रस के अभिलाषी हैं वे (विश्वे सचा पिबन्तु) सब आकर समाहित होकर आनन्द रस का पान करें ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥ (गीता)

२४१—'पिबन्त कामिनः' इति ऋ० ।

१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
[२४२] माचिदन्यद्विशंसत सखायो मा रिषण्यत ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥१०॥

ऋ० ८ । १ । १ ॥

भा०—हे (सखाय) मित्रो ! (अन्यत् चित्) और कुछ वस्तु का (मा विशंसत) स्तुति मत करो । (मा रिषण्यत) व्यर्थ के जाल में अपना नाश मत करो, खिन्न मत होओ । (इन्द्रम् इत्) आत्मा, परमात्मा का ही (स्तोत) स्तुति करो । (सुते) उत्पादित ज्ञानयज्ञ या आनन्द में या (सचा) एकसंग (वृषणम्) सबसे श्रेष्ठ आत्मा के प्रति (मुहुः) बार बार (उक्था च शंसत) वेद के सूक्तों का गान करो ।

इति पञ्चमी दशति । प्रथम खण्ड ।

ऋषि—१ आङ्गिरस पुरुहन्मा । २, ३ मधुच्छन्दा वैश्वामित्र । ४ विश्वामित्र । ५ गौपवन । ६ नृमेधपुरुमेधौ । ७, ८, ९ मेध्यातिथि । १० देवातिथि काण्व ॥ इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

मध्यम स्वर ॥

१ ३ १२ ३२ २ २ ३ १२ ३ १ २
[२४३] नकिष्ट कर्मणा नशद्यश्चकार सदावृधम् ।
३ २ ३२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १२ २२
इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्णुमोजसा ॥१॥

ऋ० ८ । ७० । ३ ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (यज्ञैः) यज्ञों द्वारा अपने को (विश्वगूर्तम्) सबसे प्रशंसित, (ऋभ्वसम्) ज्ञान सम्पन्न (ओजसा) अपने तेज से (अधृष्टम्) किसी से न पराजित होने वाले (धृष्णुम्) विपत्तियों का धैर्य से सहने वाले (इन्द्रम् न) राजा के समान (कर्मणा) कर्म द्वारा

२४३ 'धृष्वीतमम्' इति ऋ० ।

अपने को (सदावृधम्) सदा उन्नति-मार्ग पर बढ़ाने वाला (चकार) बना लेता है (तं) उसको (नकिः नशद्) कोई नाश नहीं कर सकता ।

[२४४] य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः ।
सन्धाता सन्धिं मघवा पुरूवसुर्निष्कर्ता विह्रुतं पुनः ॥२॥

ऋ० ८ । १ । १२ ६

भा०—(यः) जो आत्मा (अभिश्रिषः) आश्लेषण करने वाले द्रव्य के (ऋते चित्) बिना ही (पुरा) पूर्व ही (जत्रुभ्यः) जीवों के (आतृदः) अलग २ हुए अङ्गों के भी (सन्धिम्) जोड़ों को (संधाता) जोड़ता है वह (पुरुवसुः) समस्त देहों में रहने वाला (मघवा) जीवन यज्ञ का स्वामी आत्मा (विह्रुतम्) शस्त्र से कटे को भी (पुनः) फिर २ (निष्कर्ता) खूब अच्छी तरह से वैसा ही बना देता है । इस रहस्य का स्पष्टीकरण देखो ब्राह्मणों के प्रति याज्ञवल्क्य का प्रश्न (बृह० उप० अ० ३। ब्रा० ९ । क० २८) और (अथर्ववेद का० ११ । सू० १८ । मं० ११-१४)

[२४५] आ त्वा सहस्रमाशतं युक्ता रथे हिरण्यये ।
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये ॥३॥

ऋ० ८ । १ । २४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! परमेश्वर ! (हिरण्यये) एक शरीर से दूसरे शरीर में ले जाने योग्य आत्मा से युक्त (रथे) रथ में, देह में (युक्ताः) लगे हुए (आ सहस्रम्) हजारों और (आ शतम्) सैकड़ों (ब्रह्मयुजः) ब्रह्म=अन्न की पोषक शक्ति से जुड़े हुए अथवा (ब्रह्मयुजः) ब्रह्म को समाहित चित्त से साक्षात् करने वाले (केशिनः) ज्ञानतन्तुओं

२४४–'ष्कर्ता विह्रुत' इति ऋ० ।

से सम्पन्न ज्ञानी (हरय) हरण करने वाले घोड़ों के समान प्राणगण एवं विद्वानजन (सोमपीतय) सोमरस का पान करने के लिये (त्वा) तुझको (वहन्तु) वहन, धारण करें ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[२४६] आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः ।
३ २ ३ १ २ ३ २ उ ३ २ उ ३ १ २ ३ १ २
मा त्वा केचिन्नियेमुरिन्न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि ॥४॥
ऋ० ३ । ४५ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्[1] (मन्द्रै) अत्यन्त प्रशंसा योग्य उत्तम हर्ष के देने वाले (मयूररोमभिः) मोर के रोमों के समान रोमों तथा नीलवर्ण विद्युत् कान्ति से सम्पन्न ज्ञानतन्तुओं से युक्त, (हरिभिः) अनुभवों को तुझ तक पहुंचाने वाले ज्ञानसाधनों को (याहि) प्राप्त हो । (त्वा) तुझ को (कश्चित्) कोई भी (पाशिन न) जाल वाले लोगों के समान बन्धनकारी प्रलोभन (न नियमुः) न बांध लें । और तू (तान्) उनको (धन्वा इव) धनुधारी के समान (अति इहि) अतिक्रमण कर । राजा के पक्ष में स्पष्ट ही है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२४७] त्वमङ्ग प्रशंसिषो देव शविष्ठ मर्त्यम् ।
२ उ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥५॥
ऋ० १ । ८४ । १६ ॥

भा०—(अङ्ग) हे (इन्द्र) आत्मन्[1] (त्वं) तू (देव) स्वयं सब का प्रकाशक होकर भी हे (शविष्ठ) सब गतिमान् और शक्तिमान् पदार्थों और ज्ञानवानों में श्रेष्ठ ! (मर्त्यम्) मरणधर्मा देह को (प्र शंसिषः) प्रशंसा योग्य उत्तम चेतन बनाता है । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन्[1] (त्वदन्यः) तेरे से दूसरा कोई (मर्डिता) सुख का देने हारा (न अस्ति) नहीं है ।

इसलिये (ते) तेरी ही (वच.) स्तुतिपरक वाणी को मैं (ब्रवीमि) कहता हूं।

[२४८] त्वमिन्द्र यशा ऋस्यृजीषी शवसस्पतिः।
त्वं वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक इत्पुरुनुत्तश्चर्षणीधृतिः ॥६॥
ऋ० ८। ९०। ५॥

भा०—हे (इन्द) आत्मन्! (त्वं) तू (ऋजीषी) ऋजु, कुटिलता रहित मार्ग में अपने भक्तों को प्रेरणा करने वाला, (शवसस्पतिः) बल का स्वामी, शक्तिमान्, (यशा. असि) यश स्वरूप है। (त्व) तू (एक इत्) अकेला ही (पुरु-अनुत्त) देहों में बिना किसी से प्रेरित होकर स्वतन्त्र रूप से, (चर्षणीधृतिः) स्वत. सब मनुष्यों में धारक प्रयत्न होकर (अप्रतीनि) न दबने वाले (वृत्राणि) विघ्नों को (हंसि) नाश करता है।

[२४९] इन्द्रमिद्देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे।
इन्द्रं समीके वनिनो हवामहे इन्द्रं धनस्य सातये ॥७॥
ऋ० ८। ३। ५॥

भा०—(देवतातये) देव, विद्वानों एवं इन्द्रियों की भलाई के लिये (इन्दम् इद्) आत्मा या ईश्वर को ही हम (हवामहे) पुकारते हैं। (अध्वरे प्रयति। हिंसारहित यज्ञ के प्रारम्भ होने पर भी (इन्द्र) परमात्मा को हम पुकारते हैं, (समीके) समान रूप से ध्यान, विचार, ज्ञान गति करने के अवसर पर या संग्राम में हम (वनिनः) सब भक्तजन (इन्द्र) उस ईश्वर को ही राजा के समान स्मरण करते हैं और (धनस्य सातये) धन के विभाग और प्राप्त करने के लिये भी (इन्द्र) ईश्वर को (हवामहे) आह्वान करते हैं।

'२४८-'एक इन्नुत्तश्चर्षणीधृता' इति ऋ०।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२५०] इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २
पावकवर्णा शुचयो विपश्चिताऽभिस्तोमैरनूषत ॥८॥

ऋ० ८ । ३ । ३ ॥

भा०—हे (पुरूवसो) बहुत ऐश्वर्य वाले एवं बहुत लोकों को बसाने और उनमें बसने वाले ईश्वर ! (मम) मेरी (या.) जो (इमा गिर) ये वाणियां (त्वा) तुझको (वर्धन्तु) बढ़ाती हैं प्रसिद्ध करती हैं और (पावकवर्णा) सबको अपने तेज से पवित्र करनेहारे, ईश्वर का वर्णन करने वाले (शुचय) शुद्ध चित्त वाले (विपश्चित) कर्म और प्रज्ञा का संचय करने हारे विद्वान् लोग (त्वा) तुझको (स्तोमै) स्तुति-मन्त्रों से (अभि अनूषत) साक्षात् स्तुति करते हैं ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[२५१] उदु त्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
सप्ताजिना धनसा अक्षितोतय वाजयन्तो रथा इव ॥९॥

ऋ० ८ । ३ । १० ॥

भा०—(त्ये) वे (मधुमत्तमा) ब्रह्मविद्या से सम्पन्न (गिर.) वेदमन्त्र और (स्तोमास) स्तुतिमन्त्र (सप्ताजित) सप्त कर्मों पर विजय पाते हुए, (अक्षितोतय) अक्षय बलशाली (वाजयन्त) ज्ञान से सम्पन्न, वेगवान् (रथा इव) रथों के समान (धनसा) धनों को प्राप्त कराते हुए (उत् ईरते) उत्पन्न होते हैं, ऊपर आते हैं, प्रकट होते हैं ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[२५२] यथा गौरो अपाकृतं तृष्यन्नेत्येषि रण्यम् ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
आपित्वे न प्रपित्वे तूयमा गहि कण्वेषु सु सचा पिब ॥१०॥

ऋ० ८ । ४ । ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (गौर) गौर मृग या इन्द्रियों के पीछे भागने वाला व्यसनी पुरुष (तृष्यन्) प्यासा, तृष्णा से सताया हुआ (अपाकृतम्) जल से या रस से भरे (हरिणम्) जलाशय या भोगपदार्थ के प्रति (एति) जाता है। उसी प्रकार हे (इन्द्र आगन्) आप (न आपित्वे प्रपित्व) हमारी बन्धुता को प्राप्त करने पर (कण्वसु) मेधावी पुरुषों में (तूय) शीघ्र ही (आगहि) प्राप्त हो और (सचा) साथ ही (सु पिब) उत्तम रूप से सोमरस का पान कर।

इति षष्ठी दशतिः । द्वितीयः खण्डः ॥

॥ द० ७ ॥ ऋषि—१ भग । २ रेभ काश्यप । ३ जमदग्नि । ४ ९ मेधातिथि । ५, ६ नृमेधपुरुमेधौ । ७ वसिष्ठ । ८ रेभ । १० भरद्वाज ॥

देवता—१ २, ४—१० इन्द्र । ३ आदित्या ॥

बृहती छन्द ॥ मध्यम स्वर ॥

[२५३] शग्ध्यूऽषु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः ।
भग न हि त्वा यशस वसुविदमनु शूर चरामसि ॥१॥

ऋ० ८ । ६१ । ५ ॥

भा०—हे (शचीपत) सब शक्तियों और प्रज्ञाओं के पालक ! हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (विश्वाभि) सब प्रकार की (ऊतिभि) शक्तियों से (उ सु शग्धि) तू हमारी इष्ट पूर्ति कर। हे (शूर) शूर ! (वसुविद) प्राणों के प्राप्त करने, कराने और जानने हारे, (यशस) इन्द्रियों के वीर्यस्वरूप, एवं यशस्वी (भग न) ऐश्वर्य के समान (त्वा) तेरे (हि) ही (अनु चरामसि) हम अनुकूल चलते हैं। इन्द्रियों की आत्मा के प्रति और भक्तों की ईश्वर के प्रति उक्ति है।

१ २ ३ २ ३ १ २८ २१ ३ १ २
[२५४] या इन्द्र भुज आभर स्वधा असुरेभ्यः ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ २ १ २
स्तोतारमिन्मघवन्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्तबर्हिषः ॥२॥

अ० ८ । ९७ । २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! परमेश्वर ! (याः भुजः) जिन भोग करने योग्य शक्तियों को (असुरेभ्य) असुररूप प्राणों से तू (आभरः) प्राप्त करता है (स्वर्वान्) सुख और प्रकाश से युक्त है (मघवन्) यज्ञ के स्वामिन् ! तू (अस्य) इसके द्वारा (स्तोतारम् इत्) अपने यथार्थ गुण कथन करने वाले को ही (वर्धय) बढ़ा और (ये च) जो (त्वे) तेरे लिये ही (वृक्तबर्हिषः) अपना यज्ञ फैला कर बैठे हैं या तेरे में लीन होने के लिये अपने देह का बन्धन काट चुके हैं उनको बढ़ा । आत्मा प्राणों के बलों से साधक को ही आनन्द देता है और शक्ति को बढ़ाता है । राजा भी जिन ऐश्वर्यों को दुष्ट पुरुषों से छीन के लावे उससे वह विद्वानों को और गृहस्थों को बढ़ावे ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २८ २१
[२५५] प्र मित्राय प्रार्यम्णे सचथ्यमृतावसो ।
३ २ १२ ३ २ ३ १ २ ३१२ २१
वरूथ्येऽवसे घृन्यं वचः स्तोमं राजसु गायत ॥ ३ ॥

अ० ८ । १०१ । ५ ॥

भा०—हे (ऋतावसो) सत्य ज्ञान में ही वास करनेहारे आत्मन् ! (मित्राय) अपने हृदय के स्नेही के लिये (प्र गायत) उत्तम गान करो । (अर्यम्णे) न्यायकारी और अन्तर्यामी, (वरूथ्ये) अपने गृहस्वरूप देह के हितकारी (वरुणे) सब विघ्नों के निवारक (राजसु) तेजस्वी राजाओं में स्वच्छन्दता से विचरने वाले राजा के समान (राजसु घृन्यं) तेजस्वी पदार्थों में सूर्यवत् प्रकाशक परमेश्वर, या प्राणों में व्यापक आत्मा को लक्ष्य करके (घृन्यं) वेदानुसार (स्तोमं) स्तुतिकारक (सचध्यं) सेवन करने

योग्य, हृदयग्राही (वचः) स्तुति वचन का (प्र गायत) उत्तम रूप से गान करो ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २

[२५६] अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः ।

३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

समीचीनास ऋभवः समस्वरन्रुदा गृणन्त पूर्व्यम् ॥४॥

अ० ८ । ३ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द) आत्मन् ! (आयवः) दीर्घ जीवन की कामना करने वाले मनुष्य (पूर्वपीतये) पूर्ण जीवन का रसपान करने के अभिप्राय से (त्वा) तुझको (स्तोमेभिः) वेद के स्तोत्रों द्वारा (अभि) साक्षात् ज्ञान करते हैं । (समीचीनासः) सम्यक् दृष्टि से सम्पन्न (ऋभवः) प्राणविद्या के वेत्ता, ज्ञानी लोग (त्वाम् समस्वरन्) तुझको प्राणरूप से साधते एवं स्तुति करते हैं । और (रुदाः) ज्ञान के उपदेष्टा विद्वान्जन अथवा प्राणगण भी (पूर्व्यं) पुरातन या पूर्ण या सबसे पूर्व पूजनीय तुझको ही (गृणन्ते) स्तुति करते हैं ।

३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २

[२५७] प्र च इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २-३ १ २ ३ १ २

वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा ॥ ५ ॥

अ० ८ । ८६ । ३ ॥

भा०—हे (मरुतः) प्राणो ! वा विद्वानो ! (यः) आप लोग (बृहते इन्द्राय) बड़े सामर्थ्यवान् आत्मा के लिये (ब्रह्म अर्चत) वेद द्वारा स्तुति करो । अथवा उस महान् आत्मा के साक्षात् के लिये अन्न और बल को प्राप्त करो या (ब्रह्म) ब्रह्म परमेश्वर की उपासना करो । वह (शतक्रतुः) सैकड़ों कर्मों और प्रज्ञाओं का स्वामी (शतपर्वणा वज्रेण) सैकड़ों पालनकारी, पर्व वाले ज्ञानवज्र द्वारा (वृत्रहा) विघ्नों का नाश करने हारा (वृत्रं हनति) आवरणकारी मेघ को सूर्य के समान और शत्रु को राजा के समान अज्ञान या पाप का नाश करता है ।

३ १२ २१ ३ १ २ ३१ २
[२५८] बृहदिन्द्राय गायत मरुतो बृत्रहन्तमम् ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १२
येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय जागृवि ॥ ६ ॥
ऋ० ८ । ८६ । १ ॥

भा०—(मरुतः) हे प्राणगण ! हे विद्वान् पुरुषो ! (वृत्रहन्तमम्) वृत्र=अज्ञान, पाप का नाश करने में सबसे श्रेष्ठ साम का (बृहत् इन्द्राय) बड़े भारी इन्द्र के लिये (गायत) गान करो । (येन) जिससे (ऋतावृधः) सत्य ज्ञान को बढ़ाने वाले विद्वान् लोग (देवाय) परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (देवं) प्रकाशमान (जागृवि) सदा जागे रहने वाले, अमर (ज्योतिः) प्रकाश को (अजनयन्) प्रकट करते हैं ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ २
[२५९] इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रभ्यो यथा ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ १२
शिक्षा णो अस्मिन पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि७
ऋ० ७ । ३२ । २६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! परमात्मन् ! (यथा) जिस प्रकार (पिता) पिता (पुत्रेभ्यः) अपने बेटों के लिये धन और विद्या आदि देता है उसी प्रकार (नः) हमारे लिये (क्रतुं) प्रज्ञा को (आ भर) प्राप्त कराओ । हे (पुरुहूत) प्रजाओं द्वारा स्मरण किये गये राजा के समान आत्मन् ! परमेश्वर ! (यामनि) इस ब्रह्ममार्ग में (नः) हमें (शिक्ष) शिक्षा दो । हम (जीवाः) जीवगण (ज्योतिः) ज्ञानमय ज्योति को (अशीमहि) प्राप्त करें ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२६०] मा न इन्द्र परावृणग्भवा नः सधमाद्यः ।
१ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
त्वं न ऊती त्वमिन्न आप्यं मा न इन्द्र परावृणक् ॥ ८ ॥
ऋ० ८ । ६० । ७ ॥

२६०—'सधमाद्यः' इति ऋ० ।

भा०—हे (इन्द) आत्मन् ! (न) हमें (मा परावृणक्) कभी परित्याग मत कर । (न) हमारे (सधमादे) एक संग आनन्द प्राप्त करने के स्थान यज्ञ, देह आदि स्थानों में (भव) हमारे संग रह । (त्वं) तू (न) हमारी (ऊती) एकमात्र रक्षा है । और (त्वम् इत्) तू ही (न आप्यम्) हमारा एकमात्र प्राप्त करने योग्य उद्देश्य, लक्ष्य है । तू (न) हमें (मा परा-वृणक्) कभी मत त्याग ।

यह इन्द्रियों का आत्मा के प्रति और भक्तों का भगवान् के प्रति वचन है । देखो बृह० अ० ६ । ब्रा० १ । ' ते प्राणा ह्येतुर्मां भगव उत्क्रमी. न शरीरमसंवृते जीवितुमिति" ।

३ १ २ ३ १ १ ३ २ ३ २ ३ १ २
[२६१] यय घ त्वा सुताव॑न्त आपो न वृक्तबर्हिष ।
३ १ २ ३ १ २ ३१ २ ३ १ २
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु घृत्रहन् परि स्तातार आसते ॥६॥
ऋ० ८ । ३३ । १ ॥

भा०—(यय) हम प्राणगण या भक्तजन (सुतावन्त) अपने कर्मफल प्राप्त करके या ज्ञान सम्पादन करके वृक्तबर्हिष) बर्हि अर्थात् जीवनयज्ञ को समाप्त कर या ज्ञान द्वारा देह के बन्धन को काट कर (आप इव) अपने तट बन्धनों को तोड़कर बहने वाले जलों के समान (पवित्रस्य) वेद के पवित्र ज्ञान के (प्रस्रवणेषु) प्रवाहों के तटों पर, हे (वृत्रहन्) अज्ञान के अन्धकारावरणों को छिन्न भिन्न करनेहारे देव ! तेरे (स्तोतार) सत्य गुणों का गान करने हारे (आसत) बैठे हैं ।

प्राणों का ज्ञानमय स्तोता के रूप में बैठने का अलंकार देखो—
(बृहदा० उप० अ० २ । ब्रा० २ । ३ ।) ' तस्यासत ऋषय सप्त तीरे वाग् अष्टमी ब्रह्मणा संविदाना" ।

वच) जिस प्रकार वेदवचन का आदेश है उसी प्रकार (गिरा) वेद की ऋचा द्वारा (गाय) स्तुति करो ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[२६६] इन्द्र त्रिधातु शरण त्रिवरूथ स्वस्तये ।
३ १ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्य च यावया दिद्युमस्मत् ॥ ४ ॥

ऋ० ६ । ४६ । ९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (मघवद्भ्य) यज्ञ करने हारे ऐश्वर्य और विभूतिमान् अथवा निष्पाप कर्मों वाले साधकों और (मह्य च) मेरे लिये (त्रिधातु) वात, पित्त, कफ तीन धातुओं से बने, (त्रिवरूथ) तीनों दोषों का वारण करने हारे (शरण) देह के (स्वस्तये) कल्याण के निमित्त (यच्छ) प्रदान कर । (अस्मत्) उक्त कर्मठ पुरुषों की ओर से (दिद्युम्) वज्रस्वरूप (छर्दि) आच्छादक बन्धन को (यावया) हटा ।

१ २ ३ २ ३ १२ २१
[२६७] श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत ।
१ २ ३१२ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३१२ २१
वसूनि जाते जनिमान्योजसा प्रतिभाग न दीधिम ॥५॥

अथर्व० ८ । ९० । ३ ॥

भा०—(सूर्यं इव) सूर्य के समान सब के प्रेरक आत्मा का (श्रायन्त) आश्रय लेते हुए (विश्वा) समस्त (जाता) उत्पन्न हुए और (जनिमानि) आगे उत्पन्न होने हारे (वसूनि) प्राणी सब (इन्द्रस्य इत्) उस ऐश्वर्यवान् परमेश्वर के ही दिये ऐश्वर्य का (भक्षत) भोग करें । इस कारण उसके ही (ओजसा) बल से हम (भाग न) प्राप्त दायभाग के समान उसको (प्रति दीधिम) समझें ।

२६७—'वसूनि जाते जनिमान', 'दीधिम' इति ऋ० ।

[२६८] न सीमदेव आप तदिष दीर्घायो मर्त्यः ।
एतग्वा चिद्य एतशा युयोजत इन्द्रो हरी युयोजते ॥६॥
ऋ० ८ । ७० । ७ ॥

भा०—हे (दीर्घायो) नित्य आत्मन् ! (अदेवः) इष्टदेव से रहित (मर्त्यः) मरणधर्मा मनुष्य (तत्) उस परम (इषम्[1]) सबके अभिलाषा के योग्य लक्ष्य को (न आप) नहीं प्राप्त करता । अथवा—(अदेवः मर्त्यः इषं न आपतत्) ईश्वर को छोड़ कर मनुष्य अपने अभिलाषित अन्न के समान भोग्य पदार्थ या इष्टलोक को भी नहीं पहुंचता । अथवा—माधव के मत से-(इष न आपतत्) अपने गन्तव्य परम पद या मार्ग को नहीं चल सकता । (एतग्वा[2]) अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये अश्व आदि साधनों से युक्त पुरुष जिस प्रकार (एतशः) अपने घोड़ों को (युयोजते)रथ में लगाता है और राह पर डाल देता है । उसी प्रकार सबको सन्मार्ग पर लेजाने वाला (इन्द्रः) महान् ऐश्वर्यशील परमात्मा ही (हरी) उसके घोड़ों को (युयोजते) ठीक मार्ग पर ले जाता है ।

'भगवान् के आश्रय से ही सीधा मार्ग और इष्ट फल मिलता है, नहीं तो आदमी भटक जाता जाता है ।

[२६९] आ नो विश्वासु हव्यमिन्द्र समत्सु भूषत ।
उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहन् परमज्या ऋचीषम ॥७॥
ऋ० । ९० । २ ॥

२६८—'हरी इन्द्रो युयोजते', 'आपतदिष' इति 'य एतशा' इति ऋ० । आप तद् इषम् । इति पाठः सायणसम्मतः आप तद् इषमिति (तु० सा०) 'आप तद् ईषम्' इति मा० वि० ।

१. ईषतिर्गतिकर्मा (नि० २ । १४ ।) २ प्राप्तगन्तव्याः, इति (मा० वि०)

२६९—'इन्द्र इन्द्रः', 'भूषतु', 'वृत्रहा', ऋचीषमः' इति ऋ० ।

भा०—(विश्वासु) सब (समसु) एकत्र आनन्द उत्सवों में (न) हमारा (इव्य) स्तुतिवचन (इन्दम्) उस ईश्वर को (आ भूषत) सु भूषित करे, उसका गुणगान करे । हे (वृत्रहन्) विघ्ननिवारक ! सब से अधिक शत्रुओं का नाश करने हारे, हे (ऋचीषम) सब स्तुतियों में समानरूप से विद्यमान ईश्वर ! (ब्रह्माणि) वेदस्तवन और वैदिक कर्म (सवनानि) यज्ञ यागादि सब उपासना कर्म तुझको ही (उप भूषत) शोभा देते हैं ।

[२७०] तवेदिन्द्रावमं वसु त्व पुष्यसि मध्यमम् ।
सत्रा विश्वस्य परमस्य राजसि नकिष्ट्वा गोषु वृण्वते॥८॥
ऋ० ७ । ३२ । १६ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (अवमं) सबसे नीचे का (वसु) बसने योग्य पृथिवी लोक भी (तव इद्) तेरा ही है । (त्व) तू (मध्यम वसु) बीच के लोक, अन्तरिक्ष लोक को भी (पुष्यसि) पोषण करता है । और तू आप (परमस्य) सब से उत्कृष्ट (विश्वस्य) संसार में (राजसि) प्रकाशमान है । अथवा—हे आत्मन् ! (अवम वसु) निकृष्टतम प्राणि तेरा ही विकास है । (मध्यम) मध्यम श्रेणी के प्राणी को भी तू ही पुष्ट करता और (परमस्य) उच्च कोटि के प्राणी में भी तू ही प्रकाशित है । (त्वा) आपको (गोषु) समस्त गतिशील योनियों, लोकों, और आत्मपक्ष में—इन्द्रियों में से भी (नकि) कौन नहीं (वृण्वते) वरण करता ? अर्थात् सभी चाहते हैं । अथवा— नकि) कोई भी तुझे (न वृण्वते) नहीं रोकता। तेरी शक्ति सर्वत्र व्यापक है ।

[२७१] क्वयय क्वदसि पुरुत्रा चिद्धि ते मन. ।
अलर्षि युध्म खजकृत्पुरन्दर प्र गायत्रा अगासिषु ॥९॥
ऋ० ८ । १ । ७ ॥

भा०—हे (पुरन्दर) हे देहरूप अपने पुरी को अपनी शक्ति से विदारण करने हारे आत्मन् ! (क इथ) तू कहां २ गति करता है ? (क इत् असि) और तू कहां २ रहता है। (पुरुत्रा चित् हि) बहुत से स्थलों पर या इन्द्रियों के भीतर चित्स्वरूप में (ते) तेरी (मनः) मननशील संकल्प शक्ति (अलर्षि) गति करती है। हे (युध्म !) हे विषयवासना या रागद्वेषादि से युद्ध करनेहारे ! हे (खजकृत्) ख=इन्द्रियों के द्वारों में उत्पन्न विषयग्राहक सामर्थ्यों के विधातः ! (गायत्राः) स्तुति करनेहारे विद्वान् जन और प्राणगण (प्र अगासिषुः) तेरी ही महिमा गाते हैं।

३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
[२७२] वयमेनमिदाह्योऽपीपेमेह वज्रिणम्।
१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
तस्मा उ अद्य सवने सुतं भरा नूनं भूषत श्रुत ॥१०॥
ऋ० ८। ६६। ७॥

भा०—(वयं) हम (एनम् इद्) इस (वज्रिणम्) ज्ञानरूप वज्र को धारण करनेहारे आत्मा को ही (ह्यः) गत काल में (इह) इस देह में (आ अपीपेम) खूब ज्ञानरस पान कराते रहे। (अद्य) आज (श्रुते सवने इस वेदानुकूल यज्ञ उपासना में (तस्मा उ) उस ही इन्द्र के लिये (सुतं) ज्ञानरस या आनन्दरूप को लाओ, और (नूनं) निश्चय से (भूषत) उसकी शोभा बढ़ाओ।

गत जीवन में भी ज्ञान सम्पादन किया, इस जीवन में भी करो और ज्ञान से उसकी शोभा करो। विद्यातपोभ्यां भूतात्मा। मनु।

इति अष्टमी दशतिः। चतुर्थः खण्डः।

॥ द० ९ ॥ ऋषिः—१, ६ पुरुहन्मा। २ भर्गः ३ हरिमिठिः। ४ अमहीयुः। ५, ७ देवातिथिः। ८ वसिष्ठः। ९ भरद्वाजः। १० बालखिल्याः।
देवता—१–३, ५–८ १० इन्द्रः। ९ इन्द्राग्नी। ४ सूर्यः॥
बृहती॥ मध्यमः॥

१र २र ३ २ऊ ३ १ २ ३ १ २
[२७३] या राजा चर्षणीना याता रथेभिरध्रिगु ।
१ २ ३ १र २र ३ २३ १ २ ३ २ ३ २
विश्वासा तरुता पृतनाना ज्येष्ठ या वृत्रहा गृणे ॥१॥

ऋ० ८ । ७० । १ ॥

भा०—(य) जो (चर्षणीनां) दश इन्द्रियों या मनुष्यों का (राजा) शासक, प्रकाशक या उनके बीच में स्वत प्रकाशमान है और जो (रथेभि) रमण करने, भोग करने के साधन देहों या प्राणेन्द्रियों से (याता) विषयों तक गमन करने हारा, (अध्रिगु) इन्द्रियों पर वश करने हारा अधिष्ठाता है और (य) जो (वृत्रहा) सब अज्ञानों का नाशक, (विश्वासा) समस्त (पृतनानां) सेनाओं के समान वासनाओं तथा मनुष्यों का (तरुता) विनाशक या पार करनेहारा है उस (ज्येष्ठम्) सब से श्रेष्ठ आत्मा की मैं (गृणे) स्तुति करता हूं ।

राजा और ईश्वर पक्ष में स्पष्ट है ।

'अध्रिगु –' अधिकृतशब्दस्य अध्रिभाव इति दे० य० । पृतना इति मनुष्यनाम । नि० २ । ४ ॥ सग्रामनाम च । नि० २ । १७ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२७४] यत्र इन्द्र भयामहे ततो नो अभय कृधि ।
१ २ ३ २ऊ ३ १ २ ३ २ ३ २ऊ ३ १र २र
मघवञ्छग्ध्य तव तन्न ऊतय वि द्विषो वि मृधो जहि ॥२॥

ऋ० ८ । ६१ । १३ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यत्र) जिससे हम (भयामहे) भय करते हैं (न) हमें (तत) उससे (अभय) भयरहित (कृधि) कर । हे मघवन् ! (तव तत्) तेरा यह बल है कि (न , ऊतये) हमारी रक्षा के लिये (शग्धि) तू समर्थ है, इस कारण (द्विष) नाना द्वेष करने हार

२७४— तवत्त ऊतिभि ' इति ऋ० ।

(मृधः) नाना झगड़ने हारे, संग्रामकारी शत्रुओं को (वि, जहि) विविध उपायों से नाश कर ।

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[२७५] वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणांसत्रं सोम्यानाम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ ७ १ २ ३ १ २
द्रप्स॰ पुरां भेत्ता शश्वतीनामिन्द्रो मुनीना सखा ॥ ३ ॥

ऋ० ८ । १०१ । १२ ॥

भा०—हे (वास्तोष्पते) सब बसने योग्य गृहों और देहों के स्वामिन् ! आप (इन्द्र) परमैश्वर्यवान्, (ध्रुवा स्थूणा) अचल आधार स्तम्भ हो । और (सोम्याना असत्रम्) सोमपान करने हारी इन्द्रियों और सोमपायी विद्वानों के स्कन्धदेश पर लगे कवच के समान मर्म की रक्षा करनेहारे हो । आप (द्रप्स) हृदय में द्रुत या स्रुत रस का पान करने हारे या स्वतः रसरूप और (पुरां) शत्रुओं के नगरों, गढ़ों और योगिजनों के देहों के (भेत्ता) अपने ज्ञान, वज्र से भेदन करने हारे हो और (मुनीना) मननशील ध्यानियों के एकमात्र (सखा) सखा, मित्र हो ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२७६] यद्महा असि सूर्य बडादित्य महाँ असि ।
३१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३१ २
महस्ते सतो महिमा पनस्यम महा देव महाँ असि ॥ ४ ॥

ऋ० ८ । १०१ । ११ ॥

भा०—हे (सूर्य) सबके उत्पादक और प्रेरक ! (बट् महान् असि) तुम सचमुच बड़े हो । हे (आदित्य) सबको अपने भीतर समा लेनेहारे देव ! (बट् महान् असि) तुम सचमुच बड़े हो । (सतः ते) सत् स्वरूप, सर्वत्र व्यापक तुम्हारी (महः महिमा) बहुत भारी महिमा है । हे (पनिस्तम) स्तुति करने योग्यों में सबसे श्रेष्ठ देव ! (महा) अपने महत्त्व से ही आप (महान् असि) बड़े हो ।

२७६—'पनस्यत महा' इति ऋ० ।

[२७७] अश्वी रथी सुरूप इद् गोमान् यदिन्द्र ते सखा ।
श्वात्रभाजा वयसा सचते सदा चन्द्रैर्याति सभामुप ॥५॥

ऋ० ८ । ४ । ६ ॥

भा०—हे (इन्द) परमेश्वर ! (यदा) जब (ते सखा) तेरा मित्र (अश्वी) बलवान् प्राण, इन्द्रिय सम्पन्न (रथी) उत्तम देहरूप रथ से युक्त (सुरूप) उत्तम रुचि या कान्तिमान् रूप से युक्त और (गोमान् इद्) उत्तम ज्ञान इन्द्रियों और उत्तम वाणी से युक्त हो जाता है तब वह (सदा) नित्य ही (श्वात्रभाजा) धन धान्य से युक्त (वयसा) अपना आयु से और (चन्द्रै) आह्लादकारी या चिरकाल तक आनन्दकारी सज्जनों के साथ (सभाम्) तेरे समान कान्ति या सत्संग को (उपयाति) प्राप्त होता है ।

जितेन्द्रिय ज्ञानी उत्तम प्रवृत्ति से युक्त पुरुष ही सत्संग से मुक्त हो जाता हैं । राजा और ईश्वर पक्ष में स्पष्ट है ।

[२७८] यद्द्यावः इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः ।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्टरोदसी ॥ ६ ॥

ऋ० ८ । ७० । ५ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यद द्याव शत) यदि द्यौलोक भी सैकड़ों (उत भूमी शतं) और भूमियां भी सैकड़ों (स्यु) हों तब और हे (वज्रिन्) सर्व शक्तिमन् ! (सहस्र सूर्या) हजारों सूर्य और (रोदसी) यह सब ब्रह्माण्ड भी (वि अनु जातम्) तेरे पीछे पैदा हुआ (त्वा न अष्ट) तुझ पूरी तरह से व्याप नहीं सकता ।

ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात् ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्य ' इति बृहदा० उप० । 'एकांशेन स्थित जगत्' । गी० ।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः (गी० ११।१२।)

[१७९] यदिन्द्र प्रागपागुदङ् न्यग्वा हूयसे नृभिः।
सिमा पुरू नृषूतो अस्यानवसि प्रशर्ध तुर्वशे ॥७॥

ऋ० ८। ४।।१ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (यद्) क्योंकि (प्राग्) प्राची दिशा में, पूर्व में (अपाग्) पश्चिम में, (उदग्) ऊपर में (न्यग् वा) या नीचे सर्वत्र (नृभिः) मनुष्यों द्वारा (हूयसे) तेरी स्तुति की जाती है तू ही पुकारा जाता है। (सिम्-आ) सर्वत्र (पुरू) देहधारियों में (आनवे) प्राणधारियों में (तुर्वशे) इन्द्रियों के वश करने हारे योगियों या इन्द्रियों के अधीन मनुष्यों में भी तू (नृषूत.) नेता, उत्तम पुरुषों द्वारा अभिषिक्त नृपति के समान पूजित (असि) है।

[२८०] कस्तामिन्द्र त्वावसवामत्यो दधर्षति।
श्रद्धा हि ते मघवान् पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति ८

ऋ० ७। ३२। १४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! हे (वसो) सबको बसाने और सब में बसने हारे ! (तं त्वा) उस स्मरण करने योग्य तुझको (कः मर्त्यः) कौन पुरुष (आ दधर्षति) अपमानित कर सकता है। (वाजी) ज्ञानी पुरुष (श्रद्धा) सत्य धारण करने हारा, (मघवान्) यज्ञ कर्मादि और ऐश्वर्यों से सम्पन्न होकर (पार्ये दिवि) पार करने योग्य प्रकाश में, या संसार को पार करने हारे ज्ञानप्रकाश में रहता हुआ तेरे प्रति (वाजं) अपने ज्ञानमय भेंट को (सिषासति) तेरे अर्पण कर देता है।

२८०—'श्रद्धा त्वे' इति पाठभेदः, ऋ०।

[२८१] इन्द्राग्नी अपादिय पूर्वागात्पद्वतीभ्य ।
हित्वा शिरो जिह्वया रारपच्चरत्त्रिंशत्पदान्यक्रमीत् ॥ ६ ॥
ऋ० ६ । ५६ । ६ ॥

भा०—(इन्द्राग्नी) इन्द्र वायु और प्राण और अग्नि सूर्य और आत्मा के बलपर (इय) यह उषा या चित्-शक्ति (अपात्) बिना पैरों के भी (पद्वतीभ्य) चरणवाली प्रजाओं से (पूर्वा) पूर्व ही (आगात्) आजाती है। (हित्वा शिर) अपने शिर को त्याग कर (जिह्वया) अपनी व्यापन शक्ति ग्रहणशक्ति से (रारपत्) शब्द करती हुई (चरत्) गति करती हुई (त्रिंशत् पदानि) तीस पद (अक्रमीत्) गति करती है।

यजुर्वेद में इसका उषा देवता है। सायण ने उषा पक्ष में ३० पद ३० मुहूर्त कहे हैं। चितिशक्ति के पक्ष में ८ वसु ११ रुद्र और १२ आदित्य ये सब शरीर में ही हैं। उन पर वश करती है। यद्यपि य ३१ हैं तो भी एकादश रुद्रों में दश प्राण ११ वां स्वयं आत्मा है। अतः यह ३० प्राण ही गिने जायगे। आत्मा स्वतः चितिशक्ति से भिन्न नहीं। इन्द्र अग्नि उषा और ३० चरण सब मिलकर ३३ देवता हुए।

[२८२] इन्द्र नदीय पदिहि मितमेधाभिरूतिभि ।
आ शन्तम शन्तमाभिरभिष्टिभिरा स्वापे स्वापिभः ॥१०॥
ऋ० ८ । ५३ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्[1] (मितमेधाभि) ज्ञानयुक्त धारणावती बुद्धियों वाली (ऊतिभि) अपनी रक्षण शक्तियों के साथ तू (आ एहि इत्) हमें प्राप्त हो। हे (शन्तम) सुखकारक[1] (शन्तमाभि) अत्यन्त शान्तिदायक (अभिष्टिभि) हमारी सुख कामनाओं सहित और हे (स्वापे[1]) सुख का प्राप्त करने

२८१—'द्विचीशिरो जिह्वया वावदच्' इति ऋ० ।

हारे हे सुबन्धो! (स्वापिभिः) सुखदायक शक्तियों द्वारा तू (मा) हमें प्राप्त हो।

इति नवमी दशति । पञ्चमः खण्डः ।

॥ ८० १० ॥ ऋषिः—१ नृमेध० । २, ३ वसिष्ठः । ४ भरद्वाज । ५ परुच्छेप० । ६ वामदेवः । ७ मेध्यातिथिः । ८ भर्गः । ९, १० मेधातिथिर्मेध्यातिथि ॥ देवता १-४, ७-१० इन्द्रः । ५ वरुणः ॥ बृहती ॥ मध्यम. ॥

३ २ ३ १ २ ३ १२ ३ २ ३ १ २

[२८३] इत ऊती वो अजरं प्रहेतारमप्रहितम् ।

३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

आशुं जेतारं हेतारं रथीतममतूर्तं तुग्रियावृधम् ॥१॥

ऋ० ८। ९१। ७ ॥

भा०—(वः) आप लोग (ऊती) अपनी रक्षा के निमित्त (अजरं) कभी जीर्ण न होने वाले (प्रहेतारं) इन्द्रियों या विद्वानों को उत्तम रीति से प्रेरणा करने हारे, (अप्रहितम्) स्वयं किसी से प्रेरित न होने वाले, स्वतन्त्र, (आशुम्) सर्वव्यापक, अति शीघ्रगामी, (जेतारं) सबके विजेता, उत्कृष्ट, (हेतारम्) ज्ञान और भोग के दाता (रथीतमम्) सब देहधारियों में सब से श्रेष्ठ, (अतूर्तम्) किसी से भी न मारे जाने वाले, अमर, (तुग्रियावृधम्) तमोनिवारक, ज्ञान के वर्धक, आत्मा की शरण में (इत) आओ। आत्मा परमात्मा दोनों पक्षों में समान है।

१२ २२ ३ १ २ ३ २३ ३ १२ २२

[२८४] मो षु त्वा वाघतश्च नारे अस्मन्निरीरमन् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२

आरात्ताद्वा सधमादन्न आगहीह वा सन्नुप श्रुधि ॥ २ ॥

ऋ० ७। ३२। १ ॥

२८३—'तुग्रयावृधम्' इति ऋ० ।

२८४—'आरात्ताच्चित्' इति ऋ० ।

भा०—हे (इन्द) आत्मन् ! (त्वा) तेरे लिये (यावतः) यत्न करते हुए, ज्ञानवान् मेधावी पुरुषों, या इन्द्रियगण को (आरे) समीप से (मा३ उ सु निरीरमन् धन । क्या सचमुच नहीं रमाता है ! रमाता ही है । इसलिये हे इन्द ! (आरात्-तात्) दूर से (वा) भी (नः सधमादे) हमारे एकत्र रमण करने के स्थान, आत्मा, हृदय या कीड़ा भूमि, शरीर में (आगहि) व्याप्त हो । (इह वा सन्) और यहां ही रहकर (उप शृधि) हमारे वचन सुन ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[२८५] सुनोत सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे ।

१ २ ३ १२ २१ ३ २३ ३ १२ २१३ १२ ३२

पचता पक्तीरवसे कृणुध्वमित्पृणन्नित्पृणते मयः ॥३॥

ऋ० ७ । ३२ । ८ ॥

भा०—हे विद्वानो ! हे इन्द्रियगण ! (सोमपाव्ने) सोम का पान करने हारे (वज्रिणे) वज्र, तमोनाशक या वैराग्यसाधक साधनों से सम्पन्न (इन्द्राय) आत्मा के लिये (सोमं) सोम, आनन्दरस को (सुनोत) उत्पन्न करो । उसके (पक्तीः) पक्वान्न, पक्वज्ञान परिपुष्ट अनुभव (पचत) पकाओ तैयार करो, प्राप्त करो । (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (कृणुध्वम्) यत्न करो । वह (पृणन् इत्) सब को पालन करता हुआ ही (मयः पृणते) सुख कल्याण करता है ।

१ २ ३ १२ १२ ३ २ ३ १ २ ३ २

[२८६] य सत्राहा विचर्षणिरिन्द्रं तं हवामहे वयम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

सहस्रमन्यो नुविनुग्ण सत्पते भवा समत्सु नो वृधे ॥४॥

ऋ० ६ । ४६ । ३ ॥

भा०—(यः) जो आत्मा (सत्रहा) सब शत्रुओं का नाशक और (विचर्षणिः) सब का द्रष्टा है । (तं इन्द्रं) उस ऐश्वर्यवान् को (वयं

२८५—'कृणुध्वमित्पृणन्नित्' इति पाठभेदः, ऋ० ।

हूमहे) हम पुकारते, स्मरण करते हैं । हे (सहस्रमन्यो) सहस्रों मन्युओं, ज्ञानों से युक्त ! हे (तुविनृम्ण) बहुधन ! हे (सत्पते) सज्जनों के प्रतिपालक ! (समत्सु) हमारे आनन्द उत्सवों के अवसरों पर (न वृध) हमारी उन्नति के लिये (भव) हो ।

देखो केनोपनिषद् में देवों की विजय कथा ।

१ २ ३ २ ३ २ २
[२८७] शचीभिर्न शचीवसू दिवा नक्तं दिशस्यतम् ।
१ २ ३ १ २१ ३ २ ३ २३ ३ २ ३ २ ३ २
मा वां रातिरुपदसत्कदाचनास्मद्रातिः कदाचन ॥५॥
ऋ० १ । १३९ । ५ ॥

भा०—हे (शचीवसू) शक्ति स्वरूप धन से सम्पन्न ! अपने बलपर सब को वास या जीवन को देने हारे प्राण और अपान स्वरूप अश्वियो ! या हे प्रज्ञा और कर्म के धनी स्त्री पुरुषो, (शचीभि) अपनी शक्तियों से (दिवानक्तं) रात दिन (न दिशस्यतम्) हमें सम्पन्न करो । (वां रातिः) आप लोगों की दानशीलता या आहुति (मा कदा चन उपदसत्) कभी नष्ट न हो, न रुके और (अस्मद रातिः) और हमारी दी आहुति या दान भी (कदाचन मा उपदसत्) कभी नष्ट न हो ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२८८] यदा कदा च मीढुष स्तोता जरेत मर्त्यः ।
२ २१ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २
आदिद्धन्देत वरुणं त्वया गिरा धर्त्तारं विव्रतानाम् ॥६॥

भा०—(मीढुषे) सकल संसार पर सुखों बलों, और ज्ञानों के वर्षक ईश्वर के लिये (मर्त्यः) मनुष्य (स्तोता) स्तुतिकर्त्ता (यदा कदा च) जब कभी (जरेत) स्तुति करे (आत् इत्) तब ही (विव्रतानाम् धर्त्तारं) नाना प्रकार के कर्मों के धारण करने हारे विरुद्धाचारियों को रोकने वाले

२८७—दशस्यतम् इति ऋ० ।

(वरुण) पाप निवारक सर्व श्रेष्ठ ईश्वर को (विप्रा गिरा) विशेष रूप से पालन करने हारी वेदवाणी से ही (वन्देत) स्तुति करे।

३ १२ २ १ ३ २ ३ १ २
[२८९] पाहि गा अन्धसो मद इन्द्राय मेध्यातिथे।
१२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
य सम्मिश्लो हर्योर्यो हिरण्यय इन्द्रो वज्री हिरण्यय ॥७

ऋ० ८ । ४६ । २ ॥

भा०—हे (मेध्यातिथे !) मेधा, बुद्धि से सत्कार योग्य, पवित्र अतिथे ! बिना किसी निर्दिष्ट काल के हृदय में विराजमान होने वाले अतिथि के समान पूज्य ! या नित्य व्यापक परमात्मन् ! (अन्धस मदे) प्राण धारण करनेहारे पदार्थ के उद्योग या आनन्द लाभ के निमित्त (इन्द्राय) इस आत्मा के (गा) इन्द्रियों की (पाहि) रक्षा कर। (य) जो (इन्द्रः) आत्मा (हर्या समिश्लः) दोनों प्रकार के बाह्य और भीतरी इन्द्रियों से सन्निकर्ष को प्राप्त होकर (हिरण्यय) हित और सुखजनक ज्ञान लाभ करने वाला है वही (इन्द्रः वज्री) सब अज्ञानों का वर्जन करनेहारा आत्मा (हिरण्यय) प्रकाशस्वरूप ज्योतिर्मय ज्ञान का प्राप्त करनेहारा है।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[२९०] उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः ।
३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
सत्राच्या मघवान्त्सोमपीतये धिया शविष्ठ आ गमत् ॥८॥

ऋ० ८ । ६१ । १ ॥

भा०—(इन्द्र) आत्मा 'न) हमारे (अर्वाग्) आभ्यन्तर मानस और (इदं च) इस प्रत्यक्ष, उच्चारण किये हुए, (उभय) दोनों प्रकार के (वचः) वचनों को (शृणवत्) सुनने हारा (मघवान्) नाना ऐश्वर्यों से सम्पन्न, (शविष्ठ) बलवान् आत्मा (सोमपीतये) परमेश्वर के दिये परमसुख

२८९—'पाहिगान्धसो' इति, 'हर्योर्यो. इन्द्रो वज्री हिरण्यय.' इति च ऋ० ।

रूप सोमरस पान करने के लिये (सत्राच्या धिया) सत्यानुकूल बुद्धि से सम्पन्न होकर (आगमत्) हमें प्राप्त हो ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[२११] महे चन त्वाद्रिवः परा शुल्काय दीयसे ।

२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २

न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥९॥

ऋ० ८ । १ । ५ ॥

भा०—(अद्रिवः) हे अन्धकार का हरण करने हारे ज्ञानवन् ! (वज्रिवः !) हे वज्र को धारण करनेहारे आत्मन् ! (महे चन शुल्काय) बड़े भारी मूल्य के बदले भी (न परा दीयसे) तुमको नहीं दिया जा सकता, तुझे त्याग नहीं किया जा सकता । हे सैकड़ों ज्ञानकर्मों से सम्पन्न ! (न शताय) न सौ के बदले और (न सहस्राय) न हज़ार के बदले, और (न अयुताय) न लाख के बदले ही तुझे दिया जा सकता है ।

१ २ ३ १ ३ २ ३ १ ३ २

[२१२] यस्यां इन्द्रासि मे पितुरुत भ्रातुरभुञ्जतः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

माता च मे छदयथः समा वसो वसुत्वनाय राधसे ॥१०॥

ऋ० ८ । १ । ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (अभुञ्जत) प्राप्त धन का भोग न करने वाले या मेरा पालन न करने हारे (मे पितु.) मेरे पिता से और (भ्रातु.) भाई से भी आप (वस्यान् असि) अधिक श्रेष्ठ, अधिक ऐश्वर्यवान् हो । हे (वसो) वसो ! भीतर बसने हारे ! तू और (माता च) मेरी माता अथवा सब विश्व को निर्माता तुम दोनों (समा) समान रूप से (मे) मुझ को (वसुत्वनाय) ऐश्वर्य लाभ करने और (राधसे) कार्य में सिद्धि प्राप्त कराने के लिये (छदयथः) मेरा भोजन आच्छादन द्वारा पालन करते हो ।

इति दशमी दशतिः । ५१: खण्ड. ।

इति द्वितीयोऽर्धः प्रपाठक., तृतीय. प्रपाठकश्च समाप्त. ॥

२११—'परा शुल्काय स्यामं' इति ऋ० ।

अथ चतुर्थं प्रपाठकः (प्रथमोऽर्धः) ।

॥ द० १ ॥ ऋषि—१ नभिष्ट । २, ६, ७ वामदेव । मधातिथिमेध्यातिथी विश्वामित्र इत्यके । ४ नोधाः । ५ मधातिथि । ८ शुष्टिगु काण्वो । बालखिल्या वा । ९ मध्यातिथि । १० नृमेध ॥ देवता—१–६, ८–१० इन्द्र । ७ वसु ॥ बृहती ॥ मध्यम ॥

३ १ २१ ३ १ २ ३ १ २
[२९३] इम इन्द्राय सुन्विरे सोमासो दध्याशिरः ।
१२ २१ ३२ ३ १ २ ३ २ ३ २
ते आमदाय वज्रहस्त पीतये हरिभ्या याह्योक आ ॥१॥
ऋ० ७ । ३२ । ४ ॥

भा०—(इमे) ये (दध्याशिरः) दधि से मिश्रित या ध्यान योग से प्राप्त (सोमासः) सोम, ज्ञान (इन्द्राय) आत्मा के लिये (सुन्विरे) सम्पादित किये हैं, हे (वज्रहस्त) हाथ में ज्ञान रूप वज्र को धारण किये हुए आत्मन् ! (मदाय) अपने अन्त प्रसन्नता हर्ष के लिये (तान् आ पीतये) उनको साक्षात् पान करने के लिये (हरिभ्या) ज्ञान और कर्म या दोनों प्रकार के इन्द्रियों से (ओक) इस देह में (आ याहि) तू आ ।

३ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२९४] इम इन्द्र मदाय ते सोमाश्चिकित्र उक्थिनः ।
१ २ ३ १२ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
मधो पपान उप नो गिर शृणु रास्व स्तोत्राय गिर्वणः ॥२॥

भा०—हे आत्मन् ! (ते मदाय) तेरे हर्ष के लिये (इमे) ये (उक्थिनः सोमाः) ब्रह्मज्ञान सम्पन्न साम=विद्वान् जन या समस्त ब्रह्मानन्द रस (चिकित्रे) प्रतीत होते हैं । तू (मधो पपान) ब्रह्मविद्या रूप मधु का पान कर । (नः गिरः) हमारी वेदवाणियां (उप शृणु) श्रवण कर । हे (गिर्वणः) वेदवाणियों द्वारा भजन करने योग्य देव ! तू (स्तोत्राय) गुणकीर्तन करने हारे पुरुष को (रास्व) अभीष्ट फल दे ।

२ ३ १ २ ३१ २ ३१ २ ३१ २
[२६५] आ त्वाऽद्य सवर्दुघां हुवे गायत्रवेपसम् ।
१ २ ३२ ३२ ३२ ३ १२ ३१ २ ३ १२
इन्द्रं धेनुं सुदुघामन्यामिषमुरुधारामरङ्कृतम् ॥ ३ ॥
ऋ० ८ । २ । १० ॥

भा०—मैं (सवर्दुघाम्) सब प्रकार के ज्ञानरस को दुग्धरूप से देने हारी, (गायत्रवेपसम्) स्तुति गान करने हारे की रक्षा करने हारे शरीर वाली, (सुदुघाम्) सुगमता से दुही जाने योग्य (इषम्) अन्नस्वरूप अथवा बलस्वरूप (उरुधाराम्) बड़ भारी ब्रह्माण्ड को धारण करनेहारी या बहुत धाराएं वर्षाने वाली (अरङ्कृत) अत्यन्त अधिक पर्याप्त धन धान्य पैदा करनेहारी या सुभूषित (इन्द्र) परमेश्वर या आत्मारूप (त्वा) तुझ (धेनुं) गाय कामधेनु माता की (हुवे) मैं स्तुति करता हूं ।

१ २·३२ ३ १ २ ३१२ ३१३
[२६६] न त्वा बृहन्तो अद्रयो वरन्त इन्द्र वीडव ।
१२ २२ ३१२ ८२३ २ ३ २ ३१२ २२
यच्छिक्षसि स्तुवते मावते वसु न किष्टदा मिनाति ते ॥४॥
ऋ० ८ । ८८ । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्[1] जिस प्रकार बिजुली को (बृहन्त. अद्रय न वरन्ते) बड़े २ मेघ और पर्वत वरण करते हैं उसी प्रकार (त्वा) तुझको (वीडव) वीर्य सम्पन्न (बृहन्त) बड़े २ (अद्रय[1]) विद्वान् लोग (न वरन्ते[1]) क्या स्वीकार नहीं करते ? करते ही हैं । अथवा वे (न त्वा वरन्ते) तेरा धारण नहीं करते, विरोध नहीं करते, तेरा निषेध नहीं करते, तेरी सत्ता स्वीकार करते हैं । (यत्) क्योंकि (मावते स्तुवते) मेरे

---

१. भक्षणार्थस्य अत्तर्विदारणार्थस्य दृणातेर्वा रिन् प्रत्यय । अद्रि तमः शस्त्रदिर्वानी । न दीर्यते मोहादिना वा अद्रयः सत्यमी ।

२६६—'यदि सासि' इति ऋ० ।

समान स्तुति करनेहारे पुरुष को तू (यत् वसु शिक्षसि) जो वासयोग्य धन, बल प्रदान करता है (ते तद्) तेरे दिये उस धन को (न किः आ मिनाति) कोई भी नाश नहीं कर सकता । विद्युत् पक्ष में बड़े २ (अद्रय) मेघ या पर्वत भी उसको दाब नहीं सकते ।

[२६७] १ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २ १
क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद्वयो दधे ।
३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
अय य पुरो विभिनत्योजसा मन्दान शिप्रिन्धस ॥५॥
अ० ८ । ३३ । ७ ॥

भा०—(सुते) जीवनयज्ञ में (सचा) इन्द्रियगण के एक साथ (पिबन्त) सोम का पान करते हुए आत्मा को (क ईं वेद) कौन जाने ? और कौन जाने कि (कद् वयो दधे) वह कितनी आयु धारण करता है । (य) जो आत्मा (शिप्री) देहवान्, अपनी कर्मगति से एक देह से देहान्तर में गमन करने हारा, (अन्धस मन्दान) अन्न द्वारा हर्ष को प्राप्त होता हुआ (ओजसा) अपने तेज से (पुरः) अपने भोग भूमियों, देहों को (वि भिनत्ति) तोड़ डालता है और मुक्त हो जाता है ।

देह में आत्मा इन्द्रियों के साथ रस भोगता है, परन्तु उसकी उम्र को कोई नहीं जानता । वह अपने कर्मगति से देहों में भ्रमण करता और अन्नरस को भोगता और ज्ञान से देहमुक्त हो जाता है ।

१ २ ३ १ २ ३ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[२६८] यादिन्द्र शासो अवतं व्यायया सदस्स्परि ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अस्माकमंशुं मघवन्पुरुस्पृह वसव्ये अधिवक्षय ॥ ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! आत्मन् ! (यत्) क्योंकि (सदस परि) हमारे देह, घर या सभा स्थान के पास रहने वाले (अव्रतम्) व्रत या नियम का पालन न करने हारे पुरुष का तू (शास) शासन कर और (व्यायय) अधिकार से च्युत करदे । हे मघवन् ! (पुरुस्पृहम्) इन्द्रियों या प्रजा के अभि

लाभों के योग्य, उनके लिये, (अस्माक) हमारे (अंशु) भाग को (वसवे) इस वास योग्य देह या देश में (अधि बर्हय) और अधिक बढ़ा दे।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[२९९] त्वष्टा नो दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः ।
३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
पूषैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टर त्रामण वचः ॥ ७ ॥

भा०—(त्वष्टा) समस्त संसार को गढ़ने वाला या कान्तिसम्पन्न (पर्जन्यः) प्रजा जनों का बरसते मेघ के समान अत्यन्त हित करने हारा, (ब्रह्मणस्पति) वेद और वेदज्ञों का स्वामी, (अदितिः) किसी से भी खण्डित न होने हारा, अखण्ड, परमेश्वर (नः दैव्य वचः) हमारे देव सम्बन्धी वेदवाणियों की (पातु) रक्षा करे। वही हमारे (पूषा भ्रातृभिः सह) पुत्रों और भाइयों के साथ (दुःतर) दुस्तर (त्रामणं) रक्षा करने योग्य (वचः) प्रतिज्ञा वचन की (पातु) पालन करे।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३००] कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे ।
३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते ॥ ८ ॥
ऋ० ८ । ५१ । ७ ॥

भा०—हे आत्मन् ! आप (कदाचन) कभी भी (स्तरी न असि) हिंसक नहीं हैं। अथवा-आप (स्तरी) मृतवत्सा गौ के समान दूध न देने हारे नहीं हैं। प्रत्युत, (दाशुषे सश्चसि) दानशील पुरुष को और भी देते हो। हे मघवन् ! (ते देवस्य) तुम देव का (दानं) दान (उप उप इत् नु) बराबर समीप ही समीप (पृच्यते इत् नु) प्राप्त होता ही रहता है।

३ १२ २३ ३ १ २ ३ १ २
[३०१] युङ्क्ष्वा हि वृत्रहन्तम हरी इन्द्र परावतः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
अर्वाचीनो मघवन्त्सोमपीतये उग्र ऋष्वेभिरागहि ॥ ९ ॥
ऋ० ८ । ३ । १७ ॥

३०१—'युङ्क्षाहि' इति ऋ० ।

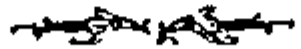
भा०—हे (वृत्रहन्तम) उत्तम रीति से विघ्नों का नाश करनहार (इन्द्र) परमेश्वर ! आत्मन् ! तू (हरी) दोनों प्रकार के धारण और आकर्षण बलों और दोनों प्रकार के इन्द्रियगण का (युध्व) नियुक्त कर। हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (परावत) दूर देश या इन्द्रियों से अगम्य देश से भी तू (उग्र) अत्यन्त बलवान होकर (सामपीतय) ज्ञान रूप सामपान करने के निमित्त (ऋग्वभि) दर्शन करनहार इन्द्रियसाधनों या मरुत् नामक प्राणों सहित (अर्वाचीन) साक्षात् रूप में (आगहि) प्राप्त हो।

२ ३ १ २१ ३ १ २
[३०२] त्वामिद्धो नरोऽपीप्यन् वज्रिन् भूर्णय ।
१ २ ३ १ २ ३२ ३ २ ३ १ २ ३१ २
स इन्द्र स्तामघाहस इह श्रुध्युप स्वसरमागहि ॥ १० ॥

ऋ० ८ । ९९ । १ ॥

भा०—हे (वज्रिन्) वज्र को धारण करने वाले शक्तिमन् ! (भूर्णय नर) भरण पोषण करनहार नेता लोग (ह) पूर्वकाल में (त्वाम् इत्) तुझको ही (आ अपीप्यन्) पुष्ट करते थे। हे (इन्द्र) आत्मन् ! (स्तामघाहस) स्तुतिकर्त्ता या अन्न को धारण करने हारे पुरुषों की स्तुतियों को (इह) यहां (स) वह तू (श्रुधि) श्रवण कर और (स्वसर) स्वयं कर्मानुसार अर्थात् आत्मा के बल से चलने वाले स्वयं गति करने हारे देहरूप गृह में (आगहि) आ विराजमान हो।

इति प्रथमा दशति । सप्तम खण्ड ।



॥ ऋ० २॥ ऋषि—१ २ ७, ८ वसिष्ठ । ३ अश्विनौ वैखम्वनौ । ४ प्रस्कण्व । ५ मधु तिथिर्माध्यातिथी । ६ देवातिथि । ९ नमध । १० नोधा । देवता—४ —१० इन्द्र । १ उषा । २, ३ अश्विनौ ॥ छन्दः १ बृहती ॥ पैवत ॥

३०२—'स्तोमवाहसामिह इति ऋ० ।

[३०३] प्रत्यु अदर्शायत्यु च्छन्ती दुहिता दिव ।
अपो मही वृणुते चक्षुषा तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी॥१॥
ऋ० ७ । ८ । १ । १ ॥

भा०—(दिव दुहिता) सूर्य की प्रभा के समान प्रकाशमान परमात्मा से उत्पन्न हुई शक्ति (उच्छन्ती) अन्धकार को दूर हटाती हुई (प्रति उ अदर्शि) सबको दिखाई दे रही है। वह (मही) महान् विस्तारयुक्त होकर (तम) अन्धकार को उषा काल के समान (अप वृणुत उ) दूर हटाती है। और वह (सूनरी) उत्तम नेत्री पथदर्शिका (ज्योति कृणोति) सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश कर देती है। यह मन्त्र मन्त्रमय वेदवाणी और प्रबुद्ध चिति शक्ति और उषा तीनों पर समान रूप से है। साधक का यह दशा ज्योतिष्मती विशोका प्रज्ञा का उदयकाल कहा जाता है। यह आदि स्वर्ग पुरुष के दर्शन का पूर्वकाल है।

[३०४] इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्त अश्विना ।
अय वामह्वऽवसे शचीवसू विशविश हि गच्छथ ॥२॥
ऋ० ७ । ७४ । १ ॥

भा०—हे (अश्विनौ) अश्विदेव ! प्राण और अपान शक्तियो ! हे (उस्रौ) वास कराने हारे ! (इमा दिविष्टय) द्युलोक या मस्तक में गति करने हारी सात इन्द्रियां (उ) भी (वा) आप दोनों की (हवन्ते) महिमा को बतलाती हैं। (अय) यह मैं आत्मा या मन (अवसे) अपने जीवन की रक्षा के लिये (वाम्) आप दोनों का (अह्व) पुनः २ भीतर से बाहर, बाहर से भीतर बुलाता हूं। हे (शचीवसू) शक्ति द्वारा

३०३—'अपामहीवपसि चक्षसे' इति ऋ०।

वास कराने हारो ! आप दोनों (विश विश) प्रति देह में (गच्छथ) गमन कर रहे हो ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३०५] कुत्स को वामश्विना तपानो देवा मर्त्य ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २
प्रता वामह्रया ह्रयमाणोऽशुनत्थमु आद्रुन्यथा ॥ २ ॥

भा०—[प्र० १] हे (अश्विनौ) देह में व्यापक प्राण और अपान (वाम्) आप दोनों (कुत्स) कहां स्थित हो ? [प्र० २] (वाम्) आप को (का मर्त्य) कौन मरणधर्मा पदार्थ (तपान) तप्त करता है । [उत्तर १] (वाम्) आप दोनों (अह्रया) शरीर को भोजन करने की शक्ति द्वारा (प्रता) तापित होकर गति करते हो । [उ० २] (यथा आद्रुन्) जिस प्रकार भोगों और ऐश्वर्यों का भोक्ता राजा शासक (अशुना) अपने समस्त देशव्यापी बल से (ह्रयमाण) देश भर में विराजमान होकर भृत्यों को चलाता है और तपाता है (इत्थम् उ) उसी प्रकार (आद्रुन्) व्यापक आत्मा (ह्रयमाण) देह में रहकर (अशुना) अपने व्यापक भोग कर्म शक्ति द्वारा आप दोनों को तपाता है, गति देता है । और (अह्रया) अशना और पिपासा द्वारा आप दोनों (प्रता) पीड़ित होकर उसके शासन में गति करते हो । (इसका विवरण देखो बृह० उप० अ० १, ब्राह्मण २)

३ १ ३ १ २ ३२ ३ १ २
[३०६] अथ वां मधुमत्तम सुत सोमा दिविष्टिषु ।
१ २ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
तमश्विना पिबतं तिरो अन्ह्य धत्त रत्नानि दाशुष ॥४॥
ऋ० १ । ४७ । १ ॥

भा०—हे (अश्विनौ) अश्वियो ! प्राण और अपान ! (वां) आप दोनों के लिये (दिविष्टिषु) चेतनासम्पन्न इन्द्रियों की पुष्टियों में, या

३०६—साम अह्रयाशुना इति ऋ० ।

देवपक्षों में (अय) यह (मधुमत्तम) अत्यन्त मधुर (सोम) सोमरस अन्न रस, ज्ञानरस (सुत) सम्पन्न किया गया है । (तिर अन्ह) विगत काल के सम्पादित (त) उसको (पिबत) पान करो शरीर में ग्रहण करते हो और (दाशुष) अपना ज्ञान या पदार्थ या प्राण को अपान में और अपान को प्राण में हविरूप से दान करने हारे साधक का (रत्नानि) रमणीय, सुखकारी साधन बल आरोग्य (धत्त) प्राप्त कराओ ।

प्राणापान का यज्ञ देखो गीता (अ०४।२९।३०) और छान्दो० उप० अ० ३ ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३०७] आ त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नह ज्या ।
१ २ ३।१ २१ ३ ११ २१ ३ १ २
भूर्णिं मृग न सवनेषु चुक्रुध क ईशान न याचिषत् ॥५॥
अ० ८ । १ । २० ॥

भा०—हे इन्द्र ! परमेश्वर (अह) मैं (ज्या) उत्कृष्ट प्रशंसा योग्य (सोमस्य गल्दया[1]) सोम की धारारूप वाणी से (त्वा) तुझको (सदा आ याचन्) नित्य प्रार्थना करता हूं । (सवनेषु) यज्ञकर्मों और उपासनाओं में (मृग न) सिंह के समान दुष्टों पर (चुक्रुध) क्रोध करते हुए (भूर्णिम्) संसार भर के भरण करने हार (ईशान) स्वामी जगदीश्वर को (क न) कौन नहीं (याचिषत्) प्रार्थना करता ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[३०८] अध्वर्यो द्रावया त्व सोममिन्द्र पिपासति ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
उपो नून युयुजे वृषणा हरी आ च जगाम वृत्रहा ॥६॥
ऋ० ८ । ४ । ११ ॥

३०७—'मात्वा' इति 'याचन्नह गिरा' इति च ऋ० ।

१. गल्देति वाङ्नाम (नि० १।११) धमनयो वा इति (नै० ६ । २४)

३०८—'उपनून' इति ऋ० ।

भा०—हे (अप्रवयो) कभी नष्ट न होने वाले ! अहिंसित ! आ समन्तित मन ! अहंकार ! (साम) सोमरूप आनन्दरस का (इन्द्र) आत्मा (पिपासति) पान करना चाहता है । (त्व साम दाशय) तू उस आनन्द रस को चुआ, उत्पन्न कर । (वृत्रहा) विघ्न और सबों के निवारक आत्मा न (नून) निश्चय से (वृषणा) सब काम्य सुखों की वर्षा करने हारे एवं बलवान् (हरी) हरणशील साधन, प्राण और अपान दोनों को (उप युयुज) जोड़ ही लिया है और वह (आ जगाम च) आभी गया है । साधक अपने अहंकारयुक्त आत्मा से सम्बोधन करता है । देखो प्राणाग्नि होत्र उप० (ख० ४) अहंकारोऽध्वर्युः ।

३ २ १ २ उ ३ २ १ २ ३ १ २

[३०९] अभीषतस्तदामरेन्द्र ज्याय कनीयस ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

पुरूवसुर्हि मघवन् बभूविथ भर भरे च हव्य ॥७॥

ऋ० ७ । ३२ । २४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! हे (ज्याय) सबसे श्रेष्ठ, ज्येष्ठ ! (कनीयस) अपने से छोटे (ईषत) आप से साहाय्य चाहने हारे मेरे लिये (तद् अभि आ भर) अच्छा प्रकार सब ओर से उस अभिलाषा योग्य पदार्थ को प्राप्त करा । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् (हि) क्योंकि आप (पुरूवसु) अनेक प्रजाओं का वास कराने हारे (भर भरे च) और प्रत्येक यज्ञ में (हव्य) स्तुति योग्य हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १

[३१०] यदिन्द्र यावतस्त्वमतावदहमीशीय ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

स्तोतारमिद्विषे रदावसो न पापत्वाय रंसिषम् ॥८॥

ऋ० ७ । ३२ । २८ ॥

३०९—'पत्य असामि' इति ऋ० ।

३१०—'स्तोतारमिद्विषे रदावसो न पापत्वाय रासीय' इति ऋ० ।

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (यावत त्वम्) जितने ऐश्वर्य का तू मालिक है (यद्) यदि (एतावद्) इतना ऐश्वर्य (अहम्) मैं (ईशीय) प्राप्त करलूं तो हे (रदावसो !) समस्त पदार्थों के दन हार ! मैं (स्तोतारम् इद्) स्तुति करने हारे, सत्य ज्ञान के दर्शान हारे विद्वान् को ही (दधिषे) दे डालूं। (पापकाय) पाप के कर्मों के लिये (न रसिषम्) कभी न दूं।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[३११] इमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृध ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अशस्तिहा जनिता वृत्रतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः ॥६॥
ऋ० ८। ६६। २।

भा०—हे (इन्द त्वं) तू (प्रतूर्तिषु) संग्रामों में या बल के कार्यों में (विश्वा स्पृध) समस्त स्पर्द्धा करने हारी सनाओं या दुर्वासनाओं के (अभि असि) मुकाबले पर डट जाता है और उनको परास्त करता है। हे (तूर्य) शत्रु के नाश करन हारे ! (त्वं) तू (तरुष्यत) हिंसा करने की चेष्टा करने वाले शत्रुओं के प्रति (वृत्रतूः असि) सब उपद्रवों का नाशक है। और तू ही (अशस्तिहा) शासन का न मानने हारे उद्दण्डों को नाश करने हारा (जनिता) प्रजाओं के पिता के समान है।

१ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[४१२] प्र यो रारिक्ते आतसा दिव सदोभ्यस्परि ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
न त्वा विव्याच रज इन्द्र पार्थिवमति विश्वं ववक्षिथ॥१०॥

भा०—(य.) जो तू परमेश्वर (आतसा) अपने सामर्थ्य से (दिव) द्यौलोक के (सदोभ्य) वास भूमियों से भी (परि) परे तक (प्र रिरिक्षे) दूरतक फैला हुआ है। हे (इन्द) परमेश्वर ! इसलिये

३१२—'प्रतिरिरिक्षे' 'पित्र अन्तेभ्यस्परि' 'अनुस्वधा विवक्षिथ' इति च ऋ०।

(पार्थिवं रज.) यह पृथ्वी लोक (त्वा) तुझ को (न विव्याच) कभी व्याप्त नहीं कर सकता । तू (अतिविश्वं) इस समस्त ब्रह्माण्ड को अतिक्रमण करके (बबाधिषे) उसको पहन करता है, धारण करता है ।

इति द्वितीया दशतिः । अष्टमः खण्डः ।

॥२० ३॥ ऋषि.—१, २, ६ वसिष्ठ० । गातुरात्रेयो गृत्समदो वा । ४ पृषुर्वैन्यः । ५ सप्तगुः । ७ गोरिवीतिः । ८ वेनो भार्गव. । ९ बृहस्पतिर्नकुलो वा । १० मुद्गलः ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् । नैवत, ॥

१ २ ३ १ २ २ ३ २ ४ २ ३ १ २ ३ १ २

[३१३] असावि देवं गोऋजीकमन्धो न्यस्मि इन्द्रो जनुषेमुवोच ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

याचामसि त्वाह यंश्च यज्ञैर्योधा न. स्तोममन्धसो मदेषु ॥१॥

ऋ० ७ । २१ । १ ॥

भा०—(गो-ऋजीकम्) इन्द्रियों द्वारा ऋजुता से प्रत्यक्ष रूप में, साक्षात् सम्बन्ध द्वारा प्राप्त (देवं) दिव्य स्वभाव गुण युक्त, आनन्ददायक (अन्धः) ज्ञान, सोम (असावि) प्राप्त किया । (इन्द्रः) आत्मा (जनुषा) उत्पत्तिकाल से ही (इत्) अप्रत्यक्ष रूप में (अस्मिन्) इस ज्ञान में (उवोच) समवेत है, समवाय सम्बन्ध से है । अर्थात् ज्ञान आत्मा का गुण है । हे (इयेन्द्र !) हरण शील भोग साधनों से सम्पन्न ! (त्वा) तुझको (यज्ञैः) ज्ञानयज्ञों अथवा अन्तर्योगों द्वारा (योधामसि) ज्ञान करते हैं । और तू (नः) हमारे (स्तोत्रं) सत्य ज्ञान कथाओं को (अन्धसः मदेषु) सोमरूप ज्ञान की उत्कृष्ट आनन्द दशा में (बोध) जाना कर ।

१ २ २ १ २ ३ १ ४ २ ३ १ २

[३१४] योनिष्ट इन्द्र सदने अकारि तमा नृभिः पुरुहूत प्रयाहि ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १

असो यथा नोऽवितेथ वृधश्चिदेतो षु ब्रह्मणा सोमपीतये ॥२॥

ऋ० ७ । २४ । १ ॥

३१३–'वेद' इति ऋ० ।

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ते सदने) तेरे निवास योग्य गृह, इस देह में (योनिः अकारि) तेरे प्रकट होने का स्थान बना है। (तम्) उस स्थान पर हे (पुरुहूत) इन्द्रियों या बहुतसे अङ्गों द्वारा निरन्तर स्मरण किये गये आत्मन् ! (नृभिः) अपने नेता, प्राणरूप मरुतों के सहित तू (आ प्र याहि) सब ओर से हटकर यहां ही प्रकट हो और (यथा) जिस प्रकार से (नः) हमारा (पूर्वः) पहले हुआ (पिता) और (अविता) पालनकर्त्ता (अभः) बल और (वसूनि) धन, आनन्द (ददः) दान कर (सोमः च) और सोमों द्वारा (ममदः) आनन्द का उप भोग कर।

अन्तरेण तालुके य एष स्तन इवावलम्बते सा इन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते व्यपोह्य शीर्षकपालं सत्यामत्राणारामं मनः आनन्दम् शान्तिसमृद्धममृतम् इति प्राचीनयोग्योपासस्व (तैत्तिरीयोपनि० अनु० १ अनुवा० १।)

१ २ ३१ ३ १ २ ३ १६ ३ १ २ ३ १ १ ३ १ २
[३१८] अरर्दरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान् बदवानामरम्णाः।
३ १ १ ३ १ १ ३ १८ ३ १४ ३ २ ३ १ १ ३ २
महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्वः सृजदारा अव यद्दानवान् हन ॥३१॥
ऋ० ८। ११। १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वं) तू ने (उत्सम्) ऊर्ध्वगामी मूर्धा भाग को (अरर्दः) विदारण किया, और (खानि) इन्द्रिय द्वारों को (वि-असृजः) तू ने रचे रचा और (त्वम्) तूने (अर्णवान्) गति शील (बदवानाम्) आघात प्रतिघात करते हुए प्राणों को (अरम्णाः) स्वस्थित किया। और (यत्) जब तूने (महान्तं) महामायी (पर्वतं) पोरुओं वाला देह (विः) प्रकट किया और (यत्) जो (दानवान्)

३१८—'आत्मन्' इति, सर्वेश्वरपरं व्याख्यानं ऋग्भाष्ये द्रष्टव्यम्।

ज्ञान देने हारे इन प्राणों को (आवहन्) प्रेरित करता और (धारा) ज्ञान स्मृतिरूप धाराओं को, या अन्नरस की धाराओं को, या इन्द्रिय नाड़ियों का उन छिद्रों में प्रवाह रूप से (विसृजन्) विशेष रूप से प्रेरित करता है। इसका स्पष्टीकरण ऐतरेयोपनिषत् १म, २य, ३य खण्ड में देखिये वहां ही इन्द्र का स्पष्टीकरण भी है। और देखो (बृहदारण्यक उप० अ०१ ब्रा०४)

'उत्स उत्सरणाद् उत्सहनाद्वोनत्तेर्वा (निरु० १० । १ । ४) खानि इन्द्रियाणि, (काठक उ०) । पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम् ।' रम्णाति विसर्जनकर्मा, सयमनकर्मा वा (नि० १० । १ । ४)

[३१६] सुष्वाणास इन्द्र स्तुमसि त्वा सनिष्यन्तश्चित्तविष्टये राजम्।
आ नो भर सुवितं यस्य कोना तना त्मना सह्यामं त्वोता ॥५॥
ऋ० १० । १४८ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! हम (वाज सनिष्यन्त) भोग्य पदार्थों का सेवन करते हुए भी (त्वा सुष्वाणास) तेरे लिये ही उनका रस सम्पादन करते हुए हम (स्तुमसि) तेरी स्तुति करते हैं। इसलिये (नः) हमारे लिये (सुवितं) उत्तम बल ऐश्वर्य को (आ भर) प्राप्त करा। (यस्य) जिसकी (कोना) कामना करते हुए हम (त्मना) स्वयं आपसे आप (त्वा उता) तेरे संरक्षित रहकर या तेरे में विनय हुए रहकर (त्मना) खूब उत्तम २ विस्तृत अनुभवों को (आ सह्याम) प्राप्त करें। प्राणों का आत्मा के प्रति और भक्तों का ईश्वर के प्रति यह वचन है।

[३१७] जगन्वां ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं वसूयवो वसुपते वसूनाम्।
विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥६॥
ऋ० १० । ४७ । १ ॥

३१६—'त्मना तना सनुयाम' इति ऋ० ।
३१७—'दक्षिणं भे' इति पाठभेदः ऋ० ।

भा०—हे इन्द्र ! (वयं वसूयव) हम प्राणों की कामना या देह में स्वयं वसु होने की कामना करते हुए (ते) तेरा (दक्षिण) दाया, क्रिया सम्पन्न (हस्त) हाथ (जगृह्म) ग्रहण करते हैं । हे (वसूना) वसुओं के बीच में (वसुपते) प्राणों के पालक ! आत्मन् (त्वा) तुझको (गोना गोपतिं) इन्द्रियों के बीच में इन्द्रियों के स्वामी के समान (विप्र हि) निश्चय से जानते हैं । (अस्मभ्यम्) हमें (चित्रं) सदा बढ़ने वाला या चितिशक्ति से युक्त या ज्ञानसम्पादन करने हारे (वृषणं) सब सुखों के देने वाले, पुष्टिकारक (रयिं) प्राण, अन्न, बल (दा) दो ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

[३८] इन्द्रं नरो नमस्विता हवन्ते यत्पार्या युनजते धियस्ताः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ ३२ ३ १ २ ३ १ २

शूरो नृषाता श्रवसश्चकाम आ गोमति व्रजे भजा त्वं नः ॥६॥

ऋ० ७ । २७ । १ ॥

भा०—(यत्) क्योंकि आत्मा (पार्या) व्यापार, चेष्टा करने वाले या भरणपोषण करने में समर्थ (धिय) ज्ञान और कर्मों की (युनजते) आयोजना, प्रबन्ध करता है इसलिये (नर) विद्वान् लोग (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् राजा के समान परमेश्वर या आत्मा को (नेमधिता) सत्कार, यज्ञ, व्यवस्था की स्थापना के अवसर पर (हवन्ते) उसको बुलाते या स्मरण करते हैं । शूर) शूरवीर (नृषाता) मनुष्यों का उचित विभाग करने हारा (चकम) कामना करने वाला (गोमति व्रजे) हमारे अभिलषित गौओं के बाड़े के समान इन्द्रियों से सम्पन्न मन, गोह या देह में (त्वं) तू (नः) हमें (श्रवस) अन्न बल आदि (भज) प्राप्त करा ।

१ २ ३ १२ ३२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३९] यद सुपर्णो उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमाना. ।

१ २ ३ १ २ ३२ ३ १२ १२ ३ २ २ ३ १ २ ३ २

अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान् ॥७

ऋ० १० । ७३ । ११ ॥

११८— ध्वान्तमान् ऋ० पाठे ।, ऋ० ।

भा०—(वयः) दूर तक गति करने हारे, दूरदर्शी, (सुपर्णा) उत्तम ज्ञान और बल की याचना करते हुए, (ऋषय.) विद्वान् लोग और आत्म पक्ष में-इन्द्रियां (इन्द्रम् उपसेदु.) इन्द्र आत्मा आचार्य, परमेश्वर के समीप शिष्य भाव से पहुंचे और कहने लगे (त्वा-तं) हमारे अज्ञानरूप अन्धकार को (अप ऊर्णुहि) दूर कर। (चक्षु) हमारी आंख को (पूर्धि) शक्तिमान् कर, तेज से भर दे और (निधया इव बद्धान्) जाल में बंधे हुए के समान हमको (मुमुग्धि) मुक्त कर।

इन्द्रियों का आत्मा के प्रति, शिष्यों का ब्रह्मज्ञानी गुरु के प्रति, ऋषियों, ज्ञानियों का परमात्मा के प्रति यह वचन है।

१ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
[३२०] नाके सुपर्णमुप यत्पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम्॥८॥

ऋ० १० । १२३ । ६॥

भा०—हे ज्ञानस्वरूप। तेजस्विन् आत्मन्! (नाके) दुःख रहित मोक्षमार्ग में (हृदा वेनन्त.) अपने हृदय या मन से तेरी कामना करते हुए, (उपपतन्त) गमन करते हुए (हिरण्यपर्णं) हितकारी और मनोहर पक्षों या प्राणों या साधनों से युक्त, (वरुणस्य दूतं) सब पापों के वारण करने हारे जगदीश्वर के दूत, संदेश या ज्ञान को प्राप्त कराने हारे (यमस्य) सब के नियन्ता वायु या ईश्वर के (योनौ) प्रकट होने के स्थान या अन्तरिक्ष में (शकुनं) शक्ति से सम्पन्न, (भुरण्युं) भ्रमणशील या सब के पालन पोषण करने हारे (त्वा) तुझको (यत्) जो (अभि-अचक्षत) सर्वत्र देखते हैं। इस आनन्दमय ब्रह्म आत्मा के नाना पक्षों का विवरण देखो तैत्तिरीय उप० (आनन्दवल्ली अनु० १ से ६ तक) वहां इस शकुन के पक्षों और पुच्छ आदि का नाना रूप से प्रदर्शन कराया है।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३२१] ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।
क ग ३ १ ३ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सबुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः ६
अथर्व० ५ । ६ । १ ॥

भा०—(वेन) ज्ञानवान् तेजस्वी परमात्मा (प्रथम) सबसे प्रथम (जज्ञान) प्रादुर्भूत या प्रकट होते हुए (ब्रह्म) बृहदाकार ब्रह्माण्ड को (सीम् अत पुरस्तात्) इस समस्त संसार की रचना के पूर्व ही (सुरुचः) उत्तम कान्तियों का (वि आवः) पुञ्ज बनाकर प्रकट करता है (सः) वह परमात्मा (बुध्न्याः) आकाश में उत्पन्न हुए (अस्य उपमाः) उसके ही सदृश (विष्ठाः) विशेष रूप से स्थिति करने हारे ब्रह्माण्ड को भी स्थापित करता है। और (सतः च) इस समस्त सत् रूप में प्रकट जगत् (असतः च) और अव्यक्त प्रकृति के (योनिम्) मूल आश्रय को भी (विवः) वही प्रकट करता है।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३२२] अपूर्व्या पुरुतमान्यस्मै महे वीराय तवसे तुराय ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
विरप्शिने वज्रिणे शन्तमानि वचांस्यस्मै स्थविराय तक्षुः १०
ऋ० ६ । ३२ । १ ॥

भा०—विद्वान् लोग (महे वीराय) बड़े भारी वीर, (तवसे) बलवान्, (तुराय) वेगवान् (विरप्शिने) ज्ञानवान् (वज्रिणे) विघ्नों और उपद्रवों के निवारक, वज्र बल के धारण करने वाले, (स्थविराय) अचल कूटस्थ (अस्मै) इस परमात्मा के लिये (पुरुतमानि) बहुत से (अपूर्व्या) उसका पूर्ण रीति से वर्णन करने हारे अपूर्व (वचांसि) नाना वचन (तक्षुः) प्रकट करते हैं।

इति तृतीया दशतिः । नवमः खण्डः ।

॥ द० ४ ॥ ऋषि—१ २ ४ तिरश्चीनाङ्गिरसो गरुत्मान् वा । वृहद्दिव्य । ५ वाम देव । ६ ८ वसिष्ठ । ७ विश्व मित्र । ९ गार्ग्यवैदग्न ॥ १—७ ९ त्रिष्टुभ । ८ पंक्ति ॥

१—५ ७—९ विराट् । त्रिष्टुप् विराज त्रिष्टुप् ॥ धैवत ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[३२३] अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियान कृष्णो दशभि सहस्रै ।

३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

आवत्तमिन्द्र शच्या धमन्तमप स्नीहितिं नृमणा अप द्वा १॥

ऋ० ८ । ९६ । १३ ॥

भा०—(द्रप्स) द्रवणशील गतिमान् (कृष्ण) विलसन सङ्केत या सङ्किर्षण करने द्वारा मुख्य प्राण (दशभि) अर्थों का प्रकाशित करने हारे (सहस्रै) बलवान् प्राणों सहित (इयान) गति करता हुआ (अंशुमतीम्) व्यापनशील चेतना से युक्त चितिशक्ति का (अव अतिष्ठत्) आश्रय लेता है । (इन्द्र) आत्मा (शच्या धमन्तम्) अपनी शक्ति द्वारा श्वास प्रश्वास लेते हुए (तम्) उसका (आवत्) प्राप्त होता है (नृमणा) सब नरों में मनन शक्ति रूप वह आत्मा (स्नीहितिं) अवधारण करते हुए उस प्राण को (अप अध द्वा) नीच अंगों में भी प्रेरित करता है ।

प्राण की गति को अपान तथा अन्यान्य अधोगामी स्थानों में प्रेरण करने में आत्मा का सङ्कल्प ही कारण है । इसको सायणादि भाष्यकारों ने कृष्णासुर को मारने की कथा गढ़ कर लगाया है, यह असंगत है ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३२४] वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा विश्व देवा अजहुर्ये सखाय

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

मरुद्भिरिन्द्र सख्य ते अस्त्वथेमा विश्वा पृतना जयासि२

ऋ० ८ । ३६ । ७ । ॥

३२३–'स्नेहितीनृम्णा' इति ऋ० ।

भा०—(वृत्रस्य) आवरणकारी इस तामस देह के (श्वसथाद्) श्वास प्रश्वास से (ईषमाणाः) गति करते हुए (विश्वे देवा) सब देवगण, मरुद्गण, अमुख्य प्राण, चक्षु आदि (ये) जो (सखायः) मित्र (त्वा) तुझको (अजहुः) छोड़ देते हैं अन्तर्मुख न होकर बहिर्मुख हो जाते हैं, तो भी हे आत्मन् ! (ते सख्य, तेरा मैत्रीभाव (मरुद्भिः) उन प्राणों इन्द्रियों से (अस्तु) बना ही रहता है । (अस्य) इसी कारण (इमा) इन (विश्वा) समस्त (पृतनाः) भरण पोषण योग्य प्राणियों के देहों को (जयासि) तू अपने वश रखता है ।

ईष् गतिहिंसादर्शनेषु, भ्वादिः । ईष् उञ्छे, भ्वादिः । पृतना इति मनुष्यनाम, (नि० २ । ४ ।)

३ १ २ ३१२ २२ ३ १२ २२३ १ २ ३ १ २

[२२५] विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ २ ३१२ २२

देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समानः ॥३॥

ऋ० १० । ५५ । ५ ॥

भा०—(विधुं) विधमनशील, धौंकनी के समान विशेष रीति से शरीर में गति करने वाले, (समने) समान रूप से प्राण धारण करने के कार्य में (बहूनां) बहुतों को (ददाणं) गति देने वाले, (युवानं सन्त) युवा, बलशाली होते हुए मुख्य प्राण को भी (पलितः) पुराण पुरुष आत्मा (जगार) अपने भीतर लीन कर लेता है । (देवस्य) उस आत्मदेव के (काव्य) ज्ञान—सामर्थ्य को (पश्य) देख (ह्यः) जो भूत काल में (समानः) निरन्तर जीवित रहा, (स अद्य) वह आज भी (महित्वा) उस 'स्व' अपने महिमा या बड़प्पन में (ममार) अपना प्राण को त्याग देता है अर्थात् इसमें ही लीन हो मुक्त हो जाता है ।

देखो स्पष्टीकरण उपनिषदों के अध्यय-प्रकरण एकायन-प्रकरण और स्व महिमा में संप्रतिपत्ति प्रकरण ।

परमेश्वर पक्ष में—(विधु) चन्द्र को जिस प्रकार पूर्ण हो जाने के बाद भी सूर्य अमावास्या में ग्रस लेता है उसी प्रकार (बहूनां) बहुत से प्राणों के बीच में सबसे अधिक (युवान सन्त) युवा अति बलवान सत् स्वरूप आत्मा (विधु दद्राण) चन्द्र के समान आह्लादकारी एवं गतिशील आत्मा को (पलित) सर्वव्यापक, पुराण परमेश्वर (जगार) अपने भीतर ले लेता है (देवस्य) उस महान् परमेश्वर के बनाये (काव्य पश्य) इस संसारमय ज्ञानस्वरूप कवि विद्वान् परमेश्वर की बनाई रचना को देख कि (आयममार) जो अन्न मरता है (स) वह (इ) फिर दूसरे दिन (समान) प्राण धारी होकर जीता है। अर्थात् पुनः जन्म लेता है। और जो ही जगत् अवनष्ट होता है वह पुनः बनता है।

देखो अथर्व० पलित सूक्त । का० ९ । १ । १० ॥

२ ३ २ २१ ३ १ २ ३१ २ ३ १ २
[३२६] त्व ह त्यत्सप्तभ्यो जायमानोऽशत्रुभ्यो अभव शत्रुरिन्द्र ।
३१२ २२ ३१२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
गूढे द्यावापृथिवी अन्वविन्दो विभुमद्भ्यो भुवनेभ्यो रण घा ॥४॥
ऋ०८ । ९६ । १६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्व ह) तू ही (जायमान) प्रकट होते समय (त्वत्-सप्तभ्य) उन सातों (अशत्रुभ्य) कभी न सोने हारे, निरन्तर चलन वाले शीर्षण्य प्राणों को (शत्रु) एकमात्र सुलाने वाला, अपने में लीन करने हारा या शातयिता उनके वेग को कम करने हारा, या उनको इन्द्रियरूप में शिरादेश में फोड़कर बनाने वाला (अभव) है। और उसके बाद तू ही (गूढे) गुहा या बुद्धि में स्थित (द्यावा पृथिवी) अन्तरिक्ष एवं सूर्य और पृथिवी के समान मूर्धाभाग और शेष शरीरभाग को (अनु अविन्द) प्राप्त करता है। और (विभुमद्भ्य) सत्तावान् बलवान्, (भुवनेभ्य) प्राणों से (रण) रमण, विनोद, आनन्द की मात्रा स्वयं (घा) धारण करता है, अर्थात् भोग करता है।

३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[३२७] मेडिं न त्वा वज्रिण भूर्णिमन्त पुरूवस्मा वृषभ स्थिरप्सुम्
३ १२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
करोष्यर्यस्तरपीर्दुवस्युरिन्द्र द्युक्ष वृत्रहण गृणीषे ॥ ५॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (दुवस्यु) परिचर्या सेवा की इच्छा करने हारा तू (अप) अपनी गतिशील इन्द्रियों का (तरुषी) पदार्थों या भाग्य विषयों तक चल जाने योग्य (करोषि) कर लेता है। इस कारण मैं (मेडिं न) मेघ करने हारे योगी के समान (वज्रिण) वर्जन करने वाले बल वैराग्य द्वारा सब पदार्थों के ज्ञानपूर्वक सब त्याग से सम्पन्न (भूर्णिमन्त) पापों को भून देने हारी परिपक्व, सम्यग् बुद्धि से युक्त (पुरुवस्मान) इन्द्रियों को आश्रय देने हारे (वृषभ) सबसे श्रेष्ठ (स्थिर प्सुम्) कूटस्थ, अचल, नित्य, ध्रुव (द्युक्ष) प्रकाशस्वरूप, (वृत्रहण) तम स्वरूप देहबन्धन को नाश करने हार (त्वा) तेरी मैं (गृणीषे) स्तुति करता हूं।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३२८] प्र वो महे महे वृधे भरध्वं प्रचेतसे प्रसुमतिं कृणुध्वम् ।
१ २ ३ १२ २२ ३ २
विश पूर्वीं प्रचरा चर्षणिप्रा ॥ ६ ॥

ऋ० ७ । ३१ । १० ॥

भा०—(व) आप लोग (महे महे वृधे) महिमा से बढ़ने वाले (महे) बड़े भारी आत्मा के लाभ (प्र भरध्व) उत्तमरूप से हव्य पदार्थ अन्न और ज्ञान का संग्रह करो (प्रचेतसे) उत्कृष्ट ज्ञानसम्पन्न आचार्य आत्मा या परमेश्वर के निमित्त (प्र सुमतिं) उत्तम २ विचार या मनन (कृणुध्वम्) किया करो। हे (इन्द्र) आत्मन् ! (चर्षणीप्रा) विद्वानों को ज्ञान से पूर्ण करनेहार आप (पूर्वीं विशः) पालन करनेहारी श्रेष्ठ धर्मात्मा प्रजाओं के पास (प्र चर) उत्तमरूप से आया, प्राप्त होओ।

३२८–'प्र वो महो महिभ्य' प्रभर', चर्षणिप्रा ' इति ऋ० ।

३ १ २ ३१ २३१ २ ३ २३ ३ १२३१ २
[३२९] शुन हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतम वाजसातौ ।
३ १ २३२३१२३ २ ३ १ २ ३ १ २३२ ३ १ २
शृण्वन्तमुग्रमूतय समत्सु घ्नन्त वृत्राणि सञ्जित धनानि॥७॥

ऋ० ३ । ३० । २२ ॥

भा०—(अस्मिन्) इस (भरे) भरण पोषण करने हारे (वाज सातौ) अन्न और ज्ञान के साधन कार्य में (शुन) ज्ञानसम्पन्न सर्व व्यापक (मघवानम्) ऐश्वर्यसम्पन्न, (नृतम) सबसे उत्तम नेता, (शृण्वन्त) सबकी प्रार्थनाओं को सुनने हारे (उग्रम्) दुष्टों के प्रति उग्र स्वभाव वाले (समत्सु) संग्रामों और उत्सवों में (वृत्राणि) उपद्रवकारियों का (घ्नन्त) नाश करने हारे (धनानि) नाना विभूतियों को (सञ्जित) स्वयं जीतने हारे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् राजा के समान (समत्सु) संग्राम हर्ष या आनन्द प्राप्ति के अवसरों में (वृत्राणि घ्नन्तम्) आवरणकारी तामस भावों का नाश करने वाले और (धनानि सञ्जितम्) ऐश्वर्यों पर विजय करने वाले आत्मा और परमेश्वर का (हुवम) हम स्मरण करें, पुकारें ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३३०] उद्वु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्र समर्ये महया वसिष्ठ ।
३१ २१ ३ १ २ ३ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
या यो विश्वानि श्रवसा ततानापश्रोता मे हवतो वचांसि ८

ऋ० ७ । २१ । १ ॥

भा०—हे (वसिष्ठ) वायु ! या विद्वन् ! (श्रवस्या) ज्ञान की प्राप्ति के लिये (ब्रह्माणि) वेदमन्त्रों का (उद् वु ऐरत) उच्चारण या पाठ करो । (समर्ये) यज्ञ आदि विद्वानों की संगति में (इन्द्र) उस परमात्मा की (महय) उपासना कर (य) जो (श्रवसा) अपने सामर्थ्य से (विश्वानि) समस्त ब्रह्माण्डों को (आततान) रचता है और (य) जो (म) मुझ (हवत) नाना पुरुष के (वचांसि) वचनों को (उप श्रोता) समीपतम होकर श्रवण करता है ।

३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १२ २२
[३३१] चक्रं यदस्याप्स्वानिषत्तमुता तदस्मै मधिश्चच्छद्यात् ।
३ १२ २२ ३ २२ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २
पृथिव्यामतिषितं यदूध. पयो गोष्वदधा ओषधीषु ॥६॥
अ० १० । ७३ । ६ ॥

भा०—(अस्य) इस परमेश्वर का (यद्) जो (चक्र) सृष्टिक्रम (अप्सु) प्रजाओं में (आनिषत्तम्) विद्यमान है । (उत उ) और (अस्मै) इस सृष्टिचक्र के लिये (मधु इत्) विशेष मधुर, अन्नादि जीवनरस को ही (चच्छद्यात्) गुप्तरूप से रखता है और (यद्) जो (ऊध) ऊपर उठा हुआ रस का भण्डार, समुद्र, मेघ और पर्वत (पृथिव्यां । इस पृथिवी पर (अति-सित) खूब बलपूर्वक बधा हुआ है उससे ही वह (गोषु) गौओं में और (ओषधीषु) ओषधियों में (पय) पान करने योग्य रसको (अदधा) आधान करता है ।

यज्ञ से प्राणिगण मेघों से अन्न, यज्ञ से मेघ, कर्म से यज्ञ, ब्रह्म से कर्म, अक्षर से ब्रह्म, ऐसा 'चक्र' है, देखो (गी० अ० ३ । १४,१५)

इति चतुर्थी दशति । दशम खण्ड ।

॥ ८० ५॥ ऋषि —१ अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्य० । २ मृगो भद्राजो वा । ३ बाह्रतो विन्दो वा । ४–६, ९ वामदेव । ७ विश्वामित्र० । ८ रेणु । १० गोतम० ॥ देवता–१–६, ९, १० इन्द्र० । ७, ८ पर्वतेन्द्रौ ॥
त्रिष्टुप ॥ धैवत ।
३ ३ २ ३ १-२ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
[३३२] त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम् ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २३ १ २ ३ १ २
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥१॥
अ० १० । १७८ । १ ॥

३३२—तृक्षमदनुते इति तार्क्ष्य० । तार्क्ष्यं इति मघनाम । नि० २ । १४ ॥

भा०—हम लोग (त्य) उस (वाजिन) ज्ञान, वेग, कर्म से युक्त, (देवजूत) देवों, विद्वानों और इन्द्रियों से पूजित, तर्पित (सहोवान) महनशीलता एवं बल से युक्त (रथाना सस्तार) इन रथरूप देहों या गतिशील ग्रहों और ग्रह उपग्रहों को गति तथा परस्पराकर्षण की अद्भुत व्यवस्था द्वारा चलाने हार, (अरिष्टनेमिं) शुभ मार्ग में सबको नियम में सचालन करने हार, (पृतनाज) सब मनुष्य प्रजाओं के भीतर प्रकट होने हार (आशु) सर्वत्र व्यापक या कर्मफल के दाता या भोक्ता (तार्क्ष्यम्) अत्यन्त वेगवान् या व्यापक परमात्मा और आत्मा का (इह) यहां इस अन्तःकरण में (आहुवेम) आह्वान करते हैं।

[३२३] त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्र हवेहव सुहव शूरमिन्द्रम्।
हुवे नु शक्र पुरुहूतमिन्द्रमिदं हविर्मघवा वेत्विन्द्र ॥२॥
ऋ० ६ । ४७ । ११ ॥

भा०—(त्रातारम् इन्द्र) अज्ञानादि से पालक परमेश्वर को, (अवितारम् इन्द्र) रक्षक ईश्वर को और यज्ञों, उपासनाओं से (सुहव) सुख से याग्य, या सुगमता से स्मरण करने योग्य, (शूर) वीर्यवान् (इन्द्र) परमात्मा को (शक्र) शक्तिमान् (पुरुहूत) इन्द्रियों या प्रजाओं से पूजित (इन्द्र) परमात्मा और आत्मा को (नु) ही (हुवे) मैं स्तुति करता हूं। (इदं हविः) इस योग्य स्तुति को (मघवा) वह ऐश्वर्ययुक्त प्रभु (इन्द्र) आत्मा (वेतु) स्वीकार करे।

[३२४] यज्ञायज्ञा वः समना समानमजं विष्ठाभिरभि संवसानाः।
यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा चक्षसे चक्षसे।
स यज्ञयज्ञो वो अग्नये वाजायवाजाय हविषा विधेम ॥१॥
ऋ० १० । २३ । १ ॥

३२३— शूरमिन्द्र', 'हवामि शक्र', 'वातरिन्द्र', इति ऋ० ।
३२४— रथ्य विश्रतानाम्', 'प्रशस्तभिर्दो', 'दधमाना' इति ऋ० ।

भा०—(वज्रदक्षिणं) विघ्नों और पापों के निवारण करने के कार्य में चतुर, (विव्रताना) निकम्मे या विपरीत कर्मों में जाने वाले (हरीणां) इन्द्रियों के (रथ्या) उत्तम सारथी (इन्द) आत्मा को हम (यजामहे) उपासना करते हैं। वह (रमथुभि[1]) शरीर में व्याप्त शिराओं द्वारा सबको (दोधुवद्) गति देता हुआ (ऊर्ध्वधा) सब से उच्च (भुवद्) रहता हुआ सेनापति के समान (सेनाभि) अपनी त्रासकारिणी सेनाओं के समान बन्धनरज्जुओं द्वारा (विराधसा) विशेष साधना द्वारा (मयमान) सब को कंपाया करता है।

३ २३ १ २ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[३३५] सत्राहणं दाधृषिं तुम्रमिन्द्रं महामपारं वृषभं सुवज्रम्।

३ २ ३ २ १ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

हन्तां यो वृत्रं सनितोत वाजं दाता मघानि मघवा सुराधा ॥४॥

ऋ० ४ । १७ । ८ ॥

भा०—(सत्राहणं) सब विघ्न और उपद्रवों के नाशक (दाधृषिं) सबको दबाने वाले (तुम्र) सबके प्रेरक, (अपार) अपार, (वृषभ) सबसे श्रेष्ठ, (सुवज्र) उत्तम वज्र को धारण करने हारे (महाम्) बड़े भारी और (य वृत्रहन्ता) जो वृत्ररूप अज्ञान को मारता (उत वाज सनिता) ज्ञान और अन्न का विभाग कर देनेहारा, (सुराधा) उत्तम साधनों और धनों से सम्पन्न या उत्तमरूप से आराधन करने योग्य, (मघानि दाता) ऐश्वर्यों और कर्मफलों को देनेहारा है उसको (इन्द्र) इन्द्र' कहो, जानो।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३३६] यो नो वनुष्यन्नभिदाति मर्त्त उगणा वा मन्यमानस्तुरा वा।

३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

क्षिधी युधा शवसा वा तमिन्द्राभी ष्याम वृषमणस्त्वोता ॥५॥

---

१. रमनि शरीरे शेते इति रमश्च सिराः। रम शरीरं निरु० ३।१।३।

भा०—(यो मर्त्त) जो मनुष्य (वनुष्यन्) मारने की इच्छा से (न अभिदाति) हम पर प्रहार करता है। (उगणा वा मन्यमान) या अपने को बहुतसे योद्धाओं सहित बलवान् मानता हुआ, (तुरो वा) या आवेश में आया हुआ, (क्षिधी) प्राणविनाशक (युधा) हथियार से या (शवसा) बल से हमारे प्रति (अभिदाति) आता और प्रहार करता है हे परमेश्वर ! सेनापते ! (स्वाता) हम तेरे से रक्षित होकर (वृषमण) खूब पुष्ट शरीर होकर (तम्) उस दुष्ट के प्रति (अभि स्याम) मुकाबले पर डट जाय और उसे दबावें।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३३७] य वृत्रपु क्षितय स्पर्धमाना य युक्तेषु तुरयन्तो हवन्ते।
१२ २२ ३ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १२ २२
य शूरसातौ यमपामुपज्मन् य विप्रासो वाजयन्ते स इन्द्र ॥६॥

भा०—(य) जिसका (वृत्रपु) उपद्रव और विघ्नों के अवसर पर या ज्ञान के आवरण करनेहारे कारणों के उपस्थित होने पर (क्षितय) देश निवासी प्रजाएं और देह की इन्द्रियां (स्पर्धमाना) एक दूसरे से बढ़ने की इच्छा करने हारी (हवन्ते) स्तुति करती हैं, (य) जिसका (युक्तेषु) संग्राम में या योगक्रियाओं में भारत पुरुषों के बीच (तुरयन्त) परस्पर हिंसा करते हुए या व्युत्थान दशाओं पर या विघ्नों पर विजय करते हुए साधक (हवन्ते) स्मरण करते हैं। (य शूरसातौ) जिसे शूरवीरों के संग्राम में स्मरण किया जाता है। (यम् अपाम्) जिस को प्रजाओं के बीच में पुकारा जाता है और (यम् उपज्मन्) जिसको भूमि पर अन्न आदि लाभ के लिये याद किया जाता है और (य विप्रास) जिसको ज्ञान के अभिलाषी विद्वान् लोग (वाजयन्ते) स्तुति करते हैं (स इन्द्र) वह 'इन्द्र' है।

[३३८] इन्द्रापर्वता बृहता रथेन वामीरिष आवहतं सुवीरा ।
वीतं हव्यान्यध्वरेषु देवा वर्धेथां गीर्भिरिडया मदन्ता ॥७॥
अ० ३ । ५३ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! और हे (पर्वत) सबका पूरण, पालन और तृप्त करने हारे परमेश्वर ! आप दोनों (बृहता रथेन) बड़े रथ या रमण साधन के द्वारा (सुवीरा) उत्तम वीर्यसम्पादक या, उत्तम सन्तानजनक, (वामीः) मनोहर (इषः) अन्नादि भोग्य पदार्थ (आवहतं) प्राप्त कराओ । हे (देवा) दानशील देवो ! (अध्वरेषु) यज्ञ आदि हिंसारहित जीवोपकारी कार्यों में (हव्यानि) आदान योग्य पदार्थों को (वीतं) स्वीकार करो । (गीर्भिः) वेदवाणियों द्वारा और (इडया) अन्न के उत्तम अंशों से (मदन्ता) प्रसन्न, तृप्त होते हुए (वर्द्धेथां) पुष्ट होओ । अध्यात्म पक्ष में इन्द्र=आत्मा और पर्वत=शरीर, आधिभौतिक में इन्द्र=सूर्य, पर्वत=मेघ या विद्युत् और पर्वत ।

[३३९] इन्द्राय गिरो अनिशितसर्गा अप प्रैरयत् सगरस्य बुध्नात् ।
यो अक्षेणेव चक्रियो शचीभिर्विष्वक्तस्तम्भ पृथिवीमुत द्याम् ॥८॥
अ० १० । ८९ । ४ ॥

भा०—जो परमेश्वर (सगरस्य बुध्नात) अन्तरिक्ष के प्रदेश या पेन्दा से मेघ के समान (अप प्रैरयत्) जलों को नीचे वर्षण करता है और (यः) जो (अक्षेण) धुरे के बल पर (चक्रियौ इव) दो चक्रों के समान शची

३३८—'मदन्तम्' इति पाठः कलिकाता अजमेरादि संस्करणगतः प्रमादिकः ।
सायणादिभाष्यविरोधादसंगतेश्च ।
३३९—'चक्रियौ' इति ऋ० ।

भि) अपनी शक्तियों से (पृथिवीम् उत द्याम्) पृथिवी और द्यौलोक को (तस्तम्भ) थामे हुए है । इस (इन्द्राय) सर्वशक्तिमान् इश्वर के लिये (अनिशितसर्गा) अखण्डित रचना वाली (गिर) वेदवाणियां स्तुति करने हारी हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३२ ३१ २ ३१ २
[३४०] आत्वा सखाय सख्या ववृत्युस्तिर पुरूचिद्वर्णंग्राञ्जगम्या ।
३१२ ४२३ १ २ ३ ४ ३ १२ ४२ ३ १२ १
पितुनपातमादधीत वेधा अस्मिन् क्षये प्रतरां दीद्यान ॥६॥
ऋ० १० । १० । २ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (सखाय) तेरे समान ख्याति चाहने वाले, तेरे सनेही (सख्या) मित्रभाव से (त्वा) तुझको (आववृत्यु) प्रेम करते हैं या अपनाते हैं । तू (तिर) तिर्यग् योनियों में (पुरू) इन्द्रियों या प्रजाओं में (चित्) चेतनावान् होकर (अध्वरम्) देह में (जगम्या) प्रविष्ट है उसका प्राण है । तू (अस्मिन् क्षय) इस निवासयोग्य देह में (प्रतरां) अति उत्तम प्रकार से (दीद्यान) प्रकाशमान होता हुआ, (वेधा) ज्ञान सम्पन्न होकर (पितु) सबके पालन करनहार परमेश्वर के समान (पात) हमारी रक्षा (आदधीत) कर । इन्द्रियों का आत्मा के प्रति, प्रजा का राजा या परमेश्वर के प्रति कथन है ।

२ ३ १ २ ३ २ ४ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ४ २
[३४१] को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हणायून् ।
३ १ २ ३ १ ४ ३ १ ४ २ ४ ३ २ ३ ४ ३ १ ४
आसन्निषूञ्छुचयद्भो मयोभून्य एषां भृत्यामृणधत्स जीवात्१०
ऋ० १ । ८४ । १६ ॥

३४०—' त्वामवाय सख्या, ववृत्या तिर पुरूचिन्नस्य जग्मान् । पितुर्नात्मा दधीत वधा अस्मिन् क्षये प्रतर दीद्यान " । इति ऋ० ।

१. यमी ऋषि , ऋग्वेदे ।

३४१—'आसन्निषूञ्छुचयद्भो' इति ऋ० ।

भा०—(अद्य) वर्त्तमान में (ऋतस्य) इस गतिमान् जीवित देह रूप रथ के (धुरि) धुरा में (शिमीवत) कामना करने हारे (भामिन) आवेश से युक्त (दुर्हणायुन्) दुःशील (अप्सुवाह) अपने अभिलाषित पदार्थों में शरीर का लजाने वाले (मयोभून्) सुख उत्पन्न करनहारे (गा) बैलों के समान, इन्द्रियों को (क) कौन (युक्त) लगाता है ? (एषां आसन्) इनके मुख में (य) जो (एषां) इनकी (भृत्या) भरण पोषण सामग्री को (ऋणधत्) उत्तम रूप से देता है और उनका पालन पोषण करता है (स) वह ही (जीवात्) जीवन धारण करता है ।

इति पञ्चमी दशति । एकादश खण्ड ।

॥ द० ६ ॥ ऋषि—१ मधुच्छन्दा । २ जेता माधुच्छन्दस । ३, ६ गौतम । ४ अत्रि । ५, ८ तिरश्ची । ७ काण्वो नीपाति च । ९ विश्वामित्र । १० शुनःशेप ऋषिर्देवता ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् । गान्धार ॥

[३४२] गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किण ।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥ १ ॥

ऋ० १ । १० । १ ॥

भा०—हे शतक्रतो ! (त्वा) तुझको (गायत्रिण) गान करनहारे उद्गाता, सामगायक (गायन्ति) गान करते हैं । (अर्किण) ऋग्वेदी विद्वान् (त्वा अर्चन्ति) वेदमन्त्रों द्वारा तेरे गुणगान करते हैं । (ब्रह्माण) और अथर्ववेद या चारों वेदों के विद्वान् ब्रह्मा लोग (त्वा) तुझको (वंशम् इव) अपने वंशधर, प्रथम पुरुष के समान (उद् येमिरे) उच्चकोटि पर मानते हैं ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३४३] इन्द्र विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः ।
३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ ३ २ ३ १ २
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥ २ ॥

ऋ० १ । ११ । २ ॥

भा०—(विश्वा गिरः) समस्त वेदवाणियां (समुद्रव्यचसं) आकाश के समान सर्वत्र व्यापक, (रथीनां रथीतमम्) महारथियों में सर्वश्रेष्ठ महारथी के समान देहधारियों में सब से विराट् देह, ब्रह्माण्ड को धारण करनहारे, सबके प्रेरक, (वाजानां) सब ज्ञानवान् पुरुषों के (सत्पतिं) सच्चे स्वामी, या सज्जनों के पालक और (पतिं) सबके पालक (इन्द्रं) परमेश्वर को (अवीवृधन्) बड़ा कहती हैं, उसकी महिमा को बढ़ाती हैं।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३४४] इमामिन्द्रसुतं पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम् ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
शुक्रस्य त्वाभ्यक्षरन् धारा ऋतस्य सादने ॥ ३ ॥

ऋ० १ । ८४ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (इमं) इस (अमर्त्यं) मरणधर्मा पुरुषों को प्राप्त न होने वाले, या कभी नष्ट न होने वाले, दिव्य, (ज्येष्ठं) सब से उत्कृष्ट, (मदं) आनन्दस्वरूप, (सुतं) योगज ज्ञानसम्पन्न रस को (पिब) पान कर । (ऋतस्य) सत्य ज्ञान के (सादने) उत्पन्न होने की स्थिति में (शुक्रस्य) शुद्धस्वरूप, शुक्र, कान्ति की (धारा) धारणशक्ति, धारा या प्रवाह (त्वा) तेरे प्रति (अभि अक्षरन्) बहते हैं।

पतञ्जलि ने योगसूत्र में स्पष्ट लिखा है—'निर्विचारवैशारद्ये अध्यात्म प्रसादः' । जिस पर व्यासदेव ने लिखा है "अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूत स्वरूप स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम् । यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं आयते तदा योगिनो भवति अध्यात्मप्रसादः । भूतार्थविषय क्रमानुरोधी स्फुट प्रज्ञालोकः' । अत

मरा तत्र प्रज्ञा। (पात० सू०) तस्मिन् समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या 'ऋतभरा' इति सज्ञा भवति। अन्वर्था च सा। नच तत्र विपर्यास ज्ञानगन्धोऽपि॥" इसी प्रकार ऐतरेय उप० में भी लिखा है। अर्थात् निर्मल चित्त होजाने पर स्वच्छ स्थिति प्रवाह होजाता है तब योगी के सत्य ज्ञान का प्रज्ञा नयन खुल जाता है।

[३४५] यदिन्द्र चित्र म इह नास्ति त्वादातमदिव।
राधस्तन्नो विदद्वस उभया हस्त्याभर॥ ४॥
ऋ० ५। ३९। १॥

भा०—हे अदिव! सब अन्धकारों को दूर करनेहारे इन्द्र! (मे) मेरा (इह) इस ससार में (यद्) जो (त्वादात) तेरे से दानरूप में प्राप्त करने योग्य (नास्ति) नहीं हुआ है (तद् राध) वह धन या सिद्धि हे (चित्र) पूजनीय! हे (विदद्वसो) विद्वानों के एकमात्र प्राणस्वरूप! (नः) हमें (उभया हस्त्या भर) दोनों हाथों से, दिल खोलकर दे।

[३४६] श्रुधी हव तिरश्च्या इन्द्र यस्त्वा सपर्यति।
सुवीर्यस्य गोमतो रायस्पूर्धि महाँ असि॥ ५॥
ऋ० ८। ९२। ४॥

भा०—हे इन्द्र! (य) जो (त्वा) तुझे (सपर्यति) उपासना करता है उस (तिरश्च्या) पूर्ण रूप से शरीर में गति करनेहारे प्राण, या पूर्ण ज्ञानी साधक की (हव) स्तुति का (श्रुधि) श्रवण कर, स्वीकार कर। हे इन्द्र! तू (महान् असि) बड़ा है, इसलिये (सुवीर्यस्य) उत्तम वीर्यसम्पन्न (गोमत) पशु एव इन्द्रिय और वाणी आदि से युक्त (राय) धनों और ज्ञानों से हमें भर दे।

३४५—'यदिन्द्र चित्र मेह नास्ति' इति ऋ०।

१ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २
[३४७] असावि सोम इन्द्र ते शविष्ठ धृष्णवागहि ।
१ २ ३२४ ३ २ ३ २ ३ १ २
आ त्वा पृणक्त्विन्द्रिय रज सूर्यो न रश्मिभि ॥ ६ ॥
ऋ० १ । ८४ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (ते) तेरे लिये (सोम) सोम, ऐश्वर्य और ज्ञानानन्द (असावि) उत्पन्न किया जाता है । हे (शविष्ठ) अति बलिष्ठ ! हे (धृष्णो) सबको परास्त करनेहारे ! (आगहि) आ जा, समीप आ जा । (इन्द्रिय) यह इन्द्रिय और चित्त अथवा तेरी विभूति या ऐश्वर्य (त्वा) तुझको (सूर्य न) सूर्य जिस प्रकार (रश्मिभि) अपनी रश्मियों से (रज) इस ब्रह्माण्ड को पूर देता है उसी प्रकार (आ पृणक्तु) सब ओर से भर दे ।

१ २ ३ १ २ ३२ ३ १ २ ३ २
[३४८] एन्द्र याहि हरिभिरुप कण्वस्य सुष्टुतिम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
दिवो अमुष्य शासतो दिव यय दिवावसो ॥ ७ ॥
ऋ० ८ । ३४ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! अपने (हरिभि) ज्ञान प्राप्त करानेहारे साधनों, इन्द्रियों से (कण्वस्य) कर्णों से सचित इस देह या देही या प्रज्ञावान् आत्मा की (सु स्तुतिं) उत्तम स्तुति या उपभोग को (उप आयाहि) प्राप्त कर और भोग कर । हे (दिवावसो) अपने तेज से प्राणरूप होकर बसनेहारे जीव ! (अमुष्य) उस तेरे (दिव) इस द्यौलोक का (शासत) शासन करनेवाले जगदीश्वर के (दिव) दिव्य कान्ति को (यय) चला, जा, प्राप्त कर ।

३ २ १२ ३ २ ३ १ २ ३१
[३४९] आ त्वा गिरो रथीरिवास्थु सुतेषु गिर्वण ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१२ ३ १ २
अभि त्वा समनूषत गावो वत्स न धेनव ॥ ८ ॥
ऋ० ८ । ९५ । १ ॥

भा०—हे गिर्वणः ! वेदवाणियों द्वारा ज्ञान करने योग्य (सुतेषु) योगसाधनों में, यज्ञों में (गिरः) वेदवाणियां (रथी इव) वेगवान् रथारोहियों के समान (त्वा अस्थुः) तेरे ही प्रति आ जाती हैं। (गावः) ये वेदवाणियां (धेनवः वत्सं न) गौएं जैसे अपने बछड़े के प्रति आती हैं उसी प्रकार (त्वा अभि सम् अनूषत) तेरी ही प्रत्यक्षरूप से स्तुति करती हैं।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[३५०] एतो न्विन्द्र स्तवाम शुद्ध शुद्धेन साम्ना।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं शुद्धैराशीर्वान् ममत्तु ॥ ६ ॥

ऋ० ८। ६५। ७॥

भा०—हे विद्वानो ! आप लोग (आ इत) आओ, (नु) और (शुद्ध इन्द्र) विद्या और तप से पवित्र (शुद्धेन साम्ना) स्वरसंस्कारों से शुद्ध सामगान द्वारा, (शुद्धैः उक्थैः) पवित्र ऋग्वेद के मन्त्रों द्वारा (वावृध्वांसं) महिमा से बढ़े (इन्द्रं) परमेश्वर की (स्तवाम) स्तुति करें। (शुद्धैः) शुद्धिजनक तपों से यह (आशीर्वान्) शुभ आशीर्वादों से युक्त होकर (ममत्तु) आनन्द प्रसन्न रहे।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[३५१] यो रयिं वो रयिन्तमो यो द्युम्नैर्द्युम्नवत्तमः।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सोम सुतः स इन्द्र तेऽस्ति स्वधापते मदः ॥१॥

ऋ० ६। ४४। १॥

भा०—(यः) जो स्वयं (रयिन्तमः) सबसे उत्तम ऐश्वर्य है और (यः द्युम्नैः) जो कान्तियों ओजों और ऐश्वर्यों से (द्युम्नवत्तमः) अत्यन्त

३५०—'शुद्ध आशीर्वान्' इति ऋ०।

३५१—'यो रयिवो' इति ऋ०।

अधिक कान्तिसम्पन्न, ऐश्वर्यवान् है (स) वह परमेश्वर (व) आप लोगों को (रयिम्) जीवन, धन दे। हे परमेश्वर [1] (हे स्वधापते) हे समस्त स्वयं अपने को धारण करने हारे जीवों के पालक, (सुत) तैयार किया हुआ (सोम) सोम ज्ञान, आनन्दरस या समस्त ऐश्वर्य ही (ते मद) तेरे हर्ष का साधन (अस्ति) है।

इति षष्ठी दशति । द्वादश खण्ड ।

इति तृतीयोऽध्याय

अथ चतुर्थोऽध्यायः

॥द० ७॥ ऋषि—१ भरद्वाजो बार्हस्पत्य । २ वामदेव शाक्यपूतो वा । ३ प्रिय मेध । ४ प्रगाथ । ५ इषीरथ आत्रेय । ६ शंयु । ७ वामदेव । ८ जेता माधुच्छन्दस ॥ देवता—१–४, ६, ८ इन्द्र । ५ मरुत । ७ दधिक्रावा ॥ अनुष्टुप् । गान्धार ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १ २
[३५२] प्रत्यस्मै पिपीषते विश्वानि विदुषे भर।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अरङ्गमाय जग्मयेऽपश्चाद्दध्वने नर ॥ १ ॥

ऋ० ६ । ४२ । १ ॥

भा०—(अस्मै पिपीषते) इस सोम पान करने की इच्छा वाले, (विश्वानि विदुषे) समस्त पदार्थों के जानने हारे, (अरङ्गमाय) सर्व व्यापक, (अपश्चात् जग्मये) कभी पीछे न जाने वाले, प्रत्युत सब के अग्रेसर, (नर दध्वने) मनुष्यों को सन्मार्ग पर ले जानेहारे परमेश्वर रूप नेता के लिये (प्रति भर) प्रतिदिन अपने आपका समर्पण कर।

३५२—'दध्वने नरे' इति ऋ० ।

१ २ ३ १ ३ १ २ ३ २
[३५३] आ नो वयो वयःशय महान्त गह्वरेष्ठाम् ।
३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ ३ १ २
महान्त पूर्विनेष्ठाम् । उप्र वचो अपावधीः ॥२॥

भा०—(न) हम लोग (वय शय) जीवन भर को समाप्त करने हार कालरूप (महान्त) बड़ भारी, (गह्वरेष्ठाम्) हृदयगुहा में स्थित, (वय) जीवनप्रद (वय शय) जीवन भर में व्यापक बल का (आ) हमें प्रदान कर । और (पूर्विनेष्ठां) प्रारम्भ काल से संसार का नियम स चलाने हार (महान्त) उस महान् परमेश्वर की हम स्तुति करत हैं । हे पुरुष ! (उप्र वच) उग्र वचनों को (अप अवधीः) दूर मार भगा । और सौम्यगुण सीख क सब हृदयों में महान् प्रभु का आवास जानकर और उसी का समस्त संसार का व्यवस्थापक जान कर किसी का कठोर वाणी से मत सता ।

२ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३५४] आ त्वा रथं यथोतय सुम्नाय वर्तयामसि ।
३ १ २ ३ १ ३ १ १ ३ १ २
तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्रं शवेषु सत्पतिम् ॥ ३ ॥
ऋ० ८ । ६८ । १ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार से हम (रथं) अपने इस रमणीय घन=स्थूल देह को (सुम्नाय) उत्तम मनन करने योग्य ज्ञानरूप धन की प्राप्ति के लिये (आवर्तयामसि) पुष्ट धारण करत हैं, उसी प्रकार हे (तुविष्ट) बलवान् ! (तुविकूर्मिम्) नाना प्रकार के महान् कार्यों के सम्पादन करनेहारे (ऋतीसह) इन्द्रियों और दुःखदायी विषयों के अभिभावक, (सत्पतिं) सज्जनों के स्वामी, (त्वा) तुझ परमेश्वर का भी (आवर्तयामसि) बार २ अपने में धारण करत हैं । साक्षात् ज्ञानप्राप्ति के लिये

३५४—'इन्द्रं शविष्ठ सत्पते' । इति ऋ० ।

जहा पुन २ जन्म ग्रहण करना आवश्यक है वहा मोक्ष के लिये पुन भगवदाराधन भी आवश्यक है ।

२ ३ १ ३ १ २ ३१२ १२
[३५५] स पूर्व्यो महोना वेन क्रतुभिरानजे ।
३ २ १२ २ ३ २ ३२३ १ २ ३ २
यस्य द्वारा मनु पिता दक्षसु धिय आनज ॥ ४ ॥
ऋ० ८ । ६३ । १ ॥

भा०—(स) वह (वन) विद्वान् (महोना) पूजनीय पुरुषों में से भी (पूर्व्य) सबसे पूर्व पूजा के योग्य है जो (क्रतुभि) कर्मों और ज्ञानों द्वारा (आनज) सबको प्रेरित या प्रकट करता है । (यस्य द्वारा) जिसको साधन बनाकर (मनु पिता) मननशील स्वामी, परमात्मा (दक्षसु) विद्वान् पुरुषों में (धिय) अपनी बुद्धियों को (आनज) प्रेरित करता है ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[३५६] यदी वहन्त्याशवो भ्राजमाना रथेष्वा ।
१ २ ३२३ ३ २ ३ १ २
पिबन्तो मदिर मधु तत्र श्रवांसि दधिरे ॥ ५ ॥

भा०—(यत्) जहा और जब भी (रथेषु) रमणसाधन या वेगवान् साधनों पर गतिशील इन्द्रियों के आश्रय (आशव) शीघ्रगामी मरुद्गण प्राणगण (भ्राजमाना) कान्तिमान्, तेजस्वी होकर (ईं) इस आत्मा के (मदिर) पुष्टिकर (मधु) ज्ञान या आनन्द का मात्रा का (पिबन्त) पान करते हुए (वहन्ति) पहुचा देते हैं वे (तत्र) वहा (श्रवांसि) वेदवचनों, अनाहत नादों का (दधिरे) साक्षात् करते हैं । जैसा कहा है—

"आगमनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञा लभते योगमुत्तमम् ।"
(योग व्या० भा० । सू० ४८)

३५५— महोना' इति ऋ० ।

१ २ ३ १ २ ३१२ २१ ३ १ २
[३५७] त्यमु षो अप्रहणं गृणीषे शवसस्पतिम् ।
१ २ ३ २३२३ १ २ ३ १ २
इन्द्रं विश्वासाहं नरं शचिष्ठं विश्ववेदसम् ॥ ६ ॥

ऋ० ६ । ४४ । ४ ॥

भा०—(व) आप लोगों के प्रति मैं (त्यम् उ) उस ही (इन्द्र) ऐश्वर्यवान्, (विश्वासाह) सब को सहन करने हारे, (नर) नेता, (शचिष्ठ) सब से अधिक शक्तिमान्, (विश्ववेदस) सबको जानने हारे, सर्वज्ञ, (अप्रहणं) किसी से न मारा जाने हारे, (शवसस्पतिं) बल के द्वारा सबके पालक स्वामी की (गृणीषे) स्तुति करता हूं, उसका उपदेश करता हूं ।

३ १ २ ३ १२ २१ ३ १ २
[३५८] दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः ।
३ २ ३१ २ ३ २ ३ १ २
सुरभि नो मुखा करत् प्र न आयूंषि तारिषत् ॥७॥

ऋ० ४ । ३९ । ६ ॥

भा०—(जिष्णो.) सब पर विजय प्राप्त करने हारे, (वाजिन बलवान्, (अश्वस्य) सर्वव्यापक, (दधिक्राव्ण) शरीर को धारण करके योनि से योनि में गति करने हारे आत्मा, अथवा ब्रह्माण्ड भर को स्वयं धारण करके चलाने हारे परमेश्वर का (अकारिष) मैं वर्णन करता हूं । वह (न) हमारे (मुखा) रूपादि विषयों को भीतर लेने वाले मुख, इन्द्रियों को (सुरभि) उत्तम रूप से कार्य करने हारे, बलवान्, कर्म निपुण, (करत्) करे और (नः आयूंषि) हमारे जीवनों को (प्र तारिषत्) तार दे, कृतार्थ करे, बढ़ावे ।

३५७—'नरं महिष्ठं विश्वचर्षणिम्' इति ऋ० ।

३ २ ३ १र २र ३ १र २र
[३५९] पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्त्ता वज्री पुरुष्टुतः ॥ ८ ॥

ऋ० १ । ११ । ४ ॥

भा०—(पुरां भिन्दु) समस्त देहों को कारण में लय कराकर उनका भेदन कराने हारा, सबको मुक्ति देनेहारा, (युवा) सबका सखी (कवि) सबके हृदयों के भीतर का भी जानने हारा, अन्तर्दर्शी, मेधावी (अमितौजा) अनन्तशक्ति और बल से युक्त, (विश्वस्य कर्मणो धर्त्ता) समस्त ब्रह्माण्ड के कार्य को धारण करने हारा (वज्री) सबका सहारक, सर्वशक्तिमान् (पुरु-स्तुत) सबसे स्तुति करने योग्य, एकमात्र उपास्य देव (इन्द्रः) वह ऐश्वर्यशील परमेश्वर ही है ।

इति सप्तमी दशतिः । प्रथम खण्डः ।

॥ द्० ८ ॥ ऋषि—१, ३, ५ त्रिशोकमेधाः । २, १० वामदेव । ४ मधुच्छन्दा । ६ भरद्वाज । ७ अत्रिः । ८ प्रस्कण्व । ९ आप्रयस्त्रिण ॥ देवता—१-७ इन्द्रः । ८ ऊषा । ९ विश्वेदेवाः । १० ऋक्सामे ॥ अनुष्टुप् ॥ गान्धारः ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३६०] प्र प्र वस्त्रिष्टुभमिषं वन्दद्वीरायेन्दवे ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
धिया वो मेधसातये पुरन्ध्या विवासति ॥ १ ॥

ऋ० ८ । ६९ । १ ॥

भा०—(व) आप लोग (वन्दद्वीराय) वीरों से सम्मानित, (इन्दवे) ऐश्वर्यशील आत्मा को (त्रिष्टुभं) मन वाणी और कर्म तीनों द्वारा प्रशंसित, (इषं) सोम आदि अन्न या अभिलाषित कामनाओं को (प्र प्र)

उत्तम रीति से प्रकट करो । (पुरं-धीं) इस देह या ब्रह्माण्ड रूप पुर को धारण करने हारी (धिया) उत्तम धारणावती बुद्धि से वह आत्मा (मेधसातये) पवित्र ज्ञान की प्राप्ति कराने के लिये (व.) आप लोगों को (आ विवासति) संयुक्त करता और अभिलषित फल प्रदान करता है ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[३६१] कश्यपस्य स्वर्विदा यावाहुः सयुजाविति ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २
ययोर्विश्वमपि व्रत यज्ञं धीरा निचाय्य ॥ २ ॥

भा०—(स्वर्विदः) ज्योतिः स्वरूप सुख को साक्षात् करनेहारे (धीराः) विद्वान् लोग (यौ) जिन प्राण और अपान को (कश्यपस्य) योगी, साधक, द्रष्टा आत्म ।के (सयुजौ) नित्य के सहयोगी, साथी (आहुः) बतलाते हैं और (ययोः) जिनके (विश्वम् अपि) सभी (व्रत) कर्मों को (यज्ञं निचाय्य आहुः) जीवन या प्राणापानमय यज्ञ के निमित्त ही निश्चय करते हैं ।

सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात, प्राण, अपान, चित्त और अहंकार, मन, बुद्धि आदि साथी समझने चाहियें । आधिदैविक पक्ष में मित्रावरुण, सूर्य और मेघ लेने चाहियें ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३६२] अर्चत प्रार्चता नरः प्रियमेधासो अर्चत ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरमिद् धृष्णवर्चत ॥ ३ ॥
अ० ८ । ६९ । ८ ॥

भा०—हे (प्रियमेधासः) उत्तम बुद्धि वाले (नरः) पुरुषो ! आप (पुरम् धृष्णुं इद्) इस पुर, ब्रह्माण्ड और इस पिण्ड को धारण करनेहारे आत्मा और परमात्मा की ही (अर्चत) स्तुति करो, (प्र अर्चत) और उत्तमरूप से गुणगान करो और (अर्चत) उपासना करो । हे (पुत्रकाः)

पुरुषों को दुःखों से त्राण करने हारे लोगो ! उसी की (उत अर्चन्तु) प्रार्थना उपासना किया करो ।

३ १२ २१३ २ ३ १२ ३ १ २
[३६३] उक्थमिन्द्राय शस्य वर्धन पुरु निष्षिधे ।
३ १२ २१ ३ १ २ ३१ २ ३ १२
शक्रो यथा सुतेषु नो रारणत् सख्येषु च ॥४॥ ऋ०१।१०।५॥

भा०—(पुरु निष्षिधे) इन्द्रियों या प्रजाओं में सब प्रकार की गति देनेहारे, व्यापक (इन्द्राय) आत्मा की (वर्धन) महिमा दर्शाने वाला, (उक्थ) वेदमन्त्र (शस्य) उच्चारण करना चाहिये । (यथा) जिससे (शक्र) वह सर्वशक्तिमान् ईश्वर (सुतेषु) हमारे पुत्र पौत्रों या यज्ञों में और (सख्येषु च) मित्रों और मित्रता के कार्यों में भी (नः) हमें (रारणत्) प्रसन्न रक्खे ।

३ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३६४] विश्वानरस्य वस्पतिमनानतस्य शवस ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
एवैश्च चर्षणीनामूती हुवे रथानाम् ॥ ५ ॥
ऋ० ८ । ६८ । ४ ॥

भा०—हे (मरुत) इन्द्रियगण ! या प्रजाओ ! (विश्वानरस्य) समस्त संसार के नेता, (अनानतस्य) किसी से न हारने वाले, (शवस) बल के (पतिं) पालक ईश्वर को (चर्षणीनां) सब प्रजाओं के (एवैः च) व्यवहारों के लिये और (रथानां ऊतये) इन देहस्वरूप रथों की रक्षा के लिये (व) आप लोगों को (हुवे) आह्वान करता हूं ।

३ १ २ ३ १ २१ ३।१२ २१ ३ १ २
[३६५] स घा यस्ते दिवो नरो धिया मर्त्तस्य शमत ।
३ १२ २१३ २ ३ २ ३ २४ ३ १ २
ऊती स बृहतो दिवो द्विषो अंहो न तरति ॥ ६ ॥
ऋ० ६ । २ । ४ ॥

३६५—'ऋषद् यस्ते सुदानवे धियामत्ते शशमते । ऊती०' । इति ऋ० ।

समान तेजस्वी आत्मा, या प्रकाशित सूर्यभाग के (अन्तेभ्य परि) दिशाओं के परले सिरे या प्रान्तभागों से (पतत्रिण) उड़नेहार (वय) पक्षिगण के समान परमहंस विद्वान्गण, और अध्यात्म में इन्द्रियगण (द्विपात्) और दो पाये मनुष्य और (चतुष्पात्) चौपाये पशु (चित्) भी (प्रारन्) गति करते हैं। यह उषा के रूपक में चितिशक्ति का वर्णन किया गया है। द्यौ=सूर्य। पतत्रि=ज्ञान इन्द्रियगण। द्विपात्=हाथ, चतुष्पाद= पैर आदि। विशोका प्रज्ञा का उदय ही उषा का उदय कहा गया है।

३ १२ २१३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १ २
[३६८] अमी ये देवा स्थन मध्य आरोचने दिव ।
१ २ ३२३ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
कद्व ऋत कदमृत का प्रत्ना व आहुति ॥ ६ ॥
ऋ० १ । १०५ । २ ॥

भा०—(य अमी देवा) जो ये देवगण (आरोचन) कान्तिमान् (दिव मध्ये) द्यौलोक के मध्य में (स्थन) विद्यमान हैं। हे देवो ! मैं आप से प्रश्न करता हूं कि (व) आप लोगों का (ऋत कत्) सत्य २ तत्व क्या है ? (कत् अमृतम्) आपका अमृतस्वरूप किस प्रकार का है ? (व) आपको (प्रत्ना) प्राचीन (आहुति) स्मरण करने और तर्पण करने का पदार्थ क्या है ? अर्थात् आपका प्राचीन मूलभूत नाम और वास्तविक द्रव्य क्या है ?

इन तीनों प्रश्नों के क्रम से उत्तर देखिये ऋ० १ । सू० १०५ । मन्त्र १२, १५, १६ ।

३ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३६९] ऋच साम यजामहे याभ्या कर्माणि कृण्वते ।
१२ २१ ३ २ ३१२
वि ते सदसि राजता यज्ञ देवेषु यक्षत ॥ १० ॥

भा०—(याभ्या) जिन ऋग्वेद और सामवेद से (कर्माणि) यज्ञ आदि समस्त संसार के कर्म (कृण्वते) करते हैं उन (ऋच) ज्ञानमय

जजनुः च) अपना इन्द्र प्रभु भी प्रकट करते हैं । अध्यात्मपक्ष में-इन्द्रियों ने जीव को अपना स्वामी चुनते हैं । देखो (बृहदारण्यक उप० ६ । १ ।)

[३७१] अत्ते दधामि प्रथमाय मन्यवेऽहन्यद्स्युमुत मर्यं विवेरपः ।
उभे यत्वा रोदसी धावतामनु व्यसात्ते शुष्मात्पृथिवी चिदद्रिव २
ऋ० १० । १४७ । १ ॥

भा०—हे (अद्रिव.) अखण्ड ज्ञानवन् ! परमेश्वर ! (प्रथमाय) सबसे श्रेष्ठतम, सबसे पूर्व विद्यमान, सब के आदि कारण (मन्यवे) माननीय या ज्ञानस्वरूप (ते) तुझे (अत् दधामि) सत्य रूप मानकर धारण करता हूं. तुझे सत्य ज्ञानस्वरूप मानता हूं । (यद्) क्योंकि तू (दस्युं) नाशक उपद्रवी को (अहन्) मारता है और (नर्यं) मनुष्यों के हितकारी (अप·) जल आदि पदार्थों कर्मों और ज्ञानों को (विवे·) प्रकट करता है । (यत्) और क्योंकि (त्वा) तेरे बल पर ही (रोदसी) द्यौलोक और पृथिवी लोक (उभे) दोनों (धावताम्) गति कर रहे हैं । हे (अद्रिव·) ज्ञान और बल से युक्त सब के सहारकारिन् ! (पृथिवी चित्) यह अतिविस्तृत अन्तरिक्ष भी (ते शुष्मात्) तेरे बल से (अनु व्यसात्) भय करता है ।

[३७२] समेत विश्वा ओजसा पतिं दिवो य एक इद् भूरतिथिर्जनानाम्
स पूर्व्यो नूतनमाजिगीषन्तं वर्तनीरनुवावृत एक इत् ॥३॥

भा०—हे (विशः) समस्त प्रजाओ ! (ओजसा) अपने ओज या तेज से (यः एक· एव भू·) जो स्वयं अकेला, सामर्थ्यवान् सत्स्वरूप,

३७१—'अहन्यद् वृत्र इति 'उभे यत्वा भवतो रोदसी अनुरेजत' इति च ऋ० ।

समस्त जगत् का उत्पादक है, (जनानाम् अतिथिः) और जो समस्त प्राणियों के भीतर व्यापक है, उस (पतिं) सब के पालक परमेश्वर की शरण में (सम् एत) आजाओ । (स पूर्व्यः) वह सबसे पूर्व विद्यमान होकर (नूतनम्) पुनः बाद में उत्पन्न (आजिगीषन्तं) इस संसार की शक्तियों पर विजय चाहने वाले मानव पुरुष के लिये (एक इत्) एक ही (वर्तनीः) मार्ग (अनु वावृते) है ।

'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।' यो० सू० ।

नान्यः पन्था विद्यते अयनाय । यजु० ।

३ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[३७३] इमे त इन्द्र ते वय पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो ।

२ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत् क्षोणीरिव प्रति तद्धर्य नो वच ४

ऋ० १ । ५७ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! हे (प्रभूवसो) ! प्रभूत धनसम्पन्न ! हे (पुरु-स्तुत) सब प्रजाओं से स्तुति किये गये ! (ये वय) जो हम (त्वा आरभ्य) तुझ से ही प्रारम्भ करके (चरामसि) यात्रा कर रहे हैं । (इमे ते) ये वे हम सब (ते) तेरे ही हैं । हे (गिर्वण) वाणियों के एकमात्र विषय ! (गिर) इन सब वेदवाणियों को (त्वत् अन्यः) तुझ से दूसरों को (नहि सघत्) प्राप्त नहीं होता अर्थात् वे सब तेरी ही स्तुति करते हैं । (तत्) इसलिये (नः वचः) हमारी वाणी को तू (क्षोणीः इव) माता पृथ्वी के समान (प्रति हर्य) स्वीकार कर, श्रवण कर । जैसे सब पदार्थ फेंके जाकर भूमि पर ही आ गिरते हैं उसी प्रकार सब वाणियां ईश्वर पर ही आ गिरती हैं । इस कारण हे भगवन् ! हमारी वाणियों को भी तू ही स्वीकार कर ।

३७३—'प्रति नो हर्य तद् वचः' इति ऋ० ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[३७४] चर्षणीधृतं मघवानमुक्थ्या३ मिन्द्रं गिरो बृहतीरभ्यनूषत ।
३ १ २ ३१ २ ३ २ ३१२ ३ १२ ३ १ २
वावृधानं पुरुहूतं सुवृक्तिभिरमर्त्यं जरमाण दिवेदिवे ॥५॥
ऋ० १ । ५१ । १ ॥

भा०—हे विद्वान् लोगो ! (चर्षणीधृत) समस्त मनुष्यों को धारण करने हारे, (मघवान) ऐश्वर्यसम्पन्न, (उक्थ्या) वेदमन्त्रों से स्तुति करने योग्य, (वावृधान) महिमा में बढ़े, (पुरुहूत) प्रजाओं से पूजित, (अमर्त्यं) अमर, नित्य (दिवेदिवे जरमाण) प्रतिदिन स्तुति किये गये (इन्द) परमेश्वर को (बृहती गिर) हमारी बृहती छन्द की वेदवाणियां अथवा अति ज्ञानसम्पन्न, बहुतसी स्तुतियां (अभि अनूषत) साक्षात् स्वरूप वर्णन करती हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३७५] अच्छा व इन्द्र मतय स्वर्युव सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २
परिष्वजन्त जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्यु मघवानमूतये॥६॥
ऋ० १० । ४३ । १ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (मर्यं पतिं) अपने पतिरूप पुरुष को (जनय) स्त्रियां (परिष्वजन्त) आलिंगन करती हैं और जिस प्रकार अभीष्ट प्राप्ति के लिये (शुन्ध्यु) व्यवहार में शुद्ध, (मघवान न) महाजन के पास प्रजा आती है उसी प्रकार (स्वर्युव) आनन्द और स्वर्ग के सुखका संग कराने हारी, (सध्रीची) एकसाथ पढ़ी गई (विश्वा मतय) समस्त स्तुतियें (व) आप लोगों की (अच्छा उशती०) उत्तम रूप से कामना करती हुई (इन्द्र अनूषत) उस परमेश्वर की ही स्तुति करती हैं ।

३ २ उ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[३७८] अभि त्यं मेषं पुरुहूतमृग्मियमिन्द्रं गीर्भिर्मदता वस्वो अर्णवम्
२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
यस्य द्यावो न विचरन्ति मानुष भुजे मंहिष्ठमभिविप्रमर्चत॥७॥

ऋ० १ । ५२ । १ ॥

भा०—(त्य) उस चिरस्मरणीय, (मेष) सब सुखों के वर्षानेहारे, (पुरुहूत) प्रजाओं के स्तुतिपात्र, (ऋग्मिय) ऋचाओं अर्थात् वेदमन्त्रों में प्रतिपाद्य, (वस्व अर्णवम्) सब जीवनोपयोगी साधनों, प्राणों और वास करानेहारे ब्रह्माण्डों के एकमात्र महासमुद्र, (मंहिष्ठ) दानशील, (विप्र) ज्ञानी, (इन्द्र) उस ईश्वर को (भुजे) अपने पालन पोषण के निमित्त (अभि अर्चत) निरन्तर स्तुति करो, (यस्य) जिसकी (द्याव न) ज्ञानमय किरणें ही मानो (मानुष विचरन्ति) मनुष्यलोक को नाना प्रकार से व्यापती हैं।

२ उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३७९] त्य सुमेष महया स्वर्विद शत यस्य सुभुव साकमीरते।
२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अत्य न वाज हवनस्यद रथमिन्द्र वृत्र्यामवसे सुवृक्तिभि॥८॥

ऋ० १ । ५२ । २ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (त्य) उस (सुमेष) उत्तम सुखों के वर्षक, (स्वर्विद) स्वर्ग मोक्ष का आनन्दलाभ करानेहारे की तू (महय) पूजा कर। (यस्य सुभुव) जिस उत्तम सत्तावान्, सबके मूलकारण ईश्वर के बनाये (शत) सैकड़ों कार्यस्वरूप ब्रह्माण्ड (साकम् इरते) एक साथ गति कर रहे हैं। मैं (अवसे) रक्षा के लिये (सुवृक्तिभि) उत्तम स्तुतियों द्वारा (अत्य वाज न) अतिक्रमण करनेहारे घोड़े के समान (हवनस्यद) उत्तम स्तुतियों से हृदयों में द्रवित होने वाले, (रथम्) रमणीय, परम मनोहर, रस स्वरूप (इन्द्र) समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी, परम ईश्वर को (आ वृत्र्याम) पुनः २ वर्णन करूं, पुनः स्मरण करूं, जपूं।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[३७८] घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा।
१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा॥

ऋ० ६ । ७० । १ ॥

भा०—(घृतवती) दीप्ति से युक्त, (भुवनानाम् अभिश्रिया) समस्त भुवनों का आश्रयरूप (उर्वी) बहुत बड़ी, (पृथ्वी) बहुत विस्तृत, (मधुदुघे) समस्त प्राणियों के जीवनरूप रस का दोहन करनेहारी, (सुपेशसा) सुन्दर मनोहारी रूप वाली (भूरिरेतसा) बहुत प्रकार के स्थावर जंगमों के बीज को धारण करने हारी (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी (वरुणस्य धर्मणा) सर्वश्रेष्ठ सबके वरण करने योग्य परमेश्वर के सामर्थ्य से (विष्कभिते) अधर आकाश में थमी हैं।

२ १ २ ३ १ २ ३ २ १ १ २
[३७९] उभे यदिन्द्र रोदसी आपप्राथोषा इव।
१ १ २ ३ १ २ १ १ २ ३ १
महान्त्वा महीनां सम्राजं चर्षणीनाम्।
३ १ २ २ ३ १ २
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत्॥ १०॥

ऋ० १० । १३४ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (यत्) जो (उभे) दोनों (रोदसी) द्यौ और पृथिवी को (उषा इव) प्रातःकालिक सूर्यप्रभा के समान (आ पप्राथ) चारों ओर से प्रकाशित कर देता है इसी कारण (महीनां महान्) बड़ों में बड़ा (चर्षणीनां) मनुष्यों का (सम्राट्) सामान्यरूप आपको (देवी जनित्री) दिव्य गुणवाली वेदमाता (अजीजनत्) वैसा ही प्रकट करती है, (भद्रा जनित्री) कल्याणकारिणी वेदमाता (अजीजनत्) वैसा ही प्रकट करती है।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३८०] प्रमन्दिने पितुमदर्चता वचो यः कृष्णगर्भा निरहन्नृजिश्विना।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अवस्यवो वृषणं वज्रदक्षिणं मरुत्वन्तं सख्याय हुवेमहि॥११॥
ऋ० १। १०१। १॥

भा०—(प्रमन्दिने) उत्कृष्ट हर्ष, आनन्दयुक्त ईश्वर के लिये (पितुमत्) सारवान् (वचः) वाणियों (अर्चत) उच्चारण करो। (यः) जो अपने प्रभाव से (कृष्णगर्भा) पाप को अपने भीतर धरनेहारी दुष्प्रवृत्तियों को (ऋजिश्विना) सरल ज्ञान से (निरहन्) नाश करता है। (अवस्यवः) रक्षण की इच्छा करने हारे (वृषणः) सुख वर्षण करने हारे (वज्रदक्षिणं) विघ्नविनाशकों में श्रेष्ठ (मरुत्वन्तं) प्राणों के और प्रजाओं के आश्रय परमेश्वर को हम (सख्याय) अपने मित्रभाव के लिये (हुवेमहि) आह्वान करते हैं।

इति नवमी दशतिः। तृतीयः खण्डः।

॥ दशमी दशतिः ॥ ऋषिः—१ नारदः। २, ३ गोपूक्त्यश्वसूक्तिनौ। ४ पर्वतः। ५–७, १० विश्वमना वैयश्वः। ८ मृळीकः। ९ गौतमः॥ इन्द्रो देवता॥ उष्णिक्। ऋषभः॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ क २ ३
[३८१] इन्द्र सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीष उक्थ्यम्।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
विदे वृधस्य दक्षस्य महाँ हि षः ॥१॥ ऋ० ८। १३। २॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्[1] (सुतेषु सोमेषु) सोमरूप हर्षकारी ज्ञान दशाएं उत्पन्न होने पर (उक्थ्यं क्रतुं) वेदानुकूल कर्म और ज्ञान को (दक्षस्य वृधस्य विदे) अत्यन्त बढ़े हुए बल के लाभ के लिये (पुनीषे)

३८०—हवामहे इति ऋ०।

३८१—दक्षाय महान्हि सः इति ऋ०।

प्राप्त करता है । क्योंकि (महान् ह्येष) यह ईश्वर महान् है । सिद्धियों की प्राप्ति के अनन्तर अणिमादि सिद्धियों का जय होता है, तभी यह महान्, सम्राट् आदि बनता है ।

१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २
[३८२] तमु अभि प्र गायत पुरुहूत पुरुष्टुतम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १२ २२
इन्द्रं गीर्भिस्ताववमाविवासत ॥२॥ अ० ८ । १२ । १ ॥

भा०—(पुरुहूत) समस्त प्राणों या प्रजाओं से स्मरण किये गये (पुरुष्टुत) प्राणों या प्रजाओं द्वारा स्तुति किये गये (तम् उ) उसका ही (अभि प्रगायत) कीर्तन करो । हे विद्वान् जनो ! (तावेषं) महान् (इन्द्रं) ईश्वर को ही (आ विवासत) सब के सामने प्रकट करो, उसकी उपासना करो ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[३८३] त त मद गृणीमसि वृषण पत्नु सासहिम् ।
३ १ २ ३ १ २
उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम् ॥ ३ ॥ अ० ८ । १२ । ४ ॥

भा०—हे (अद्रिवः) ज्ञानसम्पन्न ! (त) तरे (त) उस (वृषण) सब प्राणियों के पालक (पत्नु सासहिम्) सब सभाओं में भी कभी नष्ट न होने वाले, सब से बढ़कर (लोककृत्नु) संसार के उत्पादक (हरिश्रियम्) हरयशाल, ज्ञानियों के आश्रय जैसे योग्य (मद) आनन्द-रस को (उ) ही (गृणीमसि) चर्चा करें ।

१२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[३८४] यत्सोममिन्द्र विष्णवि यद्वा घ त्रित आप्त्ये ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२
यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभि ॥४॥ अ० ८ । १२ । १६ ॥

३८३—'पत्नु' इति ऋ० ।

भा०—हे (इन्द) आत्मन् ! (यत् सोमम्) जिस सोम, सबके प्रेरक, सर्वोत्पादक वीर्य या परमानन्दरस को (विष्णवि) सर्वव्यापक ईश्वर में (यद् वा ध) या (आप्त्ये) परम समाधि में प्राप्त (त्रिते) तीनों भूमियों को क्रमण करने वाले योगी आत्मा में, (यद् वा मरुत्सु) जो प्राणों, इन्द्रियों या भूमियों में या प्रजाओं में विद्यमान पाते हैं उन सब (इन्दुभि) आनन्दों से हे देव ! तू ही (सुमन्दसे) आनन्दस्वरूप प्रकट होता है ।

आनन्द की मीमांसा देखो (तैत्तरीय उप० आनन्दवल्ली)

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २
[३८५] पद् मधोर्मदिन्तरं सिञ्चाध्वर्यो अन्धसः ।
३ २३ ३ १२ २१ २ १ २
एवा हि वीर स्तवते सदावृधः ॥५॥ ऋ० ८ । २४ । १६ ॥

भा०—हे (अध्वर्यो) अहिंसक पालक (सदावृधः) सदा बढ़ने वाला, महामहिम, (वीरः) सामर्थ्यवान्, प्रभु (एवा हि) ही (स्तवते) स्तुति किया जाता है । अतः (मधोः अन्धसः) मनोहर आनन्दकारी अन्न के (मदिन्तरं) अति अधिक आनन्दप्रद तृप्तिकारी अंश को उसी के लिये (आ सिञ्च) आ से चन कर । अन्न और मधु की विवेचना बृहदारण्यक उपनि०में स्पष्ट की है ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २१
[३८६] इन्दुमिन्द्राय सिञ्चत पिबाति सोम्यं मधु ।
१२ २१ ३ २
प्र राधांसि चोदयते महित्वना ॥६॥ ऋ० ८ । २४ । १३ ॥

भा०—हे विद्वान् लोगो ! (इन्दाय) उस इन्द के लिये (इन्दुम्) आह्लादकारी, कान्तिसम्पन्न, ज्ञानमय सोम का (आसिञ्चत) सेचन करो, वह (सोम्यं मधु) शान्तिदायक मधु का (पिबाति) पान करे, वही (महित्वना) अपनी महिमा से ही (राधांसि) बहुतसी विभूतियां (प्र चोदयते) प्रकट करता है, प्रदान करता है।

३८५—'मध्वो,' 'ध्वर्यो अन्धसः' इति च ।

१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[३८७] एतोन्विन्द्र स्तवाम सखाय स्तोम्य नरम् ।
३ १ २ २ ३ १ ३ ३ २
कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत् ॥७॥ ऋ० ८ । ७४ । ११ ॥

भा०—हे (सखाय) हे मित्रो ! (एत उ नु) आओ। और (स्तोम्य) स्तुति के योग्य, (नर) नेता (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर की (स्तवाम) स्तुति करें। (य) जो (विश्वा कृष्टी) समस्त मनुष्यों पर (एक इत्) अकेला ही (अभि अस्ति) व्यापक शासक है।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ २
[३८८] इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥८॥ ऋ० ८ । ९८ । १ ॥

भा०—हे विद्वान् सामगायको ! (बृहते) महान् (विप्राय) विद्वान् (ब्रह्मकृते) ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने हार (विपश्चिते) मेधावी, (पनस्यवे) स्तुति के योग्य (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (बृहत् साम) बृहत् नामक साम (गायत) गान करो।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३८९] य एक इद्विदयते वसु मर्ताय दाशुषे ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥९॥ ऋ० १ । ८४ । ७ ॥

भा०—(य) जो (एक इत्) अकेला ही (दाशुषे मर्ताय) दान शील पुरुष को (वसु विदयते) नाना रूप से धनधान्य देता है (अङ्ग) हे मनुष्यो ! वह (इन्द्र) परमेश्वर (अप्रतिष्कुत) सबसे बढ़कर, किसी से भी पराजित न होने वाला (ईशान) सबका स्वामी है।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[३९०] सखाय आ शिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
स्तुष ऊषु वो नृतमाय धृष्णवे ॥१०। ऋ० ८ । २४ । २ ॥

भा०—हे (मित्रयो) मित्रवत्[1] (वन्दिष्ठा) सर्व वि. निवारक ब्रह्मस्तुत ज्ञान को धारण करने हारे (इन्द्राय) परमेश्वर के प्रति (गातवे) नित्य (ब्रह्म) वेद प्रतिपादित ब्रह्मज्ञान की (आशीषामहे) कथा सदा करते हैं। (व) आप लोगों के प्रति मैं (उ नूतमाय) उस पुरुषोत्तम (पुरुष्यव) सबसे बढ़ जाने और सबको पराजय करने हारे परम यशी परमेश्वर के (सुस्तुप) यथार्थ स्वरूप का वर्णन करता हूं।

इति दशमी दशतिः। चतुर्थ खण्डः।

इति द्वितीयोऽर्धः। चतुर्थ प्रपाठकः समाप्तः॥

अथ पञ्चम प्रपाठक (प्रथमोऽर्धः)

ऋ० १॥ ऋषि—१ प्रगाथः। २ भरद्वाजः। ३ गृत्समदः। ४ पर्वतः। ५ वसिष्ठः। ६ हरिमिठिः, ६ विश्वमनाः। ८ वसिष्ठः। ९ देवता—१—४, ८ इन्द्रः। ५ ७ आदित्याः। ६ अग्निः। छन्दः,—१—७ उष्णिक्। ८ विराडुष्णिक्॥ स्वरः॥

३ १२ १२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[३६१] गृणे तदिन्द्र ते शव उपमा देवतातये।

१२ २२ ३ १२ २२

यद्धंसि वृत्रमोजसा शचीपते॥१॥ ऋ० ८। ६१। ८॥

भा०—हे इन्द्र[1] (यत्) क्योंकि तू (ओजसा) अपने सामर्थ्य और बल से (वृत्रम्) आवरणकारी अज्ञान अन्धकार को (हंसि) विनाश करता है। हे (शचीपते) सर्वशक्तिमन्[1] (त। तव (शव) बल की (देवतातये) विद्वानों के लिये (उपमा) अनुरूप (गृणे) स्तुति करता हूं। अर्थात् यज्ञ के सभी कार्यों में इन्द्र का ही उपमा दी जाती है।

---

१ [1]—उभा इति ऋ०। २ [1] इन्द्रस्य इन्दो, इति पुरुहूतेति मुख उक्थम् ऋ०।

२ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३६४] यस्य त्यच्छम्बर मदे दिवोदासाय रन्धयन् ।
३ १२ २ ३ १२ २२
अध स सोम इन्द्र ते सुत पिब ॥ २ ॥
ऋ० ६ । ४३ । १ ॥

भा०—(यस्य मदे) जिसके तृप्तिकारक प्रसाद और ज्ञान २ स्वरूप (दिवोदासाय) प्रकाश के आश्रयस्थान सूर्य, आदित्य ब्रह्मचारी के लिये (त्यत् शम्बर) उस शान्तिवर्षक मेघ या धर्ममेघरूप आत्मा के स्वरूप को (रन्धयन्) साधता हुआ हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (स सोम) वह सोम, साधक पार्थी आपोरस के समान (ते) तेरी प्राप्ति के लिये (अध) वह (सुत) तैयार हुआ है । तू उस (पिब) पान कर, अपने शरण में ले, स्वीकार कर।

१ २ ३ १ २
[३६५] एन्द्र नो गधि प्रिय सत्राजिदगोह्य ।
३ २२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २
गिरिं न विश्वत पृथु पतिर्दिव ॥३॥ ऋ० ८ । ९८ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! हे प्रिय ! सबके उत्पादक ! हे (सत्राजित्) सबका विजय करने हारे ! हे (अगोह्य) अगोप्य सब के प्रति प्रकाश करने योग्य ! कभी न छिपने हारे ! तू (दिव पति) सूर्य का भी स्वामी (गिरिं न) पर्वत के समान (विश्वत पृथु) सब प्रकार से विशाल है । तू (न) हमारे समीप (आ गधि) आ ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३६६] य इन्द्र सोमपातमो मद शविष्ठ चेततिं ।
३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २
येनाहंस न्यत्रिणं तमीमहे ॥४॥ ऋ० ८ । १२ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! हे (शविष्ठ) बलिष्ठ ! (य) जो (सोमपातम) अति अधिक सोम, आनन्दरस पान करने में श्रेष्ठ (मद) अत्यन्त तृप्त हृष्ट या दत्तचित्त होकर तू (चेततिं) ज्ञानवान् हो जाता है

हमारे बाधारहित भीतरी शत्रु को दूर करो और (दुर्मतिम्) दुष्ट मति वाले पुरुष तथा दुःखदायी दुःसङ्कल्प को (अप सधत) दूर करो। (नः) हमें (अहसः) पाप से (युयोतन) पृथक् करो।

[३९८] एवा सामभिर्मघवन्त्सुवृक्तिभिस्तवाहमिन्द्रादि।
सातुषाहुभ्यां सयमो नाभा।८। अ० ७। २२। १॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्! (सामन् त्वा) साम आत्मज्ञान को पाऊं। हे (हरयश्व) हरणशील अश्वरूप प्राण से युक्त! (सातु) प्राप्त करने हारे सारथि के (बाहुभ्यां) बाहुओं में (सुयत) उत्तम रूप में नियन्त्रित (अक्षा न) रथ के समान (सः) वह आत्मरस (यम्) जिसको (अद्रि) मेघ के सदृश वर्षण करने वाला धर्ममेघ समाधि (त) तेरे लिये (सुवाति) उत्पन्न करता है वह (त्वा मन्दतु) तुझको आनन्दित करे।

इति प्रथमा दशतिः। पञ्चमं सूक्तम्।

॥ सू० २ ॥ ऋषिः—१—६ ९ १० मौभरिः। ७ ८ नभः। देवता १, ९ ४ ५ ७—१० इन्द्रः ३ ६ मरुतः। छन्दः अनुष्टुप् ॥

[३९९] अभ्रातृव्या अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि।
युधेदापित्वमिच्छसे॥१॥ अ० ८। २१। १३।

भा०—हे इन्द्र! (त्वं) तू (जनुषा) जन्म प्रकट होने के काल से ही (अभ्रातृव्यः) शत्रुरहित अजातशत्रु (अना) बिना नाक के विनायक (अनापिः) बन्धु बान्धवों से रहित अद्वितीय (सनात्) पुराण पुरुष

३९९—कुवित्सोमस्य नः। नि० २। १४।

(असि) है । तो भी (युधा इत्) योग द्वारा ही (आप्तिम्) तुम बन्धुता को (इच्छसे) चाहते हो, स्वीकार करते हो ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
[४००] या न इदमिद पुरा प्रवस्य आनिनाय तमु व स्तुषे ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
सखाय इन्द्रमूतये ॥ २ ॥ ऋ० ८ । २१ । ९ ॥

भा०—हे (सखाय) मित्रो ! जो (न) हमारे लिये (इदम् इदम्) यह, यह, नाना प्रकार का, उत्तम उत्तम, (पुरा) पहले काल में, पूर्व जन्म में (वस्य.) आच्छादन योग्य, या निवासयोग्य भोग्य देह आदि (प्र आनिनाय) प्राप्त कराता रहा, (तम् उ इन्द) उसी आत्मा या परमेश्वर की (न) आप के प्रति (स्तुषे) स्तुति करता हूं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४०१] आगन्ता मा रिषण्यत प्रस्थावाना मापस्थात समन्यव ।
३ १ २
दृळ्हा चिद्यमयिष्णव ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । २० । १ ॥

भा०—हे मरुतो, प्राणो ! और विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (आगन्त) आओ, (मा रिषण्यत) मरो मत, दुखी मत होओ । हे (प्रस्थावान) निरन्तर गति करने हारो ! (समन्यव) क्रोधयुक्त या ज्ञानयुक्त होकर (मा अपस्थात) बुरे मार्ग पर मत भटको, क्योंकि आप लोग (दृढा चित्) दृढ, बलवान् पदार्थों को भी (यमयिष्णव) नियमन कर लेते हो, वश करने में समर्थ हैं ।

१ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४०२] आयाह्यमिन्दवे श्वपते गोपत उर्वरापते ।
३ २
सोमं सोमपते पिब ॥ ४ ॥ ऋ० ८ । २१ । ३ ।

भा०—हे (अश्वपते !) इन्द्रियों के स्वामिन् ! हे (गोपते) वाणी के मालिक ! हे (उर्वरापते) प्रजनन-शक्ति के स्वामिन् ! हे (सोमपते !)

४०१—'स्थिराचिन्नमयिष्णव' इति ऋ० ।

ज्ञानवन् ! तू (सोमं पिब) सोम, ज्ञान, आनन्द और बल का पान कर, उसका लाभ कर ।

१ २ ३ २ ३।१२ १२ ३ १ २
[४०३] त्वया ह स्विद्युजा वयं प्रति श्वसन्तं वृषभं ववीमहि ।
३ १२ १२ ३ १ २
संस्थे जनस्य गोमतः ॥ ५ ॥ ऋ० ८ । २१ । ११ ॥

भा०—हे (वृषभ) सर्वश्रेष्ठ ! (त्वया ह स्विद्) तुझे ही (युजा) सहायक द्वारा (गोमतः) वाणी से सम्पन्न (जनस्य) पुरुषों के (संस्थे) संघ में (श्वसन्त प्रति) श्वास लेते हुए प्राणी के प्रति (ववीमहि) तेरी स्तुति करते हैं ।

१ २ ३।१२ १२ ३ १ २ ३
[४०४] गावश्चिदु घा समन्यवः सजात्येन मरुतः सबन्धवः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १
रिहते ककुभो मिथः ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । २० । २१ ॥

भा०—हे (मरुतः) मरुद्गण ! प्राणो ! विद्वानो ! आप लोग (गाव चित्) गतिमान्, ज्ञानवान् रहते हुए ही (समन्यव) ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति से युक्त (सबन्धवः) सब समानभाव से एक स्थान पर ही बंधे हुए, प्रेम से युक्त (सजात्येन) समान स्थान पर या समान जाति में उत्पन्न होने के कारण (मिथः) परस्पर (ककुभः) विस्तृत होकर भी (रिहते) परस्पर मिलते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४०५] त्वं न इन्द्रामर ओजो नृम्ण शतक्रतो विचर्षणे ।
३ १ २ ३ १ २
आ वीरं पृतनासहम् ॥ ७ ॥ ऋ० ८ । ९८ । १० ॥

भा०—हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रज्ञावाले ! हे (विचर्षणे) सब लोकों के द्रष्टः ! हे (इन्द्र) आत्मन् ! हमें (नृम्णं) धन और (ओजः) बल (आभर) प्राप्त करा । और (पृतनासहं) सेनाओं का मुकाबला

करने हारे या प्रजा का भार सहन करने हारे (वीरं) वीर, सामर्थ्यवान् पुरुष को (आ भर) प्राप्त करा।

२ ३८ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४०६] अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा काम ईमहे ससुग्महे ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
उदेव ग्मन्त उदभिः ॥८॥ ऋ० ८ । ९८ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! हे (गिर्वण.) वाणियों के एकमात्र पात्र ! (उदा इव) जिस प्रकार जल (उदभि.) अन्य जलों में (ग्मन्त) मिल जाते हैं उसी प्रकार हम (काम) अपनी कामनाओं द्वारा (त्वा उप ईमहे) तेरे पास आते हैं और (ससुग्महे) तेरे साथ मिल जाते हैं।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[४०७] सीदन्तस्ते वयो यथा गोश्रीते मधौ मदिरे विवक्षणे ।
३ १ २ २ १
अभि त्वामिन्द्र नोनुमः ॥ ९ ॥ ऋ० ८ । २१ । ५ ॥

भा०—(यथा वयः) पक्षियों के समान (गोश्रीते) दूध से मिश्रित, (मधौ) मधुर, (मदिरे) आनन्दमय (विवक्षणे) विशेष सुख या मुक्ति में ले जाने वाले, (ते) तेरे स्वरूप में हम (सीदन्त) विराजमान होकर हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वाम्) तेरी (अभि नोनुमः) प्रत्यक्ष रूप से स्तुति करते हैं, अर्थात् तेरे आनन्द-रस में मग्न होकर हम तेरी स्तुति करते हैं।

३ २ ३ १ २ २ १ ३ ३ १ २ ३ १ २
[४०८] वयमु त्वामपूर्व्य स्थूर न कञ्चिद्भरन्तोऽवस्यवः ।
१ २ ३ १ २
वाजेषिध्रं हवामहे ॥ १० ॥ ऋ० ८ । २१ । १ ॥

भा०—हे वज्रिन् ! हे (अपूर्व्य) अपूर्व ! सबसे आदि में विद्यमान (वयं) हम लोग (अवस्यवः) अपनी रक्षा चाहने हारे, (स्थूरं न)

४०६—'काम ईमहे, ससुग्महे' इति 'उप यन्ति' इति च ऋ०।

गुणों में अधिक स्थितिमान् पुरुष को जिस प्रकार (वह्नितं) कोई प्रजा लोग भरण पोषण करते हैं उसी प्रकार (चित्रं) पूजायोग्य (त्वा) तुझ को (भरन्तः) भरण वा धारण करते हुए (हवामहे) हम तेरी स्तुति करते हैं।

इति द्वितीया दशतिः । षष्ठः खण्डः ॥

॥ द० ३ ॥ ऋषिः—१–८ गौतमः । ९ त्रितः । १० अवत्सुः ॥ देवता:—१–८ इन्द्रः । ९ विभ्वाः । १० अश्विनौ ॥ पंक्तिश्छन्दः ॥ पञ्चमः ॥

३ २ ३) २ ३ २ ३ १ २ ३ ४ २
[४०६] स्वादोरित्था विषूवतो मधो पिबन्ति गौर्यः ।
३२ २२ ३) ३ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनु स्वराज्यम् १

ऋ० १ । ८३ । १० ।

भा०—सूर्य और राजा के दृष्टान्त से आत्मा और ईश्वर का वर्णन करते हैं। (गौर्यः) शुभ्र किरणों या गमनशील सेनाओं के समान इन्द्रियां या चित्तवृत्तियां, और प्रजाएं (विषूवतः) सर्वव्यापक, (मधोः) सब मनोहर गुणों से युक्त, मधुर, (स्वादोः) तृप्तिकारक, परमानन्द रस का (इत्था) इस प्रकार से (पिबन्ति) पान करती हैं कि (याः) जो वे (वृष्णा) सब परम आनन्द बरसानेहारे इस इन्द्र के साथ (सयावरीः) गमन करती हुई (मदन्ति) आनन्द लाभ करती हैं और (वस्वीः) आवास करने हारी वे (स्वराज्यम्) अपने ही राष्ट्र के समान देह या इस संसार रूप ईश्वर के कुटुम्ब की (अनु शोभसे) शोभा बढ़ाती हैं। (मधु की व्याख्या देखो बृहदा० २ । ५)

४०६—'शोभसे' इति ऋ०।

३ २अ ३ २ब ३ १ १ ३ २ ३ १ १
[४१०] इत्था हि सोम इन्मदो ब्रह्म चकार वर्धनम् ।
१ २ ३ १ १ ३ १ १ २१ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या नि शशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम् २
ऋ० १ । ८० । १ ।

भा०—हे वज्रिन् ! हे (शविष्ठ) सर्वशक्तिमन् ! (इत्था) इस प्रकार से (हि) निश्चय (सोमे) उस आनन्दरस के बल पर (इत्) ही (मदे) आनन्दयुक्त विद्वान् जिस प्रकार (ब्रह्म) वेद द्वारा (वर्धनम्) अपने ज्ञान की वृद्धि या उन्नति (चकार) करता है । (अहिम्) सूर्य जिस प्रकार मेघ का भेदन करता है उसी प्रकार (स्वराज्य) अपने राष्ट्र या प्रताप को (अनु अर्चन्) प्रकट करते हुए आप अपने (ओजसा) बल से (पृथिव्या) इस पृथिवी के आवरणकारी विघ्न को (नि शशा) विनाश करते हैं । अध्यात्म वादियों की स्वराज्य की चर्चा उपनिषदों में स्थान २ पर है ।

२ ३ १ १ ३ १ १ ३ १ १ ४ १
[४११] इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः ।
२ अ ३ २ ३ २ ३ १ १ २ १ ३ १ १ २ १ ३ १ २
तामन्मह स्वाजिपूतमंसे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत् ॥३॥
ऋ० १ । ८१ । १ ।

भा०—(इन्द्र) परमेश्वर ! (मदाय) प्रजाजनों के हर्ष करने के लिये और (शवसे) बल के लिये (वावृधे) बहुत बड़ा है । वह (वृत्रहा) सब विघ्नों का नाश करने वाला (नृभिः) अपनी प्रजाओं के साथ (वाजेषु) संग्रामों और ज्ञान यज्ञों में (न प्र आविषत्) हमारी रक्षा करता है । (ऊतिम्) अपनी रक्षा स्वरूप (तम् इत्) उसका ही (महसु) बड़े २ (आजिषु) ज्ञान चर्चा के स्थानों या संग्रामों, और यज्ञों में और (अंसे) सूक्ष्म हृदयावास में भी (हवामहे) हम उसका स्मरण करते हैं ।

४१०—'मदे ब्रह्मा' इति ऋ० ।

अर्म, अल्प, दक्ष दहर आदि का विवरण छान्दोग्य और कन दोनों उपनिषदों में स्पष्ट है। आजि=चरम सामा। राजा के पक्ष में-आजि=संग्राम।

[४१२] इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवाऽनुत्त वज्रिन्वीर्यम्।
यद्ध त्य मायिन मृग तव त्यन्मायया वधीरर्चन्ननु स्वराज्यम्॥४॥
ऋ० १ । ८० । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर! हे (अदिव) मेघपति के समान आनन्द और ज्ञान के घन! अखण्ड या अखण्डित शक्तिशालिन्! हे (वज्रिन्) वीर्यसम्पन्न। (तुभ्यम् इत्) तेरा ही (वीर्यम्) बल सामर्थ्य (अनुत्तम्) कहीं रुका नहीं है। (यत् ह) क्योंकि (त्य) उस (मायिन) माया, अज्ञान या प्रकृति के जाल में पड़े (मृग) ज्ञान के विलापक चोर के समान दह और मनका अथवा (मृग) सुख के खोजी पशु के समान प्यासे तृष्णालु जीव को (मायया) अपने प्रज्ञा के बल से (स्वराज्य अनु अर्चन्) स्व महिमा की सत्ता को प्रकट करता हुआ तू (अवधी) विनाश करता है, मारता है। या प्राप्त होता है, (तव त्यत् वीर्यम्) वह भी तेरा ही बल प्रताप है।

[४१३] प्रह्वभीडि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्॥५॥
ऋ० १ । ८० । ३ ॥

भा०—(स्वराज्यम् अनु) आत्मा के मातृरूप स्वराज्य प्राप्त करने के लिये (अर्चन्) साधना करते हुए, हे (इन्द्र) आत्मन्! (प्रेहि) आगे आओ। (अभि इहि) सम्मुख आओ! (धृष्णुहि) बाधाओं को दबाओ। (ते वज्रः) तेरा वज्र (न) कभी नहीं (नियंसते) दबता। हे (इन्द्र) आत्मन्!

४१२—'भूत तमुग्रमायया' इति ऋ०।

(ते) तुझे (नृम्ण हि) निश्चय से ऐश्वर्य प्राप्त होगा। तू (शव) अपने बल से (वृत्र हन) वृत्र रूप विघ्न अज्ञान को मार और (अप जय) सब कर्मों, प्रजाओं पर विजय प्राप्त कर।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ ३ १ २
[४१४] यदुदीरत आजयो धृष्णव धीयत धनम्।
३ १ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
युक्ष्वा मदच्युता हरी कं हन कं वसौ दधोऽस्मा इन्द्र वसौ दध ६
ऋ० १। ८१। ३॥

भा०—(यद) जब (आजय) संग्राम या ब्रह्मकथा प्रसङ्ग (उद् ईरते) उठ खड़े होते हैं तब (धृष्णवे) सब का पराभव करनेहारे के सन्मुख (धन) धन, प्राप्तव्य पदार्थ (धीयते) रक्खा जाता है। हे (इन्द्र) आत्मन्[1] (मदच्युता हरी) हर्ष बर्षाने वाले और हरणशील अपने प्राण और अपान दोनों अश्वों को (युक्ष्व) अपने रथ में लगा। [प्र० १] (क हन) तू किस शत्रु या विघ्न का नाश करता है? और [प्र० २] (क वसौ दध) तू किस सहायक, साधन या योगाङ्ग को (वसौ) अपने देह या चित्त में (दध) धारण करता है? [उ० १] हे इन्द्र! (वसौ) इसी आवास स्थान, अन्तरात्मा में (दध) धारण कर और [उ० २] हमें धारण कर। यह भक्तों का भगवान् क प्रति, इन्द्रियों का आत्मा के प्रति, प्रजा का राजा क प्रति समान रूप से वचन है।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[४१५] अत्तमभिमदन्त ह्यप्रिया अधूषत।
१ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजान्विन्द्र ते हरी ७
ऋ० १। ८२। २॥

भा०—(स्वभानव विप्रा) स्वयं योगाभ्यास और तपस्या से प्रदीप्त होने वाले, विद्वान्, मेधावी लोग (अत्तम्) सब प्रकार के आनन्दों का भोग करते हैं, (अभिमदन्त) और हर्ष को प्राप्त होते हैं। वे

(प्रिया) सबको प्रिय लगने वाले काम्य पदार्थों और कामनाओं को (अवा अधूषत) परित्याग करते, झाड़ देते, गिरा देते हैं वे सर्वत्यागी, अवधूत हो जाते हैं। हे (इन्द) परमात्मन्! वे (नविष्ठया) अत्यन्त प्रशंसनीय (मती) शुभ सकल्प या स्तुति से (अस्तोषत) तेरी स्तुति करते हैं। अतः उन पर प्रसन्न होकर (ते हरी) तू अपने अश्वों, हरणशील वाहनों ज्ञान और कर्म रूप घोड़ों का या सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधियों की (अनु योजा) साधना कर।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[४१६] उपा सु शृणुही गिरो मघवन्माऽतया इव।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ १ २ ३ २ ३ ३ २ १ ३ १ २
कदा न सूनृतावत कर इदर्थयास इद्योजान्विन्द्र ते हरी ॥८॥
ऋ० १ । ८२ । १ ॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन्! आत्मन्! (उप सु शृणुहि ब) तू सावधान होकर सुन (गिर) तू हमारी वाणियों की (अतया इव) प्रतिकूल, शत्रु के समान (मा) उपेक्षा मत कर। हे (इन्द) ऐश्वर्यवन्! (सूनृतावत) सत्य और प्रिय वाणी बोलने हारे (न) हमको तू (कदा इद्) कब (कर) अपनाएगा! (अर्थयास इत) आपसे प्रार्थना ही की जाती है। हे (इन्द) आत्मन्! (ते हरी योजा नु) तू अपने अश्वों, व्यापक साधन प्राण अपान को अब लगा। अथवा सबीज निर्बीज दोनों का अभ्यास कर।

३ १ २ ३ २ १ २ २ ३ १ २ ३ २
[४१७] चन्द्रमा अप्स्वाऽन्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
न वो हिरण्यनेमयः पद विन्दन्ति विद्युतो वित्त मे अस्य रोदसी ६
ऋ० १ । १०५ । १ ॥

भा०—(अ सु अन्तरा) ध्यान धारणाओं, सकल्पों, विकल्पों या वासना जालों में से (चन्द्रमा) अत्यन्त आह्लादकारी, (सुपर्ण) उत्तम गतिशील आत्मा, (दिवि) द्यौ लोक में चन्द्र के समान, या सूर्य में प्रकाश-

स्वरूप परमात्मा की ओर (धावते) गति करता है। हे (विद्युत) विशेषरूप में प्रकट होने वाली विद्युत्स्वरूप कान्तियो! हे (हिरण्ययनेमयः) सुवर्ण के समान चित्ताकर्षक धाराओं वाली कान्तियो! हमारे इन्द्रियगण या अज्ञानी जनसाधारण अज्ञान में होने से (व. पद न विन्दन्ति) तुम्हारा स्वरूप ज्ञान प्राप्त नहीं करते। हे (रोदसी) द्यौ और पृथिवी, ऊर्ध्वगामी द्यौस्वरूप प्राण अधोगामी पृथिवीस्वरूप अपान, आप दोनों के (अस्य) इस रहस्य का ज्ञान (मे वित्त) मुझ को लाभ कराओ।

[४१८] प्रति प्रियतम रथं वृषणं वसु वाहनम्।
स्तोता वामश्विनावृषि. स्तोमेभिर्भूषति प्रति माध्वी मम श्रुतं हवम्
ऋ० ५। ७५। २॥

भा०—हे (अश्विनौ) प्राण और अपान! (वसु वाहन) आत्मसहायी आत्मा को वहन करने हारे, (वृषण) कर्मफल भोग की वर्षा करने वाले (प्रियतम) अत्यन्त प्रिय, (प्रतिरथं) प्रत्येक रथ रूप देह में (ऋषि) तत्वदर्शी (स्तोता) सत्य गुणों का वर्णन करनेहारा, (स्तोमेभिः) वेदमन्त्रों द्वारा (वां) आप दोनों को (प्रति भूषति) उत्तम रूप से अलंकृत करना चाहता है। हे (माध्वी) मधुविद्या, ब्रह्म विद्या के जानने हारो! (मम हवं) मेरी स्तुति, गुण-वर्णना को (श्रुतं) श्रवण करो।

इति तृतीयो दशतिः। सप्तमः खण्डः।

॥ द० ४ ॥ ऋषिः—१, ७ वसुश्रुत आत्रेयः। २, ४ विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद् वासुक्रो वा। ३ सप्तर्षयः आत्रेयः। ५, ६ गौतमो राहूगणः। ८ कुत्सः आङ्गिरसः शौर्यातिः। ८ अङ्गोमुग्वाङ्गामदेव्यः॥ देवता—१, २, ७ अग्निः। ३ ऋषयः। ४ सोमः। ५, ६ इन्द्रः। ८ विश्वेदेवाः॥ छन्दः—१—७ पंक्तिः। ८ उपरिष्टाद् बृहती॥ स्वरः—१—७ पञ्चमः। ८ मध्यमः॥

४१८—'स्तोमेन प्रति भूषति' इति ऋ०।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
[४१९] आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम् ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ २ ३ १ २
यद्ध स्या ते पनायसी समिद्दीदयति द्यवीषं स्तोतृभ्य आ भर१

अ० ५ । ६ । ४ ॥

भा०—हे (देव) प्रकाशस्वरूप (अग्ने) ज्ञानवन् ! (द्युमन्तं) प्रकाशस्वरूप (अजरम्) अविनाशी (ते) आपको (इधीमहे) प्रदीप्त करते हैं, चैतन्य करते हैं । (दिवि) द्युलोक में (यद्) जो (स्या) वह (ते) आपकी (पनीयसी) प्रशंसनीय (समिद्) कान्ति (दीदयति) चमक रही है । (स्तोतृभ्य) नाम गुण वर्णन करने हारों को हे देव ! आप (इषं) अन्न और ज्ञान की प्रेरणा (आ भर) प्राप्त कराओ ।

१२ २१ ३ १ २
[४२०] आग्निं न स्ववृक्तिभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ १
शोरं पावकशोचिषं विषो मदे यज्ञेषु स्तीर्णबर्हिषम् विवक्षसे ॥२॥

अ० १० । २१ । १ ॥

भा०—हे देव ! (विवक्षसे) आप सबको धारण करने हारे सबसे महान् हो । इसलिये (स्ववृक्तिभिः) उत्तम, दोष रहित निज स्तुतियों से हम लोग (शोरं) सबके भीतर ज्ञान रस रूप से शयन करने हारे, (पावक-शोचिषं) पवित्र करने वाली दीप्ति से युक्त, (वः) हमारे और तुम्हारे (विमदे) विशेष आनन्द लाभ करने के लिये (यज्ञेषु) यज्ञों में (स्तीर्णबर्हिषम्) बर्हि =धान्य या कुश, आसन या इस देह को फैलाये हुए (होतारं) सबको जीवन योग्य उत्तम पदार्थों के देने हारे या सबको अपने पास बुलाने वाले (त्वा) तुझ (अग्निं) ज्ञानस्वरूप ईश्वर का (होतारं न) अपने यज्ञ के होता के समान (आवृणीमहे) धारण करते हैं ।

४२०—'यज्ञेषु स्तीर्णं बर्हिषं विषो मदे शोरं पावकशोचिषं विवक्षसे' इति ऋ० ।

३१ २ ३१ २३१ २ ३२ ३१ २
[४२१] मह ना अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २१३ १ २
यथाचित्ना अबोधय सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ॥३॥
ऋ० ५ । ७९ । १ ॥

भा०—हे (अश्वसूनृत) आत्मा की सत्यस्वरूप वाणि ! हे (सुजात) उत्तमरूप से प्रकट होने वाली ! (वाय्य) वरण करने योग्य ! (सत्य श्रवसि) सत्य वेदज्ञान में (यथाचित्) जिस प्रकार पहले (न अबोधय) हम ज्ञानवान् प्रबुद्ध किया था उसी प्रकार हे उषः ! हे सब पापों के दहन करने हारी (दिवित्मती) द्युति स्वरूपा तू (मह) बड़ी (राय) दिव्यधन, ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये (अद्य) आज (बोधय) हमें, जगा, ज्ञानवान कर ।

३२ ३ १ २ ३ २ ३ १२ ३१२ १२
[४२२] भद्र नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम् ।
१ २ ३१२ १२ ३ २ ३ २ ३ २ २ ३ ३ १२ २१ ३ १ २
अथा ते सख्ये अन्धसा रिषेम मघवन्वया इव विश्वस ॥४॥
ऋ० १० । २५ । १ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! (विश्वसे) आप महान् हो । आप (न) हमारे (मन) मन और (दक्षम्) आत्मा या बल को (उत) और (क्रतुम्) कर्म को (भद्र) कल्याण के प्रति (अपि वातय) प्रेरित करो । (अथा) और (ते) तुम्हे (अन्धस) अन्धकार को दूर करने और प्राण धारण कराने हार प्रभु के (मघो) ऐश्वर्यवान् (सख्ये) प्रेम में हमें (यथा) पास के प्रेम में (वया गावा न) आनन्द प्रसन्न गौवों के समान (विय) स्वीकार करो, अपनाओ ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २१ ३ १ २
[४२३] क्रत्वा महाँ अनुष्यध भीम आ वावृत्से शव ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १२ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
श्रिय ऋष्व उपाकयोर्नि शिप्रा हरिवान् दधे हस्तयोर्वज्रमायसम् ५
ऋ० १ । ८१ । ४ ॥

४२२—'रण्वा गावो' इति पाठः, ऋ० । ऋग्वे० (१० । २० । ५) स्थाने 'मघो' इति 'मघोन्त' पाठ एव केवलम् ।

भा०—(महान्) सबसे बड़ा वह परमात्मा (भीम) सबको भय से चलाने और कंपाने वाला (अनुष्वधम्) स्वधा स्वरूप जीव या प्रकृति के प्रति (ऊत्या) अपनी क्रिया शक्ति और प्रज्ञा से (शचः) अपनी क्रिया शक्ति या बल या ज्ञान सामर्थ्य को (आ वावृत) प्रेरित करता है और (श्रिये) समस्त संसार को आश्रय देने के लिये (अव्व) वह महान् (शिपी) शक्तिशाली (हरिवान्) हरण करने वाला या आकर्षण करने वाला, (उपाकयो) समीपतम (हस्तयो) आघातकारी साधनों, हाथों में (आयस वज्र) लोह के बने खड्ग को वीर के समान (आयसम्) अय अर्थात् लोह और वंग के बने (वज्र) पतन और पाप निवारक साधन को (आदधे) धारण करता है ।

ईश्वरने अपनी शक्ति प्रकृति में दी । समस्त ब्रह्माण्ड को उत्पन्न किया प्रत्येक परमाणु और पिण्ड में आघात प्रघात उत्पन्न किया और ऐसी निरन्तर की गति उत्पन्न की कि अपनी गति पर ही प्रत्येक आकाश का पिण्ड निराश्रय खड़ा है । 'हस्तया' यह द्विवचनान्त प्रयोग उपमादेश है । वीर राजा और अध्यात्म पक्ष में स्पष्ट है ।

३ १२ २२ ३ १ ३ १ १ ३ १ २
[४२४] स घा त वृषण रथमधितिष्ठाति गोविदम् ।
१२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २८ २२ ३ १ ३
य पात्र हारियोजन पूर्णमिन्द्रा चिकेतति योजान्विन्द्र ते हरी ॥६॥
ऋ० १ । ८३ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (य) जो (हारियोजन) इन्द्रियों को वश करने हारे योग साधन और (पात्र) क्रिया साधन को (पूर्णं) उचित प्रकार से पूर्ण रूप से (चिकेतति) जानता है (स घ) वही (त) उस (वृषण) सुखप्रद, (गोविद) इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले चेतन (रथम्) रथपर (अधि तिष्ठति) स्वामी होकर सवारी करता है । हे (इन्द्र)

आत्मन् (ते हरी) तुम अपने अश्वों=प्राण अपान दोनों को (योज नु) इस समय समाधि योग से जोड़ो।

३ १२ २१ ३ २३ ३ २ १२ १२ २१ ३ १ २
[४२५] अग्निं त मन्ये या वसुरस्त य यन्ति धेनव ।
३ १ २ ३ २३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इष स्तोतृभ्य आभर॥७
अ० ५। ६। १॥

भा०—(त) उसको (अग्नि) ज्ञानवान् सब का नेता आचार्य या ईश्वर (मन्ये) मानता हू या उसको अग्नि तेज रूप से मनन करता हू (य वसु) जो वसु अर्थात् सबके भीतर वास करने हारा, सबको वास देने हारा है। (य) जिसमें (धनव) वाणियें, इन्द्रियां और रश्मिएं हैं उसी प्रकार जैसे गौयें (अस्त) घर में (यन्ति) आती हैं या (अस्त यति) आश्रय को प्राप्त होती हैं और (आशव) व्यापन स्वभाव वाले (अर्वन्त) प्राण या वायु आदि पञ्च भूत (अस्त) गृहस्वरूप जिसमें आश्रय लेते हैं और (नित्यास) नित्य, अविनाशी, (वाजिन) ज्ञानवान् मुक्त आत्माएँ, विद्वान् लोग भी जिसका (अस्त) अपना गृह या शरण समझ कर आश्रय करते हैं। हे सर्वाश्रय ! (स्तोतृभ्य) स्तुति विद्वान् जनों को (इष) अन्न एवं अपनी ज्ञान प्रेरणाएँ (आ भर) प्राप्त कराओ।

२३ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ १ २
[४२६] न तमहा न दुरित देयाना अष्ट मर्त्यम्।
३ १ २ १ २ ३ २ ३ १२ २१ २ ३ १ २ ३ १ २
सजोषसो यमर्यमा मित्रो नयति वरुणो अतिद्विष॥८॥
अ० १०। १२६। १॥

भा०—हे (देवास) विद्वान् पुरुषो ! (यम्) जिस (मर्त्य) मरणधर्मा देहवान् पुरुष को (अर्यमा) वह न्यायकारी (मित्र) सब का प्रेमी, (वरुणः) सबको पाप से वर्जने हारा जगदीश्वर (सजोषस)

४२६— नमर्त्य' इति पदपा०, अ०।

अत्यन्त प्रेम पूर्वक (द्विष अति) विघ्न या बाधाकारियों या अप्रीति करने हारों से दूर कर लेता है (त) उसका (अह न अश्नुते) पाप नहीं स्पर्श करता, (दुरित) और दुष्ट चरित भी उसका नहीं व्यापता ।

इति चतुर्थी दशति । अष्टम खण्ड ।

॥ द० ५ ॥ ऋषि —६ त्र्यरुण त्रसदस्यू । ७ वसिष्ठ । ८ वामदेव । ९ वालिखिल्य स्तुति । १, ३–५, १० ऐश्वरा विष्ण्वाग्नेय ॥ ऐन्द्र—२–६, १० परमात्मा । ७ मरुत । ८ अग्नि । ९ वाजिन ॥ छन्द —१ ३, ४, ५, ७ १० द्विपदा पंक्ति । ८ पदपंक्ति । ९ परोष्णिक । २, ६ त्रिपदा अनुष्टुप पिपीलिकामध्या ॥ स्वर —१, ३ ८, १० पञ्चम । २, ६ गान्धार । ९ ऋषभ ॥

२ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[४२७] परि प्र धन्वेन्द्राय सोम स्वादुर्मित्राय पूष्णे भगाय ॥१॥
ऋ० ६ । १०९ । १ ॥

भा०—हे (सोम) आनन्दरस को बहाने वाले, सब दुःखों के आपद्रूप परमाणु स्वरूप पुरुषार्थवन्[1] (स्वादुः) आपद्रस के समान परम आनन्ददायक आप (मित्राय) सबका स्नेह करनहार (पूष्णे) सब का पोषण करनेहार (भगाय) सबके भजन, सेवन करने योग्य (इन्दवे) उस ऐश्वर्य के इच्छुक जीव के लिये (परि प्र धन्व[1]) चारों ओर उत्तमरूप से गति कर रहा ।

२ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २
[४२८] पर्यू षु प्र धन्व वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणि ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
द्विषस्तरध्या ऋणया न ईरसे ॥२॥ ऋ० ९ । ११० । १ ॥

४२७—[1] धन्वतिर्गतिकर्मा, (नि०) रिवि रवि धवि गत्यर्थाः । स्वा० ।
४२८—'ईरम' इति ऋ० ।

भा०—हे परमेश्वर ! (वाजसातये) ज्ञान या धन या अन्न के लाभ के लिये (वृत्राणि) सब आवरणकारी विघ्नों का (सघनि) सहनशील होकर आप (परि प्रधन्व) चारों ओर से मार भगाओ । (ऋणया) ऋणों के नाश करने हारे आप (द्विषः) अप्रीति से घातक बाल शत्रुओं के (तरध्यै) विनाश करने के लिये (नः) हम (ईरय) प्रेरित करो ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २
[४२९] पवस्व सोम महान्त्समुद्र पिता देवानां विश्वाभि धाम ॥३
ऋ० ९ । १०९ । ४ ॥

भा०—हे (सोम) सबके प्रेरक परमात्मन् ! आप (महान् समुद्र) बड़े भारी समुद्र हैं, समस्त रसों और आनन्दों के स्रोत और भण्डार हैं, (देवानां) समस्त देवों, भूतों और इन्द्रियों के (पिता) पालक और प्रेरक हैं, अतः (विश्वा धाम) समस्त लोकों का या समस्त आत्मा के निवासस्थान रूप देहों या हृदयों के प्रति (परि पवस्व) आप द्रवित होइये । उनमें स्वयं आनन्द रस का संचार कीजिये ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २
[४३०] पवस्व सोम मह दक्षायाश्वो न निक्तो वाजी धनाय ॥४॥
ऋ० ९ । १०२ । १० ॥

भा०—हे सोम ! (निक्त) स्नान किया हुआ निष्णात (वाजी) ज्ञानवान् विद्वान (अश्व) क्रियानिष्ठ सधाया हुआ पुरुष और घोड़ा जिस प्रकार (धनाय) धनोपार्जन या संग्राम के लिये जाता है उसी प्रकार (मह) बड़ (धनाय) गतिशील या धन्य (दक्षाय) कर्मनिष्ठ साधक जीव के लिये आप (पवस्व) द्रवित हों कृपापूर्ण हों, आनन्द रूप में प्रकट हों ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[४३१] इन्दु पविष्ट चारुर्मदायापामुपस्थे कविभिर्गृणान ॥ ५ ॥
ऋ० ९ । १०९ । १२ ॥

अत्यन्त प्रेम पूर्वक (द्विष , अति) विघ्न या बाधाकारियों या अप्रीति करने हारों से दूर कर लेता है (त) उसको (अह न अश्नुत) पाप नहीं स्पर्श करता, (दुरितं) और दुष्ट चरित भी उसको नहीं व्यापता ।

इति चतुर्थी दशतिः । अष्टम खण्ड: ।

॥ द० ५ ॥ ऋषि —१ त्र्यरुण त्रसदस्यु । ७ वसिष्ठः । ८ वामदेव: । ६ वाजिनो स्तुतिः । १, ३–५, १० ऐश्वरा विष्ण्या आग्नयः ॥ देवता—१–६, १० पवमान । ७ मरुत. । ८ अग्नि । ९ वाजिन ॥ छन्द —१, ३, ४, ५, ७, १० द्विपदा पंक्ति. । ८ पदपंक्तिः । ९ परोष्णिक् । २, ६ त्रिपदा अनुष्टुप्-पिपीलिकामध्या ॥ स्वर—१, ३–८, १० पञ्चम । २, ६ गान्धार: । ९ ऋषभः ॥

२ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[४२७] परि प्र धन्वेन्द्राय सोम स्वादुर्मित्राय पूष्णे भगाय ॥१॥
ऋ० ६ । १०९ । १ ॥

भा०—हे (सोम) आनन्दरस को बहाने वाले, सब दुःखों के ओषधिरूप, परमरस स्वरूप ऐश्वर्यवन्[1] (स्वादुः) ओषधिरस के समान परम आनन्ददायक आप (मित्राय) सबको स्नेह करनेहारे (पूष्णे) सब को पोषण करनेहार (भगाय) सबके भजन, सेवन करने योग्य (इन्द्राय) उस ऐश्वर्य के इच्छुक जीव के लिये (परि प्र धन्व[1]) चारों ओर उत्तमरूप से गति कर, बह ।

२ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २
[४२८] पर्यू षु प्र धन्व वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
द्विषस्तरध्या ऋणया न ईरसे ॥२॥ ऋ० ९ । ११० । १ ॥

४२७—[1] धन्व गतिकर्मा, (नि०) रिवि रवि धवि गत्यर्थाः । स्वा० ।
४२८—'ईयसे' इति ऋ० ।

भा०—हे परमेश्वर ! (वाजसातये) ज्ञान या धन या अन्न के लाभ के लिये (वृत्राणि) सब आवरणकारी विघ्नों को (सहणि) सहनशील होकर आप (परि प्रधन्व) चारों ओर से मार भगाओ । (ऋणया) ऋणों के नाश करने हारे आप (द्विषः) अप्रीति से वर्तने वाले शत्रुओं के (तरध्यै) विनाश करने के लिये (नः) हम (ईरसे) प्रार्थना करें ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २
[४२९] पवस्व सोम महान्त्समुद्रः पिता देवानां विश्वाभि धाम ॥ ३
ऋ० ९ । १०९ । ४ ॥

भा०—हे (सोम) सबके प्रेरक परमात्मन् ! आप (महान् समुद्र) बड़े भारी समुद्र हैं, समस्त रसों और आनन्दों के स्रोत और भण्डार हैं, (देवानां) समस्त देवों, भूतों और इन्द्रियों के (पिता) पालक और प्रेरक हैं, अतः (विश्वा धाम) समस्त तेजों को या समस्त आत्मा के निवासस्थान रूप देहों या हृदयों के प्रति (परि पवस्व) आप द्रवित होइये । उनमें स्वयं आनन्द रस का सञ्चार कीजिये ।

१ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २
[४३०] पवस्व सोम मह दक्षायाश्वो न निक्तो वाजी धनाय ॥ ४ ॥
ऋ० ९ । १०९ । १० ॥

भा०—हे सोम ! (निक्त) स्नान किया हुआ, निष्णात (वाजी) ज्ञानवान् विद्वान, (अश्व) क्रियानिष्ठ, सधाया हुआ पुरुष और घोड़ा जिस प्रकार (धनाय) धनोपार्जन या सग्राम के लिये जाता है उसी प्रकार (महे) बड़े (धनाय) गतिशील या धन्य (दक्षाय) कर्मनिष्ठ साधक जीव के लिये आप (पवस्व) द्रवित हों, कृपायुक्त हों, आनन्द रूप में प्रकट हों ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[४३१] इन्दु. पविष्ट चारुर्मदायापामुपस्थे कविर्भगाय ॥ ५ ॥
ऋ० ९ । १०९ । १३ ॥

भा०—(अपाम् उपस्थे) जलों के समीप या प्रजाओं के समीप या कर्म और ज्ञानों के बीच में (मदाय चारु) हर्ष उत्पन्न करने में श्रेष्ठ, (कविं) क्रान्तदर्शी विद्वान् (भगाय) सौभाग्य, ऐश्वर्य या उचित कर्म फल के आनन्दभोग के निमित्त (इन्दु) ऐश्वर्यशील सोम (पवित्र) गति करता है या प्रकट होता है।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४३२] अनु हि त्वा सुत सोम मदामसि महे समर्यराज्ये।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
वाजाँ अभि पवमान प्र गाहसे ॥६॥ अ० ९ । ११० । २ ॥

भा०—हे सोम! (महे) बड़े भारी तेरे (अर्यराज्ये) श्रेष्ठ, जितेन्द्रिय पुरुषों के राष्ट्र में (त्वाम् अनु) तेरे अनुकूल (समदामसि) रहने में खूब प्रसन्न होते हैं। हे (पवमान) सबके प्रेरक शासक ! (वाजान् अभि) शत्रुओं या इन्द्रियों, ऐश्वर्यों के प्रति तू निर्विघ्न होकर (प्र गाहसे) गति करता है, उनमें रमण करता है। राजा आत्मा और परमात्मा के प्रति प्रजाओं, इन्द्रियों और भक्तों का वचन है।

२ ऊ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[४३३] क ईं व्यक्ता नर सनीडा रुद्रस्य मर्या अधा स्वश्वा ॥७॥
अ० ७ । ५६ । १ ॥

भा०—(ईं) ये (व्यक्ता) प्रकट हुए, (सनीडा) एक ही दल में आश्रय किये हुए, (मर्या) देहधारी प्राणियों के हितकारी (अध) और (स्वश्वा) सुख से पदार्थों का भोग कराने हारे (रुद्रस्य) इस समस्त संसार को रुलाने हारे, उस देव, मुख्य प्राण के (के) कौन हैं ? इस आश्चर्य से किये प्रश्न का उत्तर ऋ०म०६।५६ सूक्त का अगली ऋचाओं में दिया है।

३ २ ३ ३ ३ ३ ३ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २
[४३४] अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमै क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम्।
३ १ २ ३ १ २
ऋध्यामा त ओहै ॥८॥ अ० ४ । १० । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! (अद्य) आज हम (ओहैः) आह्वान करने योग्य (स्तोमैः) स्तुतिपूर्ण सूक्तों द्वारा (अर्वं न) अश्व के समान समस्त संसार के वहन करने हारे, (ऋतुं) रचयिता शिल्पी के समान ब्रह्माण्ड के बनाने हारे, (भद्रं) कल्याणकारी, (हार्दिस्पृशं) हृदय तक को छूने हारे, हृदयंगम (तं) उस प्रसिद्ध तुझको लक्ष्य कर (ऋध्याम) स्तुति करते हैं, साधना करते हैं ।

[४३५] आविर्मर्या आ वाजं वाजिना अग्मन् देवस्य सवितु सवम्।
स्वर्गां ५ अर्वन्तो जयत ॥९॥

भा०—(वाजिनः) ज्ञानवान् (मर्याः) मरणधर्मा प्राणी, (देवस्य) सबके दाता, (सवितुः) सबके प्रेरक परमात्मा के (वाज सवं) ज्ञान सम्पन्न सर्ग या प्रेरणा, आदेश को (आविः अग्मन्) प्रकट रूप से प्राप्त करते हैं । हे (अर्वन्तः) ज्ञानशील पुरुषो ! (स्वर्गान्) सुख और आनन्द के प्राप्त कराने वाले उस मुक्ति सुखों को (जयत) विजय करो, उनको प्राप्त करो ।

[४३६] पवस्व सोम द्युम्नी सुधारो महा अवीनामनु पूर्व्यः ॥१०॥
ऋ० ९ । १०६ । ७ ॥

भा०—हे सोम ! (पूर्व्यः) सबसे पूर्व, सबका आदि मूलकारण, (द्युम्नी) कान्तिमान्, (सुधारः) समाज और संसार को उत्तम रूप से धारण करनेहारा (अवीनां) गतिशील, आत्माओं में सबसे (महान्) बड़ा परम-आत्मा तू (अनु पवस्व) सबको पवित्र कर, सन्मार्ग में प्रेरणा कर ।

इति पञ्चमी दशतिः । नवमः खण्डः ।

॥ द० ६ ॥ ऋषिः—३ असदस्युः । ७ सम्पातः ॥ शेषाणां ऋषयो नोपलभ्यन्ते ।
देवता—१–५, ८–१० इन्द्रः । ६ विश्वेदेवाः । ७ उषाः । पङ्क्तिः ॥ पञ्चमः ।

भा०—हे उप [1] तू (घनसा) तेज के साथ (आयाहि) आ, प्रकट हो । (गाव) जिस प्रकार गौवें दूध भरे थनों से सबको पुष्ट करती हैं उसी प्रकार (गाव) तेरी रश्मियां (ऊधभि) पहनशील शक्तियों द्वारा सबको पालन पोषण करके (वर्तनिं) तेरे मार्ग का (सचन्त) प्राप्त करती हैं, तेरा अनुगमन करती हैं ।

१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[४४४] उप प्रक्ष मधुमति क्षियन्त पुष्यम राधि धीमहे त इन्द्र ॥८॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर [1] (मधुमति) मधुर फल से सम्पन्न (प्रक्ष) वट आदि वृक्ष पर आश्रय लेकर जिस प्रकार पक्षिगण और राजा का आश्रय लेकर जीव प्रजागण जिस प्रकार सुख और पुरुषार्थ प्राप्त कराते हैं उसी प्रकार (प्रक्षे) विशाल ब्रह्माण्ड में (क्षियन्त) निवास करते हुए हम जीव (रयिम्) अपने उत्तम कर्मफल का (पुष्यम) प्राप्त करें और उस से वृद्धि का प्राप्त हों और (ते धीमहि) हम तेरा ध्यान करें ।

ब्रह्माण्ड रूप परम प्लक्ष या चमस का वर्णन उपनिषदों में तथा वेद मन्त्रों में वर्णित है । इसी प्लक्ष से यों भूमि बनाई गई है । वहां कर्मफल या मोक्षरूप मधु है । देखो बृहदारण्यक और छान्दोग्य के मधुविद्याप्रकरण जिसमें पृथिवी आदि का मधु कहा है । मस्तकरूप चमस में वैसे इन्द्रिय गण का आत्मा के प्रति वचन भी स्पष्ट है ।

१ २ ३ २ ३ १ ३ ३ १२ १२ ३ १२ ३ १ ४२
[४४५] अर्चन्त्यर्कं मरुत स्वर्का आस्ताभति श्रुता युवास इन्द्र ६॥

भा० —(स्वर्का) उत्तम कान्तिसम्पन्न ज्ञानी (मरुत) प्रजाएं या प्राणगण (अर्कं) अपने अन्नदाता सूर्यरूप आत्मा या परमात्मा का (अर्चन्ति) स्तुति करते हैं । (स) वह (युवा) बलवान् (इन्द्र)

४४४—'पुष्यसे' इति ऋ० ।

परमेश्वर (श्रुतः) विख्यात कीर्त्ति वाला, (आस्तोभति) उनकी रक्षा करता है, उनके शत्रुजनों का सब दिशाओं में विनाश करता है।

२ ३ १ २ ३त २ ३ १ २ ३१ २ ३ २ ३ २ २

[४४६] प्र व इन्द्राय वृत्रहन्तमाय विप्राय गाथं गायत यं जुजोषते १०

भा०—(व.) आप लोग (वृत्रहन्तमाय) वृत्रों को विनाश करने में श्रेष्ठ, (विप्राय) ज्ञानवान्, (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (गाथं) ऐसी गान या स्तुति को (प्र गायत) गाओ (यं) जिसको वह (जुजोषते) चाहता है, स्वीकार करता है, जो उसके यथार्थ गुणों का वर्णन करती है।

इति षष्ठी दशतिः । दशमः खण्डः ।

इति प्रथमोऽर्धः प्रपाठकः ।

॥ ८० ७ ॥ ऋषिः—१ पृथवः काण्वः सम्पादो वा । २ बन्धुः । ३, ४ बन्धुः सुबन्धुर्विप्रबन्धुश्च । गौपायना लौपायना वा । ५ संवर्त्तः । ६ भौवन आप्त्यः । ७ कण्व ऐरतः । ८ मद्धातः । ९ आत्रेयः । १० वसिष्ठः ॥ देवता—१, २ अग्निः । ३, ४, ८, १० इन्द्रः । ५ उषाः । ६, ७, ९ विश्वेदेवाः ॥ छन्दः—१, २, ५, ७ द्विपदापंक्तिः । ३, ४ पञ्चदशाक्षरा गायत्री । १० एकपदा अष्टाक्षरा गायत्री । ६, ८, ९ द्विपदा त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—१, २, ५, ७ पञ्चमः । ३, ४, १० षड्जः । ६, ८, ९ धैवतः ।

१ २ ३ १ २ ४ ३ २ ३ ३ १ २

[४४७] अचेत्यग्निश्चिकितिर्हव्यवाड् न सुमद्रथः ॥ १ ॥

ऋ० ८ । ५६ । ५ ॥

भा०—(सुमद्-रथः) शोभायुक्त, रमणीय, तृप्तिकारी रस से युक्त या यश कान्ति या गतिसाधन देह से युक्त, (चिकितिः) ज्ञानवान्, (अग्नि) परमात्मा हृदय या ब्रह्मपिण्ड में और आत्मा देह में (हव्यवाड् न) अन्नादि चरु खाने वाले भौतिक अग्नि के समान (अचेति) चैतन्य है, जागृत है।

४४७—'चिकित्वः' 'हव्यवाट्स०' इति ऋ० ।

[४४८] अग्ने त्व नो अन्तम उत त्राता शिवो भुवा वरूथ्य ॥२॥
ऋ० ५ । २४ । १ । पूर्वार्धः ॥ यजु० ३ । २५ । १५ । ४८ पू० ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! परमेश्वर ! (त्व) तू (नः) हमारा (अन्तमः) समीपतम (त्राता) रक्षक, (शिवः) कल्याणकारी, शिवस्वरूप और (वरूथ्य) सेनानायक के समान धारण करने योग्य (भुव) हो ।

[४४९] भगो न चित्रो अग्निर्महोना दधाति रत्नम् ॥ ३ ॥

भा०—(महोना) बड़े २ देवों के बीच में (अग्निः) महान् परमेश्वर (भगः न) सूर्य के समान (चित्रः) चयन करने योग्य, अद्भुत या पूजा करने योग्य है । वह (रत्नम्) रमणीय शक्ति को (दधाति) धारण करता है ।

[४५०] विश्वस्य प्रस्तोम पुरो वा सन्यादि वेह नूनम् ॥ ४ ॥

भा०—हे (विश्वस्य प्रस्तोम) सबके सहायक, सबके उत्कृष्ट पूजा-पात्र ! तू (पुरः वा) पूर्वकाल में भी (सन्) विद्यमान रहा (यदि वा) और (इह) इस वर्त्तमान काल में भी (नूनम्) तू निश्चय से विद्यमान है । अर्थात् जैसे तू पहले था वैसे अब भी है । तू त्रिकाल में सत् है ।

[४५१] उषा अप स्वसुष्टमः स वर्तयति वर्तनिं सुजातता ॥ ५ ॥
ऋ० १० । १७२ । ४ ॥

भा०—(उषाः) अन्धकार को नष्ट करने वाली उषा (स्वसुः) जिस प्रकार रात्रि के (तमः) अन्धकार को (सुजातता) अपने उत्तम प्रादुर्भाव के कारण (अप) दूर कर देती है और राहगीर को (वर्तनिं) सन्मार्ग में (सं वर्तयति) रखती है, उसी प्रकार विद्वान् प्रजा का उदय भी (स्वसुः) स्वयं सरण करने वाली अविद्या के अन्धकार को दूर करती और आत्मा के परम गन्तव्य ब्रह्म मार्ग को प्रकाशित कर देती है ।

४४८— भा॰ इति ऋ० ।

३ १३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[४५२] इमा नु कं भुवना सीषधेमन्द्रश्च विश्वे च देवा ॥ ६ ॥
ऋ० १० । १२७ । १ ॥

भा०—(इन्द्र च) आत्मा और (विश्वे देवा च) सब इन्द्रियरूप देव मिलकर (इमा भुवना) इन समस्त भुवनों, पदार्थों को हम (सीषधेम कम्) प्राप्त करें, वश करें।

२ ३ २ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[४५३] वि श्रुतया यथापथा इन्द्र त्वद्यन्तु रातय ॥ ७ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (पथा) मार्ग पाकर (रातय) बहने वाली जलधाराएं बह जाती हैं उसी प्रकार (रातयः) नाना पदार्थों की दानशक्तियां, हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वद्) तुझ से (वि यन्तु) विविध प्रकार से निकल कर हमें प्राप्त हों।

३ १ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४५४] अया वाज देवाहित सनेम मदेम शतहिमा सुवीरा. ॥ ८ ॥
ऋ० ६ । १७ । १५ ॥

भा०—(अया) इस प्रकार की परमेश्वर की गुणस्तुति से (देवहित) परमेश्वर के दिये हुए (वाज) ज्ञान, बल और अन्न को (सनेम) हम प्राप्त करें, करावें और (सुवीरा.) उत्तम पुत्रों से युक्त, वीर्यवान् सामर्थ्यवान् होकर (शतहिमा) सौ वर्षों तक (मदेम) आनन्दित, सुप्रसन्न, सन्तुष्ट होकर रहें।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४५५] ऊर्जा मित्रो वरुण पिन्वतेडा. पीवरीमिष कृणुही न इन्द्र ९

भा०—(मित्रो वरुण) मित्र और वरुण, सूर्य और मेघ मिलकर (ऊर्जा) विद्युत्रूप बल पराक्रम से युक्त होकर (इडाः) जिस प्रकार भूमियों को जलों से (पिन्वत) सेचन करते हैं उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा दोनों मिलकर समाधिकाल में आत्मा की मना भूमियों को धर्म-

मेघ के रस से आ सेचित करें। और हे (इन्द) मेघ! आप (इषं) अन्न की फसल को (पीवरीं) खूब अधिक मात्रा में, ज़ोरों पर कसरत से (कृणुहि) उत्पन्न करते हो उसी प्रकार हे आत्मन्! आप (इषं) अभिलाषायोग्य परम सुख की अधिक मात्रा को (कृणुहि) उत्पन्न करो।

[४५६] इन्द्रो विश्वस्य राजति ॥ १० ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा ही (विश्वस्य) समस्त ब्रह्माण्ड को (राजति) प्रकाशित करता है। और उसमें स्वयं प्रकाशित होता है उस पर शासन करता है।

इति सप्तमी दशतिः । एकादश खण्डः ।

॥ द० ८ ॥ ऋषिः—१, १० गृत्समदः । २ गौराङ्गिरसः । ३, ५, ९ परुच्छेपः । ४ रेभः । ६ एवयामरुत् । ७ अनानतः पारुच्छेपिः । ८ नकुलः ॥ देवता—१, ३, ४, १० इन्द्रः । २ सूर्यः । ५ विश्वेदेवाः । ६ मरुतः । ७ पवमानः । ८ सविता । ९ अग्निः ॥ छन्दः—१, ३, ५, ७, ९ अष्टिः । २, ४, ६ अतिजगती । ८, १० अतिशक्वरी ॥ स्वरः—१, ३, ५, ७, ९ गान्धारः । २, ४, ६ निषादः । ८, १० पंचमः ॥

[४५७] त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृपत्सोममपिबत्
द्विष्णुना सुतं यथावशम्। स ईं ममाद महिकर्मा कर्तवे
महामुग्रः सैन सद्यो व्यद्रिवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम् ॥१॥
ऋ० १० । ८९ । ४ ॥

भा०—(महिषः) बड़ा पूजनीय, (तुविशुष्मः) बड़ा बलशाली, (तृपत्) सबको तृप्त करने हारा आत्मा (त्रिकद्रुकेषु) तीनों लोकों में

४५७—तृपत्सोम,' 'यथावशम्' 'सत्यमिन्द्र सत्य इन्दुः' इति ऋ०।

(विष्णुना) सर्वव्यापक परमेश्वर से (सुत) प्रेरित या उत्पादित, (यवाशिर) यव आदि अन्नों से मिले हुए (सोम) ओषधिरसों के समान ज्ञान और आनन्द को (यथावश) अपनी शक्ति के अनुसार (अपिबद्) पान करता है। (स ईं) वही इस प्रकार (महि कर्म) बड़े २ काम (कर्त्तव्य) करने के लिये भी (ममाद) सदा प्रसन्नचित्त रहता है। वह (महान् उग्र सैन) बड़े भारी, नाना दिशा में, नाना प्रकार की शक्तिरूप सेनाओं के स्वामी, विश्वसेन (देव) परमात्म देव को (देव) प्रकाशमान ज्ञानवान् होकर (सश्चत्) प्राप्त होता है। वह (सत्य इन्दु) सदा, सब का आह्लाद करने हारा या ऐश्वर्य और विभूतिमान् होकर (सत्यम्) सत्यस्वरूप (इन्दम्) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर को भी प्राप्त होता है।

ताण्डयमहाब्राह्मणे—"स एतान् स्तोमान् अपश्यत् ज्योतिर्यौरायुरिति। इमे वै लोका स्तोमा। अयमेव ज्योतिरयग्मध्यमो गौरसावुत्तम आयुः। ऋग्भाष्ये दयानन्दस्तु 'त्रिष्टुब्केषु लोकेषु'।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २७ २ १ २
[४५८] अय सहस्रमानवो दृश कवीना मतिर्ज्योतिर्विधर्मणि।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
ब्रह्म समीचीरुपस. सपेरयदरेपस सचेतसः स्वसरे
३ १ २ ३ २
मन्युमन्ताश्चिता गो ॥ २ ॥

भा०—(अय) यह (सहस्रमानव) सहस्रों मननशील विद्वानों से उपासित, (दृश) दर्शनीय, (कवीना) क्रान्तिदर्शी, मेधावी लोगों से (मति-) एकमात्र मनन करने योग्य, (ज्योति) प्रकाशस्वरूप, (विधर्मणि) नाना प्रकार की प्रजाओं को धारण करने हारा, (ब्रह्म) सबको प्राणसूत्र में बांधने हारा, महान्, सूर्य के समान परमात्मा (स्वसरे) स्वयं सरण करने हारे, दिन=जीवनकाल में या इस संसार में (समीची) उत्तम प्रकार से हृदय में प्रवेश करने हारा, (अरेपस) तम और पाप के लेप से रहित,

राजा भाव स शुद्ध, (सचतस) ज्ञानयुक्त (उपस) विशुद्ध ज्योतिर्मय दशाओं उषाओं, प्रज्ञाओं का (सम् एयरत्) उत्तम रीति स प्राप्त करता है। वा (गो) सूय क (मन्युमन्त) अत्यन्त ज्ञान प्रकाशवान् नाना (चिता) एकत्र हुए किरणों क समान होता है।

[४८६] प्र द्र याहुप न परावतो नायम छा विदथानीव सत्पतिरस्ता।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
राजेव सत्पति । हवामह त्वा प्रयस्वन्त सुतप्रावुत्रासा
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
न पितर वाजसातय महिष्ठ वाजसातय ॥३ ऋ० ३।५३।१।

भा०—ह (इन्द) आत्मन् ! जिस प्रकार (अयम्) यह (सत्पति) सज्जनों का या सत्य का प्रतिपालक यजमान (विदथानि) यज्ञों म (राजा इव) राजा क समान (सत्पति) सज्जनों का पालक होकर (अस्ता राजा इव) शत्रुओं पर बाण आदि फकन वाला वार धनुधारी राजा जिस प्रकार शत्रु आदि क सकटा का दूर करन क लिय प्राप्त होता है उसी प्रकार तू (न) हमार पास (परावत) दूर दशों स भी (उप आयाहि न) था ही तो जा। (पुत्रास पितर न) जिस प्रकार पुत्र लाग पिता की (वाज सातय) दायभाग की प्राप्ति क लिय स्तुति करत ह उसी प्रकार हम भी (प्रयस्वन्त) अन्नादि हवि का आपक अपण करन क लिय अपने हाथों में लिय हुए (वाजसातय) अन्न और ज्ञान क लाभ क लिय (सुतेषु) इस यज्ञ स्थानों में (महिष्ठ) सबस बड़ दानशील (त्वा) तुमको (आ हवामह) आह्वान करत हैं, आदर स याद करत हैं।

[४८७] तमिद्र जाह्वीमि मघवानमुप स्तवा दधानमप्रतिष्कुत
१र २र ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २ ३
थवासि भूरि । माहिष्ठा गीर्भिरा च याशया वर्तते राय ना
१ २ ३ १ २ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३
विभ्वा सुपथा कृणोतु वज्री ॥४॥ ऋ० ८। ९७। १३ ॥

४८७— वशियो वसत् इति ऋ० ।

भा०—(तं) उस (मघवानं) धन धान्य सम्पत्ति, विभूतियों से सम्पन्न, (उग्रं) वेगवान्, (सत्रा) सत् पुरुषों के प्राता, (भूरि दधानम्) नाना प्रकार की बल, शक्तियों, ज्ञानों, वेद ऋचाओं को (दधानम्) धारण करते हुए (अप्रतिष्कुतम्) किसी से भी न पराजित, (इन्द्रं) वीर राजा के समान परमेश्वर को (जोहवीमि) स्मरण करता हूं। वह (मंहिष्ठः) सबसे महान् दानशील (गीर्भिः) वेदमन्त्रों द्वारा (यज्ञियः) यज्ञ के कार्यों में (आ ववर्त्त) पुनः २ स्मरण किया जाता है, आवृत्ति किया जाता है। वह (वज्री) सब विघ्नों का नाशक (नः) हमारे लिये (राये) धन प्राप्त करने के लिये (विश्वा) सब (सुपथा) उत्तम २ मार्ग, द्वार, साधन (कृणोतु) करे, खोल दे।

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १
[४६१] अस्तु श्रौषट् पुरो अग्निं धिया दध आ नु त्यच्छर्धो दिव्यं
३ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
वृणीमह इन्द्रवायू वृणीमहे। यद्ध क्राणा विवस्वते नाभा
३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३
सन्दाय नव्यसे। अध प्र नूनमुपयन्ति धीतयो देवाँ
३ २ ३ १ २
अच्छा न धीतयः ॥५॥ ऋ० १। १३६। १॥

भा०—(धिया) आधानकर्म या ध्यानबल से (पुरः) साक्षात् (अग्निं) प्रकाशस्वरूप देव अग्नि को (दधे) धारण करता हूं, (त्यत् शर्धो०) उसके बल में (दिव्यं) प्रदीप्त ज्योति को (अनु वृणीमहे) निरन्तर प्रत्यक्ष वरण करते या प्राप्त करते हैं और (इन्द्रवायू) आत्मा और प्राण दोनों को (वृणीमहे) साक्षात् करते हैं। (यत्) जो दोनों (ह) निश्चय से (नव्यसे) सदा नवीन (विवस्वते) सूर्य या सूर्य के समान आत्मा के (नाभौ) आकर्षण शक्ति में (संदाय) अच्छी प्रकार अल्प २ प्राणों को अर्पण करके, जोड़कर (क्राणा) समस्त देहों को रचते हैं। (अध)

४६१—'त्यच्छर्धो,' 'विवस्वति', 'सदायिनव्यसा,' 'प्रसू न उपयन्तु' इति ऋ०।

और हम (धीतय) ध्यान योग से उपासना करने हारे या अध्ययन द्वारा ज्ञान सम्पादन करने हारे (धीतय इव) रश्मियों के समान या विद्वानों या आगे जाने हारी अंगुलियों या शिष्यों के समान (देवान्) देवों विद्वानों के (नून प्र उपयन्ति) अत्यन्त समीप पहुंचते हैं।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १
[४६२] प्र वो महे मतया यन्तु विष्णवे मरुत्वते गिरिजा एवया
२ १२ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ६
मरुत् । प्र शर्धाय प्र यज्यव सुखादये तवसे भन्ददिष्टये
१ २ ३ १ २
धुनिव्रताय शवसे ॥६॥ ऋ० ५ । ८७ । १ ॥

भा०—जिस प्रकार (मरुत्वते) पवनों वाले मेघ के लिये (गिरिजा) बिजुलियां चलती हैं। उसी प्रकार (व मतय) आपकी बुद्धियां या स्तुतियां (गिरिजा) बड़े मस्तक वाले विद्वान् प्रवक्ताओं से उत्पन्न हुई हुई (महे) बड़े (मरुत्वते) वायुओं और प्राणों के बलों से युक्त या प्रजाओं से युक्त, (विष्णवे) व्यापक जगदीश्वर को (यन्तु) पहुंच। (एवयामरुत्) और प्राणों को चलानेवाला मुख्य प्राणस्वरूप आत्मा भी उसी (शर्धाय) बलवान्, (यज्यवे) जीवनयज्ञ के सम्पादक, (सुखादये) उत्तम आयुधों से भूषित (तवसे) वीर्यवान् (भंदद्-इष्टये) कल्याणकारी यज्ञ के पात्र (धुनि व्रताय) सब को कम्पन करने वाले, कर्म करनेहारे (शवसे) बल स्वरूप उस ईश्वर के (प्र यातु) खोज में प्रवृत्त होजायँ।

३ २ ३ १२ २१ ३ २३ ३ ३ २ ३ १
[४६३] अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि तरति स्वयु
२ ३ २ ३ २ ३१ २ १ २ ३१ २ ३ १
ग्वभि सूरो न सयुग्वभि । धारा पृष्ठस्य रोचने पुनाना
२ ३१२ २१ ३ २ ३ १ २ ३१२ २१ ३ १ २ ३
अरुषो हरिः । विश्वा यद्रूपा परियास्यृक्वभिः ससास्येभि
१ २
ऋक्वभि ॥ ७ ॥ ऋ० ९ । ११ । १ ॥

भा०—(सयुग्वभि) साथ योग देनेहारे सहायकों द्वारा (सूर न) जिस प्रकार प्रेरक नेता (विश्वा द्वेषांसि तरति) सब शत्रुओं को तर जाता है उसी प्रकार (सयुग्वभि) अपने सहायक इन्द्रियगणों, अश्वों, योग-साधनों द्वारा (सूर) सबका प्रेरक, विद्वान्, सूर्य के समान तेजस्वी (हरि) गतिशील आत्मा (अया) इस (हरिण्या) अज्ञान हरने वाली (रुचा) ज्योति से (पुनान) मल आदि का परिशोधन करता हुआ (विश्वा द्वेषांसि) सब प्रकार के विरोधियों को (तरति) पार कर जाता है। उस (पृष्टस्य) सबके धारण करने हार सोम की (धारा) धारण पोषण करनेहारी शक्ति (रोचते) सर्वत्र प्रकाशित होती है। वह (हरि) सर्व-व्यापक, सर्वदुःखहारक, (अरुष) सर्व प्रकार से प्रकाशमान, (पुनान) सबको प्रेरित करता हुआ (यत्) जो वह (विश्वा रूपा) सब पदार्थों या आकाशस्थ पिण्डों को (अञ्जाभि) प्रकाश ज्ञानयुक्त (सप्तास्येभि) शिरोगत सप्त प्राणों, ज्ञानेन्द्रियों द्वारा या विशाल ब्रह्माण्ड में सब नक्षत्रों को चलाने हारे सात महावायुओं द्वारा (परि यासि) घेरे बैठा है, व्यापक है।

३ २ ३ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४६४] अभि त्य देव सवितारमोण्यो कविक्रतुमर्चामि सत्यसवं
३ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
रत्नधामभिप्रियं मतिम्। ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युत-
१ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ १ २
त्सवीमनि हिरण्यपाणिरिमीत सुक्रतु कृपा स्व ॥ ८ ॥

यजु० ४ । २२ ॥ अथर्व० ७ । १४ । १, २ ॥

भा०—(ओण्यो सवितार) द्यौ और पृथिवी के उत्पादक, (कवि-क्रतु) सर्वदर्शी, एवं ज्ञानसम्पन्न मेधावी (सत्यसव) सत्य को प्रकट करने हारे, (र

४६४—प्रजाभ्यस्त्वा प्रजास्त्वा अनुप्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिहि इत्यधिक पाठ, यजु० 'कृपाꣳ स्व' इति अथर्व० ।

अभिप्रियं) सबके प्रिय, (मतिं) मनन योग्य (तं देव) उस देव की (अभि अर्चामि) साक्षात् स्तुति करता हूं । (यस्य) जिसकी (ऊर्ध्वा) ऊर्ध्व=ऊपर को जाने वाली या सबसे ऊपर विद्यमान (भा) सूर्यरूप तेज कान्ति, (अमति) अचिन्त्य, अद्वितीय (सदीमनि) जगत् के उत्पत्ति कार्य में (अदिद्युतत्) सर्वत्र प्रकाशित होती है । वह (हिरण्यपाणिः) क्रियारूप या गतिरूप हाथों वाला, अथवा तेजोमय किरणों वाला (सुकृत्) उत्तम कारीगर (कृपा) अपने सामर्थ्य से (स्व) सब प्रकाशमान सूर्य आदि द्यौलोक और परमसुख को (नि -अमिमीत) बनाता और देता है ।

३ १२ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३१२ १२ ३१२ ३
[४६५] अग्निं होतार मन्ये दास्वन्तं वसोः सूनुं सहसो जातवेदसं
२ ३ २ ३१२ ३ १ २ ३ २ ३२ ३१ २
विप्रं न जातवेदसम्। य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या
३ २ ३२ ३ १ २ ३१२ ३ १ २ ३१२
कृपा घृतस्य विभ्राष्टिमनुशुक्रशोचिष आजुह्वानस्य
३ १ २
सर्पिषः ॥ ६ ॥ ऋ० १ । १२७ । १ ॥

भा०—मैं (दास्वन्तं) दान करने हारे, सबके दाता, (वसो) उस वास करने वाले (सहसः) बलरूप जीवात्मा के (सूनुं) प्रेरक, (जातवेदसं) समस्त मूर्तिमान् धनादि पदार्थों के उत्पन्न करने हार, (विप्रं न) विप्र, मेधावी पुरुष के समान (जातवेदसं) समस्त उत्पन्न हुए पदार्थों के जानने हारे, (अग्निं) परमेश्वर को (होतारं) इस महा ब्रह्माण्डरूप यज्ञ का कर्त्ता (मन्ये) स्वीकार करता हूं (यः) जो (ऊर्ध्वया) ऊपर आकाश में स्थित ज्वाला द्वारा (स्वध्वरः) उत्तम अहिंसित अविनाशी, हिंसारहित यज्ञ का करनेहारा (देवाच्या) देवों तक पहुंचने हारे (कृपा) सामर्थ्य से (शुक्रशोचिषः) अत्यन्त दीप्त कान्ति वाले, (सर्पिषः) सर्वव्यापी, प्रसरणशील (घृतस्य) कान्तियुक्त सूर्य या अग्नि में आहुति किये

४६५—'विभ्राष्टिमनुशुष्मि' इति ऋ० । 'वसुं' इति ऋ० ।

घी के समान (विभ्राष्टिम् अनु) विशेष भर्जन करने वाले प्रताप और तेज के साथ स्वयं (वष्टि) विराजमान, प्रकाशित होरहा है ।

२ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[४६६] तव त्य नर्य नृतोऽप इन्द्र प्रथम पूर्व्य दिवि प्रवाच्य
३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ २ १
कृतम् । यो देवस्य शवसा प्रारिणा असुरिणन्नप । भुवो
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
विश्वमभ्यदेवमाजसा विदेदूर्जं शतक्रतुर्विदेदिषम् ॥१०॥
ऋ० २ । २२ । ४ ॥

भा०- हे (नृत) समस्त संसार को नचाने या अपनी इच्छानुकूल चलाने हारे ! (त्यत्) वह (अप) कर्म (प्रथमं) सबसे उत्कृष्ट (दिवि) द्यौलोक में भी (पूर्व्यं) सबसे पूर्व (प्रवाच्यं) उत्तम रीति से वर्णन करने योग्य (कृतं) किया हुआ सर्ग (तव) तेरा ही है । (यः) जो (शवसा) अपने वेग या बल से (देवस्य) प्रकाशमान, दिग्विजयी, महाप्राणधारी हिरण्यगर्भ के (असुम्) पवनरूप प्राण को (रिणन्) गति देता हुआ (अप.) नाना लोकों को (प्र अरिणाः) प्रकृष्ट वेग से चला रहा है । और वह देव (विश्वम्) समस्त (अदेवं) न प्रकाशित होने वाले, मृतप्राय, नाना पृथिवी आदि लोकों, दिशाओं को भी (आजसा) अपने बल से, कान्ति से (भुवत्) व्याप्त होकर उनमें (ऊर्जम्) अन्नादि खाद्य पदार्थ और जीवनमय पदार्थ (विदेत्) प्राप्त कराता है, उत्पन्न करता है वह (शतक्रतु) सैकड़ों कर्मों को करने हारा शिल्पी (इषं विदेत्) हमें जीवन, प्राण और अन्न दे ।

इति अष्टमी दशतिः । इति द्वादशः खण्डः ।

इति ऐन्द्रं काण्डम् ।

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

४६६—'भुवत्' 'विशदिषम्' इति ऋ० ।

अथ पावमानकाण्डम्।

अथ पञ्चमोऽध्यायः।

॥ ६० ६ ॥ ऋषिः—१, ४ अमहीयुः। २ मधुच्छन्दाः। ३ भृग्वङ्गिरसः जमदग्निर्वा। ५ त्रितः आप्त्यः। ६ कश्यपः। ७ जमदग्निः। ८ एकच्छुत आगस्त्यः। ९, १० काश्यपोऽसितः। पवमानो देवता ॥ गायत्री ॥ षड्जः ॥

३ १ २ ३ १ २र ३ १ २र
[४६७] उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्याददे।
३२३ ३ २ ३ १ २
उग्रं शर्म महि श्रवः॥ १॥ ऋ० ९। ६१। १०॥

भा०—हे परमेश्वर! (ते) तेरे (अन्धसः) प्राणधारण सामर्थ्य से (जातं) उत्पन्न हुए (दिविसद्) द्यौलोक, सूर्य में विद्यमान (उग्रं) उग्र, उत्कृष्ट, (शर्म) सुख, शरण और (महिः श्रवः) महान् ज्ञान या बल, अन्न को (भूमि) भूमि पर के पुरुष भी (आददे) प्राप्त करते हैं। अर्थात् सूर्य में विद्यमान जीवन, सुख और ज्ञान दीप्ति आदि को हम भूमि पर भी प्राप्त करते हैं।

२ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४६८] स्वादिष्टया मदिष्टया पवस्व सोम धारया।
१ २ ३ १ २ ३ २
इन्द्राय पातवे सुतः॥ २॥ ऋ० ९। २। १॥

भा०—हे (सोम) सबके प्रेरक ईश्वर! आप (स्वादिष्टया) अत्यन्त रस दायक (मादिष्टया) अत्यन्त हर्ष या आनन्दकारक (धारया) अपनी धारण शक्ति से (पवस्व[1]) सब में व्यापक हो। (इन्द्राय) इस आत्मा के

४६७—'दिविषद्' इति ऋ०।

४६८—१. पवतिर्गतिकर्मा (नि० २। १४)

(पातवे) पान करने के लिये यह सोम, ज्ञानानन्द रस (सुत) उत्पन्न किया जाता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[४६६] धृषा पवस्व धारया मरुत्वते च मत्सरः ।
३ १ २ ३ १ २
विश्वा दधान ओजसा ॥ ३ ॥ ऋ० ९ । ६५ । १० ॥

भा०—हे परमेश्वर ! तू (धृषा) धर्मस्वरूप, सुखों का वर्षक, सबसे श्रेष्ठ, (मत्सरः) सबको तृप्त करनेहारा और आनन्दस्वरूप होकर सबके हृदयों में व्यापक, (मरुत्वते) प्राणों और समस्त वायुओं और प्रजाओं के स्वामी आत्मा, सूर्य, ईश्वर और राजा के लिये (धारया) अपनी धारक पोषक शक्ति द्वारा (विश्वा) समस्त प्राणियों, लोकों और प्रजाओं को अपने (ओजसा) बल से (दधानः) धारण करता हुआ (पवस्व) प्रकाशित हो ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४७०] यस्ते मदो वरेण्यस्तेनापवस्वान्धसा ।
३ १ २ ३ २
देवावीरघशंसहा ॥ ४ ॥ ऋ० ९ । ६१ । १९ ॥

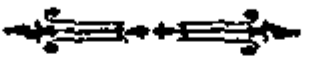
भा०—हे (सोम) परमेश्वर ! (यः) जो (ते) तेरा (मदः) आनन्द या हर्ष प्रकाश, (देवावीः) देवों, विद्वानों या इन्द्रियगण में प्रकट होता है और जो (अघ-शंसहा) पाप की शिक्षा देने वाले दुष्ट पुरुष या अचेतनता और अज्ञान का नाशक ज्ञान और काम क्रोधादि दुष्ट भावों का भी नाश करता है (तेन) उस (अन्धसा) प्राणशक्ति से (आ पवस्व) प्राप्त हो ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४७१] तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनवः ।
१ २ ३ १ २
हरिरेति कनिक्रदत् ॥ ५ ॥ ऋ० ९ । ९३ । ४ ॥

भा०—जिस प्रकार (धेनवः) दुधार (गावः) गौएं (मिमन्ति) अपना दूध देने के लिये हंभारती हैं उसी प्रकार (तिस्रः वाचः) तीनों

बीच (हित) विद्यमान (दिव) सूर्य या ज्योति के (प्रिया) प्रिय (वयांसि) आत्माओं जीवों तक वह (कविक्रतु) ज्ञानानुसार कार्य करने हारा (स्वान) ब्रह्मज्ञान को प्रकट करने हारे विद्वानों द्वारा (परि याति) सर्वत्र प्रचलित हो जाता है, सर्वत्र चर्चा किया जाता है।

इति नवमी दशति । प्रथम खण्ड ।



ऋ० १०॥ ऋषि—१ कविर्भार्गवो । २ इषीरथ । ३ वित । ४, ८ अमहीयु । ५ भृगु । ६ काश्यप । ७ निध्रुवि काश्यप । ९, १० काश्यपोऽसित ॥ पवमानो देवता ॥ गायत्री ॥ षड्ज ॥

१२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[४७७] प्र सोमासो मदच्युत श्रवसे नो मघोनाम् ।
३ २ ३ १ २
सुता विदथे अक्रमुः ॥ १ ॥ ऋ० ९ । ३२ । १ ॥

भा०—(मदच्युत) आनन्द को बहाने वाले (सोमास) सौम्य स्वभाव वाले विद्वान् या आनन्दरस (विदथे) यज्ञ या ज्ञान के अवसर पर (सुता) नियुक्त या अभिषिक्त द्रवित होकर (मघोना) हवि या धनादिसम्पन्न (नः) हमारे (श्रवसे) ज्ञान कीर्त्ति, अन्न प्राप्त करने के लिये (प्र अक्रमुः) उत्तम रूप से प्रवृत्त होते हैं ।

१२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[४७८] प्र सोमासो विपश्चितोऽपो नयन्त ऊर्मयः ।
१ २ ३ १ २
वनानि महिषा इव ॥ २ ॥ ऋ० ९ । ३३ । १ ॥

भा०—(ऊर्मयः) जिस प्रकार समुद्र की तरंगें पुरुषों को समुद्र से नाना दशों के भीतर पहुंचा देती हैं या जैसे (महिषा) बड़े २ जादू पशु

४७७—'मघोन' इति ऋ० ।
४७८—'नयन्ति' इति ऋ० ।

जैसे आदि पीठ पर उठाकर, उनके वाहन बन कर दूर देशों तक पहुंचा देते हैं उसी प्रकार (विपश्चितः) विद्वान्, ज्ञानवान्, कर्मवान् (सोमासः) सौम्य स्वभाव वाले जन (अपः) प्रजाओं को (वनानि) उत्तम सेवन करने योग्य पदार्थों के प्रति (नयन्त) प्राप्त कराते हैं।

[४७९] पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधी नो यशसो जने ।
विश्वा अप द्विषो जहि ॥ ३ ॥ ऋ० ९ । ६१ । २८ ॥

भा०—हे इन्दो ! हे विद्वन् ! आत्मन् ! (सुतः) तू तैयार होकर (जने) राष्ट्र में (पवस्व) प्रकट हो। और (नः) हमें (यशसः) कीर्तिसम्पन्न (कृधि) बना, (विश्वा द्विषः) समस्त द्वेष करने वालों को (अप जहि) नाश कर।

[४८०] वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे ।
पवमान स्वर्दृशम् ॥ ४ ॥ ऋ० ९ । ६५ । ४ ॥

भा०—हे विद्वन् ! आत्मन् ! हे (पवमान) सबको पवित्र करनेहारे ! (वृषा हि असि) तू सब सुखों के वर्षण करनेहारा है। (भानुना) सूर्य, या कान्ति से (द्युमन्तं) दीप्तिमान् (स्वर्दृशम्) सुख या सब के द्रष्टा (त्वा) तेरी हम (हवामहे) स्तुति करते हैं।

[४८१] इन्दुः पविष्ट चेतनः प्रियः कवीनां मतिः ।
सृजदश्वं रथीरिव ॥ ५ ॥ ऋ० ९ । ६४ । १० ॥

भा०—(चेतनः) चेतनास्वरूप (कवीनां) क्रान्तदर्शी तत्वज्ञों का (प्रियः) अत्यन्त आदर और प्रेम का पात्र (मतिः) मननशील (रथीः इव) सारथी के समान (अश्वम्) अश्व=इन्द्रियगण को (सृजत्) प्रेरणा करता हुआ (पवते) व्यवहार में प्रवृत्त होता है।

४८१—'मती' इति ऋ०।

[४८२] असृक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया ।
शुक्रासो वीरयाशव ॥ ६ ॥ ऋ० ९ । ६४ । ४ ॥

भा०—(वाजिन) बलवान् (आशव) शीघ्रकारी आलस्यरहित (शुक्रास) कान्तिमान् (सोमास) योगिजन, (गव्या) गौ या वाणी की कामना स (अश्वया) अश्व अर्थात् इन्द्रियों को वश करने की इच्छा से और (वीरया) वीर्य, सामर्थ्य लाभ करने की इच्छा से (प्र असृक्षत) प्रयत्न करते हैं ।

[४८३] पवस्व देव आयुषगिन्द्र गच्छतु ते मद ।
वायुमारोह धर्मणा ॥ ७ ॥ ऋ० ९ । ६३ । २२ ॥

भा०—हे (देव) द्योतमान रसस्वरूप आत्मन् ! (पवस्व) तू प्रकट हो और (आयुषक्) साथ ही (ते मद) तेरा आनन्दप्रवाह (इन्द्र गच्छतु) आत्मा के पास जावे । और तू (धर्मणा) अपने धारक प्रयत्न से (वायु) प्राणवायु को (आरोह) वश कर, उस पर आरूढ हो ।

[४८४] पवमानो अजीजनद्दिवश्चित्र न तन्यतुम् ।
ज्योतिर्वैश्वानर बृहत् ॥ ८ ॥ ऋ० ९ । ६१ । १९ ॥

भा०—(पवमान) अन्तःकरण और बुद्धितत्व को विमल करने वाला साधक योगी सूर्य के समान (दिव) शुद्धाक, मूर्धा के (चित्र) विचित्र आदर योग्य (वैश्वानर) सब नरों में व्यापक, (बृहत्) विशाल (ज्योति) प्रकाश को (तन्यतु न) बिजली के समान (अजीजनत्) प्रकट करता है ।

[४८५] परि स्वानास इन्दवो मदाय बर्हणा गिरा ।
मघो अर्षन्ति धारया ॥ ९ ॥ ऋ० ९ । १० । ४ ॥

४८५—पर स्रवन्तस', 'हृदा अर्षन्ति' इति ऋ० ।

भा०—(स्वानासः) सवन किये, सुसम्पादित, (इन्दवः) ऐश्वर्ययुक्त विद्वान्जन (मदाय) अति आनन्द के लिये (बर्हणा) बहुत बड़ी (गिरा) वेदवाणी से (मधो.) मधु, सारभूत आनन्दरस की (धारया) धारा या धारणा शक्ति से (परि अर्षन्ति) सर्वत्र प्रकाशित होते, या व्यापते हैं ।

[४८६] परिप्राविष्यदत्कविः सिन्धोरूर्मावधिश्रितः ।
कारुं बिभ्रत्पुरुस्पृहम् ॥ १० ॥ ऋ० ९ । १४ । २ ॥

भा०—(कवि·) तत्वदर्शी, विद्वान् (सिन्धोः) आनन्दमय समुद्र के (ऊर्मौ) तरङ्ग में (अधिश्रित) बहता हुआ (पुरुस्पृहं) प्रजा के प्रेमपात्र (कारुं) आत्मारूप शिल्पी को (बिभ्रत्) धारण करते हुए जहाज़ के समान (परि प्र असिष्यदत्) सब ओर वेग से गमन करता है ।

इति दशमी दशतिः । द्वितीयः खण्ड ।

इति द्वितीयोऽर्धः । पञ्चमः प्रपाठकश्च समाप्तः ॥

अथ षष्ठः प्रपाठकः (प्रथमोऽर्धः) ।

॥ ८० १ ॥ ऋषिः—१, ८, ९ असदीयुः । २ बृहन्मतिराङ्गिरसः । ३ काश्यपोऽसित· । ४ प्रभूवसु· । ५ मेध्यातिथिः । ६, ७ निध्रुवि काश्यपः । १० उचथ्यः ॥ पवमानो देवता ॥ गायत्री ॥ षड्जः ॥

[४८७] उपोषु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम् ।
इन्दुं देवा अयासिषुः ॥ १ ॥ ऋ० ९ । ६२ । १३ ॥

भा०—(देवाः) विद्वान् लोग या इन्द्रियगण (सुजातं) उत्तम गुणों से सम्पन्न उत्तम रूप से उत्पन्न, (अप्तुरं) प्रजाओं या इन्द्रियों या कर्मों, ज्ञानों में व्यापक, गतिमान्, (गोभिः) गौओं, उनके दुग्धों, वाणियों, रश्मियों से (परिष्कृतम्) सुशोभित, सुमिश्रित, (भङ्गं) सब दुःखों और

शत्रुओं के ताड़ने हारे (इन्दु) इस आत्मरूप सोम या परमेश्वर के आनन्दरस को (उप अक्षासिषु) प्राप्त करते हैं। ईश्वर, आत्मा, राजा और सोमरस चारों पक्षों में स्पष्ट है।

[४८८] पुनानो अक्रमीदभि विश्वा मृधो विचर्षणि ।
शुम्भन्ति विप्र धीतिभि ॥ २ ॥ ऋ० ९ । ४० । १ ॥

भा०—(विचर्षणि) विविध प्रजाओं का द्रष्टा (सोम) आत्मा (विश्वा) समस्त (मृध) संग्रामों को (पुनान) पवित्र करता हुआ, सबके कलह मिटाता हुआ (अभि अक्रमीत्) प्रत्यक्षरूप से सबको व्याप्त स्थापक रूप में पार कर जाता है वह सबसे ऊंचा होकर विराजता है। उस (विप्र) मेधा बुद्धि से सम्पन्न ज्ञानी का विद्वज्जन (धीतिभि) अपनी मतियों और स्तुतियों से (शुम्भन्ति) अलंकृत करते हैं।

[४८९] आविशन्कलश सुतो विश्वा अर्षन्नभि श्रिय ।
इन्दुरिन्द्राय धीयते ॥ ३ ॥ ऋ० ९ । ६२ । २९ ॥

भा०—(सुत) अभिषिक्त राजा जिस प्रकार राष्ट्र में प्रवेश करता है उसी प्रकार विद्वान् ज्ञानी साधक योगी का आत्मा (कलश) सोलह कलाओं से बने इस औंधे मस्तक या ब्रह्मरन्ध्र में (आविशन्) व्याप्त होता हुआ (विश्वा) समस्त (श्रिय) उत्तम आश्रयस्थानों, सम्पदाओं, ज्ञानशक्तियों एवं सब लोकभूमियों में (अभि अर्षत्) व्याप्त होता है। (इन्दु) वही इन्दु परमैश्वर्यसम्पन्न सिद्धयोगी, (इन्द्राय) उस महान् ऐश्वर्यवान् आत्मा को प्राप्त करने के लिये (धीयते) प्रस्तुत होजाता है, उसका ध्यान करता है।

[४९०] असर्जि रथ्यो यथा पवित्रे चम्वो सुत ।
कार्ष्मन्वाजी न्यक्रमीत् ॥ ४ ॥ ऋ० ९ । ३६ । १ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (रथ्यः) रथयोग्य (वाजी) वेगवान् अश्व (कार्ष्मन्) आकर्षण करनेहारा (सुतः) प्रेरित होकर (चम्वोः) दोनों सेनाओं के बीच (पवित्रे) पैंतरे पर (नि-अक्रमीत्) वेग से दौड़ता है। उसी प्रकार यह आत्मा (सुतः) ऐश्वर्य से युक्त होकर (चम्वोः) निष्पादन फलकों, द्यौ और पृथिवी, प्राण और अपान के बीच (पवित्रे) पवित्र करने हारे प्राण वायु में (कार्ष्मन्) सब इन्द्रियों को कर्षण करता हुआ (रथ्यः) इस देह के योग्य (वाजी) वेगवान् अति बलवान् (असर्जि) होकर (नि अक्रमीत्) नाना स्थानों में गमन करता है। सोम और रथ के घोड़े के दृष्टान्त से मुख्य प्राण और ब्रह्माण्ड के विधारक सूत्रात्मा वायु का वर्णन है।

२अ ३ १ २ १ ३ २ ३ २ ३ १ २
[४६१] प्र यद्गावो न भूर्णयस्त्वेषा अयासो अक्रमुः ।
१ २ ३ २अ ३ १ २
घ्नन्तः कृष्णामपत्यचम् ॥ ५ ॥ ऋ० ९ । ४१ । १ ॥

भा०—(यत्) जो (गाव न) किरणों के समान (भूर्णय.) सब के पालन करने हारे वा शिघ्रगामी, (त्वेषाः) कान्तिमान् (अयास.) गतिशील, (कृष्णां) कृष्ण, कर्षण करने वाली, हानिकारक (त्वचम्) त्वचा, ऊपर की खाल या देखावे, अन्धकार, ढोंग, देहबन्धन को (घ्नन्त.) विनाश करते हुए (प्र अक्रमु.) विचरते हैं।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[४६२] अप घ्नन्पवसे मृधः क्रतुवित्सोम मत्सरः ।
३ १र २अ ३ १ २
नुदस्वा देवयुं जनम् ॥ ६ ॥ ऋ० ९ । ६३ । २४ ॥

४६१—प्रये गावो' इति ऋ० ।

४६२—मृधः=मृधि उन्दने भ्वादिः, उन्दन वक्लेदन । मृध. सङ्गदोषा, बन्धनानि कर्मासक्ता इति वा ।

भा०—हे (सोम) विद्वन्[1] हे रसरूप (मत्सर) हर्षकारी होकर विचरने हारा तू (क्रतुवित्) सब उत्कृष्ट ज्ञान और कर्मों का जानने और लाभ कराने हारा (मृध) परस्पर के कलहों, संग्रामों या बन्धनों को (अपघ्नन्) विनाश करता हुआ (अदेवयु) देवों, विद्वानों के प्रतिकूल ना स्तिक (जन) पुरुष को (नुदस्व) परे कर ।

[४६३] अया पवस्व धारया यया सूर्यमरोचय ।
हिन्वानो मानुषीरप ॥ ७ ॥ ऋ० ९ । ६३ । ७ ॥

भा०—हे विद्वन्[1] रसरूप (यया) जिस (धारया) धारा या धारण पोषण शक्ति से (मानुषी) मनुष्य (अप) प्रजाओं या प्राणों को (हिन्वान) प्रेरित करता है (यया) जिससे (सूर्यं) सूर्य के समान सबके प्रेरक राजा या विद्वान् गुरुको (अरोचय) सब में प्रकाशित करता है (अया) उस धारा से (पवस्व) तू भी सर्वत्र प्रकाशित हो ।

[४६४] स पवस्व य आविथेन्द्र वृत्राय हन्तवे ।
वम्रिवास महीरप ॥ ८ ॥ ऋ० ९ । ६१ । २२ ॥

भा०—हे रसरूप[1] (य) जो (मही) बहुत सारे (अप) जलों, कर्मों, प्राणों या लिंग-शरीरों और प्रज्ञानों को (वम्रिवास) आवरण किये, रोके हुए (वृत्राय) आवरणकारी मेघ के समान अज्ञान अन्धकार या कर्मबन्धन को (हन्तवे) विनाश करने के लिये (इन्द्र) सूर्य के समान आत्मा को (आविथ) रक्षा करता है (स) वह तू (पवस्व) प्रकाशमान हो ।

[४६५] अया धिया पवस्व यस्त इन्द्रो मदेष्वा ।
अवाहन्नवतीर्नव ॥ ९ ॥ ऋ० ९ । ६२ । १ ॥

भा०—हे रसरूप ! (ते) तेरे (मदेषु) आनन्द रसों में बह कर (इन्द्र) आत्मा (नवती नव) ९९ वर्ष (य) जो (अवाहन्) पार

कर जाता है (अया) इस (वीती) रीति से (परिस्रव) देह में व्याप्त रह, गति कर । ऐतिहासिक पक्ष में इन्द्र का ९९ शम्बर की पुरियों का विनाश करना आदि आलङ्कारिक है ।

[४९६] परि द्युक्तं सनद्रयिं भरद्वाजं नो अन्धसा ।
स्वानो अर्ष पवित्र आ ॥ १० ॥ ऋ० ९ । ५२ । १ ॥

भा०—हे (सोम) विद्वन् ! आनन्दमय ! (नः) हमें (अन्धसा) जीवन-धारण सामर्थ्य से, (द्युक्तं रयिं) कान्तिस्वरूप धन को (परि सनद्) प्रदान कर, और (नः वानं भरद्) हमें अन्न और ज्ञान भी प्राप्त करा । हे (सोम) विद्वन् ! (स्वानः) सम्पादित होता हुआ, ऐश्वर्यवान् तू (पवित्र) पवित्र करनेहारे दशा पवित्र नामक ब्रह्मखण्ड के समान पवित्र, शुद्ध हृदय या ब्रह्म में तू (आ अर्ष) स्वयं व्यापक, विराजमान हो और विचर ।

इति प्रथमा दशतिः । तृतीयः खण्डः ॥

॥ ८० २ ॥ ऋषि—१ मेध्यातिथिः । २, ७ भृगुः । ३ उचथ्यः । ४ अवत्सारः । ५, ६ निध्रुविः काश्यपः । ८, ९ काश्यपो मारीचः । १० असितः । ११ कविः । १२ जमदग्निः । १३ अयास्य आङ्गिरसः । १४ जमदग्निः ।
पवमानो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

[४९७] अचिक्रदद् वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः ।
स सूर्येण दिद्युते ॥ १ ॥ ऋ० ९ । २ । ६ ॥

भा०—(वृषा) वर्षणशील, (हरिः) सबको गति देने हारा, जगदीश्वर (महान्) सबसे बड़ा (मित्रः न) सबके प्रति स्नेही, सूर्य के समान

४९६—'परीत्य०' 'सनद्रयिः' 'सुवानो' इति ऋ० ।
४९७—'सूर्येण रोचते' इति ऋ० ।

(दर्शत) दर्शनीय, (सूर्येण) अपने प्रेरक बल और तेज से (स दिद्युते) उत्तमरूप से प्रकाशित होता है।

[४९८] २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
आ ते दत्त मयोभुव वह्निमद्या वृणीमहे।
२ ३ २ २ ३ १ २
पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ २ ॥ ऋ० ९। ६२। २८ ॥

भा०—हे प्रभो ! (ते) तेरे (मयोभुव) शान्ति और कल्याण के जनक, (वह्निं) सुखों के प्राप्त कराने वाले, (पान्त) पालक, (पुरुस्पृह) सबके अभिलाषा योग्य, (दत्त) बल को (अद्य) इस समय हम (आ वृणीमहे) सब प्रकार से याचना करते हैं।

[४९९] १ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २
अध्वर्यो अद्रिभि सुत सोम पवित्र आनय।
३ १ २ ३ १ २
पुनाहीन्द्राय पातवे ॥ ३ ॥ ऋ० ९। ५२। १ ॥

भा०—हे (अध्वर्यो) यज्ञनिष्पादक ! (अद्रिभि) पाषाण-खण्डों से जिस प्रकार सोमरस निकाला जाता है उसी प्रकार ज्ञानोत्पादक गुरुओं द्वारा (सुत) निष्पादन किये (सोम) ज्ञान या आनन्द रस को (पवित्र) दशा पवित्र नामक वस्त्र खण्ड के समान विवेकशील चित्त में (आनय) प्राप्त करा और (पातवे) पान करनहारे (इन्द्राय) आत्मा के लिये (पुनाहि) इस विमल, और स्वच्छ कर।

[५००] २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२
तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः।
३ २ ३ १ २
तरत्स मन्दी धावति ॥ ४ ॥ ऋ० ९। ५८। १ ॥

भा०—(स) वह (मन्दी) स्तुति करने हारा, स्वतः तृप्त आत्मा (तरत्) इस देहबन्धन को तर जाता है। वही (सुतस्य) उत्पन्न हुए (अन्धसः) अन्धकार के नाशक ज्ञान और आनन्दरस की (धारा) धारा, या शक्ति द्वारा (धावति) ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है। वही (तरत्) अज्ञान

४९९—'पुनीहि' इति ऋ०।

को पार करके (मन्दी) अत्यन्त आनन्दमय होकर (धावति) परम शुद्ध होकर ब्रह्म को प्राप्त होजाता है ।

[५०१] आ पवस्व सहस्रिण रयिं सोम सुवीर्य्यम् ।
अस्मे अवासे धारय ॥ ५ ॥ ऋ० ९ । ६३ । २ ॥

भा०—हे (सोम) आनन्दरस रूप आत्मन् ! तू (सहस्रिण) सहस्रों (सुवीर्य) उत्तम सामर्थ्य से सम्पन्न (रयिं) धन को (आ पवस्व) प्राप्त करा । (अस्मे) हमें (अवासे) नाना ज्ञान और अन्न (धारय) धारण करा ।

[५०२] अनु प्रत्नास आयव पद् नवीयो अक्रमुः ।
रुचे जनन्त सूर्य्यम् ॥ ६ ॥ ऋ० ९ । २३ । २ ॥

भा०—(प्रत्नास) पुराने, प्राचीन, शाश्वत (आयव) जीवन की कामना करने वाले पुरुष (नवीय) अत्यन्त स्तुतियोग्य, उत्तम (पद) प्राप्तव्य ब्रह्मपद या ज्ञातव्य ज्ञान को (अनु अक्रमुः) अनुसरण करते हैं । वे (रुचे) अपनी दीप्ति-प्रकाश के निमित्त (सूर्य) सूर्य के समान प्रेरक मुख्य प्राण को या परमेश्वर को (जनन्त) सामर्थ्यवान् बनाते, उसकी सब शक्तियों की भावना करते या साक्षात् करते हैं ।

[५०३] अर्षा सोम द्युमत्तमोऽभि द्रोणानि रोरुवत् ।
सीदन्योनौ वनेष्या ॥ ७ ॥ ऋ० ९ । ६५ । १९ ॥

भा०—हे (सोम) सबके प्रेरक ! हे (द्युमत्तम) प्रकाशमान् पदार्थों में सबसे श्रेष्ठ ! (वनेषु) सेवन करने योग्य पदार्थों और कर्मफलों में या ब्रह्मपदों में, (योनौ) अपने आश्रयस्थान पर (सीदन्) विराजमान होकर (आ) विचर और (द्रोणानि अभि) दृढ़शरीर, विनाशशील

५०३—'सीदन् वनो न वानिवा' इति ऋ० ।

(दर्शत) दर्शनीय, (सूर्येण) अपने प्रेरक बल और तेज से (स दिद्युते) उत्तमरूप से प्रकाशित होता है।

[४९८] आ ते दक्ष मयोभुव वह्निमद्या वृणीमहे।
पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ २ ॥ ऋ० १। ६२। २८ ॥

भा०—हे प्रभो! (ते) तेरे (मयोभुव) शान्ति और कल्याण के जनक, (वह्निं) सुखों के प्राप्त कराने वाले, (पान्त) पालक, (पुरुस्पृह) सबके अभिलाषा योग्य, (दक्ष) बल की (अद्य) इस समय हम (आ वृणीमहे) सब प्रकार से याचना करते हैं।

[४९९] अध्वर्यो अद्रिभि सुत सोम पवित्र आनय।
पुनाहीन्द्राय पातवे ॥ ३ ॥ ऋ० ९। ५१। १ ॥

भा०—हे (अध्वर्यो) यज्ञनिष्पादक! (अद्रिभि) पाषाण-खण्डों से जिस प्रकार सोमरस निकाला जाता है उसी प्रकार ज्ञानोत्पादक गुरुओं द्वारा (सुत) निष्पादन किये (सोम) ज्ञान या आनन्द-रस को (पवित्रे) दशा पवित्र नामक वस्त्र खण्ड के समान विवेकशील चित्त में (आनय) प्राप्त करो और (पातवे) पान करनेहारे (इन्द्राय) आत्मा के लिये (पुनाहि) इस विमल, और स्वच्छ करो।

[५००] तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः।
तरत्स मन्दी धावति ॥ ४ ॥ ऋ० ९। ५८। २ ॥

भा०—(स) वह (मन्दी) स्तुति करने हारा, स्वतः मुक्त आत्मा (तरत्) इस देहबन्धन को तर जाता है। वही (सुतस्य) उत्पन्न हुए (अन्धसः) अन्धकार के नाशक ज्ञान और आनन्दरस की (धारा) धारा, या शक्ति द्वारा (धावति) ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है। वही (तरत्) अज्ञान

४९९—'पुनीहि' इति ऋ०।

को पार करके (मन्दी) अत्यन्त आनन्दमय होकर (धावति) परम शुद्ध होकर ब्रह्म को प्राप्त होजाता है ।

[५०१] आ पवस्व सहस्रिणं रयिं सोम सुवीर्य्यम् ।
अस्मे श्रवांसि धारय ॥ ५ ॥ ऋ० ९ । ६३ । १ ॥

भा०—हे (सोम) आनन्दरस रूप आत्मन् ! तू (सहस्रिणं) सहस्रों (सुवीर्यं) उत्तम सामर्थ्य से सम्पन्न (रयिं) धन को (आ पवस्व) प्राप्त करा । (अस्मे) हमें (श्रवांसि) नाना ज्ञान और अन्न (धारय) धारण करा ।

[५०२] अनु प्रत्नास आयव पद नवीयो अक्रमुः ।
रुचे जनन्त सूर्य्यम् ॥ ६ ॥ ऋ० ९ । २३ । २ ॥

भा०—(प्रत्नास) पुराने, प्राचीन, शाश्वत (आयव) जीवन की कामना करने वाले पुरुष (नवीय) अत्यन्त स्तुतियोग्य उत्तम (पद) प्राप्तव्य ब्रह्मपद या ज्ञातव्य ज्ञान को (अनु अक्रमुः) अनुसरण करते हैं । वे (रुचे) अपनी दीप्ति प्रकाश के निमित्त (सूर्यं) सूर्य के समान प्रेरक मुख्य प्राण को या परमेश्वर को (जनन्त) सामर्थ्यवान् बनाते, उसकी सब शक्तियों की भावना करते या साक्षात् करते हैं ।

[५०३] अर्षा सोम द्युमत्तमोऽभि द्रोणानि रोरुवत् ।
सीदन्योनौ वनेष्या ॥ ७ ॥ ऋ० ९ । ६५ । १९ ॥

भा०—हे (सोम) सबके प्रेरक ! हे (द्युमत्तम) प्रकाशमान् पदार्थों में सबसे श्रेष्ठ ! (वनेषु) सेवन करने योग्य पदार्थों और कर्मफलों में या ब्रह्मपदों में, (योनौ) अपने आश्रयस्थान पर (सीदन्) विराजमान होकर (आ) विचर और (द्रोणानि अभि) द्रवणशील, विनाशशील

५०१—सीदन् दक्षेनो न योनिमा' इति ऋ० ।

इन कलशरूपक देहों में भी (रोरवत्) प्राणरूप से नाद करता हुआ तू (आ अर्ष) व्याप्त हो।

[५०४] घृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः।
वृषा धर्माणि दधिषे ॥ ८ ॥ ऋ० ९ । ६४ । १ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (वृषा) सब काम्य-सुखों के वर्षक आप (द्युमान्) दीप्ति से युक्त (असि) हो। हे (देव) सुखों के देनेहारे ! (वृषा) तू सबसे श्रेष्ठ (वृषव्रतः) धर्मानुकूल कार्य करने और सुखों के वर्षाने वाले मेघ के समान (वृषा) स्वतः सर्वसुखों के वर्षक, धर्ममेघ स्वरूप होकर (धर्माणि) सबको धारण करने वाले नियमों को (दधिषे) धारण करता, निर्माण करता, स्थापन करता है।

[५०५] इषे पवस्व धारया मृज्यमानो मनीषिभिः।
इन्दो रुचाभि गा इहि ॥ ९ ॥ ऋ० ९ । ६४ । १३ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! तू (मनीषिभिः) मनन करने वाले या मन को तेरे प्रति प्रेरणा करने वाले विद्वान् साधकों द्वारा (मृज्यमानः) विवेचना किया गया, परिशोधित किया हुआ होकर (धारया) निरन्तर आनन्द के प्रवाह रूप में (इषे) अन्न और ब्रह्म सम्पादन के निमित्त (पवस्व) प्रकट हो। और (रुचा) अपनी कान्ति द्वारा ही हे (इन्दो) ऐश्वर्यसम्पन्न ! प्राणशील ! तू (गाः) वाणियों या इन्द्रियों के प्रति भी (अभि इहि) प्राप्त हो।

[५०६] मन्द्रया सोम धारया वृषा पवस्व देवयुः।
अव्या वारेभिरस्मयुः ॥ १० ॥ ऋ० ९ । ६ । १ ॥

५०४—'दधिषे' इति ऋ०।

५०६—'अव्यो वारेष्वस्मयुः' इति ऋ०।

भा०—हे सोम ! (वृषा) वर्षणशील, सुखों का वर्षक, (देवयु) देवों, विद्वानों, इन्द्रियों का हितकर तू (मन्दया) आनन्ददायक (धारया) रसरूप धारा से (पवस्व) प्रवाहित हो, और (अस्मयु) हमारा हितकारी (वारेभिः) विघ्ननिवारक बलों से (अव्याः) हमारी रक्षा कर । अथवा—(अव्याः) क्षिति शक्ति के (वारेभिः) आवरण करनेहारे कोशों में से भी तू (पवस्व) क्षरित होकर प्रकट हो ।

[५०७] अया सोम सुकृत्यया महाँस्सन्नभ्यवर्धथा ।
मन्दान इद् वृषायसे ॥ ११ ॥ ऋ० ९ । ४७ । १ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (अया) इस (सुकृत्यया) उत्तम सदाचाररूप विधि से तू (महान् सन्) बड़ा होता हुआ (अभि अवर्धथा) साक्षात् बढ़ा और (मन्दान) हर्ष से (इद्) ही (वृषायसे) मेघ के समान नाद कर ।

[५०८] अयं विचर्षणिर्हितः पवमान स चेतति ।
हिन्वानो आर्यं बृहत् ॥ १२ ॥ ऋ० ९ । ६२ । २० ॥

भा०—(अयं) यह आत्मा (विचर्षणि) सबको विशेष रूप से देखने वाला, (पवमान) सबको शुद्ध, पवित्र करता हुआ, सर्वव्यापक (सः) वह (बृहत्) बहुत अधिक (आर्यं) प्रजाओं के हितकारी वस्तु अन्न और ज्ञान को (हिन्वान) प्रेरित करता हुआ (चेतति) जाना जाता, या स्वयं ज्ञानवान् होता, या ज्ञान ग्रहण कराता है ।

[५०९] प्र न इन्दा महे तुन ऊर्मिं न बिभ्रदर्षसि ।
अभि देवाँ अयाम्यः ॥ १३ ॥ ऋ० ९ । ४४ । १ ॥

५०७—'सोम', 'महाँश्चिदभ्यवर्धत', 'मन्दान उद्वृषायते' इति ऋ० ।

५०९—'महेतन' इति ऋ० ।

भा०—हे (इन्दो) ऐश्वर्यसम्पन्न ! आप (महे तुने) विशाल ज्ञान प्राप्त करने के लिये (न) हमारे लिये (ऊर्मिम् न) लहर के समान (विभ्रद्) हर्ष उत्पन्न करते हुए (अर्षसि) प्रकट हो और (देवान् अभि) देवों, विद्वानों ज्ञानयोगियों के प्रति (अयास्य) 'अयास्य' अर्थात् मुख्य प्राण रूप में प्रकट होते हो। 'अयास्य' का वर्णन बृहदा० उप० में देखो।

[५१०] ३ १ २ ३ २४ ६ २ ३ १ २
अप घ्नन्पवते मृधोऽप सोमो अराव्ण ।
३ १ २ ३ २
गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥ १४ ॥ ऋ० ९ । ६१ । २५ ॥

भा०—(सोम) ज्ञानवान् आत्मा (मृध) काम क्रोध आदि आत्मा के साथ युद्ध करने वाले आभ्यन्तर शत्रुओं को (अपघ्नन्) विनाश करता हुआ (अराव्ण) अदानशील, कृपण वृत्तियों को भी (अप) दूर करता हुआ (इन्दस्य) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर के (निष्कृतम्) मोक्षपद को (गच्छन्) प्राप्त होता है।

इति द्वितीया दशति । चतुर्थ खण्ड ।

॥ द० ३ ॥ ऋषि —भरद्वाज काश्यपो गोतमोऽत्रिर्विश्वामित्रो जमदग्निर्वसिष्ठश्चैते सप्तर्षय । पवमानो देवता । बृहती । मध्यम ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १४ २४
[५११] पुनान साम धारयापो वसानो अर्षसि ।
१ २ ३ १४ २४ ३१ २ ३ २ २ ३१ २ ३ १ २
आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देवो हिरण्ययः ॥१॥
ऋ० ९ । १०७ । ४ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! तू (धारया) धारा से (अप वसान) कर्मों और प्रजाओं प्राणों या लिङ्ग शरीरों में व्याप्त होकर सबको (पुनान) पवित्र करता हुआ (अर्षसि) विराजता है। (रत्नधा) रमणीय पदार्थों

५११—'देव' इति ऋ० ।

का पावक (ऋतस्य) इस जीवन या ज्ञान के (योनिम्) मूलकारण में (आ सीदसि) स्थित है। और स्वयं (हिरण्यय) का तिस्वरूप या सब इन्द्रियगण के लिये हित और रमण य होता हुआ (देव) सबका तपक सबके प्रति (उस) रस का सञ्चार करने हारा है। यहां शुक्र ज्ञान और यागसाधन से प्राप्त विशेष आनन्दमय अनुभव का वर्णन है।

[५१२] परीता विञ्चता सुत सामा य उत्तम हवि ।
दधन्वाँ यो नर्यो अप्स्वन्तरा सुषाव साममद्रिभि ॥२॥
अ० ९ । १०७ । १ ॥

भा०—(अध्वर्यु) इस जीवनयज्ञ या यागयज्ञ का सम्पादक, (साम) अन्तरात्मा के आनन्द का (अद्रिभि) मेघ से जल के समान और विद्वानों से ज्ञानों के समान यागसाधनों द्वारा (सुषाव) पैदा करता है। (य) जो साम (नर्य) मनुष्यों का हितकारी (अप्सु) प्रजाओं या कर्मों या प्रज्ञाओं प्राणों के (अन्तरा) बीच में (दधन्वान्) व्याप्त रहता है (य साम) जो साम (उत्तम) उत्तम (हवि) हवि तृप्ति परम सन्तोष और परम आनन्द का साधन है उसका वह योगी (इत) इस हृदय स्थान से (सुत) उत्पन्न हुए का (परिविञ्चति) सब ओर को बहाता है।

[५१३] आ सोम स्वाना अद्रिभिस्तिरो वाराण्यव्यया ।
जनो न पुरि चम्वोर्विशद्धरि सदो वनेषु दधिष ॥ ३ ॥
अ० ९ । १०७ । १० ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (अद्रिभि) योगसाधनों या योगियों द्वारा (सुवान) उत्पन्न या साक्षात् किया जाकर (अव्यया) अवि भेड़ के बालों के बने छानने के कपड़े के समान तमोमय (वाराणि) आवरणों

५१३—सुवानो दधिष च ऋ० ।

भा०—हे (सोम) हे मन् ! (जागृवि) जागरणशील (ऋत्या) अवि, चतना या प्राण के (वारे) वृत्तियों, चेष्टाओं या लहरों द्वारा (पुनान) पवित्र करता हुआ (प्रिय) सबका प्रिय, (विप्र) मेधावी, (त्व) तू (अद्रिरस्तम) सबसे अधिक प्रकाशमान, आनन्दरूप परमरस में (परि अभव) प्रकट होता है । तू (न) हमारे (यज्ञ) जीवन-यज्ञ का (मध्वा) उस आनन्दरूप मधु से (मिमिक्ष) सींच दें, भर दे ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३१ २ ३ २
[५२०] इन्द्राय पवत मद सोमो मरुत्वते सुत ।
३१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
सहस्रधारा अत्यव्यमर्षति तमी मृजन्त्यायव ॥ १० ॥
ऋ० ९ । १०७ । १७ ॥

भा०—(सुत) सोमरस के समान तैयार किया हुआ, छाना हुआ, परिशोधा हुआ (मद) आनन्दस्वरूप (सोम) सोम (मरुत्वत) प्राणों, प्रजाओं और मरुत्स्थानीय मरुद्गण के अधिपति (इन्द्राय) आत्मा रूपी और परमात्मा के लिये (पवत) बहता है । वह (सहस्रधार) सहस्रों शक्तियों के रूप में (अव्यम्) अवि=चतनामय मन साधन को (अति) अतिक्रमण करके (अर्षति) प्रकट होता है । (तम्) उस (ईं) इस सोम रस को (आयव) परम आयु से सम्पन्न साधक लोग (मृजन्ति) और भी परिष्कृत करते हैं । अवि रूपी चतना का वर्णन अथर्व में विस्तार से है । जैसे—अविर्वै नाम देवतत्त्व परीवृता । तस्या रूपेणेमा वृक्षा हरिता हरितस्रज । अथर्व० (१०८ । ३१)

इसीका वर्णन वशा, ब्रह्मगवी, मधी, शतौदना, मधुकशा आदि नाना नामों से वेदों में आया है । यही सप्तर्षियों की ब्रह्मवर्चसी है जिसका सोम रस और सप्त पात्र है, ब्रह्म और तप उसका दूध है । इत्यादि । अथर्व० ८ । १० (४) १४ ॥

[५२१] पवस्व वाजसातमोऽभि विश्वानि वार्या ।
त्वं समुद्र. प्रथमे विधर्मन् देवेभ्य. सोम मत्सरः ॥११॥

ऋ० ९ । १०७ । २३ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मानन्द ! (विश्वानि) समस्त (वार्या) आवरणकारी बाधाओं को (अभि) मुकाबला करके, उनको हटाकर (वाजसातम.) ज्ञान और बल से सम्पन्न होकर (पवस्व) प्रकाशित हो। (त्वं) तू हे (सोम) परमरस ! हे (विधर्मन्) नाना प्रकार से पोषण करने वाले (मत्सरः) आनन्द रस में बहने वाला, (समुद्र) समुद्र के समान हृदय में उमड़ने वाला (देवेभ्य.) द्योतमान, प्रकाशमान, ज्ञानी, दिव्यगुणी, साधकों या इन्द्रियों के लिये भी (प्रथमे) श्रेष्ठ कर्म, मुख्य उपदेश में (पवस्व) प्रकट हो ।

[५२२] पवमाना असृक्षत पवित्रमतिधारया ।
मरुत्वन्तो मत्सरा इन्द्रिया हवा मेधामभिप्रयांसि च ॥१२॥

ऋ० ९ । १०७ । २५ ॥

भा०—(पवमाना) पवित्र, परिशोधित किये गये, (मत्सरा) आनन्दरस में विचरण करने वाले (धारया) अपनी धारणा के बल से (पवित्रं) पवित्र, पावन करनेहारे ज्ञान को (अति) अतिक्रमण करके (मरुत्वन्त) मरुत्, प्राणों से युक्त (इन्दिया) आत्मा के ऐश्वर्य से युक्त (हवा) गतिशील ज्ञानी होकर (मेधाम्) मेधा (प्रयांसि) और बलों को (अभि) साक्षात् प्राप्त करते हैं ।

इति तृतीया दशतिः । पञ्चदशः खण्डः ।

५२१—'वाजसातये' 'धार्या' 'समुद्र' इति ऋ० ।

५२२—'पवमानाः' 'कलियाति' इति ऋ० ।

॥ ८० ४ ॥ ऋषि —१, ९ उशना काव्य० । २ वृषणो वासिष्ठ० । ३, ७ पराशरः शाक्त्य । ४, ६ वसिष्ठो मैत्रावरुण० । ५, १० प्रस्कण्वो देवोदासि । ८ प्रस्कण्व काण्व० । पवमानो देवता । त्रिष्टुप् । धैवत ॥

[५२३] प्र तु द्रव परि कोशं निषीद नृभि पुनानो अभि वाजमर्ष ।
अश्वं न त्वा वाजिन मर्जयन्तेच्छा वहीं रशनाभिर्नयन्ति ॥१॥

स० ९ । ८७ । १ ॥

भा०—हे (सोम) परम आनन्दरस ! (प्र द्रव) तू द्रवित हो । और (कोशं) कोश, ब्रह्माण्ड, मूर्धास्थान को (परि निषीद) व्याप्त करके विराजमान हो और (नृभि पुनान) विद्वान् पुरुषों से पवित्र या विशोधित, परिशोधित होकर (वाजम्) ज्ञान के प्रति (अभि अर्ष) साक्षात् प्रवाहित हो, ज्ञान को प्राप्त हो । (वाजिन) बलवान्, वेगवान् (अश्वं न) अश्व को जिस प्रकार (मर्जयन्त) परिमार्जन करते हुए, झाड़ते पोंछते हुए, या सान्त्वना देते हुए (रशनाभि) वागों से पकड़ कर सग्राम में ले जाते हैं उसी प्रकार (वाजिन) ज्ञान विभूति से युक्त सोमरूप आत्मा को परिमार्जन, या शोधन करते हुए (रशनाभि) योगसाधनाओं से (वहिं) हृदयरूप यज्ञ में या गृहरूप यज्ञ में (नयन्ति) लजाते हैं ।

[५२४] प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमानि विक्ति ।
महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदा वराहो अभ्येति रेभन् २

अ० ९ । १७ । ७ ॥

भा०—(उशना इव) विद्वान् मेधावी, सोमरसवत्, (देव) विद्वान्, सुखप्रद होकर (काव्य) सुन्दर काव्य, वेदज्ञान या ससार के रहस्य को (प्र ब्रुवाण) उत्तम रीति से वर्णन, उपदेश करता हुआ (देवानां) मनुष्यों, ऋषियों और आदियों, पृथ्वी इन्द्रिय गण, और प्राण अपानादि नव प्राणों के

(जनिम्) प्रादुर्भाव होने के रहस्य को (आ विवक्ति) स्पष्ट रूप से बतलाता है । और (महिव्रतः) विशाल कर्म और प्रज्ञा का करने वाला, (शुचिबन्धु) अपने शुद्ध तेज द्वारा सबको अपने साथ बांधने हारा, सब पवित्र हृदयों का बन्धु, (पावकः) सबको पवित्र करने हारा, अग्निस्वरूप (वराह =वर आह) श्रेष्ठ उत्तम वाणी का बोलने हारा (रेभन्) उत्तम ज्ञानोपदेश करता हुआ (पदा) प्राप्त करने योग्य ज्ञान रहस्यों को और उत्तम स्थानों, ज्ञानदृग और सुखप्रद दशाओं को (अभि एति) प्राप्त होता है ।

"उशना —वर्णः कनसिरौणादिः" । वश कन्तौ अदादि ।

[५२५] तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम् ।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः ॥ ३ ॥ ऋ० ९ । ९७ । ३४ ॥

भा०—(वह्निः) ज्ञान का वहन करने वाला (तिस्रः वाचः) ऋग्, यजु, साम स्वरूप तीन वेदवाणियों को (प्र ईरयति) उत्तम रूप से प्रकट करता है । (ऋतस्य) सत्य, ज्ञान और यज्ञ का धारण करने वाला (ब्रह्मणः) ब्रह्म या वेदज्ञ की (मनीषां) मनको प्रेरणा करने वाली वाणी स्तुति का भी प्रेरित करता है । जिस प्रकार गौएं गोपाल के पास आजाती हैं उसी प्रकार ये (गावः) गोरूप वेदवाणियां मानो अपना रहस्य तत्व (पृच्छमानाः) पूछती हुई (गोपतिं) वेदवाणियों के परिपालक विद्वान् के पास (यन्ति) पहुंच जाती हैं (मतयः) मननशक्तियां या सुन्दर विचार धाराएं भी (वावशानाः) अपने अनुकूल पात्रक की कामना करती हुई (सोमं) उस शम, दम आदि गुणसम्पन्न तत्वज्ञानी के पास (यन्ति) चली जाती हैं ।

ऋषि पावक के मत से वह्निरात्मा मतिः । स तिस्रो वाच ईरयति प्रेरयति विद्यामतिबुद्धिमताम् । ऋतस्यात्मनः कर्माणि ब्रह्मणो मनीषां ।

अयमेवेतत्सर्वमनुभवति, इति आत्मगतिमाचष्टे । अर्थात् वह्नि आत्मा है । वह तीन वाणियों को प्रेरित करता है विद्या मति और बुद्धि को । ऋत अर्थात् आत्मा क कर्म ब्रह्म को अभिमत हैं । यह ही सब अनुभव करता है इस प्रकार इस मन्त्र में आत्मा की गति कही है । विवरणकार माधव के मत में विद्या अर्थात् महत् तत्व, बुद्धि अर्थात् अहकार, मन अर्थात् प्रधानता से पाचों ज्ञानेन्द्रिया, आत्मा इनका प्रेरित करता है । ऋतरूप आत्मा को धारण करन वाली मन की प्रेरणा ब्रह्म के अनुकूल होती है । इन्द्रिय रूप गौए गापति आत्मा स उसको पूछती हैं अर्थात् सोमरूप आत्मा की कामना स उसी में लीन हो जाती है ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[५२६] अस्य प्रपा हेमना पूयमाना देवा दवेभि समपृक्त रसम् ।

३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

सुत पावित्र पर्येति रेभन् मितेव सद्म पशुमन्ति होता॥४॥

ऋ० ९। ९७ । १ ॥

भा०—(अस्य) इस विद्वान् आत्मा क (प्रेषा) प्रेरण करने वाले (हेमना) स्वर्ण क समान कान्ति वाले तेज स (पूयमान) पवित्र परि-शुद्ध होता हुआ (देव) अति दीप्तिमान्, या सबका आनन्दरस का देने हारा (देवेभि) इन्द्रियगण क साथ (रस) आनन्द रस का (सम् अपृक्त) सम्पर्क करा देता है । उस समय (सुत) वह प्रकट होकर (रेभन्) उपदेश करते हुए ज्ञाता के समान अनाहत ध्वनि करता हुआ (पवित्रम्) परम पावन पद का (परि-एति) प्राप्त होता है और (मिता इव) जिस प्रकार कार्यकर्ता आकर (पशुमान्त) पशुओं से युक्त (सद्म) घर में आता है और पशु का जोतकर रथ में लगाता है उसी प्रकार वह (होता) साधक (मिता) ज्ञानी होकर (पशुमन्ति) पशुरूप इन्द्रियगण से युक्त (सद्म) इस शरीर को (परि एति) पूर्ण वश कर लेता है । सोमरस के

प्रादुर्भाव होने पर साधक की वृत्तियां स्वयं संसार के भोगों से विरत होकर आत्मानन्द में लग जाती हैं, उसी दशा को दर्शाया गया है।

[५२७] सोम पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्या. ।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः॥५॥

ऋ० ९ । ९६ । ५ ॥

भा०—(मतीनां) सब मनोवृत्तियों का (जनिता) प्रादुर्भाव करने हारा, (दिव) सूर्य के समान प्रकाशमान, तेज पुञ्ज का (जनिता) उत्पादक, (पृथिव्याः) पृथिवी के समान विस्तृत त्वचा का (जनिता) उत्पादक, (अग्ने) अग्निरूप वाणी का (जनिता) उत्पादक, (सूर्यस्य) सूर्यरूप चक्षु का (जनिता) उत्पादक, (इन्द्रस्य) प्राणरूप इन्द्र का उत्पादक (विष्णोः) सर्वव्यापक आकाश के समान श्रोत्र या हृदयाकाश का (जनिता) उत्पादक वह (सोम.) आत्मा (पवते) प्रकट होता है। (देखो निरुक्त वारुक परि० २ । २२)

समष्टि व्यष्टि रूप से ब्रह्माण्ड में परमात्मा और पिण्ड में आत्मा समानरूप से स्पष्ट हैं। इसका विवरण देखो (कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषत् अ० १, प्रतर्दनेन्द्र संवाद)

[५२८] अभि त्रिपृष्ठं वृषणं वयोधामक्रोविणमयावशन्त धीराः ।
वना वसाना वरुणो न सिन्धुषि रत्नधा दयते धार्याणि ॥६॥

ऋ० ९ । ९० । २ ॥

भा०—(धीराः) वेद की धारिणी, या आत्मा का निरूपण करने हारी सब वाणियां (त्रिपृष्ठं) वाणी, मनः और काय तीनों स्थानों पर स्पर्श करने वाले, (वृषणं) सब सुखों, ज्ञानों और बलों के वर्षक, (वयो.-धाम्) प्राणरूप बल को धारण करने हारे, (क्रोविणम्)

प्रत्येक अङ्ग में निवास करने वाला, आत्मा को (अभि वावश्यन्त) नित्य कामना करती है अर्थात् अपना सब गुप्त रहस्य उसी के प्रति प्रकट करती है और वह (धना) सब देहों में (वसान) निवास करता हुआ (वरुण) सबको व्याप्त करने वाला, सबके वरण योग्य नदियों के लिये (सिन्धु न) महासमुद्र के समान (वार्णानि) सबके मनन हरने हारे, वरण योग्य धनों को (रत्नधा) रत्नों को धारण करनेहारा, होकर (वि दधते) नाना प्रकार से प्रदान करता या पालन करता है।

१ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ ३ ३ १२ २२ २ २
[५२६] अन्तःसमुद्र प्रथमे विधर्मन् जनयन् प्रजा भुवनस्य गोपा ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२
वृषा पवित्र अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे स्वानो अद्रिः ॥७॥
ऋ० ९ । १० । ४० ॥

भा०—(बृहत् सोम) वह बड़ा विशाल सोम, सबका प्रेरक और उत्पादक परमात्मा और आत्मा (स्वान) प्रकट होता हुआ (अद्रि) कभी न टूटने वाला, अभेद्य, नित्य, अमर आत्मा (वृषा) सब सुखों के बरसाने हारा, (अव्ये) अविनाशी, चिन्मय (पवित्रे) सबको पवित्र करने हारे (सानो अधि) आनन्दस्वरूप ब्रह्म में या गूढ़ प्रदेश में (वावृधे) बढ़ता है, अपनी महिमा को अनुभव करता है। वह (समुद्र) समुद्र के समान सब इन्द्रियों का एकमात्र आश्रयस्थान, (प्रथमे) अति उत्कृष्ट (विधर्मन्) नाना आधारस्थानों में या अन्तरिक्ष स्थानों में या इन्द्रियों के विविध देहों में (प्रजा) अपनी प्रजाओं को, इन्द्रियगणों को, (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ, (भुवनस्य) इस ब्रह्माण्ड और इस देह का (गोपा) पालक (अवत्) सबको जान कर बैठा है, वह सबसे परे विराजमान है।

२१६—'धनानूर्मिः' इति ऋ० ।

इसका रहस्य गीता, बृहदारण्यक, ऐतरेय आदि में स्पष्ट किया है। आत्मा परमात्मा दोनों पक्षों में यास्क ने लगाया है (यास्क परि० २ अ०)।

[५३०] कनिक्रन्त हरिरासृज्यमान सीदन्वनस्य जठरे पुनान.।
नृभिर्यत कृणुते निर्णिज गामतो मतिं जनयत स्वधाभिः ॥८॥
ऋ० ९ । ९५ । १ ॥

भा०—(आसृज्यमान) सब ओर से प्रकट होता हुआ (पुनान) शुद्ध पवित्र रूप से प्रकट होकर (हरि.) सर्वव्यापक, आत्मा (वनस्य) भोग्य या सेवन करने योग्य इस देह के (जठरे) मध्य भाग में (सीदन्) विद्यमान, (नृभि) मनुष्यों द्वारा, (यत) संयत होकर (गाम्) वाणी को (निर्णिज) अति शुद्ध, परिमार्जित (कृणुते) कर देता है। (अत.) इसलिये आप लोग (स्वधाभिः) स्व=अपनी धारणा शक्तियों, या स्व=आत्मा को धारण करनेहारी चिति शक्तिद्वारा (मतिं) मनन, विचार (जनयत) करो, उसकी साधना, उपासना, स्तुति आदि करो।

[५३१] एष स्य ते मधुमाँ इन्द्र सोमो वृषा वृष्ण पवित्रे अक्षा.
सहस्रदा. शतदा भूरिदावा शश्वत्तम बर्हिरावाज्यस्थात् ॥९॥
ऋ० ९ । ८७ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्! (वृष्ण) वर्षणशील (ते) तेरे लिये (एषः स्य) यह वह (सोम) आत्मा सोम, आनन्दरूप रस (वृषा) आनन्द का वर्षक (मधुमान्) ब्रह्मज्ञान रूप मधु से युक्त (पवित्रे) पवित्र ज्योतिर्मय रूप में (परि अक्षा) चारों ओर से स्रवित होता है। वह (सहस्रदा.) हजारों सुखों का देने वाला, (शतदा.) सैकड़ों शक्तियों का देने वाला, (भूरि-दावा) बहुत आनन्द को देने वाला, (शश्वत्तमं) निरन्तर, स्थायी, नित्य, (बर्हि) महान् आत्मा में (वाजी) बल, ज्ञान से सम्पन्न होकर (अस्थात्) स्थिति प्राप्त करता है।

[५३२] पवस्व सोम मधुमाँ ऋतावापो वसानो अधि सानो अव्ये।
अव द्रोणानि घृतवन्ति रोह मदिन्तमो मत्सर इन्द्रपान ॥१०॥
ऋ० ९ । ९६ । १३ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (मधुमान्) मधुर ब्रह्मरस से युक्त, (ऋतावा) सत्यज्ञान से युक्त, (सानो अधि) हृदय देश या मस्तक भाग में (अव्ये) अवि चेतना या प्राण के बने चित्त पर भी (अप) नाना ज्ञान वृत्तियों को (वसान) आच्छादित करता हुआ। (घृतवन्ति) दीप्ति या उषोति से सम्पन्न (द्रोणानि) कलशों, मस्तकों में (मदिन्तम) अति हर्ष आनन्द या आत्मा में सताप उत्पन्न करने वाला (मत्सर) हर्ष के रूप में हृदय में व्यापक वाला (इन्द्रपान) आत्मा के एकमात्र पान करने योग्य होकर (अव रोह) नीचे की ओर बह आ।

इति चतुर्थी दशति । पञ्च ऋचः ।

॥ ६० ५ ॥ ऋषि—१ प्रजापतिः । २ १० परमेष्ठी प्राजापत्य । ३ इन्द्रमरुतौ सिन्धु । ४ वसिष्ठो मैत्रावरुणः । ५ वसुश्रुत् सौदासो वा वासिष्ठः । ६ नभो गौतमः । ७ कण्वो घोरः । ८ मन्युर्वासिष्ठः । ९ कुत्स आङ्गिरसः । ११ वत्सप्रो भालन्दः । १२ प्रजापतिर्वाच्यः ॥ पवमानो देवता ॥ त्रिष्टुप् । १ भुरिक् ॥

[५३३] प्र सेनानी शूरो अग्रे रथानां गव्यन्नेति हर्षते अस्य सेना।
भद्रान् कृण्वन्निन्द्रहवान्त्सखिभ्य आ सोमो वस्त्रा रभसानि दत्ते॥१
ऋ० ९ । ९६ । १ ॥

भा०—(सेनानीः) सेना का नायक, (शूर) बलवान्, शूरवीर, सेनापति जिस प्रकार (रथानां अग्रे) रथों, रथारूढ़ सैनिकों के आगे (गव्यन्) पृथिवी के विजय के लिये (प्र एति) आगे २ बढ़ता है और

५३२—द्रोणानि' 'सदस्त्रा. दत्ते' इति ऋ० ।

(अस्य सेना) इसकी सेना (हर्षते) उत्साह से प्रसन्न होती है, यह (सोम) वीर राजा (सखिभ्य.) अपने मित्रों के लिये (भद्रान्) अति कल्याणकारी, सुखदायक (इन्द्र-हवान्) ऐश्वर्ययुक्त राजोचित आह्वानों, पुकारों और आज्ञावचनों का (कृण्वन्) करता हुआ (रभसानि) अति वेग वाले (वर्त्रा) ढक देने वाले शत्रु के आक्रमणों को (आ दत्ते) हटा देता है उसी प्रकार (सेनानी) इन्द्रियगणों का नेता (रथानाम् अग्र) रमण योग्य आनन्दप्रद देहों, या आभ्यन्तर रसों के मुख्य पद में स्थिर होकर (गव्यन्) वाणियों, या इन्द्रियसामर्थ्यों को, या आत्मभूमियों पर वश करता हुआ (प्रयति) आगे बढ़ता है। (अस्य सेना हर्षते) इसके समस्त इन्द्रिय, प्राणगण, या साधक प्रसन्न होते हैं। (सखिभ्य) मित्र साधकों या प्राणगण को वह (भद्रान्) ऐश्वर्ययुक्त (इन्द्रह वान) आत्मा के नाना ज्ञानसामर्थ्य प्रदान करता हुआ (रभसानि वस्त्राणि) अति वेग से युक्त प्रबल आच्छादक आवरणों का (आदत्ते) दूर कर देता है। इन्द्रियां तन्मुख होजाती हैं। इन्द्र अर्थात् आत्मा के सस्मरण उस समय मंगल-जनक जचते हैं और तामस आवरण आत्मा के सामने से हटने लगते हैं।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १२ २२
[५३४] प्र त धारा मधुमतीरसृग्रन्वारं यत्पूतो अत्येष्यव्यम्।
१२ ३ १२३ १२ १२ ३२३ १२ ३ २
पवमान पयस धाम गोना जनयन्त्सूर्यमपिन्वो अर्के ॥२॥
अ० ९। ६७। ३१॥

भा०—हे सोम आनन्दमय! (मधुमतीः) अति आनन्ददायक मधु से मिली हुई ब्रह्मज्ञान की (ते धारा) तेरी रस धाराएं तब (प्र असृग्रन्) खूब उत्पन्न होती हैं (यत्) जब तू (पूतः) छन हुए ओषधि रस के समान पवित्र होकर (अव्यम्) प्राणमय कोश में से (अति एषि) पार होकर प्रकट होता है। हे (पवमान) पवित्रकारक! (गोनां) इन्द्रियों के

५३४—'अव देव्यन्यान्' 'जशान' इति ऋ०।

भीतर तू अपना (धाम) तेजो रूप रस (पवसे) चुआता है और वहां प्रकट होकर (अर्कैः) अपनी पवित्र किरणों से (सूर्यः) सूर्य के समान तेजस्वी साधक को (अभिन्व) आनन्दरस से पूर्ण करता है। इस दशा में आदित्य के समान साधक तमसमाता है।

१ २ ३ ४ २ ३ १ २ ३ १ २
[५३५] प्र गायताभ्यर्चाम देवान्त्सोम हिनोत महते धनाय।
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
स्वादु पवतामतिवारमव्यमासीदतु कलश देव इन्दुः ॥३॥
ऋ० ९ । ६७ । ४ ॥

भा०—हे विद्वान् लोगो ! (महते) बड़े भारी (धनाय) खजाने के प्राप्त करने के लिये (प्र गायत) उत्तम रीति से स्तुति गान करो। और (देवान्) विद्वानों की हम (अभि अर्चाम) सब प्रकार से अर्चा पूजा, साकार और प्राणों की साधना करें। (सोम हिनोत) सोम, आत्मानन्दमय रस को प्रेरित करो, प्राप्त करो। (अव्य वार) प्राणमय आवरण को (अति) पार करके (स्वादु) आनन्दकारक आनन्दरस (पवताम्) प्रस्रावित हो और (इन्दु देव) वह प्रकाशमान ऐश्वर्यवान् देव (कलश) इस घट, देह, हृदयाकाश, या षोडशकला वाले आत्मा में घट में सोमरस के समान स्वच्छ होकर (आसीदतु) राष्ट्र में राजा के समान आ विराजमान हो।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५३६] प्र हिन्वानो जनिता रोदस्या रथो न वाज सनिष्यन्नयासीत्।
३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रं गच्छन्नायुधा सशिशानो विश्वा वसु हस्तयोरादधानः ॥४॥
ऋ० ९ । ६० । २ ॥

भा०—(हिन्वानः) सबको प्रेरणा करने वाला (रोदस्योः जनिता) सूर्य और पृथिवी के समान प्राण और अपान दोनों का उत्पादक, या प्रेरक

५३५—'स्वादु पवस्व' 'देवयुर्न' इति ऋ०।

५३६—'सनिष्यन्' इति।

(वाज सनिषन्) ज्ञान, बल और अन्न का विभाग या प्रदान करता हुआ (रथ न) रथ या रमणीय सूर्य के समान योगी या स्वच्छ आत्मा (प्र अयासीत्) उत्कृष्ट मार्ग से गति करता है और (आयुधा) उत्तम हथियार, योगसाधनों स (इन्द्रम्) आत्मा या परमात्मा की ओर (गच्छत्) जाता हुआ (सशिशान) अच्छा प्रकार और भी तीक्ष्ण, प्रखर तेजस्वी होता हुआ (विश्वा वसु) समस्त जीवन के वास हतु सम्पदाओं को (हस्तया) अपन वश में (आदधान) करता हुआ (प्र अयासीत्) आग २ बढ़ता चला जाता है ।

[५३७] तत्तद्यदी मनसा वनता गाव ज्येष्ठस्य धर्म शुक्रोरनीक ।
आदीमायन्नवमाचशाना जुष्टं पतिं कलशे गाव इन्दुम् ॥५॥
ऋ० ९ । ९७ । २२ ॥

भा०—(वेनत) कान्तिमान् अज्ञान, तम से पार ज्ञानी (मनस) मननशील योगी की (वाग्) वाणी (यदि) जब आनन्दरस को (ज्येष्ठस्य) इस ज्येष्ठ इन्द्र आत्मा क । धर्मन्) धारण करनहारे, (शुक्रा) प्रदीप्त, प्रकाशित तज क (अनीके) प्रमुख स्थान म (तत्त्) प्रकट करता है । (आत्) तब (वर) वरण करने योग्य (जुष्ट) सेवनाय, (पतिं) अपन पालक (इन्दुम् ई) इस हृदय में साक्षात् द्रवित हान वाल आनन्दमय रस क पास (गाव) इन्द्रिय या प्राणगण । आ शावशाना) अत्यन्त कामना करती हुई गौओं क समान (आयन्) आजाते हैं। आनन्द रस क वर्णन में जब वाणी मग्न होजाती है तब और इन्द्रिय वृत्तियां भी अन्तर्मुख होजाती हैं ।

[५३८] साकमुक्षा मर्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य धीतयो धनुत्री ।
हरि पर्यद्रवज्जा सूयस्य द्रोण ननक्ष अत्यो न वाजी ॥६॥
ऋ० ९ । ९३ । १ ॥

५३७—धर्मणिशोरनीक' इति ऋ० १ ।

भा०—(धीरस्य) ध्यानवान् योगी को (साकमुच) एक साथ ज्ञान या आनन्दरस का सचन करने हारी (दश स्वसार) दश बहनों के समान स्वय सरण करनेहारी दश (धनुत्री) प्रेरण करने वाली (धीतय) ध्यानवृत्तियां, इन्द्रियां या शक्तियां (मर्जयन्त) आत्मा को निरन्तर अधिकाधिक पवित्र करती हैं। (हरि) सब दुःखों का हरण करनेहारा आत्मानन्दरस (सूर्यस्य) कान्तिमान्, सुख्य, आदित्य के समान उज्ज्वल आत्मा के (जा) स्त्रियों के समान उसके अधीन प्रकट चित्तवृत्तियों के प्रति (पर्यदवत्) बहता है। और वह स्वय (आय न वाजी) वेगवान् अश्व के समान (द्रोण) पात्र या कलश में सोम रस के समान होनेवाली आत्मा में (ननक्षे) व्याप्त हो जाता है।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ १
[५३६] अधि यदस्मिन्वाजिनीव शुभ स्पर्द्धन्त धिय सूरे न विश।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अपा वृणान पवते कवीयान्व्रज न पशुवर्द्धनाय मन्म ॥७॥

ऋ० ९ । ६४ । २ ।

भा०—(वाजिनि इव शुभ) जिस प्रकार घोड़े पर आभूषण एक से एक बढ़कर शोभा देते हैं और (सूर न विश) जिस प्रकार सूर्य के समान तेजस्वी राजा के समक्ष प्रजा के लोग भेंट चढ़ाने में एक से एक बढ़ते हैं, उसी प्रकार (विश) अन्तःप्रवेश करनेहारी (शुभ) शोभादायक, कल्याणकारिणी (धिय) चित्तवृत्तियां भी (अस्मिन्) इसके राजा रूप आत्मा के समक्ष (अधि स्पर्द्धन्ते) एक से एक बढ़ने का यत्न करती हैं। और (मन्म) जिस प्रकार अपने मन को हरने वाले (व्रज न) गौओं के बाड़े में गोपालक (पशुवर्द्धनाय) अपने पशुओं की वृद्धि करने के लिये जाता है उसी प्रकार (कवीयान्) क्रान्तदर्शी विद्वान्,

५३६—'सूर्येन विश,' इति 'कवीयन्' इति च ऋ० ।

आत्मा (अप वृणान) चित्तवृत्तियों, या नाना कर्मों या प्राणगण या लिंग शरीरों को वश करता हुआ (पशु वर्धनाय) इन्द्रिय रूप पशुओं की शक्ति का बढ़ान के लिये (मन्म) मनोमय सङ्कल्पमय (यन) गमन या प्राप्त करने योग्य परमपद आत्मस्वरूप ब्रह्म में (पवत) प्रवेश करता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २
[५४०] इन्दुर्वाजी पवते गोन्याघा इन्द्रे सोम सह इन्वन्मदाय ।
३ २ ३ १ २ ३ १२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
हन्ति रक्षो बाधते पर्यरातिं वरिवस्कृण्वन्वृजनस्य राजा ॥८॥
ऋ० ९ । ९७ । १० ॥

भा०—(वाजी) ज्ञान और बल से सम्पन्न (इन्दु) हृदय में द्रवणशील (सोम) आत्मानन्दरस (मदाय) आनन्द हर्ष की वृद्धि करने के लिये (सह) सहन करने योग्य बल को (इन्द्राय) आत्मा में (इन्वन्) प्रेरित करता हुआ (गा नि आधा) रश्मियों या ज्ञान वाणियों, स्तुतियों को नीची तरफ बहाने वाला होकर चन्द्र के समान अथवा दुग्ध मिश्रित सोमरस के समान (पवत) क्षरित होता है । उस समय वह आनन्दरस (रक्ष) आत्मोन्नति के बाधक विघ्न करने वाले कारण को भी (बाधत) दूर करता है और (अराति) प्रिय न लगने वाले अप्रिय कारण का (परि बाधत) दूर करता है । (वृजनस्य) समस्त बल का (राजा) स्वामी होकर वही (वरिव) वरणीय आत्मगुप्त धन अणिमादि सिद्धि और आत्मतुष्टियों का (कृण्वन्) प्रकट करता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १२ १२ ३ १ १ ३ १ २ ३ १ २
[५४१] अया पदा पवस्वेना वसूनि माध्यञ्च इन्दो सहसि प्रयन्ता ।
१ २ ३ १ ३ २ ३ २ ४ १ २ ३ १ १ ३ १ २ ३ २ १
अभ्यर्षन्य यानो न जूर्ति पुरमया शित्तयञ्च नरं धान ॥९॥
ऋ० ९ । ९७ । ४२ ॥

५४०—पवते गोन्यघा इन्द्रे इति ऋ० ।

५४१—'अभ्यर्षन्य यानो न जूर्ति' इति ऋ० ।

भा०—हे (इन्दो) हृदय में बहने वाले आनन्दरस ! (अया) इस (पवा) पवित्र करने हारी धारा से (एना) इन (वसूनि) वास या जीवन के साधन प्राण या ऐश्वर्यों को (पवस्व) प्रेरित कर, प्रकट कर। हे (इन्द्रा) साम ! (माध्यवे) मन के एकमात्र गमनस्थान मनोहर (सरसि) जलाशय में जल के समान, कलश में ओषधि रस के समान, मानस हृदय में (प्रधन्व) द्रवित हो। (यस्य) जिस तेरे (जूर्ति) वेग का (ब्रध्न) सूर्य के समान रश्मियों और आकर्षण से अपने साथ इन्द्रियों का बांध रखने वाला आत्मा (चित्) भी (वात न) वायु के समान (धात्) धारण करता है और (पुरमेधा) नाना प्रकार की धारणावती बुद्धियों का मालिक, साधक (नर) नायक आत्मा को (तक्वे) परमपद तक पहुंचने के लिये (धात्) धारण करता है।

यास्क—बध्नातरोणादिर्नक्, बन्धेश्च ब्रध्नादेश (उणा० ३ । ९)

३२२ २२ ३ १ २ २ ३१२ २२ ३ २
[५४२] महत्तत्सोमा महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवान्।
१२ ३ २२१२ ३ १२ २२ ३ २३१ २ ३१२
अदधादिन्द्र पवमान ओजोऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दु ॥१०॥
ऋ० ९ । ९० ४१ ॥

भा०—(महिष) महान् आत्मा (महत्) बड़ा भारी कार्य सो (तत्) यह (चकार) करता है (यद) कि (अपां गर्भ) सब कर्मों प्रज्ञाओं और प्राणों को अपने भीतर ग्रहण करने में समर्थ होकर (देवान्) सब इन्द्रियों को (अवृणीत) अपने भीतर छुपा कर आवृत करके सुरक्षित रखता है। (पवमान) व्यापनशील प्राण (इन्द) आत्मा में (ओज) बल और तेज (अदधात्) प्रदान करता है (यत्) जिससे (इन्दु) शरीर में व्यापक एवं द्रवणशील वीर्य, (सूर्ये) सबके प्रेरक और उत्पादक सूर्य रूप मुख्य प्राण में (ज्योति) प्रकाश, कान्ति, को (अजनयत्) उत्पन्न करता है।

१ २ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[५४३] असर्जि वक्वा रथ्य यथाजौ धिया मनोता प्रथमा मनीषा।
२ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
दश स्वसारो अधि सानो अव्ये मृजन्ति वाहे सदने चक्षु॥११॥

ऋ० ९१ । ११ । १ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (रथ्ये) रथों से विजय करने योग्य (आजौ) संग्राम में (धिया) प्रज्ञा और कर्म के विचारपूर्वक (वक्वा) सबको वचनोपदेश या आज्ञा करने वाला सेनापति (असर्जि) नियत किया जाता है, उसी प्रकार इस (रथ्ये) शरीर-साधना योग्य अथवा परमरस के प्राप्त करने वाले एक से दूसरे देह में जाने वाले आत्मा के हितकारी (आजौ) योग साधनों के यज्ञ रूप संग्राम में (धिया) ध्यान, धारणा द्वारा (वक्वा) ओंकारादि जप और स्तुति मन्त्रों को बोलने वाला साधक ही (असर्जि) सेनापति के रूप में नियत किया गया है। वह स्वयं (प्रथमा) सब से श्रेष्ठ, (मनीषा) मन या मनन करने हारे साधन की ईषा प्रेरणा, चेष्टा की आश्रय चित्त शक्ति है जिसमें (मनोता) मनकी सब वृत्तियां ओत प्रोत हैं। (अधि सानो) अति उन्नत प्रदेश में (दश स्वसार) दश बहनों के समान एक ही आश्रय रूप आत्मा के अधीन स्वयं सरण करने हारी दश प्राण वृत्तियां (वाहे) सबके वहन करने वाले आत्मा को (मृजन्ति) परिष्कृत, सुशोभित करती हैं और (सदनेषु) अपने २ स्थानों में (अक्षु) प्राप्त होती हैं।

३ २ ३२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ १
[५४४] अपामिवेदूर्मयस्तर्तुराणा प्र मनीषा इरते सोममच्छ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ १२ ३ २ ३ १ २
नमस्यन्तीरुप च यन्ति सं चा च विशन्त्युशतीरुशन्तम् १२॥

ऋ० ९ । ९२ । ४ ॥

भा०—(मनीषा) मनन करने वाले आत्मा की ईषा अर्थात् चेष्टा करने वाली, ध्यानवृत्ति ही (अपां ऊर्मय इव) जलों की तरङ्गों के समान,

५४३—'प्रथमो मनीषा' 'सदनानि' इति ऋ० ।

प्राणों की तरङ्ग (तर्तुराणः) अति वेगवती होकर (सोम) आनन्द रस रूप आत्मा को (अच्छ) उत्तम रीति से (प्र ईरते) द्रवित करती है । वे ध्यानमयी बुद्धिवृत्तियां ही (नमस्यन्ती) उस आत्मा को आदर से नमस्कार करती हुई, उसके प्रति झुकती हुई, अन्तर्मुख होकर (उशन्तम् उशती) कामनायुक्त प्रेमी को प्रेम करने वाली प्रियतमाओं के समान, मानो स्वयं कामना वाली होकर, या प्रकाशस्वरूप तेजोधारा के समान चमकती हुई स्वयं वे (उशन्तम्) प्रकाश के पुञ्जस्वरूप आत्मा को ही प्रियतम के समान प्राप्त कर उसमें ही (स विशन्ति च) लीन हो जाती हैं, उसके संग सो सी जाती हैं । और (आ च विशन्ति) उसी रूप में प्रकट होती हैं, तन्मय हो जाती हैं ।

इति पञ्चमी दशति । सप्तम खण्ड ।

इति प्रथमाऽर्ध प्रपाठक ।

॥ऋ० ६॥ ऋषि —१ आन्धीगु श्यावाश्वि । २,३ ययातिर्नाहुष । ४ मनु सावर्ण । ५, ८ अम्बरीषऋजिश्वानौ । ६, ७ ऋभवस्तु काण्वपौ । प्रजापतिर्वाऽऽद्य ॥ पवमानो देवता ॥ छन्द —१—६, ९ अनुष्टुप् । ७ बृहती ॥ स्वर — १-६, ८, ९ गान्धार । मध्यम ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[५४५] पुराजितो वो अन्धस सुनाय मादयित्नवे ।

३ १ २ ३ १ २ ८ ४ २

अप श्वान श्रथिष्टन सखायो दीर्घजिह्वयम् ॥ २ ॥

ऋ० ९ । १० । १ ॥

भा०—हे (सखाय) मित्रो ! (व) आप लोग (पुराजितो) आगे बहिर्मुखता को विजय करने हारी (अन्धस) जीवन को धारण करने वाली शक्ति से सम्पन्न सोम के (सुनाय) उत्पन्न, (मादयित्नवे) अतिपरम आनन्द-जनक रस को प्राप्त करने और उसकी रक्षा के लिये (दीर्घजिह्वयम्) लम्बी

जीभ वाले दूर तक विषय रस लेने हारे। अतितृष्णालु इस (श्वानम्) कुत्ते के समान लोभी, भोगी मनको (अप अधिष्टन) विषयों के रस से दूर रख कर शिथिल करो।

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४६] अय पूषा रयिर्भग सोम पुनानो अर्षति।
३ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ २
पतिर्विश्वस्य भूमना व्यख्यद्रोदसी उभ ॥ २ ॥

ऋ० ८। १०१। ७ ॥

भा०—(पूषा) पुष्टिकारक (भग) सब के भजने सेवने योग्य, कल्याणकारी ऐश्वर्यवान् (रयि) कान्तिमान्, परम धनस्वरूप (अय) यह (सोम) परमानन्द (पुनान) सब बाह्याभ्यन्तर को पवित्र करता हुआ या स्वयं शुद्ध पवित्र रूप में प्रकट होता हुआ (अर्षति) द्रवित होता है। (विश्वस्य) समस्त (भूमन) विशाल, भूमास्वरूप आत्मा का (पति) पालक होकर (रोदसी) द्यौ और पृथिवी दोनों को (वि अख्यत्) अपने तेज से प्रकाशित करता है।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४७] सुतासो मधुमत्तमा सोमा इन्द्राय मन्दिन।
३ १ २ ३ २ ३ १ २
पवित्रवन्तो अक्षरन् देवान् गच्छन्तु वो मदा ॥ ३ ॥

ऋ० ९। १०१। १४ ॥

भा०—(मधुमत्तमा) आत्मरसानुभव से युक्त (मन्दिन) आनन्द और हर्ष के जनक (सुतास) तैयार किये, प्रकट हुए (सोमा) परमानन्दरस और विद्वान् जन (पवित्रवन्त) पवित्रस्वरूप का धारण करने वाले ईश्वरादेश में वर्तमान (इन्द्राय) आत्मा के लिये (अक्षरन्) प्राप्त होते हैं। हे सोमरसो! (व) तुम्हारे (मदा) आनन्द हर्ष (देवान्) इन्द्रियगण या विद्वान् जनों को (गच्छन्तु) प्राप्त हों जिससे वे भी तृप्त हो जायं।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४८] सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्यं गातुवित्तमा ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ ३ १ २
मित्रा. स्वाना अरेपसः स्वाध्य स्वर्विद ॥ ४ ॥

ऋ० ९ । १०१ । १० ॥

भा०—(गातुवित्तमा) मार्ग को उत्तम रीति से जानने हारे, (इन्दव) आत्मा के प्रति साक्षात् द्रवित होने वाले, कान्तिस्वरूप, (सोमा) ब्रह्मरस या योगीजन (मित्रा) हृदय अन्तःकरण के या सब के मित्र, (अरेपस) निर्दोष, निर्मल, निष्पाप, (स्वाध्य) उत्तम ध्यानयोग के साधक (स्वर्विद) प्रकाश के प्रापक, सर्वज्ञता के दायक, (स्वाना) प्रकट होते हुए (पवन्त) क्षरित होते या विचरते हैं ।

सोमरस, आत्मानन्द और योगियों का समानरूप से वर्णन है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४९] अभी नो वाजसातम रयिमर्ष शतस्पृहम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्दो सहस्रभर्णस तुविद्युम्न विभासहम् ॥ ५ ॥

ऋ० ९ । ९८ । २ ॥

भा०—हे (इन्दो) दीप्यमान ! सोम ! विद्वन् ! (न) हमें (वाजसातम) अन्न, ज्ञान, बल को देने वाले, (शतस्पृह) सैकड़ों की अभिलाषा के पात्र, (सहस्रभर्णस) सहस्रों का भरण पोषण करनेहारे, (तुविद्युम्न) बहुत ऐश्वर्य या तेज से सम्पन्न (विभासहम्) विशेष दीप्ति को भी मात करने वाले (रयिं) उस दिव्य धन आत्मा का (अभि अर्ष) प्रकाश कर, उसको प्राप्त कर, उस तक पहुंच ।

५४८—सुवानाः, इति ऋ० ।

५४९—'अभि' 'पुरुस्पृहम्' 'विश्वासहम्' इति ऋ० ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[५५०] अभी नवन्ते अद्रुह प्रियामेन्द्रस्य काम्यम् ।
३ १३ ३ १२ १२ ३ १ २ ३ १ २
वत्स न पूर्व आयुनि जात रिहन्ति मातर ॥ ६ ॥
ऋ० ९ । १० । २ ॥

भा०—(मातर.) गौएं माताएं (पूर्वे आयुनि) पूर्व, बाल अवस्था में (जात) नये उत्पन्न हुए (वत्स) बछे को (न) जिस प्रकार (रिहन्ति) चाटती हैं, स्नेह से चूमती हैं उसी प्रकार (अद्रुह) समस्त संसार के प्राणियों के प्रति द्रोह का त्याग करनेहारे, अहिंसा के पालक, साधक (इन्दस्य) भीतरी आत्मा के (काम्य) अत्यन्त कामना या स्नेह के विषय, जीवनरस के (अभि नवन्ते) निमित्त झुकते हैं, उसकी रक्षा करते हैं, उसका स्नेह करते हैं । योग के प्रथम अंग अहिंसा का निरूपण किया है ।

'अहिंसा, सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोह । इति व्यासभाष्यम् । अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग सर्वप्राणिनां भवति' । (यो० सू० । व्या० भा०) सब कालों में सब प्रकार से प्राणियों का द्रोह न करना अहिंसा है । अहिंसा पालने से समस्त प्राणी वैर त्याग देते हैं ।

१ २३१२ ३ २३ १ ४ ३ १ २
[५५१] आ हर्यताय धृष्णवे धनुष्टन्वन्ति पौंस्यम् ।
३ ४उ ३ १ २ ४ १ २ २ १२ २२ ३१ २
शुका वियन्त्यसुराय निर्णिज विपामग्र महायुज ॥ ७ ॥
ऋ० ९ । ९९ । १ ॥

भा०—(हर्यताय धृष्णवे) अति प्रेमयुक्त राजा के लिये जिस प्रकार उसके सैनिक (पौंस्य धनु तन्वन्ति) बलयुक्त धनुष तानते हैं, जी-जान से शत्रु पर प्रहार करते हैं उसी प्रकार विद्वान्जन (हर्यताय) सबके अभिलाषा के योग्य कमनीय (धृष्णवे) सब वृत्तियों को दबाने हारे, उस सोम अर्थात् आत्मा के हित के लिये (पौंस्य) मर्दानगी दर्शाने वाले (धनु)

५५१—'धनुष्टन्वन्ति', 'शुका व्यन्त्यसुराय निर्णिजे' इति ऋ० ।

धनुष, कामरूप धनु को (तन्वन्ति) साधते, वश करते हैं । अथवा परम पुमान् परमेश्वर के नाममय ओंकाररूप धनुष को तानते हैं उसका जप और मनन करते हैं। और (महीयुव.) महत्व की आकांक्षा करने हारे साधक (विपाम् अग्रे) विद्वान् मेधावी पुरुषों के समक्ष (असुराय) प्राणों के प्रेरक इस आत्मा के (निर्णिजे) स्वरूप को शोधन करने के लिये (वि यन्ति) विशेष रूप से जाते हैं । पौंस्य धनुष का तानना=ब्रह्मचर्य का पालन और विद्वानों के पास जाना=स्वाध्याय है ।

ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियोपस्थसंयमः । ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः । यस्य- लाभात्प्रतिभान् गुणान् अणिमादीन् उत्कर्षयति । सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञान-माधातुं समर्थो भवति (व्यासभाष्ये) । स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोग (यो० सू०) तस्य वाचक· प्रणवः । २७ । तज्जपस्तदर्थभावनम् । २८ । तत प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ उपस्थ इन्द्रिय का संयम ब्रह्मचर्य है । इससे वीर्य प्राप्त होता है । इससे अखण्ड बल प्राप्त होता है इसी के बल पर आचार्य शिष्यों में ज्ञान स्थापन करता है । स्वाध्याय से परमेश्वर में भक्ति होती है । 'ओ३म्' परमेश्वर का नाम है । उसकी भावना से शीघ्र आत्मा का साक्षात् होता और सब विघ्न दूर होते हैं।

२ ३ १ २ ३।१ २१ १ ३ २ ३ १ २
[५५२] परि त्य हर्यतं हरिं यभ्रुं पुनन्ति धारया ।
३ १३ ३ २३ ३ १ २ ३।१ २१
यो देवान् विश्वाँ इत्परि मदेन सह गच्छति ॥ ८ ॥
अ० ९ । ९० । ७ ॥

भा०—(हर्यतं) सब के मनों को हरनेवाले अति कान्तियुक्त (हरिं) सर्वव्यापक, सब दुःखों के हरणकारी (यभ्रुं) कान्तिमान्, सबके भरण पोषण करने हारे, (त्यं) उस आत्मा को (धारया) धारण करने वाले भीतरी अन्तःकरण द्वारा या दोषों का वारण करने वाले प्रतिपक्ष-भावना या वितर्क-बाधन द्वारा स्वच्छ करते हैं। (यः) जो आत्मा (विश्वान्

दवान्) समस्त देवों, इन्द्रियगण को भी (मदेन) आनन्द रस के (सह) साथ (परि गच्छति) भर देता है प्राप्त होता है ।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् । वितर्का हिंसादय कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दु खाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्ष भावनम् । (या० सू० २ । ३३ ३४) । प्रतिपक्षभावना से वितर्कों के नष्ट होजाने पर योगी को सिद्धि के शीघ्र ही लक्षण प्रकट होते हैं ।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १र २र

[५५३] प्रसुन्वानायान्धसा मर्तो न वष्ट तद्वच ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र

अप श्वानमराधस हता मख न भृगव ॥ ६ ॥

ऋ० ६ । १०१ । १३ ॥

भा०—(अन्धस) अज्ञान अन्धकार के नाश करने वाले, परमानन्दस्वरूप सोमरस का (प्रसुन्वानाय) उत्पन्न करने हार साधक के लिये प्रकट हुई (तत् वच) उस सोम की अनाहत वाणी का (मर्त) साधारण मरणधर्मा पुरुष जिसका अमृत सोमरस प्राप्त नहीं हुआ, वह (न वष्ट) नहीं प्राप्त कर सकता। (भृगव) ज्ञानाग्नि से अज्ञान और पाप को भून डालने वाले ज्ञानी लोग जिस प्रकार (मख न) कर्मकाण्ड को दूर कर देते हैं उसी प्रकार (अराधस) साधना न करने हार, (श्वान) कर्मफल के लोभी कुकुर के समान स्वल्पभोगों को पुन २ चाहने वाले, दान्तात्मा, चित्त को (अप हत) मारो ।

इति षष्ठी दशति । अष्टम खण्ड ।

॥ द० ७ ॥ ऋषि —१—३, ४ कविभार्गव । ४ ऋषिगण । ६ निवता निवावरी, वि [ऋषि]गणा (१) वा । ७ वसुर्वैश्वामित्र । ८ वेनो भार्गव । ९ भारद्वाजो बसु । १० वत्स । ११ अत्रिर्भौम । १२ पवित्र आङ्गिरस । पवमानो देवता ॥

छन्दो ॥ निगद ॥

५५३—'प्र सुन्वानस्य' वृषण्वच ' इति ऋ० ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३
[५५४] अभि प्रियाणि पवते चनोहितो नामानि यह्वो अधि येषु
१ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २
वर्द्धते । आ सूर्य्यस्य बृहतो बृहन्नधिरथं विष्वञ्चमरुहद्वि-
२ ३
चक्षणः ॥ १ ॥ ऋ० ९ । ७५ । १ ॥

भा०—(चनोहितः) पाकयोग्य अन्न के समान प्रवचन करने योग्य परिपक्व ज्ञान के निमित्त धारण किया गया, (यह्वः) महान् आत्मा (येषु) जिन विशेष गुणों के आधार पर (अधि वर्धते) समस्त प्रजाओं के हृदयों में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है उन सब (प्रियाणि) अत्यन्त प्रिय (नामानि) नामों, या विशेषणों या सबको नमाने वाले महान् कर्मों में (अभि पवते) साक्षात् रूप से प्रकट होता है । वही (बृहतः) सबको बढ़ाने वाले (सूर्यस्य) सबके प्रेरक परमात्मा के बनाये (विश्वञ्चं) समस्त प्राणियों को प्राप्त होने वाले (रथं) इस देह रथ को (विचक्षणः) साक्षी, द्रष्टारूप होकर (अधि-आ अरुहत्) अधिरोहण करता है, उस पर शासन करता और उसका भोग करता है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[५५५] अचोदसो नो धन्वन्त्विन्दव प्र स्वानासो बृहद्देवेषु हरयः ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
वि चिद्वृत्रा हर्षया मरुतामिव न. सन्तु सनिषन्तु नो
१ २
धियः ॥ २ ॥ ऋ० ९ । ७९ । २ ॥

भा०—(हरयः) स्वयं हरणशील, गतिशील, (अचोदसः) बिना किसी के बाह्य बल के स्वयं प्रेरित (इन्दवः) ऐश्वर्यवान् जीव (स्वानासः) प्रकट रूप से प्रकट हुए (देवेषु) देवों, दिव्यगुणयुक्त विद्वानों या इन्द्रियों के बीच में (नः) हमें (बृहत्) खूब (धन्वन्तु) प्राप्त हों और (नः) हमारे (धियः) बुद्धि-शक्तिरूप, (मरुतः) सुख, काम्यफल के न देने

५५५—'प्रसुवानासो इदिन्देषु हरयः । विचनद्रप इवे मरुतामिव न्यन्त्व सनिषन्त नो धियः' इति ऋ० ।

वाल (इयय) केवल कामोपभोग या अन्न की कामना करने वाले कामी, तृष्णालु इन्द्रियगण (अभ्यना) भोग करते हुए (वि चित्) न (सन्तु) रहें । (न) हमें (धिय) उत्तम ध्यानवृत्तियों ज्ञान और उत्तम कर्मों का (सनिषन्तु) प्रदान करें ।

३२३ ३ १२ ३ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५५६] एष प्रकाश मधुमाँ अचिक्रददिन्द्रस्य वज्रो वपुषो वपुष्टमः ।
३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अभ्यञ्जनस्य सुदुघा घृतश्चुता वाश्रा अर्षन्ति पयसा
१ २
च धेनव ॥३॥ ऋ० ९ । ७७ । १ ॥

भा०—(एष) यह साम (इन्द्रस्य) आत्मा के (वज्र) वज्र के समान सब विघ्नों और पापों का नाशक (वपुष) बीजों को वपन करने हारे से भी अधिक (वपुष्टम) बीज वपन करने वाला, वीर्यवान् (काश) हृदय काश, आभ्यन्तर मनोमय काश के बीच में (मधुमान्) ब्रह्मानन्द के मधुर रस से पूर्ण (प्र अचिक्रदत्) उत्कृष्ट रूप से अनाहत नाद उत्पन्न करता है । जिस प्रकार (वाश्रा) हम्भारव करती हुई (सुदुघा) उत्तम दूध देने हारी (धेनव) दूध पिलाने वाली गौएं (पयसा) दूध से (अर्षन्ति) धाराएं बहाती हैं उसी प्रकार ये (घृतश्चुत) कान्ति की धाराएं बहाने वाले (ऋतस्य) ज्ञान के (सुदुघाः) दोहन करने वाले परमानन्दरस (च) भी (अर्षन्ति) हृदय में धारित होते हैं, प्रकट होते हैं ।

'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ।' (पात० सू०)

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[५५७] प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतं सखा सख्युर्न प्रमिनाति
३ १ २ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ ३ १ २
सख्यम् । मर्य इव युवतिभिः समर्षति सोमः कलशे
३ १ २ ३ २
शतयामना पथा ॥४॥ ऋ० ९ । ७६ । १ ॥

५५६—'वपुषो वपुष्टर' 'अभीनृत्य' 'पयसा' इति ऋ० ।

५५७—शतधाम्ना इति ऋ० ।

भा०—(इन्दुः) प्रकाशमय जीव, आत्मा (इन्द्रस्य) इन्द्र परमेश्वर का (सखा) समान नाम रूप धारण करने वाला उसके (निष्कृतं) पद, ज्ञान, स्थान, मोक्ष को भी (अयासीद्) प्राप्त हो जाता है तो भी (सख्यु) अपने सखा परमात्मा की (सगिरं) उत्तम वेदवाणी, आज्ञा या शक्ति को (न) नहीं (प्र मिनाति) पार करता, नहीं मापता, नहीं उल्लंघन करता। वह (सोमः) सौम्य स्वभाव होकर (युवतिभिः) युवा स्त्रियों के साथ (मर्य इव) जिस प्रकार मर्द, युवा पुरुष (सम् अर्षति) संग करता है उसी प्रकार वह अपनी (युवतिभिः) सदा साथ रहने वाली प्राण और ज्ञानवृत्तियों सहित (शतयामना) सैकड़ों प्रकार से जाने योग्य (पथा) मार्ग से (कलशं) षोड़श-कलासम्पन्न ब्रह्म या आनन्दमय कोश में (सम् अर्षति) विचरण करता है।

[२१८] धर्त्ता दिवः पवते कृत्व्यो रसो दक्षो देवानामनुमाद्यो नृभिः
हरिः सृजाना अत्यो न सत्वभिर्वृथा पाजांसि कृणुषे
नदीष्वा ॥५॥ अ० ९ । ७६ । २ ॥

भा०—(दिवः) द्यौलोक के समान देहमें मूर्धाभाग, या प्रकाशरूप सूर्य या ज्ञान का (धर्त्ता) धारण करने वाला (कृत्व्यः) योग साधनों द्वारा उत्तम रूप से ज्ञान करने योग्य, (रसः) आनंदरस स्वरूप (देवानाम्) ३३ देवों इन्द्रियों और विद्वानों का (दक्षः) बलदाता, (नृभिः) मनुष्यों द्वारा (अनुमाद्यः) हर्ष प्राप्त करने योग्य, (अत्यः न) गमन करने हारे अश्व या आत्मा के समान (सत्वभिः) अपने सात्विक विभूतियों द्वारा (नदीषु) अपनी अनाहत नाद करने वाली धाराओं में नदियों में जल के समान (वृथा) बिना प्रयत्न के, स्वभावतः (पाजांसि) नाना प्रकार के बल (कृणुषे) प्रकट करता है।

५२—'कृणुते नदीष्वा' इति अ० ।

[५५९] १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ २
वृषा मती ना पवते विचक्षण सोमो अह्ना प्रतरीतोषसा
३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
दिव । प्राणा सिन्धूना कलशाँ असिष्यदिन्द्रस्य हार्द्या
३ १ २ ३ १ २
विशन्मनीषिभि ॥९॥ * ऋ० ९ । ६६ १ ॥

भा०—(वृषा) सुखों का वर्षण करने वाला (साम) सोम (मतीना) मनन शक्तियों या ज्ञान वृत्तियों का (विचक्षण) विविध प्रकार से साक्षात् करने वाला (अह्ना) दिनों, (दिव) आकाश और (उषसा) प्रभात वेलाओं के समान, प्राणों, सूर्यभाग और तेज दीप्तियों के (प्रतरीता) सूत्र बढ़ाने वाला (सिन्धूना) देह की नाड़ियों में (प्राणा) जीवन सञ्चार करने वाला आनन्दरस (इन्दस्य) आत्मा के (हार्दि) हृदय में (मनीषिभि) मन की प्रेरणाओं द्वारा (आविशन्) प्रवेश करता हुआ (अचिक्रन्) भीतर २ नाद करता है ।

[५६०] १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रिरे सत्यामाशिरं परमे व्योमनि ।
३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २
चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिज चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत७
ऋ० ९ । ७० । १ ॥

भा०—(यद्) जब (ऋतै) सत्य ज्ञानों से आत्मा स्वयं (अवर्धत) समृद्ध हो जाता है तब (अस्मै) इस के लिये (सप्त) सात (धेनव) रसपान कराने वाली गौवों के समान ये सात इन्द्रियां या मस्तक के सात छिद्रों में विराजमान हैं (परम) सब से उत्कृष्ट (व्योमनि) अपने रक्षास्थान मूर्धा, या ब्रह्माण्ड कपाल में विराजमान होकर (सत्याम्) सत्यस्वरूप, यथार्थ (आशिर) ज्ञानधारा का (त्रि) ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान इन तीनों से (दुदुह्रिरे) दोहन करता है । और (अन्या) अन्य (चत्वारि भुवनानि) चारों देह के भागों या अवस्थाओं को (निर्णिज)

५६०—दुदुह्रे' 'पूर्वे' इति ऋ० ।

परिशोधन करने के लिये वह (चारुषि) उत्तम कान्ति और बल से युक्त कर देता है।

[५६१] इन्द्राय सोम सुषुतः परिस्रवापामीवा भवतु रक्षसा सह।
मा ते रसस्य मत्सत द्रुयाविनो द्रविष्वन्त इह सन्त्विन्दवः ॥८॥
ऋ० ९ । ८५ । १ ॥

भा०—हे (सोम) ब्रह्मानन्दरस ! (सुषुत) उत्तम रीति से उत्पन्न होकर तू (इन्द्राय) आत्मा के लिये (परिस्रव) बह, प्रकट हो (अमीवा) शरीरगत रोग (रक्षसा) मनोगत बाधक विघ्नों के (सह) साथ (अप भवतु) दूर हो। (द्रुयाविनः) अमीवा और रक्ष अर्थात् शरीरगत रोग और मन की कुटिलता दोनों से भरे हुए पापी लोग (ते रसस्य) तेरे रस को (मा मत्सत) पाकर कभी प्रसन्न न हों। (इह) इस योगसाधना में (इन्दवः) अन्तःकरण में प्रकट होने वाले रस (द्रविष्वन्तः) द्रुत गति वाले होकर बहते (सन्तु) रहें।

[५६२] असावि सोमो अरुषो वृषा हरी राजेव दस्मो अभि गा
अचिक्रदत्। पुनानो वारमत्यप्यव्यं श्येनो न योनिं
घृतवन्तमासदत् ॥ ६ ॥ ऋ० ९ । ८२ । १ ॥

भा०—(राजा इव) राजा के समान (दस्मः) दर्शनीय, सबका शरण्य, (अरुषः) अरुणवर्ण, देदीप्यमान, कान्तिमान्, (वृषा) मेघ के समान सुखों का वर्षक, (हरिः) सबको हरण करने वाला या सर्वव्यापक नेता, (सोमः) योगी आत्मा (असावि) तय्यार किया गया है। जो (गा अभि) इन्द्रियों, वाणियों और जलों के प्रति (अचिक्रदत्) अपना नाद करता है। और (पुनानः) प्रकाशमान होता हुआ (अव्यय) कभी

५६२—'पर्येत्यव्यय' 'आसदम्' इति ऋ०।

क्षीण न होने वाले, अभेद्य (वार) निवारक, रुकावट को भी (अति एषि) पार कर जाता है। और (श्येन न) गतिशील आत्मा बाज के समान अपने (घृतवन्त) अत्यन्त दीप्ति युक्त (योनिं) मूलकारण, आश्रय परमेश्वर को (आसदत्) प्राप्त करता है।

[५६३] प्र देवमच्छा मधुमन्त इन्दवोऽसिष्यदन्त गाव आ न
धेनव । बर्हिषदो वचनवन्त ऊधभि परि स्रुतमुस्रिया
निर्णिज धिर ॥ १० ॥ ऋ० ९ । ९८ । १ ॥

भा०—(मधुमन्त) मधुर रस वाले, ब्रह्मज्ञानी (इन्दव) सौम्य गुणसम्पन्न, सबके आह्लादक, ब्रह्म की तरफ जानेहार योगी, (धेनव गाव न) दूध देनहारी गौएं जिस प्रकार अपने बच्चे के प्रति (प्र असिष्यन्दत) अपना दूध प्रवाहित करती हैं उसी प्रकार (देव) प्रकाशस्वरूप उपास्य देव के प्रति (अच्छा) साक्षात् (प्र असिष्यदन्त) गति करते हैं। और वे (बर्हिषद.) महान् ब्रह्म में रमण करने वाले (वचनवन्त) वेदवाक्यों का अनुसरण करते हुए, (ऊधभि) ऊर्ध्व मूर्धास्थान में आनन्दरस धारण करने हारे स्थानों से (परिस्रुत) चुए हुए (निर्णिज) अति शुद्ध पवित्र आनन्दरस को (उस्रिया) सूर्य की किरणों के समान प्रकाशमान होकर (धिरे) धारण करते हैं, या पान करते हैं।

[५६४] अञ्जत व्यञ्जते समञ्जते क्रतु रिहन्ति मध्वाऽभ्यञ्जते ।
सिन्धोरुच्छ्वास पतयन्तमुक्षण हिरण्यपावा पशुमप्सु
गृभ्णते ॥ ११ ॥ ऋ० ९ । ४६ । ४६ ॥

५६३—'वचनावन्त' इति ऋ० ।

५६४—'मधुनाऽभ्यञ्जते', 'पशुमासु' इति ऋ० ।

भा०—योगी साधक भद्रजन (अञ्जत) साक्षात् करते हैं (वि अञ्जत) उसका नाना प्रकार से प्रकट करते हैं (सम् अञ्जत) उसमें उत्तम रीति से आत्म को लीन करते हैं तब (क्रतुं) कर्म करनेहारे आत्मा के आनन्द का (रिहन्ति) आस्वादन करते हैं उसका रस लेते हैं उसको सतृष्ण हृदयों से पान करते हैं। (मध्वा अभि अञ्जत) उसका भीतरी आनन्दरस के साथ एकरस कर लेते हैं व (हिरण्यपावा) ज्ञान से आत्मा का परिष्कार करने वाले (सिन्धवः) समुद्र के समान सर्वत्र गतिशील या कमल धनों से बद्ध नौका को धारण करनेहारे आनन्द के अगाध सागर परमात्मा के (वयः वास) अपने और ऊपर की तरफ प्रयत्न वास या प्राण के आकर्षण बल में (पतयन्तः) गति करते हुए (उक्षणः) आनन्दवर्षी (पशुम्) द्रष्टा जीव को (अप्सु) अपने हृदय प्रज्ञानों में (गृभ्णत) ग्रहण करते हैं, ज्ञान करते हैं। अथवा (सिन्धवः) गतिशील प्राणों के (उक्षणः) ऊर्ध्व अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र की ओर की गति में (पतयन्तः उक्षणः पशुं) पवन करते हुए आनन्ददर्शी द्रष्टा जीवात्मा को (हिरण्यपावा) हिरण्यमय ईश्वर ज्ञान को भी पार करने हारे साधक (अप्सु गृभ्णत) अपने ही प्रज्ञानों या प्राणों के बीच में साक्षात् करते हैं।

३ १ २ ३ १ २ ३ १२ १२ ३ १ २ ३ १ २
[५८५] पवित्र ते वितत ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
१ २ ३ ४ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २ ४ १ १२
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ॥ १२॥
ऋ० ९। ८२। १॥

भा०—हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानरूप ब्रह्म के रक्षा में[1] 'प्रभा' (ते) तेरा (पवित्र) पवित्र ज्ञान (वितत) बड़ा विस्तृत सर्वत्र व्यापक है। (प्रभु) प्रकृष्ट सामर्थ्यवान् आप (विश्वतः) सब प्रकार से (गात्राणि)

---

[1] रक्षामेन्—'तत्समाशत' इति ऋ०।

सब देहों में (परि-ण्यपि) व्यापक हो। (अतसतनू·) इस शरीर को तप-स्याओं, योगसाधनाओं द्वारा तप्त न करने वाला तपहीन (आम) कच्चा पुरुष (तद्) उस तेरे पवित्र ज्ञानमय स्वरूप को (न अश्नुते) नहीं प्राप्त करता। (शतास) तपोमय अग्नि में परिपक्व विद्वान् (इत्) ही (धिषन·) ज्ञान को स्व॰ धारण करने हारे (तद्) उस सुख को (सम् आशत) उत्तम रीति से प्राप्त करते और भोगते हैं।

इति सप्तमी दशतिः । नवमः खण्डः ।

॥ द० ८ ॥ ऋषिः—१ ७, ११ अग्निश्चाक्षुषः । २ चक्षुर्मानवः । ३, ४, ९, १० पवमानसोमो वाऽग्निर्वाऽग्न्यर्कौ वा । ५ त्रित आप्त्यः । ६ मनुराप्सवः । ८, १२ त्रित आप्त्यः । देवता । उष्णिक् । ऋषभः ॥

२ ३ १ २ ३ १ ३ ४ २ १ ३ १ २

[५६६] इन्द्रमच्छ सुता इम शृणवन्तु हरय.।

३ २ ३ १ १ २ ३ १ २

श्चोष्टे जातास इन्दव स्वर्विद ॥ १ ॥ च० १। ५८। १ ॥

भा०—(इमे) ये (सुता) उपासक किये हुए (हरय.) हरणशील, मनोहर (श्चोष्टे जातास) व्यापक आत्मा में प्रादुर्भाव हुए, या सुखस्वरूप ईश्वर में लीन हुए, (स्वर्विद) प्रकाश, ज्ञान, और आनन्द का लाभ करनेहारे, (इन्दव) सौम्य गुण वाले, साधक योगी (शृणवन्तु) सुनों के अर्थ (इन्द्रम्) उस परमात्मा को (अच्छ यन्तु) भली प्रकार प्राप्त होते हैं।

३ १ १ १ २ ३ १ २ १ १ २

[५६७] प्र धन्वा सोम जागृविरिन्द्रायेन्दो परिस्रव।

३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २

द्युम्नवत्ते द्युम्नमाभरे स्वर्विदम् ॥२॥ च० ९। १०२। ५ ॥

भा०—हे (सोम) सौम्यगुण वाले ! (इन्दो) ईश्वर के प्रति स्नेह प्रवाह के समान गति करनेहारे साधक ! (जागृवि) जागरणशील, सदा

५६६—'श्चोष्टे जातास' इति ऋ०।

आलस्य तन्द्रा को न प्राप्त होकर, (इन्द्राय) उस ईश्वर या आत्मा को लक्ष्य करके (परिस्रव) बह, आगे बढ़ ! (द्युमन्तं) कान्तियुक्त, (स्वर्विदम्) समस्त पदार्थों का ज्ञान लाभ कराने वाले (शुष्मम्) आत्मज्ञान रूप बल को (आ भर) सञ्चित कर ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[५६८] सखाय आ निषीदत पुनानाय प्रगायत ।
३ २ ३ १ २ २ ३ २
शिशुं न यज्ञै परि भूषत श्रिये ॥३॥ ऋ० ९ । १०४ । १ ॥

भा०—हे (सखाय) मित्रगण ! (आ निषीदत) आओ बैठो । (पुनानाय) योग साधन द्वारा अपने त्रिविध मलों का शोधन करनेहारे आत्मा के विषय में (प्र गायत) उत्तम रूप से सत् स्तुति करो उसका वर्णन करो । और (शिशुं न) जैसे बालक को (श्रिये) मात्र शोभा के लिये सजाते हैं उसी प्रकार उस (शिशुम्) सबके भीतर शयन करने हारे आत्मा को (यज्ञै) ज्ञान और कर्म दोनों प्रकार के यज्ञों द्वारा (श्रिये) आत्म सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये (परि भूषत) सब प्रकार से अलङ्कृत करो, उसकी शोभा बढ़ाओ ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[५६९] तं व सखायो मदाय पुनानमभिगायत ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
शिशुं न हव्यै. स्वदयन्त गूर्तिभि ॥४॥ ऋ० ९ । १०५ । २ ॥

भा०—हे (सखाय) मित्रो ! (व) आप लोग (त) उस (पुनानं) तपस्या आदि से मलों को शोधन करने हारे साधक, या मुख्य प्राण की (मदाय) आनन्द की प्राप्ति के लिये (अभि गायत) साक्षात् गुण स्तुति करो । और (गूर्तिभि) स्तुतियों द्वारा और (हव्यै) उत्तम सात्विक पदार्थों और विचारों द्वारा (शिशुम् न) जिस प्रकार मधुर अन्नों का (स्वदयन्त) रस चखाकर बालक को वश करते हैं उसी प्रकार

५६९—'यज्ञै' इति ऋ० ।

(शिशुम्) सबके भीतर विद्यमान आत्मा को (रुवदयन्त) अमृत का रस। स्वादन कराकर अपने वश कर, उस तक पहुचा।

[५७०] प्राणा शिशुर्महीनां हिन्वन्नृतस्य दीधितिम्।
विश्वा परिप्रिया भुवदध द्विता ॥५॥ ऋ० ९ । १०१ । १ ॥

भा०—(प्राणा) देहों को प्राण देने वाली (महीनाम्) बड़ी भारी ईश्वरीय शक्तियों में (शिशु) प्रसुप्त रूप से विद्यमान, व्यापक चित् रूप आत्मा (ऋतस्य) सत्य ज्ञान की (दीधितिम्) दीप्ति किरण या धारणा को (हिन्वन्) प्रेरित करता हुआ (विश्वा) समस्त (प्रिया) उत्तम प्रिय पदार्थों का (द्विता) दो प्रकार से, समष्टि व्यष्टि रूप से, स्थूल और सूक्ष्म भेद से, या गृहीत और ग्राह्य, या विषयी और विषय भेद से (परि भुवत्) व्याप्त करता है।

[५७१] पवस्व देववीतय इन्दो धाराभिरोजसा।
आ कलश मधुमान्सोम न सद ॥६॥ ऋ० ९।१०६।७॥

भा०—हे (सोम) रस स्वरूप! हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन्! (देववीतये) देवों, विद्वानों, इन्द्रियों, पञ्चभूतों को कान्तिमान्, बलवान्, ज्ञानवान् करने के लिये तू (धाराभिः) अपनी धारण पोषण करने हारी शक्तियों द्वारा (ओजसा) अपने बल से (पवस्व) प्रकट हो। और (मधुमत्) ज्ञानवान् तू (न) हमारे (कलश) देह या अन्तःकरण में (आसद) अधिष्ठित रूप में या विराजमान हो।

[५७२] सोम पुनान ऊर्मण्यव धार द्विवासति।
अग्रे वाचः पवमानः कनिक्रदत् ॥७॥ ऋ० ९ । १०६ । १० ॥

५७०—'प्राणा' इति ऋ० । ५७२—'अव्यो धार' इति ऋ० ।

भा०—(पुनानः सोम) सोम इसके समान स्वच्छ कान्तिमान आनन्दरस या मलादि रहित अन्त करण वाला, शमादि गुणों से सम्पन्न सोमनाम योगी जन (ऊर्मिणा) अपनी ऊर्ध्व गति से (अव्य वारं) अज्ञान के आवरण को (विधावति) पार कर जाता है । (पवमान.) वह और भी अधिक उज्वल और पवित्र होकर (वाच) वेदवाणी के (अग्रे) उत्तम, रहस्य भाग में (क्रनिक्रदत्) गति करता हुआ स्तुतियों में मग्न हो जाता है ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५७३] प्र पुनानाय वेधसे सोमाय वच उद्यते ।
३ १ र २ र ३ १ २ ३ १ २
भूर्णि न भरा मतिभिर्जुजोषते ॥८॥ ऋ० ९ । १०३ । १ ॥

भा०—(वेधसे) स्वय कर्म के विधाता मेधावी (पुनानाय) अन्तःकरण को मलादि से रहित करने वाले (सोमाय) शम दम आदि सौम्य गुणों से युक्त आत्मा या योगिजन के लिये (वच) सब आप्तगम वाणियों का (प्र उद्यते) प्रवचन किया जाता है उपदेश किया जाता है । (मतिभि.) अपने मनन-क्रियाओं द्वारा स्वयं उपासक (जुजोषते) उस सोमस्वरूप अपने ही आत्मरस का सेवन करता है । हे उपासक लोगो ! जिस प्रकार (भूर्णि न) शमी को नियम से भरण पोषण को द्रव्य या आजीविका दी जाती है उसी प्रकार उस आत्मा की शक्ति को बढ़ाने वाली (भूर्णि) भरण पोषणकारिणी चिति शक्ति को (भर) नियम से अभ्यास द्वारा बढ़ाओ ।

द्वितो नाम ऋषि, स्वामानं प्रत्याह, इति सायण' । सोमाय 'मेधाविने' इति माधव ।

५७३—'वच उद्यतम्' इति ऋ० । 'उद्यते' इति सायण. ।

[५७४] गोमन्न इन्दो अश्वमत्सुत सुदक्ष धनिव ।
शुचिं च वर्णमधि गोषु धारय ॥९॥ ऋ० ९ । १०२ । ४ ॥

भा०—हे इन्दो ! सोम्यगुणयुक्त ! आत्मन् । हे सुदक्ष ! उत्तम कर्म के साधक ! (नः) हमें (गोमत्) ज्ञानवाणियों से युक्त (अश्वमत्) सम्पन्न, अधिक सामर्थ्य वाली इन्द्रियों से युक्त धन (धनिव) दो । और (गोषु) हमारी वाणियों या इन्द्रियों में (शुचिं वर्णं च) कान्तियुक्त तेजस्वी वर्ण को (धारय) धारण करा ।

[५७५] अस्मभ्यं त्वा वसुविदमभि वाणीरनूषत ।
गोभिष्टे वर्णमभि वासयामसि ॥१०॥ ऋ० ९ । १०४ । ४ ॥

भा०—(अस्मभ्यं) हमें (वसुविद) प्राणों ऐश्वर्यों का ज्ञान, जीवन का लाभ कराने हारे (त्वा) तुझको (वाणीः) सब वेदवाणियां (अनूषत) यथार्थ वर्णन करती हैं । हे आत्मन् ! (ते वर्णम्) तेरे वरण करने योग्य स्वरूप को (गोभिः) इन वेदस्तुतियों द्वारा (अभि वासयामसि) आच्छादित करते हैं, ढकते हैं, अलङ्कृत करते हैं ।

[५७६] पवते हर्यतो हरिरतिह्वरांसि रंह्या ।
अभ्यर्ष स्तोतृभ्यो वीरवद्यशः ॥११॥ ऋ० ९ । १०६ । ४ ॥

भा०—(हर्यत) हरण-गमन करने योग्य सब का प्राप्य, (हरि) सोम, आत्मा (रंह्या) वेग से (ह्वरांसि) कुटिल, कष्टकारी विघ्नों को भी (अति पवते) अतिक्रमण करके चमचमाता है । हे साम ! (स्तोतृभ्यः) स्तुति करनहारे, यथार्थ गुणदर्शकों को (वीरवत्) सामर्थ्यसम्पन्न (यशः) तेज (अभि अर्ष) प्रदान कर ।

५७४—धन्व' शुचिं त' गपुरूधरम् इति ऋ० ।

५७६—'अभ्यर्षत' इति ऋ० ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५७७] परि कोश मधुश्चुत सोम पुनानो अर्षति ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
अभि वाणीरृषीणा सप्तानूषत ॥१२॥ ऋ० ९ । १०३ । ३ ॥

भा०—(पुनान) मल आदि रहित, प्रकट होने वाला या धारित होनेवाला (सोम) आत्मा (मधुश्चुत) मधुर आनन्द रस का चुआने वाले आनन्दमय (कोश) कोश का (परि अर्षति) व्याप्त कर लेता है । (ऋषीणा) ब्रह्माण्ड या मूर्धादेश में स्थित सातों प्राणस्वरूप ऋषियों की (सप्त वाणी) सात वाणियां, सातों ज्ञानप्रवाह (अभि अनूषत) आत्मा की साक्षात् स्तुति करते हैं ।

इति अष्टमी दशति । इति दशम खण्ड ।

॥ द० ६ ॥ ऋषि—१ गौरिवीति शाक्त्य । २ उष्णसग्भा आङ्गिरस । ३, ८ ऋजिश्वा भारद्वाज । ४ कृतयशा आङ्गिरस । ५ ऋणव आङ्गिरस । ६ शक्ति-वासिष्ठ । ७ उरुराङ्गिरस । पवमानो देवता । १—४, ६ त्रिकुप् । चतुर्थ्या गायत्री । ७, ८ प्रगाथ । १—४, ६ ऋषभ । ५ षड्ज । ७, ८ मध्यम ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५७८] पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम क्रतुवित्तमो मद ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
महि द्युक्षतमा मद ॥ १ ॥ ऋ० ९ । १०८ । १ ॥

भा०—हे (सोम) परमेश्वर ! हे (मधुमत्तम) सब से अधिक आनन्द और ज्ञानसम्पन्न ! (क्रतुवित्तम) ज्ञान की प्राप्ति और कर्मों का ज्ञान करने या कराने हारों में सबसे श्रेष्ठ (मद) आनन्दस्वरूप आप (इन्द्राय) विभूतिसम्पन्न आत्मा के लिये (पवस्व) प्रकट होइये आप (मद)

५७७—'सप्तानूष' इति ऋ० ।

अत्यन्त आनन्दस्वरूप होकर (द्युमत्तम) सब दिव्य, तेज सम्पन्न पदार्थों में आप ही सबसे श्रेष्ठ और (महि) सबसे महान् हैं ।

३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[५७९] अभिद्युम्नं बृहद्यश इषस्पते दीदिहि देव देवयुम् ।
१२ ११ ३ २ २
वि कोशं मध्यमं युव ॥२॥ ऋ० ९ । १०८ । ९ ॥

भा०—हे (इषस्पते) अन्न, एवं ज्ञान और मानस प्रेरणा के स्वामिन् ! हे देव ! (देवयु) विद्वानों और समस्त दिव्य लोकों को अपने वश करनेहारे, आपके प्रति हम प्रार्थना करते हैं कि (बृहद् यश) बहुत अधिक यश, अन्न, ज्ञान, सामर्थ्य (द्युम्नं) और धन, बल को (अभि दीदिहि) साक्षात् प्रकाशित करो, और (मध्यम) बीच के (कोशं) आवरण करने वाले मनोमय, विज्ञानमय कोश को (वियुव) काट दो अर्थात् उन कोशों को काट कर आप आनन्दमय कोश को प्रवेश कराओ ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
[५८०] आ सोता परि षिञ्चताश्वं न स्तोममप्तुरं रजस्तुरम् ।
३ १ २ ३ १ २
वनप्रक्षमुदप्रुतम् ॥ ३ ॥ ऋ० ९ । १०८ । ७ ॥

भा०—हे साधकगण ! (स्तोम) स्तुति योग्य, (अप्तुर) ज्ञान और कर्मों से प्राप्त करने योग्य, (रजस्तुरम्) समस्त लोकों में व्यापक (वनप्रक्षम्) सेवक आत्माओं में कूटस्थरूप से व्यापक, फलों को जैसे वृक्ष देता है उसी प्रकार सेवन करने योग्य आनन्दरसों का देने वाले (उद प्रुतम्) ज्ञान से परिपूर्ण, शान्ति के दायक, आत्मरस को (आसोत) अपने हृदय में प्रकट करो । (परि सिञ्चत) पुनः इसके आनन्दमय रसों का आ सेचन करो ।

५७९—'देवयुः' इति ऋ० ।

५८०—'वनप्रक्षम्' इति ऋ० । 'वनद्रुम्' इति क्वचित् ।

[५८१] ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
एतमु त्य मदच्युत सहस्रधार वृषभं दिवो दुहम् ।
३ १ २ ३ १ २
विश्वा वसूनि बिभ्रतम् ॥ ४ ॥ ऋ० ९ । १०८ । १२ ॥

भा०—(एतम् उ) इस ही (मदच्युत) हर्ष रस के बरसाने हार (सहस्रधार) सहस्रों लोकों का धारण करने वाले, या सहस्रों सुखधाराओं के बहाने वाले (वृषभ) सुखों के वर्षक, (दिव) सूर्य के समान प्रकाशक, लोकों या ज्ञान प्रकाश का (दुहम्) दोहन करने वाले (विश्वा वसूनि) सब प्राणों और समस्त वास के देने हार वसु रूप लोकों का (बिभ्रत) धारण करने वाले आत्मा, परमात्मा को प्राप्त करते हैं ।

[५८२] १ २ ३ १ २ २ ३ २ २ १ २ २ १ २ २
स सुन्वे यो वसूना यो रायामानेता य इळानाम् ।
१ ३ १ २ ३ २
सोमो य सुक्षितीनाम् ॥ ५ ॥ ऋ० ९ । १०८ । १३ ॥

भा०— य) जो (राया) ऐश्वर्यों, (वसूना) समस्त प्राणों और सूर्यादि लोकों के और (इळाना) समस्त भूमियों, ज्ञानधाराओं और अन्नों का (आनेता) प्राप्त कराने हारा है और (य सुक्षितीनां) जो उत्तम निवास योग्य शरीरों पुत्रों का नेता, निर्माणकर्त्ता है (स सोम) वह सबका प्रेरक आत्मा और परमात्मा (सुन्वे) हृदय देश में साक्षात् किया जाता है ।

[५८३] २ १ २ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
त्व ह्यङ्ग दैव्य पवमान जनिमानि द्युमत्तम ।
३ १ २ ३ १ २
अमृतत्वाय घोषयन् ॥ ६ ॥ ऋ० ९ । १०८ । १४ ॥

भा०—(अग पवमान) हे सर्वव्यापक जगदाधार ! (द्युमत्तम) सबसे अधिक कान्तिमान् (त्व हि) तू ही (दैव्य) दिव=अन्तरिक्ष गुलोक या देव पञ्चभूत और दिव्य गुणयुक्त समस्त पृथिवी आदि लोकों की (जनिमानि) उत्पत्तियों और प्रकट होने वाले अन्नमय २ विकारों के मूल

५८१— 'त्वा दुहे' इति ऋ० । 'त्विदुह' इति सा० ।

५८३—'त्वञ्जो ग दैव्या', 'दैव्य' इति ऋ० । 'देव' इति सा० ।

कारणों का (अमृत वाय) नित्य निरन्तर विद्यमान अमृतस्वरूप मार्ग का प्राप्त करने के लिये (धापयत्) उपदेश करता है ।

[५८८] एष स्य धारया सुतोऽत्या धारमि पवत मदिन्तम ।
ओऽन्नूमिरर्षामिव ॥ ७ ॥ ऋ० ९ । १०९ । २ ॥

भा० —(सुत) निष्पन्न अभिषेक आनन्दरस (अत्या धारमि) चिद्विशक्ति के आवरणों से पार होकर (मदिन्तम) अति अधिक आनन्द से समृद्ध (अपा ऊर्मा इव) प्रवाह या तरंग के समान ज्ञानों कर्मों का तरंग (धारया) अपनी निरन्तर धारा या धारक शक्ति से (अक्षरत्) संसार में वृद्धि सी करता हुआ क्षरता करता हुआ (एष एष) जिसको ढूंढते हैं वह यह (पवत) हृदय देश में प्रकाशित होता है ।

[५८९] य उस्रिया अपिया अन्तरश्मनि निगा अदन्तद ऊधा ।
अभि व्रज तत्सिषासन्त्यमर्मा घर्मस्वारुहम् ॥ ८ ॥ ऋ० ९ । १०८ । ६ ॥

भा०—(य) जो साम (उस्रिया) ऊर्ध्व गति करने वाला (अपिया) कर्म और ज्ञान की बना हुई (गा) गतिशील इन्द्रियों का (आजसा) अपने बल से (अन्त अश्मनि) अश्मा व्यापक या प्रस्तर के समान किसी से न हारने वाले परिपक्व अश्म नाम मुख्य प्राण के भीतर (निर अकृन्तत्) बनाता है निर्माण करता है और जो (गव्य) ज्ञान सम्बन्धी और (अश्व्य) कर्म या मन सम्बन्धी (व्रज) इन्द्रियगण को (अभि तत्सिषा) अपने चारों ओर विस्तारित करता है हे (एता !) सबका विजय करने हारे परमात्मन् ! तू हमारे (घर्मो इव) कवचधारी सुरक्षित यज्ञ के समान (आ रुह) सब विघ्न बाधाओं को दूर कर ।

इति नवमी दशतिः । एका ऋक् ।

इति पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ।

इति पावमानपर्व समाप्तम् ।

५८९— अन्तरश्मन् इति ऋ० ।

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

अथ आरण्यकं काण्डम् *

॥ ८० १० ॥ ऋषि —१ भरद्वाजः । २ वसिष्ठः । ३, ६ वामदेवः । ४ शुनःशेपः । ५ गृत्समदः । ७, ८ अमहीयुः । ९ आत्मा । २–३ इन्द्रः । ४ वरुणः । ५, ७, ८ पवमानः । ६ विश्वेदेवाः । ९ अन्नम् । १ बृहती । २, ६ त्रिष्टुप् । ३, ७, ८ गायत्री । ४, ५ चतुष्पदा गायत्री । ६ एकपदा गायत्री । १ मध्यमः । २, ६ धैवतः । ३, ८ षड्जः ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५८६] इन्द्र ज्येष्ठं न आभर ओजिष्ठं पुपुरि श्रवः ।
१र २र ३ १ २ ३ १र १ २र
यद्दिधृक्षेम वज्रहस्त रोदसी उभे सुशिप्र पप्राः ॥ १ ॥
ऋ० ६ । ४६ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (ज्येष्ठं) अत्यन्त प्रशंसनीय (ओजिष्ठं) कान्ति और बल से युक्त, (पुपुरि) पूर्ण करने वाला, (श्रवः) ज्ञान (नः) हमें (आभर) प्राप्त कराओ । हे (वज्रहस्त[1]) सब विघ्नों को निवारण करने हारे ज्ञान और वैराग्यरूप वज्र को अपने हाथ में लिये हुए, या ज्ञानरूप वज्र से तमका हनन करने हारे परमात्मन् ! हे (सुशिप्र[2]) उत्तम दाढ़ों या रश्मियों वाले तेजस्विन् ! समस्त संसार के प्रलयकाल में भक्षण करने वाले ! अथवा उत्तम ज्ञानी और बलशाली ! (यद्) जिसको

---

* क्वचिन्महिनासु काण्डमिदं न लभ्यते, अत एव तासु 'य उस्रिया' इति ऋचोऽन्त्यपादाभ्यासो दृश्यते इति हेतौ रवेव पूर्वार्चिकस्य समाप्तिरिति विज्ञायते, क्वचिच्चाभ्यासो न दृश्यते, षष्ठोध्यायश्च तृतीयार्धप्रपाठकरूपेणैव लभ्यते । केचिदिममध्याय परिशिष्टमिव मन्वते । विविधा हि देवता अत्र स्तूयन्ते इति प्राक्परिगणितकाण्डत्रयाद् भिन्नमिदमारण्यक काण्ड व्यवहरन्ति ।

[1] ८८६— आभर', 'ये नेमे चित्र वज्रहस्त', 'ओभे' इति ऋ० ।

(दिष्टेम) हम धारण करना चाहते हैं उस ज्ञान को (उभे रोदसी) इस लोक परलोक दोनों में (पप्रा) पूर्ण कर, प्राप्त करा। अथवा धारण करने योग्य समस्त ज्ञान और चेतना का ब्रह्माण्ड में तू पूर्ण कर रहा है।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३२ ३ १ २ ३ १ २
[५८७] इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधिक्षमा विश्वरूप यदस्य।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २३ १ २ ३ २
ततो ददाति दाशुषे वसूनि चोदद्राध उपस्तुतञ्चिदर्वाक् ॥२॥
ऋ० ७ । २७ । ३ ॥

भा०—(इन्द्र) परमात्मा (जगत) जगम प्राणिसंसार का और (चर्षणीनाम्) मानवों का और (अधिक्षमा) इस पृथिवी पर (विश्वरूप) नाना प्रकार के पदार्थ, जीव, या ब्रह्माण्ड (यत्) जो भी हैं (अस्य) इस सब का (राजा) स्वामी है। (तत) वह सर्वव्यापक ईश्वर (दाशुषे) दानशील पुरुष को ही (वसूनि) जीवनोपयोगी नाना ऐश्वर्य (ददाति) देता है। वही (उपस्तुत) सबसे स्तुति किया गया (राध) धन और ज्ञान (अर्वाक्) हमें (चोदयत्) दे।

२ ३२३ २ ३१२ ३२ ३ २ १ २
[५८८] यस्यदमा रजोयुजस्तुजे जने वन स्व ।
१ २ ३ १ २ ३२
इन्द्रस्य रन्त्य बृहत् ॥ ३ ॥

भा०—(यस्य) जिस (रजायुज) कान्ति, ज्योति से युक्त या प्रकृति के रजोगुण से योग करने हारे आत्मा का (तुज जने) दानशील पुरुष में (इद) यह (स्व) सुखकारी, दिव्य, समस्त (वन) सेवन करने योग्य नाना सम्पदा है उस (इन्द्रस्य) परमात्मा का (रन्त्य) रमणीय ऐश्वर्य भी (बृहत्) बहुत अधिक बड़ा है।

---

१ इस्तो इन्ने (निरु०), २ दिव सपेते ।

५८७—'अधिक्षमि', 'विश्वरूप', 'उपस्तुत' इति ऋ० ।

[५८६] उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथादित्य व्रते वयन्तवानागसो अदितये स्याम ॥ ४ ॥

अ० १। २४। ५ ॥

भा०—हे (वरुण) सर्वव्यापक, सब पापों के निवारक, सर्वश्रेष्ठ परमात्मन्! (उत्तम) उत्कृष्ट अपने (पाश) पाश प्राकृतिक तमोमय सात्विक बन्धन को (उत् श्रथाय) उत्तम भोगों द्वारा शिथिल कर और (अधम) निकृष्ट तामस, काम माहादि बन्धन को (अव श्रथाय) नीच निम्न कोटि के भोगों द्वारा ढीला कर। और (मध्यम) मध्य स्थानीय राजस-बन्धन आवश आदि का (वि श्रथाय) नाना प्रकार के भोगों से शिथिल कर। (अथ) और हे (आदित्य) सब को अपने भीतर लेने हार[1] तेजस्विन्[1] (तव व्रत) तेरी नियम व्यवस्था में (वयं) हम (अनागस) निरपराध निष्पाप होकर (अदितये) दीनतारहित होने में (स्याम) समर्थ हों।

[५९०] त्वया वयम्पवमानेन सोम भरे कृत विचिनुयाम शश्वत्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदिति सिन्धु पृथिवीं उत द्यौ ॥५

भा०—हे सोम[1] जगदीश्वर[1] (पवमानेन) समस्त संसार को पवित्र करने हारे (त्वया) तुझ सहायक से (भरे) फल प्राप्त कराने हारे इस जीवन में (शश्वत्) निरन्तर (कृत) अपने उत्तम किये कर्म ही (वि चिनुयाम) विशेष रूप से संग्रह करें। (मित्र) स्नेहवान्, (वरुण) सब पापों का निवारक (अदिति) कभी न खण्डित होनेवाला अखण्ड (सिन्धु) समुद्र के समान सर्वव्यापक, सब का आश्रय, (पृथिवी) पृथिवी के समान सबको धारण करने हारा (उत) और

५८६—'अथा वयमादित्य व्रते तवा०' इति ऋ०।

(द्यौ) सूर्य के समान प्रकाशस्वरूप (न) हमें (तत्) वह अभिलषित उत्तम फल (मामहन्ता) प्रदान कर ।

[५६१] इम वृषण कृणुनैकामिन्माम् ॥ ६ ॥

भा०—हे प्रणो ! विद्वानो ! (इम मा) इस मुझ (एक) अकेले को (वृषण) सब सुखों का वर्षण करने हारा (कृणुत इत्) बनादो ।

[५६२] स न इन्द्राय यज्यव वरुणाय मरुद्भ्य ।
वारिवावित्पारिस्रव ॥ ७ ॥ ऋ० ९ । ६२ । १२ ॥

भा०—(स) वह सोम (न) हमारे (इन्द्राय) ऐश्वर्यशक्ति, (यज्यवे) जीवनयज्ञ के कर्त्ता (वरुणाय) व्यवस्थापक वरणस्वरूप आत्मा (मरुद्भ्य) और प्राणस्वरूप इन्द्रियों या, भीतरी पञ्च प्राणों के लिये (वरिवोवित्) हितकारी पदार्थों को दाता होकर (परि स्रव) हमारे प्रति प्रकट हो ।

[५६३] एना विश्वान्यर्य द्युम्नानि मानुषाणाम् ।
सिषासन्तो वनामहे ॥ ८ ॥ ऋ० ९ । ६२ । ११ ॥

भा०—हे जगदीश्वर ! आप (अर्य) सब के स्वामी (मानुषाणा) मनुष्यों के (विश्वानि) समस्त (एना) ये (द्युम्नानि) धन रत्न आदि (आ) हमें प्राप्त कराओ । हम (सिषासन्त) उनको सेवन करने या सब में बांट देने की इच्छा से (वनामहे) याचना करते हैं ।

[५६४] अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम ।
यो मा ददाति स इदेव मावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥ ९ ॥

भा०—(अहम्) मैं महान् आत्मा, परमात्मा (अतस्य) इस सत् अभिव्यक्त जगत् से (प्रथमजा) प्रथम ही हिरण्यगर्भ रूप में प्रकट हुआ (अस्मि) हूं। (देवेभ्य) देवताओं, पञ्चभूतों, इन्द्रियों से भी 'पूर्व) पूर्व मैं विद्यमान रहा। मैं ही (अमृतस्य) कभी विनाश न होने वाले, नित्य आत्मा का (नाम) स्वरूप हूं। (य) जो (मा) मुझको, मेरे स्वरूप को अन्यों के प्रति (एव) इस प्रकार से (ददाति) दान करता अर्थात् जो ब्रह्म या आत्म ज्ञान का उपदेश करता है (स इत्) वही (मा) मेरी (आवत्) रक्षा करता है। (अहम् अन्नम्) मैं अन्न के समान प्राण को धारण कराता हूं। मैं ही (अन्नम्) अन्न रूप से सबका धारण कराता हूं। मैं ही (अदन्तम्) कर्मफल का भोग करने वाले जीवों को (अभि) अपने में मग्न कर लेता हूं।

ब्रह्म की अन्नोपासना उपनिषदों में कही है। 'अत्ता चराचरग्रहणात्' (वेदा० सू०)

इति दशमी दशतिः। प्रथम खण्ड।

॥ द०१ ॥ ऋषि—१ श्रुतरक्षः। २ पवित्रः। ३, ४ मधुच्छन्दो वैश्वामित्रः। ५ प्रथः। ६ गृत्समदः। ७ त्रसदस्युपुरुमेधौ ॥ देवता-१, ३, ४, ७, इन्द्र ५ पवमानः। ५ विश्वेदेवाः। ६ वायुः ॥ छन्द—१, ३, ४ ६ गायत्री २ जगती। ५ त्रिष्टुप ॥ ७ अनुष्टुप ॥ स्वरः १, ३, ४, ६ षड्जः। २ निषादः। ५ धैवतः। ७ गान्धारः ॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[५६५] त्वमेतद्धारय कृष्णासु रोहिणीषु च।
१ २ ३ २ ३ १ २
परुष्णीषु रुशत्पय. ॥१॥ ऋ० ६। ६३। १४ ॥

५६५—१ इरावती परुष्णीत्याह। पर्वती भास्वती, कुटिलगामिनी (निरु० ६। २६)

भा०—हे आत्मन्[1] (त्व) तू ही (कृष्णासु) प्राणों को कर्षण करने हारी पिङ्गला नाम नाड़ियां में और (रोहिणीषु) प्राणों का रोहण, परिवर्धन करने वाली इड़ा नाड़ियों में और (परुष्णीषु[2]) पौरु २, या अंग २ में निवास करनेहारी, ज्ञानवाहिनी चित्कुण्डलिनी सुषुम्ना आदि नाड़ियों में (रुशत्) कान्तिमय (पयः) तेज या रस को सूर्य के समान (अधारयः) धारण करता है[3]। सूर्यपक्षमें—कृष्णा=रात्रियें, रोहिणी=उषाएं परुष्णी[3]=दिन मध्याह्नवेला।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[५६६] अरूरुचदुषस पृश्निरग्रिय उक्षा ममस्ति भुवनेषु वाजयु.।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षस. पितरा गर्भमादधु ॥२॥

ऋ० ६ । ८३ । ३ ॥

भा०—(उषस) साधक की साधना के अवसर पर त्रिकुटी में प्रकट होने वाली कान्ति का (पृश्नि) आदित्य ही (अग्रिय उक्षा) सब से प्रथम सुखों का सेचन करने हारा, (भुवनेषु) समस्त प्राणों और प्राण कोशों में (वाजयु) बल की कामना करने हारा आनन्दघन आत्मा, (अरूरुचत्) प्रकाशित होता है। (मायाविनः) चिति शक्ति या प्रज्ञा, प्रेरणा या ज्ञान से सम्पन्न दशरूप इन्द्रिय या अग्नि आदि पांचों भूत (अस्य मायया) इसकी ही माया, प्रकृति, या ज्ञान शक्ति से सम्पन्न होकर (नृचक्षस) मनुष्यों के द्रष्टा (पितरा) सबके पालन करने हारे (ममिरे) पदार्थों का ज्ञान करते हैं या सृष्टि के पदार्थों की रचना करते हैं और (गर्भम्) हिरण्य गर्भस्वरूप विराट्रूप को (आदधु) धारण करते हैं। आत्मा परमात्मा दोनों पक्षों में स्पष्ट है। अध्यात्म में—(पितर) प्राणगण।

---

२. द्रष्टव्य ऋग्वेदभाष्यभूमिकायाम् इस मे गङ्गे यमुने सरस्वति०वाक्यानन्तरम् (प्र० ३०) १३। परम ब्रह्मावरया घटिता ।

५०६— उक्षा मिमेति भुवनानि' इति ऋ० ।

२ ३ २३ ३ २ ३१ २ ३ २ ३१ २
[५६७] इन्द्र इद्धर्यो.सचा सम्मिश्ल आ वचो युजा।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रो वज्री हिरण्यय. ॥३॥ अ० १। ७। २॥

भा०—(इन्द्र इत्) आत्मा ही (वचोयुजा) वाणीमात्र से योग रखने वाले (हर्या) हरण करने वाले अश्वों, शक्तियों ज्ञान कर्म और इन्द्रियों को (सचा) एक साथ (समिश्ल) मिला कर रखने वाला है। वही (वज्री) सहारक शक्ति से युक्त और (हिरण्यय) सूर्य के समान कान्तिमान्रूप वाला या स्वत हित, प्रिय, रमणीय, और गतिशील आत्मा है।

१ ३ १ २ ३ १ २
[५६८] इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च।
३ २ ३ १ ४ ३ १ २
उग्र उग्राभिरूतिभि' ॥४॥ अ० १। ७। ४॥

भा०—हे (इन्द) परमेश्वर ! (उग्र) उग्र स्वभाव के आप (उग्राभि ऊतिभि) अति वेगवाली शक्तियों द्वारा (वाजेषु) ज्ञानों और बलों के कार्यों में और (सहस्रप्रधनेषु च) बलशाली सहस्रों अनों के एकत्र होने के अवसरों, या युद्धों में (न.) हमारी (अव) रक्षा करो।

१ २ ३ १ २ २ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २
[५६९] प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामानुष्टुभस्य हविषो हवियत्।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
धातुर्द्युनानात्सवितुश्च विष्णा रथन्तरमाजभारा वसिष्ठः ॥५॥
अ० १० । १८१ । १ ॥

भा०—(यस्य) जिसके (प्रथ) विस्तार करने वाला, प्राण और (सप्रथ) उस विस्तार करने वाले का साथी अपान यह दोनों ही (नाम) स्वरूप हैं वह (वसिष्ठ) मुख्य आत्मा (आनुष्टुभस्य) प्रतिदिन स्तवन करने योग्य (यत्) जो (हविष हवि) ग्रहण करने योग्य द्रव्य हवि का भी हवि, अर्थात् उत्तम है उस 'अमृत' (रथन्तर) देहरूप रथ को चलाने, प्रेरणा करने वाले मुख्य प्राण को (धातु.) सबके पालन पोषण करने

हार और (सवितु) सबके उत्पादक (विष्णो) सर्वव्यापक परमात्मा के पास से ही (आ जभार) प्राप्त करता है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २
[६००] नियुत्वान्वायवाग॒हि शुक्रो अयामि ते ।
१ २ ३ २ ३ २
गन्तासि सुन्वतो गृहम् ॥ ६ ॥ ऋ० २ । ४१ । २ ॥

भा०—हे (वायो) प्राण ! या व्यापक आत्मन् ! आप (नियुत्वान्) नियमकारी यज्ञ। से सम्पन्न (आ गहि) हमें प्राप्त हों । (अयं) यह (शुक्र) कान्तिमान् सूर्य और देह में वीर्य आज (ते) तेरे (अयामि) नियम में बंधा है । और (सुन्वतः) योग साधना करने हारे, (गृहम्) ग्रहण करने वाले आभ्यन्तर इन्द्रिय, मन में भी (गन्तासि) प्राप्त होते हैं ।

१ २ ३ १ २ १ ३ २
[६०१] यज्जायथा अपूर्व्य मघवन् वृत्रहत्याय ।
१ २ ३ २ २ ३ २ १ ३ १ २
तत् पृथिवीमप्रथयस्तद्दृंहद्यौमुतो दिवम् ॥ ७ ॥

ऋ० ८ । ८६ । ५ ॥

भा०—हे (अपूर्व्य) अद्वितीय ! आदि मूलकारण ! हे (मघवन्) समस्त विभूतियों के स्वामिन् ! (यत्) जो तू (वृत्रहत्याय) आवरण कारी तामस बन्धन का नाश करने के लिये (जायथा) प्रकट होता है (तत्) वह तू (पृथिवीम्) इस विशाल भूमि को भी (अप्रथयः) प्रकट करता है और (दिवम् उत) द्यौलोक को भी (अस्तभ्नाः) मध्य आकाश में थामता है ।

इति एकर्शी दशतिः । इति द्वितीयः खण्डः ।

॥ ८० १२ ॥ ऋषि —१, ५, ७, १० वामदेवः । २, ३ गौतमः । ४ मधुच्छन्दा । ६ गृत्समदः । ८, ९ भरद्वाजो बार्हस्पत्य. । ११ हिरण्यस्तूप । १२, १३ विश्वामित्रः । देवता—१ प्रजापति. । २, ३ पवमान. । ४—६, १३ आप्त्र. । ७ रात्रि । ८ वैश्वानर । विश्वेदेवा. । १० लिङ्गोक्त. । ११ रुद्रः । १२ सवारुणा । छन्द —१, ७ अनुष्टुप् । २, ३, ५, ६, ९, ११—१३ त्रिष्टुप । ४ गायत्री । ८ जगती । १० महापंक्तिः । स्वर —१, ७ गान्धार. । २, ३, ५, ६, ९, ११—१३ धैवतः । ४ षड्ज. । ८ निषादः । १० पञ्चम. ॥

२ ३ १ ३ २ ३ १ ४२ ३ २ ३ १ ४२

[६०२] मयि वर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत्पयः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ ४२

परमेष्ठी प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु ॥१॥अथर्व० ६ । ६६ । ३ ॥

भा०—(परमेष्ठी) परम, उत्तम स्थान पर स्थित, परमात्मा (प्रजापति.) समस्त स्थावर और जंगम प्रजा का पालक (दिवि) आकाश में जिस प्रकार (द्याम् इव) सूर्य को स्थित करता है उसी प्रकार (मयि) मुझ में (वर्चः) बल, तेज, (अथो) और (यशः) यश (अथो) और (यज्ञस्य) आत्मा या परमेश्वर का (यत्) जो (पयः) मोक्ष नामक परम आनन्दरस है उसको (दृंहतु) नित्य बनाये रक्खे ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १४ ४२ ३ १ २

[६०३] सं ते पयांसि समु यन्तु वाजाः संवृष्टयान्यभिमातिषाहः ।

३ १ ४ ३ १ २ ३ १४ २४ ३ १ १

आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवांस्युत्तमानि धिष्व ॥ २ ॥

ऋ० १ । ९१ । १८ ॥

भा०—हे (सोम) परमात्मन् ! (अभिमातिषाहः) अभिमान करने हारे पुरुषों को दण्ड देने वाले (ते) तेरे (पयांसि) पोषक ज्ञानरस, (वाजाः) समस्त ऐश्वर्य और अन्न, (वृष्टयानि) समस्त यज्ञ (सं यन्तु) प्राप्त हों और तू आप (आप्यायमानः) खूब परिपूर्ण होता हुआ (अमृताय)

६०२—'तन्मयि प्रजापतिर्दिवि द्यामि' इति अथर्व० ।

इस अमृत, जीव के लिये (दिवि) मोक्षरूप स्वर्ग में (उत्तमानि) उत्तम (धत्तासि) ज्ञानों, बलों और सुखों को (धिष्व) धारण करा ।

[६०४] त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ।
त्वमातनोरुर्वन्तरिक्षं त्व ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥३॥
ऋ० १ । ९१ । २२ ॥

भा०—हे (सोम) परमात्मन् ! (त्व) तू (इमाः) इन (विश्वा.) समस्त प्रकार की (ओषधी) ओषधियों, वनस्पतियों को (अजनय) उत्पन्न करता है । (त्वम् अप.) तू ही समस्त रसों को उत्पन्न करता है । और (त्वं गा) तू ही समस्त गौ आदि पशुओं और भूमियों को पैदा करता है । (त्व) तू ही (ज्योतिषा) सूर्य आदि के प्रकाश से (तम.) अन्धकार को (वि ववर्थ) विविध प्रकारों से दूर करता है । अध्यात्मपक्ष में-ओषधि -देह । अप -ज्ञान और कर्म । गा —इन्द्रिय, चित्तवृत्तियां । सोम-आत्मा । तमः-तामस आवरण ।

[६०५] अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥४॥ ऋ० १ । १ । १ ॥

भा०—(यज्ञस्य देवम्) समस्त यज्ञों, उपासनाओं के उपास्य देव (पुरोहितम्) प्रकाशमान, ज्ञानवान् पूज्य, साक्षीरूप से अन्धकार में दीपक के समान ज्ञान प्रकाश प्राप्त करने के लिये आगे मुख्य स्थान पर स्थापित (ऋत्विजम्) ऋतुओं आदित्यों और प्राणों द्वारा पूजनीय, (होतारं) सबको धारण करने और सब सुखों को प्रदान करनेहारे, सबके प्रतिपालक (रत्नधातमम्) समस्त रमणीय पदार्थों को धारण करने वाले, (अग्निम्) ज्ञानस्वरूप सबके अग्रणी, प्रकाशक परमात्मा की (ईडे) स्तुति करता हूं ।

१ २ ३ २३ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२
[६०६] ते मन्वत प्रथमन्नाम गोनाम्नि: सप्त परमन्नाम जानन्।
१ २ ३ २ ३क २२ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ×
ता जानतीरभ्यनूषत क्षा आविर्भुवन्नरुणीर्यशसा गाव: ॥ ५ ॥
ऋ० ४। १। १६ ॥

भा०—(ते) वे विद्वान् लोग (गोना) वेद वाणियों के (प्रथमं) सबसे प्रथम, श्रेष्ठ, आदिमूल (नाम) उत्पत्ति स्थान को (अमन्वत) मनन करते हैं और वे (त्रि. सप्त) इक्कीस प्रकार से (परमं नाम) परम नाम की (जानन्) जिज्ञासा करते हैं। (ता) वे वाणियां (जानती:) सब रहस्य जनाती हुई (क्षाः) अपनी निवासभूमियों आदि मूलकारणों की (अभिनूषत) स्तुति करती हैं। और (यशसा) तेज से (अरुणी:) अरुण वर्ण वाली, (गाव:) किरणों के समान वाणियां में (आविर्भुवन्) प्रकट होती हैं।

वाणियों के २१ प्रकार के नाम २१ प्रकार के छन्द हैं जैसे—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती ये सात। अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति, अतिधृति ये सात। और कृति प्रकृति, आकृति, विकृति, संस्कृति, अतिकृति, उत्कृति ये सात। सब मिल कर २१ हुए।

२ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३क २२
[६०७] समन्या यन्त्युपयन्त्यन्याः समानमूर्वन्नद्यस्पृणन्ति।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २ १ २ ३ १२
तमू शुचिं शुचयो दीदिवांसमपान्नपातमुपयन्त्यापः ॥ ६ ॥
ऋ० २। ३५। ३ ॥

६०६—'नाम धेनो' 'सप्त मातुः परमाणि विन्दन्' 'ब्रह्मानतीरभ्यनूषत क्षा आविर्भवन्नरुणीर्यशसा गोः, इति ऋ०।

६०७—'अपां नपात परिस्तृणाय.' इति ऋ०।

भा०—जिस प्रकार (अन्याः नद्य) भिन्न २ नदियां (सं यन्ति) परस्पर मिल जाती हैं और (अन्याः) भिन्न २ नदियां (उपयन्ति) समीप देशों में गमन करती है और (समानं) समानरूप से एक ही (ऊर्वं) विशाल समुद्र को (पृणन्ति) भरा करती हैं, उसी प्रकार (आप) ईश्वर तक को प्राप्त कराने वाली (नद्यः) समृद्ध स्तुति वाणियां अथवा आप्त प्रजाएं (अन्याः) नाना प्रकार की प्राणधारी जीव प्रजाएं (सयन्ति) एक साथ मिलजाती हैं और (अन्या उपयन्ति) बहुतसी समीप ही एक प्रकार के अर्थ का बोध कराती हैं और (समानम् ऊर्वम्) समान ही रूप से उस विशाल महान् परमेश्वर को (पृणन्ति) स्तुति करती हैं और वे (आपः) ज्ञान और कर्म का उपदेश करने हारी वाणियां (शुचयः) शुद्ध प्रकाश करनेहारी (तम् उ शुचिम्) उसही शुद्ध पवित्र (दीदिवांसम्) देदीप्यमान (अपां नपातम्[1]) समस्त वेद के ज्ञानों और कर्मों के एकमात्र आश्रय ईश्वर को (उपयन्ति) प्राप्त होती हैं। (आपः=वाणियां, बुद्धियां, प्रजाएं, आप्तजन, लोक, नद्यः=स्तुतियां, वाणियां, नदियां)।

१२ २२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २२
[६०८] आप्रागाद्भद्रा युवतिरजः केतून्त्समीर्ध्सति।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अभूद्भद्रा निवेशनी विश्वस्य जगतो रात्री ॥ ७ ॥

भा०—(रात्री) सुख के देनहारी रात्रि के समान ब्रह्मविद्या (विश्वस्य) समस्त (जगतः) जगम संसार का (निवेशनी) आश्रयस्थान और (भद्रा) कल्याणकारिणी है। वह (अजः) कभी नष्ट न होने वाले, अमर, सूर्य, आत्मा या अमर परमेश्वर की (युवतिः) उदयकालीन सूर्य के साथ संगत उषा और तेजस्वी पुरुष के संग स्त्री के समान ही सदा संगति करानेवाली, (भद्रा) साधकों को सुख देनेहारी (आ) सब ओर

१. नपात्—न-पातु-अपमार्ष्टे। पतन्तीव यत्र स नपातु "नपात्" इति निपातः।

(प्रागात्) प्रकट होती है और (केतून्) किरणों के समान ज्ञानों को (सम् इर्षति) प्राप्त कराती है ।

[६०६] प्रक्षस्य वृष्णो अरुषस्य नू महः प्र नो वचो विदथा जातवेदसे । वैश्वानराय मतिर्नव्यसे शुचिः सोम इव पवते चारुरग्नये ॥ ८ ॥ ऋ० ६ । ८ । १ ॥

भा०—(प्रक्षस्य) सब के भीतर सम्पर्क करने हारे, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, (वृष्णः) सुखों के वर्षक, (अरुषस्य) कान्तिमान्, (जातवेदसे) समस्त पदार्थों के जाननेहारे परमेश्वर के (महः) पूजनीय तेज को (विदथा) ज्ञान काल में, या यज्ञ में (नः) हमारी (वचः प्र) वाणी उत्तम रूप से वर्णन करे, (नव्यसे) स्तुति करने योग्य (वैश्वानराय) समस्त नरों में नाना प्रकार से व्यापक (अग्नये) उस ज्ञानस्वरूप, सबके अग्रणी, परमात्मा के लिये (शुचिः) शुद्ध, (मतिः) ज्ञान, संकल्प, (सोम इव) प्रेरक ब्रह्मानन्द के समान (चारुः) अत्यन्त उत्तम रूप में (पवते) प्रकट होता है ।

[६१०] विश्वे देवा मम शृण्वन्तु यज्ञमुभे रोदसी अपां नपाच्च मन्म । मा वो वचांसि परिचक्ष्याणि वोचं सुम्नेष्विद्वो अन्तमा मदेम ॥ ९ ॥ ऋ० ६ । ५२ । १४ ॥

भा०—हे (विश्वेदेवाः) समस्त दिव्यगुण सम्पन्न विद्वानो ! आप लोग (मम) मेरे (मन्म) मनन करने योग्य (यज्ञम्) इस उपासना को (शृण्वन्तु) सुनो । यह (उभे रोदसी) द्यौ और पृथिवी दोनों लोक और (अपां नपात् च) समस्त प्रजाओं, प्रज्ञाओं और कर्मों का आश्रय ईश्वर भी उसको श्रवण करता है । (वः) आपके (वचांसि) वचनों को (मा

६०६—'वृष्ण्य' 'सप्र. प्रनुवोच' 'जातवेदसे' 'नव्यसी' इति ऋ० ।

परित्यजयामि) मैं परित्याग न करूं, प्रत्युत उनको (सुम्नेषु इत्) सुख के अवसरों में भी (वोचं) उच्चारण करूं । (व अन्तमाः) आप लोगों के अत्यन्त समीप होकर हम (मदेम) आनन्दित रहें ।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
[६११] यशो मा द्यावापृथिवी यशो मेन्द्रबृहस्पती ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
यशो भगस्य विन्दतु यशो मा प्रतिमुच्यताम् ।
३ २ २ ३ २ ३१ २ ३ १ २
यशस्व्यऽ स्या संसदोऽहम् प्रवदिता स्याम् ॥ १० ॥

भा०—(मा) मुझको (द्यावापृथिवी) द्यौलोक और पृथिवी का (यशः) यश प्राप्त हो । मुझे (इन्द्र बृहस्पती) सूर्य और वायु का (यशः) यश प्राप्त हो । (भगस्य) ऐश्वर्य सम्पन्न ईश्वर का (यशः) यश (विन्दतु) प्राप्त हो । (यशः) यश मुझे (मा) मत (प्रतिमुच्यताम्) छोड़े । (अहम्) मैं (यशस्वी) कीर्तिमान् होकर (अस्याः) इस (संसदः) उत्तम प्रकार से विद्वानों को अपने में स्थिति प्राप्त कराने हारी सभा या इस ब्रह्मविद्या का (वदिता) प्रवक्ता, ज्ञानोपदेशक (स्याम्) होजाऊं ।

१ २ ३ २ ३क २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१ २ ३ २
[६१२] इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोच यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
२ ३ २ ३ २ ३१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् ॥ ११ ॥
ऋ० १ । ३२ । १ ॥

भा०—(इन्द्रस्य) विद्युत् या सूर्य के समान बलवान्, शक्तिमान् परमेश्वर के (वीर्याणि) नाना पराक्रम के उन कार्यों को मैं (प्रवोच नु) कहता हूं (यानि) जिन (प्रथमानि) अतिश्रेष्ठ महत्वपूर्ण कार्यों को (वज्री) अणु से अणु तक को पृथक् करने हारा परमेश्वर (चकार) किया करता है । वह (अहिम्) कभी नष्ट न होनेवाले, स्वभावतः विद्यमान अन्धकार को (अहन्) विनाश करता है, स्वयं (अनु) बिजुली जिस प्रकार मेघों

६१०—'यशिया' इति ऋ० ।

स जलों और पर्वतों से झरनों को पैदा कर देती है उसी प्रकार वह भी अज्ञानरूप अहि' का नाश करके (अप) प्रज्ञानों को (ततर्द) प्रवाहित करता है। और (पर्वताना) बड़े २ पर्वतों के (वक्षणाः) नदियों के समान विद्वानों के हृदय ग्रन्थियों या अंगों से बन्धनादि बन्धनों को (प्र-अभिनत्) काट देता है।

१ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[६१३] अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतम्मे चक्षुरमृतम्म आसन्
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
त्रिधातुरर्को रजसो विमानोऽजस्रञ्ज्योतिर्हविरस्मि सर्वम् ॥१२॥
ऋ० ३ । २६ । ७ ॥

भा०—मैं (अग्नि) ज्ञानवान् परमेश्वर (जन्मना) श्रवण मनन, निदिध्यासन की अपेक्षा बिना किये ही, स्वभावतः (जातवेदा) समस्त पदार्थों का जानने वाला (अस्मि) हूं। (मे) मेरा (चक्षु) सबका देखने और दिखाने वाला साधन (घृत) अतिदीप्तिमान् है। (म आसन्) मेरे मुख्य स्थान या मुख अर्थात् स्वरूप में (अमृतम्) कभी नाश न होने वाला अमृत मोक्ष है। और मैं (त्रिधातु) समस्त पदार्थों को तीन बलों से धारण करने वाला (अर्क) तेज स्वरूप सूर्य, (रजस) समस्त लोकों को (वि मान) निर्माण करता हुआ (अजस्र) कभी नाश न होने वाला, अविनाशी, सदा वर्तमान, (ज्योति) प्रकाशस्वरूप और (सर्व) सर्वव्यापक (हवि) हविःभोग्य पदार्थों का दाता भी मैं ही (अस्मि) हूं।

२ ३ १ ३ १ १ २ १ २ १ ३ १ १ २ ३ १
[६१४] पात्यग्निरपो अमम्पद वेः पाति यद्धरणं सूर्यस्य।
१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ १ २ ३ १ १ २ ३ २
पाति नाभा सप्तशीर्षाणमग्निं पाति देवानामुपमादमण्वं ॥१३॥
ऋ० ३ । ९ । २ ॥

६१३—त्रिधातु धर्मो इति ऋ०।

६१४—'पाति दिवं रिपो अग्नं' इति ऋ०।

भा०—(विप्रः) मेधावी, ज्ञानी (अग्निः) परमेश्वर (वेः) गतिशील पृथिवी के (अध्वम्) गमन के (पदं) मार्ग को (पाति) सुरक्षित करता है। (बृहः) वह महान् (सूर्यस्य) सूर्य के (चरक्षं) चलने के मार्ग को भी (पाति) पालन करता है (नाभा) नाभिस्थान, केन्द्र अथवा अन्तरिक्ष या बन्धनस्थान मूर्धा में (अग्निः) यह अग्नि ही (सप्तशीर्षाणम्) सात शिर के वासी प्राणों के स्वामी जीव को भी (पाति) रक्षा करता है। (अरुषः) दर्शनीय देव-या (देवानाम्) अग्नि आदि देवों और विद्वानों को आनन्दकारक आत्मा या इन्द्रियों के ग्राह्य विषय की भी (पाति) रक्षा करता है।

इति द्वादशी दशतिः। तृतीयः खण्डः।

॥ द० १३ ॥ ऋषिः—१, २, ८-१२ वामदेवः। ३-७ नारायणः। देवता—अग्निः। २ ऋतुः। ३-६ पुरुषः। ७ त्वष्टा। ८ द्यावापृथिवी। ९, ११ इन्द्रः। १० आत्मा। १३ गौः ॥ छन्दः—१, २ पङ्क्तिः। ३-७, ९, १० अनुष्टुप्। १, २ पञ्चमः। ४-७, ९, १० गान्धारः। ७, ११, १२ धैवतः ॥

[६१५] भ्राजन्त्यग्ने समिधान दीदिवो जिह्वा चरन्त्यन्तरासनि।
स त्वन्नो अग्ने पयसा वसुविद्रयिं वर्धो दशे दाः ॥ १ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवान्! हे (समिधान) प्रकाशमान! हे (दीदिवः) देदीप्यमान! (अन्तः, आसनि) प्रत्येक आश्रय स्थान देह में, मुख में जीभ के समान (भ्राजन्ती) प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, विद्युत्शक्तिरूप (जिह्वा) ज्ञान ग्रहण करने हारी शक्ति (चरति) विचर रही है। हे अग्ने! (स त्वं) वह तू (वसुविद्) वास कराने हारे प्राणों या ऐश्वर्यमय लोकों को जानने, या कर्मानुसार प्राप्त कराने हारा (नः) हमें

(पयसा) अन्न, ज्ञान, पुष्टिकारक पदार्थ के साथ (रयिं) जीवन और (वर्चः) बल और कान्ति, रक्षा सामर्थ्य (अदा) प्रदान कर।

३ १२ १२ ३ १२ २२
[६१६] वसन्त इत्तु रन्त्यो ग्रीष्म इत्तु रन्त्यः ।
३ १ २ २२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिर इत्तु रन्त्यः ॥ २ ॥

भा०—(वसन्त इत्) वसन्त ही (नु) निश्चय से रमण करने योग्य है। और (ग्रीष्म) ग्रीष्म भी (इत् नु) निश्चय से (रन्त्यः) आनन्द लाभ करने योग्य है। (वर्षाणि) वर्षाकाल और (अनु शरदः) बाद में आने वाले शरत् के दिन और (हेमन्तः) हेमन्त और (शिशिरः) शिशिर (इत्) ये सभी (नु) निश्चय से (रन्त्यः) जीवन का आनन्द लाभ करने के लिये ही हैं।

अनुनामों से ईश्वर को याद किया गया है। (वसन्त) सब प्राणियों को बसाने हारा यह परमात्मा (इत् नु) ही तो केवल (रन्त्य) आनन्द लाभ करने योग्य है। (ग्रीष्मः) सबको ग्रास करने हारा परमात्मा भी आनन्द ही देता है। (वर्षाणि) सब सुखों की वर्षा करने वाली (अनु शरदः) तथा उनके समान ही सब दुःखों का नाश करने वाली शक्तियां और (हेमन्तः) सब पदार्थों को प्रेरणा या ताड़ना करने वाला और (शिशिरः) शनैः २ प्रत्येक पदार्थ की आयुबल और शरीर को घिसाने वाला काल रूप परमात्मा (इत् नु) ही (रन्त्य) एकमात्र आनन्द लाभ कराने वाला है।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[६१७] सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
१२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
स भूमिं सर्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥३॥
अ० १० । ३० । ४ ॥ यजु० ३१ । १ ॥

६१७—'स भूमिं विश्वतो वृत्वा' इति ऋ० । 'सर्वतः स्पृत्वा' इति पाठभेदः यजु० । 'सहस्रशीर्षा' इति यजुः० ।

भा०—(सहस्रशीर्षा) सहस्रों शिरों वाला, (सहस्राक्ष) हज़ारों आंखों वाला, (सहस्रपात्) हज़ारों पगों वाला, (पुरुष) पुरुष, ईश्वर विराट् (स) वह (भूमिम्) ब्रह्माण्ड नामक भुवन को (वृत्वा) घेरकर, व्याप्त होकर और भी (दशाङ्गुलम्) दश अङ्गुल अर्थात् दशों दिशाओं से भी (अति अतिष्ठत्) परे तक विराजमान है ।

१० अङ्गुल-परमात्मा के दशों दिशा में फैलने वाली व्यापक शक्तियां हैं । आत्मपक्ष में भूमि नाभि, दश अङ्गुल दश इन्द्रिय । सर्व व्यापक सर्वान्तर्यामी और सब का नियामक होने से समस्त प्राणियों के बहुत शिर, आंखों और पैरों को लक्ष्य करके ईश्वर का सहस्रशीर्षा आदि विशेषणों से गौण रूप से दर्शाया है । अथवा ब्रह्माण्डगत नाना द्यौलोक उस के शिर हैं, प्रकाशमान नाना सूर्य उसकी चक्षुएं और नाना वास योग्य भूमियां उसके चरण हैं ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २
[४१८] त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुष पादोस्येहाभवत्पुन ।
२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
तथा विष्वङ् व्यक्रामदशनानशने अभि ॥ ४ ॥

ऋ० १० । ९० । ४ । यजु० ३१ । ४ ॥

भा—(पुरुष) इस महान् ब्रह्माण्डरूप पुर में शयन करने हारा सर्वव्यापक, परमात्मा (त्रिपात्) सत्, चित्, आनन्दस्वरूप (उद् ऐत्) सबसे उत्कृष्ट होकर सब पर वश किये हुए अधिष्ठाता के समान होकर वर्त्तमान है । (अस्य) इसका (पाद) ज्ञान और क्रियारूप शासन ही (इह) इस ब्रह्माण्ड पर (पुन) बार बार (अभवत्) सत्तारूप में प्रकट होता और विलीन होता है । (तथा) और वही (विष्वङ्) सर्वत्र (अशनानशने अभि) भोजन करने हारे प्राणियों और न भोजन करने हारे स्थावर, जड़ पदार्थों में भी (वि अक्रामत्) व्यापक है ।

६१८—'शासनानशने' इति ऋ० यजु० ।

[६१९] पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतम् यच्च भाव्यम् ।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥४॥

ऋ० १० । ९० । २ पूर्वार्धे, ३ उत्तरार्धे, यजु० ३१ । २ पू० । ३ उ० ॥

भा०—(यद् भूत) जो अबतक उत्पन्न जगत् है, (यत् च भाव्यं) और जो भविष्यत् काल में उत्पन्न होने वाला जगत् है (इदं सर्वं) यह सब (पुरुष एव) पुरुष ही है । अर्थात् (सर्वा) समस्त (भूतानि) उत्पन्न हुए पदार्थ और प्राणिगण (अस्य पाद.) इसके चरण हैं, इससे व्याप्त हैं या इसके एक चतुर्थांश हैं, या कार्य होने से उस प्रभु स्वामी के ज्ञापक हैं । और (अस्य त्रिपाद्) इसके तीन चरण (दिवि) अपने प्रकाशस्वरूप में (अमृतं) विनाशरहित, अमृतरूप सत्, चित्, आनन्द हैं । अर्थात् कार्यरूप जगत् विकार को प्राप्त होता है । वह ब्रह्म का एक पाद है और अमृतस्वरूप तीन शक्तियां सत्, चित्, आनन्द यह उसके निज अमृत, अविनाशी, अविकारी कारणस्वरूप हैं ।

[६२०] तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ ६ ॥

ऋ० १० । ९० । ३ ॥ यजु० ३१ । २ पू०, २ उ० ॥

भा०—(तावान्) इस संसार में जितना (अस्य) इस जगत् का (महिमा) विस्तार है (ततः) उससे भी (ज्यायान्) बड़ा यह (पूरुष) पुरुष परमेश्वर है । (उत) और वही (अमृतत्वस्य) इस अमर जीव संसार का (ईशानः) स्वामी है (यत्) जो (अन्नेन) अन्न या कर्मफल भोग के द्वारा (अतिरोहति) मूल कारण से कार्य को उत्पन्न करता है अर्थात् संसार को उत्पन्न करता है ।

६२०—'तावानस्य' 'अतो ज्यायां' इति ऋ०, यजु० ।

१ २ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[६२१] ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।
२ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ७ ॥

ऋ० १० । ९० । ५ ॥ यजु० ३१ । ५ ॥

भा०—(ततः) उस पुरुष से (विराट्) हिरण्यगर्भ नामक ब्रह्माण्ड (अजायत) उत्पन्न हुआ । (विराजः अधि) उस विराट् से (पूरुषः) पुरुष, जीव उत्पन्न अर्थात् प्रकट हुआ, (सः) वह विराट् ही (अति अरिच्यत) सबसे बड़ा रहा । (पश्चात्) उसके पश्चात् उसने (भूमिम्) इस भूमि को और (अथो पुरः) इन देहों को या इन सौर जगतों को भी उत्पन्न किया ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[६२२] मन्ये वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ ये अप्रथेथामभितम-
१ २ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३
भियोजनम् । द्यावापृथिवी भवतं स्योने ते नो मुञ्चत-
१ २
मंहसः ॥ ८ ॥ अथर्व० ४ । २९ । १ ॥

भा०—हे (द्यावापृथिवी) सबको प्रकाश देनेहारे गुरो ! सूर्य के समान प्रकाशक परमात्मन् ! और पृथिवी के समान विस्तृत विशाल प्रकृति ! मैं (वाम्) आप दोनों को (सुभोजसौ) उत्तम पालन करने वाले (मन्ये) मानता व जानता हूं । आप दोनों (अभितं) अपरिमित अनन्त (योजनं) इस संसार को (अप्रथेथाम्) विस्तृत कर रहे हो । हे (द्यावापृथिवी) पूर्वोक्त पुरुष और प्रकृति ! आप हमारे लिये (स्योने) सुखकारक (भवतं) होओ । (ते) वे दोनों आप (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करो ।

६२२—"मन्ये वां द्यावा····· मभिता योजनानि । प्रथिष्टे अभवत वसूनां ते नो०"
इति अथर्व० ॥

[६२३] हरी न इन्द्र श्मश्रूण्युता ते हारता हरी।
तं त्वा स्तुवन्ति कवयः पुरुषासो वनर्गवः ॥ ९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (ते) तेरी (श्मश्रूणि) किरणें (हरी) हरणशील, सर्वव्यापक हैं (उत उ) और (ते हरी) तेरे गतिमान् अश्व, प्राण और अपान (हरितौ) सब शरीरों को गति में रखने वाले व सर्वत्र विद्यमान हैं। (तं त्वा) उस परम स्मरणीय तुझको (वनर्गवः) सुन्दर वाणियों वाले (कवयः) मेधावी (पुरुषासः) पुरुष (स्तुवन्ति) स्तुत करते हैं।

[६२४] यद्वर्चो हिरण्यस्य यद्वा वर्चो गवामुत।
सत्यस्य ब्रह्मणो वर्चस्तेन मा सं सृजामसि ॥ १० ॥

भा०—(हिरण्यस्य) हरणशील मन, सुवर्ण या सूर्य का (यद् वर्चः) जो बल, तेज है (उत वा) और (यत्) जो (वर्चः) तेज, बल (गवां) इन्द्रियों का या किरणों का है और जो (वर्चः) तेज (सत्यस्य) सत्यस्वरूप (ब्रह्मणः) वेद का है (तेन) उससे हम (मा) अपने आत्मा को (संसृजामसि) युक्त करें।

[६२५] सहस्तन्न इन्द्र दद्धाज इंशे ह्यस्य महतो विरप्शिन्।
क्रतुं न नृम्णं स्थविरञ्च वाज वृत्रेषु शत्रून्त्सहना कृधी नः ॥ ११ ॥

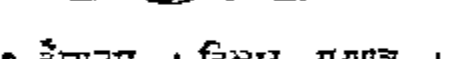
भा०—हे (इन्द्र) परमात्मन्! हे (विरप्शिन्) हे सत्यज्ञानमय! (नः) हमें (तत्) वह (सहः) बाधक, दोषों को दबाने वाला सहन बल और (ओजः) तेज, पराक्रम (दद्धि) प्रदान करो जिससे आप (अस्य महतः) इस महान् संसार पर (ईशे) प्रभुता करते हो। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! स्वामिन्! (नः) हमारे आप (क्रतुं न) कर्म के समान ही (नृम्णं) उपभोग योग्य धन धान्य और (स्थविरम्) स्थिर (वाजं) बल, अन्न और

ऐश्वर्य (कृधि) करो और (न) हमारे (सहना) हर्षयारों वाल हिंसक (शत्रून्) शत्रुओं को (वृत्रेषु) नाना विघ्नों में (कृधि) डाल ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
[६२५] सहर्षभा सहवत्सा उदेत विश्वा रूपाणि बिभ्रती द्युभी ।
३ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
उरु पृथुरय वो अस्तु लोक इमा आप सुप्रपाणा इह स्त ॥१२

भा०—हे गौओ ! आप (सहर्षभा) साँड के साथ और (सहवत्सा) बछड़ों के साथ (द्युभी) दोहर स्तनमण्डल का वहन करती हुई (विश्वा) नाना प्रकार के (रूपाणि) रूप (बिभ्रती) धारण करती हुई (उत् एत) उन्नति को प्राप्त हुआ । (अय लोक) यह लोक (व) तुम्हारे लिये (उरु पृथु) खूब बड़ा विशाल (अस्तु) रहे । (इमा) ये (आप) जल (सु प्रपाणा) उत्तम पान करने वाले स्थानों से साजित रहे । (इह स्त) तुम यहां रहो । रश्मियों के पक्ष में ऋषभ सूर्य, वत्स प्रहादि और रस धारण करने हारा ऊधस मेघ और पर्वत है । इन्द्रियों के पक्ष में- ऋषभ आत्मा परमात्मा । वत्स-मन, दा ऊधस् ज्ञान और कर्म, आप = प्रज्ञान और लोक ।

इति त्रयोदशी दशति । चतुर्थ खण्ड ।



[ऋ० १४॥ ऋषि —१ वैखानस । विभ्राट् सूक्तपुत्र । २ कुत्स । ४–६ सार्पराज्ञी । ७ १४ प्रस्कण्व काण्व ॥ देवता—१ ७ यजमान । २–१४ सूर्य ॥ छन्द २ जगती । ३ त्रिष्टुप । १ ४ १४ गायत्री ॥ स्वर १ निषाद । ३ धैवत । १, ४ १० ११ ॥

३ २ १ २ ३ २ २ ३ १
६२६] अग्न आयूंषि पवस आसुवोर्जमिषं च नः ।
३ १ २ २ १ २
आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥१॥ ऋ० ९ । ६६ । १ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! (नः) हमें (आयुषि) आयु (पवस) प्रदान कर । (नः) हमें (ऊर्जम्) बल और (इषं) अन्न (च) भी दो । (दुच्छुनाम्) बुरे पागल कुत्ते के समान लोभ और क्रोध से अन्ध पुरुषों को (अरं) दूर ही (बाधस्व) पीड़ित कर ।

३ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६२८] विभ्राड् बृहत्पिबतु सोम्यमध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविंहुतम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
घृतजूतो या अभिरक्षति तमना प्रजा इपर्सि बहुधा
२ १
विराजति ॥२॥ अ० १० । १७० । १ ॥ यजु० ३३ । ३० ॥

भा०—(विभ्राट) विशेषरूप से देदीप्यमान सूर्य के समान स्वतः प्रकाश, परमात्मा (बृहत्) बड़ा भारी (सोम्य) उत्पादक और प्रेरक गुणों से युक्त (मधु) आनन्दरस को (पिबतु) पान अर्थात् अपने भीतर धारण कर । और (यज्ञपतौ) यज्ञ जीवनयज्ञ या अन्य देवपूजा आदि सत्कर्मों के अनुष्ठाता पुरुष को (अविहुतम्) सरल, अकुटिल धार्मिक (आयु) जीवन (दधत्) धारण कराता है । (य) जो परमात्मा (घृतजूतः) वात, वायु के समान गतिमान् शक्तियों से युक्त होकर (तमना) स्वयं (प्रजा) प्रजाओं को (अभि रक्षति) रक्षा करता है, (पिपर्सि) पालन पोषण करता है और (बहुधा विराजति) बहुत प्रकारों से सबके ऊपर शासक रूप से विराजमान है ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[६२९] चित्र देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ १ २
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥३॥
अ० १ । ११५ । १ ॥

भा०—(देवानां) दिव्यगुण वाले विद्वानों और सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु आदि वसु और प्राणादि रुद्रों और १२ आदित्यों के (अनीकं) प्राण,

६२८—'अजा पुरंधिः पुष्यन्' इति ऋ० ।

बल देनेहारे, प्रमुख (मित्र) पूजनीय, (मित्रस्य) स्नेहवान्, (वरुणस्य) पापनिवारक (अग्नेः) प्रकाशस्वरूप लोकों के (चक्षुः) प्रकाशक या द्रष्टा और (द्यावापृथिवी) द्यौलोक, पृथिवीलोक और (अन्तरिक्ष च) अन्तरिक्ष का भी (आप्रा) व्याप्त करनेहारा (जगत) जगम संसार और (तस्थुष च) स्थावर संसार का (आत्मा) गति देनेहारा, उनका आत्मास्वरूप अधिष्ठाता, (सूर्य) सबका प्रेरक और उत्पादक है ।

[६३०] आयङ्गौ पृश्निरक्रमीदसदन्मातरम्पुर ।
पितरञ्च प्रयन्त्स्व ॥ ४ ॥
ऋ० १० । १८९ । १ ॥ यजु० ३ । ६ ॥

भा०—(अय) यह (गौ) गमनशील, सर्वव्यापक या वेदवाणीस्वरूप, (पृश्नि) सर्वान्तर्यामी समस्त संसार के तेज पुञ्जों को स्पर्श करनेहारा, (पुर) साक्षात् (आ अक्रमीत्) प्रकट होता है । और (मातर) ज्ञान के प्राप्त करने हारे ज्ञाता के (पुर) समक्ष ही (असदत्) विराजता है और (पितर) अपनी प्रजाओं और तत्समानीय इन्द्रियों के पालक को भी (स्व) सुखस्वरूप होकर (प्रयन्) प्राप्त होता है ।

जिस प्रकार सूर्य, पृथिवी, माता पिता और अन्तरिक्ष में व्याप्त है उसी प्रकार परमेश्वर विद्वानों और प्रजापालकों के रूप में प्रकट होता है । वे ईश्वर के प्रेम से प्रजा का पालन और उपकार करते हैं ।

[६३१] अन्तश्चरति रोचनास्यप्राणादपानती ।
व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥ ५ ॥ ऋ० १० । १८९ । २ ॥

भा०—(अस्य) इस परमेश्वर की (रोचना) सबको रुचिकर, प्रेम भरी दीप्ति (प्राणद्) प्राण प्रदान करती हुई (अपानती) प्राण वायु को बाहर करती हुई (अन्त) देह के भीतर (चरति) गति करती है,

कर्मफल-भोग कराती है । (महिष) वह महान् परमात्मा (दिवम्) सूर्य को भी (वि अख्यत्) प्रकाशित करता है ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६३२] त्रिंशद्धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते ।
२ ३ २ ३ २ ३ १ २
प्रति वस्तोरह द्युभि ॥ ६ ॥ ऋ० १० । १८९ । ३ ॥

भा०—वह परमात्मा (वस्तो) दिन के (त्रिंशद् धाम) तीसों स्थान, तीसों घड़ियों तक (द्युभि) दीप्तियों से (विराजति) हृदय में विराजता है । (वाक्) यह वेदवाणी, उसी (पतगाय) सर्वव्यापक ईश्वर के लिये (प्रति धीयते) प्रत्येक पुरुष द्वारा मनन करने योग्य है ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६३३] अप त्य तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभि ।
१ २ ३ १ २
सूराय विश्वचक्षसे ॥७॥ ऋ० १ । ५० । २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (अक्तुभि) रात्रियों के साथ २ (नक्षत्रा) नक्षत्र (विश्वचक्षसे) सब के दर्शक, प्रकाशक, (सूराय) सूर्य के कारण (अप यन्ति) लोप को प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार हे परमात्मन् ! (विश्वचक्षसे सूराय) समस्त प्राणियों के प्रकाशक, सब के प्रेरक आपके उदय होने के कारण (त्य) वे (तायव) हृदय के घोर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि भीतरी पाप (अप यान्ति) दूर भाग जाते हैं ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[६३४] अदृश्रन्नस्य केतवा वि रश्मयो जनाँ अनु ।
१ २ ३ १ २
भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥८॥ ऋ० १ । ५० । ३ ॥

भा०—(भ्राजन्त) प्रकाशमान् (अग्नय) तेजस्वी ज्ञानी पुरुष (यथा) जिस प्रकार सब प्राणियों पर दृष्टि रखते हैं उसी प्रकार (अस्य)

६३४—'अदृश्रमस्य' इति ऋ० ।

इस परमेश्वर परमेश्वर के (कतम) ज्ञान कराने वाले (रश्मय) किरण (जनान् अनु) जन्म लेने वाले प्राणियों को (अदृश्रन्) बराबर देखते हैं।

३ १ २ ३ १ २ ४ १ २
[६३५] तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य।
२ ३ १ २ ३ २
विश्वमाभासि रोचनम् ॥९॥ ऋ० १ । ५० । ४ ॥

भा०—हे (सूर्य) सबके प्रेरक परमात्मन् ! आप (तरणि) सबको इस भवबन्धन के पार तारने वाले, (विश्वदर्शत) समस्त संसार में एकमात्र दर्शनीय (ज्योतिष्कृत्) समस्त सूर्य आदि प्रकाशमान ज्योतियों को पैदा करने हारे, (असि) है। आप ही (विश्व) समस्त (रोचना) मनोहर कान्तिमान् सुन्दर पदार्थों का (आभासि) प्रकाशित करते हो। सूर्य एक सैकण्ड में २२०० योजन जाने से और रोगों से पार करने के कारण 'तरणि' और ग्रहों का प्रकाशित करने वाला होने से 'ज्योतिष्कृत्' कहाता है।

४ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २
[६३६] प्र यद् देवानां विश प्रत्यङ्देषि मानुषान्।
३ १ ४ ८ २ ३ २
प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥१०॥ ऋ० १ । ५० । ५ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (देवानां) विद्वानों प्राणों और सब सूर्य चन्द्रादि दिव्य पदार्थों के (विश) भीतर निवास करने वाली प्रजाओं के (प्रत्यङ्) सामने और (मानुषान्) मनन करने हार प्राणियों के (प्रत्यङ्) सन्मुख और (स्व) द्यौलोक आनन्दमय लोक के (दृशे) दर्शन करने के निमित्त (विश्वम्) समस्त संसार के (प्रत्यङ्) प्रति (उदयं एषि) उदय को प्राप्त होते हैं।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[६३७] येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु।
१ २ ३ १ २
त्वं वरुण पश्यसि ॥११॥ ऋ० १ । ५० । ६ ॥

भा०—हे (पावक) सबको पवित्र करनेहारे ! हे (वरुण) सब अनिष्टों का वारण करने हारे परमात्मन् ! (येन) जिस (चक्षुषा) चक्षु से (जनान्) जन्तुओं को (भुरण्यन्तं) भरण पोषण करने हारे तुझको हम देखते हैं उसी प्रेममय चक्षु से (त्व) तू समस्त जीवों को (पश्यसि) देखता है ।

[६३८] उ ष्यामेपि रज पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः ।
पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥१२॥ ऋ० १ । ५० । ७ ॥

भा०—हे (सूर्य) सबके प्रेरक, उत्पादक परमेश्वर ! (अक्तुभिः) व्यापनशील, शक्तियों द्वारा (पृथु) विशाल (रज,) समस्त लोकसमूह को (अह) और (याम् उ) समस्त सूर्य और द्यौलोक के भी (जन्मानि) जन्म लेने वाले समस्त पदार्थों और प्राणियों को (पश्यन्) देखता (एषि) रहता है ।

[६३९] अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः ।
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥ १३ ॥ ऋ० १ । ५० । ९ ॥

भा०—(सूर) सबको प्रेरणा करने हारा परमात्मा (रथस्य) सब देहों में आत्मा के साथ (शुन्ध्युवः) शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने वाली, (नप्त्यः) कुमार्ग पर न गिराने वाली इन्द्रियों को (अयुक्त) जोड़ देता है और (ताभिः) उन द्वारा ही (स्वयुक्तिभिः) अपनी शक्तियों के द्वारा (याति) वह सर्वत्र व्यापक है ।

[६४०] सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य ।
शोचिष्केशं विचक्षण ॥ १४ ॥ ऋ० १ । ५० । ८ ॥

६३८—'वि ष्यामेपि' इति ऋ० ।

भा०—हे (सूर्य) सबके प्रेरक और उत्पादक ! हे (देव) प्रकाशमान ! हे (विचक्षण) सबके आत्मन् ! (रथे) इस शरीररूप रथ में (त्वा) तुझको (शोचिष्केशं) कान्तियुक्त किरणों वाले (सप्त हरितः) सात ज्ञान प्राप्त कराने वाले इन्द्रियगण (वहन्ति) धारण करते हैं अर्थात् वे तेरी शक्ति से अनुप्राणित हैं ।

इति चतुर्दशी दशतिः । पञ्चमः खण्डः ।

इति षष्ठः प्रपाठकः समाप्तः ॥

इति षष्ठोऽध्यायः । इत्यारण्यकं काण्डम् ।

इति सामवेद-संहितायां पूर्वार्चिकः समाप्तः ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालङ्कारपदवीविभूषितेन मीमांसावाचस्पत्यलङ्कृतेन श्री पण्डितजयदेवशर्मणा विरचिते सामवेदस्यालोकभाष्ये आग्नेयैन्द्रपावमानारण्यकाख्यकाण्डचतुष्टयात्मकः सामवेदसंहितायाः पूर्वार्चिकाख्यो भागः समाप्तः ।

ओ३म्

अथ महानाम्न्यार्चिकः *

प्रजापतिर्ऋषिः । इन्द्रस्त्रैलोक्यात्मा देवता ।

[१]

[६४१] विदा मघवन् विदा गातुमनुशंसिषो दिशः ।
शिक्षा शचीनाम्पते पूर्वीणामुरूचसो ॥१॥

[६४२] आभिष्ट्वमभिष्टिभिः स्वाऽऽर्कोणुः ।
प्रचेतन प्रचेतयेन्द्र द्युम्नाय नः इषे ॥२॥

[६४३] एवा हि शक्रो राये वाजाय वज्रिव ।
शविष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे महिष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे ।
आ याहि पिब मत्स्व ॥३॥

भा०—(१) हे (मघवन्) परमेश्वर ! (विदा) आप सब कुछ जानते हैं। अतः (गातुं) मार्ग को (विदा) आप प्राप्त करावें, आप (दिशः) दिशाओं का (अनुशंसिषः) उपदेश करें, हमें लक्ष्य तक पहुचने की दिशा दर्शावें। हे (पूर्वीणां) पूर्ण (शचीनां) शक्तियों के (पते) स्वामिन् ! हे (पुरुवसो) समस्त प्रजाओं के भीतर बसने और उनको बसाने वाले ! या अति अधिक धन सम्पन्न ! (शिक्ष) हमें शिक्षा करो, नियमों का उपदेश करो

---

* अथमार्चिकः ननु छन्दआर्चिके नाप्युत्तरार्चिके । सर्वत्र स्वमत्र पूर्वोत्तरयोर्मध्ये पठितत्वात्परिशिष्टमिति केचित् । तदयुक्तम् । सर्वत्र सामसहितासु तथोपलम्भे । यज्ञे च होतृ-पृष्ठेऽस्य विनियोगदर्शनाच्च ।१. सोपसर्गाया अस्या शक्वर्याः सामगे खण्डत्रयं कृतम् । तत्र प्रथमे आद्यपादद्वयमुपसर्गे द्वितीये मध्यमपादद्वयमुपसर्ग तृतीये चान्तिमपाद उपसर्गः । शेषैः सप्तभिः पादैरष्टाक्षरैः षट्पञ्चाशदक्षरा शक्वरी पूर्यते । सर्वत्र रेखाङ्किताः पादा उपसर्गाः ज्ञेयाः ।

(२) हे त्रैलोक्यपते ! हे (अचेतन) उत्कृष्ट चेतनासम्पन्न ! चिन्मय जगदीश्वर ! हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् ! आप (त्व न) सबको प्रेरणा करने वाले सूर्य के समान (अयु) सर्वव्यापक, (आभि) इन (अभिष्टिभि) अभीष्ट उपासनाओं से (इषे) अन्न और जीवन प्राप्त करने के लिये और (द्युम्नाय) ज्ञानस्वरूप प्रकाश प्राप्त करने के लिये (न) हमें (प्रचेतय) उत्तम रीति से ज्ञानवान् करो।

(३) हे (महिष्ठ) सबसे महान् ! सबसे बड़े दाता और पूजा के योग्य ! हे (वज्रिवः) पापों का वर्जन करने हारे, ज्ञान से सम्पन्न ! आप (शक्र) शक्तिमान् (एव हि) ही हैं। अत हे (शविष्ठ) सबसे अधिक बलशालिन् ! सर्वव्यापक, वज्रिन् ! आप हमें (रायं) धन, ज्ञान, शक्ति, तेज और (वाजाय) बल, अन्न के निमित्त (अञ्जसे) समर्थ करो। हे वज्रिन् ! (अञ्जस) आप हमें समर्थ बनाओ। (आयाहि) आप हमारे हृदय में प्रकट होओ। (पिब) पड़ ज्ञान, स्तुतिमय भक्तिरस मेरे हृदय पात्र में से पान करो या स्वीकार करो (मादय) और आनन्दमग्न होकर विराजो।

[१]

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ १

[६४४ ६४६] त्विषा रायो सुवीर्यस्य मक्षा वाजानामपतिर्यशो अनु ॥

१ २ ३ १ ३ १ २ ४ २ ३ १ २

महिष्ठ वज्रिन्नृज्जसे य शावसा गृणाम् ॥४॥

१ २ २ १ ३ १ २ ३ २ ८ ३ २

या मादयो मघोनामशस्ते शोच ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १

त्विषरावो आभि ना नयेन्द्रा वित्ते तमु स्तुहि ॥५॥

२ ३ २ ३ २ ८ ३ १ २ ३ १ १ ३ २

ईश हि शक्रस्तमूतये हवामहे जेतारमपराजितम्।

१ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १

स न. स्पर्षदति द्विषः अतुष्टुवन्द्र ऋत यृहन् ॥६॥

६४४-६४६—ऋग्भाष्ये पादा व्याख्याता । शेषे सुगमम् पादे. प्रकटी ।

भा०—हे त्रैलोक्यपते ! आप हमें (राये) श्रेष्ठ धन, आत्मज्ञान के प्राप्त करने के लिये प्रथम (सुवीर्यं) उत्तम वीर्य, सामर्थ्य ब्रह्मचर्य को (विद्या) प्राप्त कराओ। (य) जो (शूराणाम्) शूरवीरों में भी (शविष्ठ) सब से अधिक बलवान् है, हे (मंहिष्ठ) सबसे महान् ! (वज्रिन्) बलवन् ! पापनाशक ! आप (वाजानां पति) समस्त ऐश्वर्यों ज्ञानों और बलों के पति (भव) हैं। और (वशान्) आपके वशीभूत समस्त लोकों के (अनु) अनुकूल हितके लिये उनपर (ऋञ्जसे) वश करते हो ॥४॥

भा०—(य) जो (मघोना) समस्त ऐश्वर्य वालों में (मंहिष्ठ) सबसे बड़ा दाता है वही (अशु न) समस्त संसार में अपनी प्रसरणशील रश्मियों से व्यापक सूर्य के समान (शाचि) शुद्ध, कान्तिमान् है। हे (चिकित्व) सर्वज्ञ ! आप (इन्द्र) समस्त ऐश्वर्यशाली (न) हमें भी (विद) ज्ञान और बल को प्राप्त कराने के लिये (अभि नय) आगे ले चलो। हे मनुष्य ! तू (तम्) उसकी ही (स्तुहि) स्तुति कर ॥५॥

भा०—(हि) क्योंकि (शक्र) सर्व शक्तिमान् परमेश्वर ही (ईशे) सब का शासन करता है इसलिये (उतये) अपनी रक्षा के लिये (अपराजितं) किसी से भी न हारे हुए (जतारं) सब पर विजय करने वाले उस परमात्मा को (हवामहे) हम स्मरण करते हैं। (स) वह (न) (हमारे (द्विषः) शत्रुओं को (सु अर्षद्) विनाश करे। वह महान् परमेश्वर ही (क्रतुः) सब दुनिया का कर्ता (छन्दः) वेदज्ञानमय, सब का रक्षक, (ऋतम्) सत्यस्वरूप और (बृहत्) सबसे बड़ा है ॥६॥

[६४७] इन्द्रं धनस्य सातये हवामहे जेतारमपराजितम् ।
स न स्वर्षदति द्विषः स न स्वर्षदति द्विषः ॥७॥

[६४८] पूर्व्यस्य यत्त अदिवोऽशुम्मदाय।
सुम्न आ धेहि नो वसो पूर्ति. शविष्ठ शस्यते।
वशी हि शक्रो नून तन्नव्य सन्यसे ॥८॥

[६४९] प्रभो जनस्य वृत्रहन्त्समर्यपु ववावहै।
शूरो या गोषु गच्छसि सखा सुशेवो अद्वयुः ॥९॥

भा०—(धनस्य) परमैश्वर्य को (सातये) प्राप्त करने के लिये हम (अपराजित जेतार) न हारे हुए, पराक्रमी विजेता (इन्द्र) परमात्मा को (हवामहे) पुकारते हैं। (स न द्विष अति स्वर्षद् २) वह हमें शत्रुओं से पार करे, वह हमारे शत्रुओं से पार करे ॥७॥

भा०—हे (अदिव) ज्ञानस्वरूप, अखण्ड ! सबके प्रलय करने हारे ! (पूर्व्यस्य) सबके पूर्व विद्यमान मूल कारण तेरा (यत्) जो स्वरूप (अशु) सर्वव्यापक (मदाय) आनन्द देने के लिये है, हे (वसो) सबको बसाने हारे ! वह (न सुम्ने) हमारे सुख के लिये हमें (आ धेहि) प्रदान कर। हे (शविष्ठ) सर्व शक्तिमान् ! तेरा (पूर्ति) सबका पालन पोषण करने वाला स्वरूप ही (शस्यते) प्रशंसा किया जाता है। (नून) निश्चय से आप (शक्र) शक्तिमान् होकर (वशी) सब पर वश करने हारे हो। (तत्) इसीलिये उस (नव्य) स्तुतियोग्य आपका ही (स न्यसे) मैं अपने हृदय में आराध्यदेव के समान स्थापन करता हूं ॥८॥

भा०—हे (प्रभो, वृत्रहन्) समर्थ ! हे विघ्नविनाशक ! हम स्त्री पुरुष, गुरु या शिष्य (जनस्य) प्राणियों के (मयपु) बड़े २ स्वामियों के भी ऊपर विद्यमान (ववावहै) तेरी स्तुति करते हैं। (य) जो आप (गोषु) वेदवाणियों में (गच्छसि) प्रतिपाद्य अर्थ के रूप में व्याप्त हैं वा (सखा) हमारे आत्मा के मित्र (सुशेव) उत्तम रीति से सेवा करने योग्य (अद्वयु) एकमात्र अद्वितीय हैं ॥ ९ ॥

अथ पञ्च पुरीषपदानि

ऽऽऽ ऽऽ

[६५०] (१) ३ २ एवाह्येऽ३ऽ३ऽ३व

भा०—हे इन्द ! परमेश्वर आप (एव) ऐसे (हि) ही (एव) निश्चय से हो।

(२) २ ३ १ २ एवा ह्यग्ने

हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! (एवं हि) आप ऐसे प्रकाशस्वरूप ही हो।

(३) ३ १ २ एवाहीन्द्र

हे (इन्द) सर्वैश्वर्यसम्पन्न ! सब के प्रकाशक, स्वयं प्रकाशमान ! (एव हि) निश्चय आप ऐसे ही हो।

(४) ३ १र २र एवा हि पूषन्

हे (पूषन्) सबके पोषण करने हारे परमात्मन् ! (एव हि) आप ऐसे ही हो।

(५) ३ १र २र एवा हि देवा.

हे (देवा.) हे समस्त देवगण ! दिव्यगुणों से सम्पन्न पदार्थों ! एवं विद्वानो ! (एव हि) आप सब परमेश्वर के गुणों से ही इस प्रकार के हो।

इति पञ्च पुरीषपदानि।

इति महानाम्न्यार्चिक समाप्तः।

इति प्रतिष्ठितविद्यालङ्कार-मीमांसातीर्थोपाध्यलङ्कृतेन श्रीपण्डितजयदेवशर्मणा विरचिते सामवेदस्यालोकभाष्ये सामवेदसंहितायां महानाम्न्यार्चिकाख्यो भाग पूर्तिमगात् ॥

---

* ओ३म् *

सामवेदसंहितायाः

उत्तरार्चिके

प्रथम प्रपाठक (प्रथमोऽर्ध)

अथ प्रथमोऽध्यायः

ऋषि —१ असित: काश्यपो देवलो वा । २ काश्यपो मारीच । ३ वैखानसा आङ्गिरस । ४ भरद्वाज । ५ विश्वामित्रो जमदग्निर्वा । ६ हरिमिठ । ७ विश्वामित्रो गाथिन । ८—१० जमदग्नयुराङ्गिरस । ११ वसिष्ठ । १२ जमदग्नि । १३ लोपा काक्षीवत । १४ कलि प्रागाथ । १५ पुष्पलोऽग्नि । १६ सहिष्ठ । १७ शफ । १८ श्यावाश्व । १९ आन्धीगव । २० अग्निर्वैश्वानर । २१ साकमश्व । २२ सौभरि । २३ नृमध ॥ देवता—१—३, ८—१०, १५—१९ सोम । ४, २०, २१ अग्नि । ५ मित्रावरुणौ । ६, ११, १३, १४, २२, २३ इन्द्र । ७ इन्द्राग्नी । १२ सर्वे देवा ॥ छन्द —१—८, १२, १५, २१ गायत्री । ९, ११, १३, १४, २० इष्टुती । १० त्रिष्टुप् । १६, २२, २३ ककुप् । १७ उष्णिक । १८ अनुष्टुप । १९ भुरिग् ॥ स्वर —१—८, १२, १५ २१ षड्ज । ९, ११, १३, १४, २० मध्यम । १० धैवत । १६, १७, २२, २३ ऋषभ । १८ गान्धार । निषाद ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २
[६५१] उपास्मै गायता नर पवमानायेन्दवे ।
३ २ ३ १ २ ३
अभि देवा इयक्षते ॥ १ ॥

[६५२] अभि नो मधुना पयोऽथर्वाणो अशिश्रयुः ।
देवं देवाय देवयु ॥ २ ॥

[६५३] स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते ।
शं राजन्नोषधीभ्यः ॥ ३ ॥ १ ॥ ऋ० ९ । ११ । १-३ ॥

भा०— (१) हे (नरः) मनुष्यो ! (अस्मै) इस (पवमानाय) शुद्धिकारक (देवा अभि इषुध्यते) देवों, विद्वानों के प्रति अपना ज्ञान प्रदान करते हुए (इन्दवे) परमेश्वर की (उप गायत) स्तुति गान करो, उपासना करो ।

(२) (ते) तेरे (देवं) दिव्यगुणसम्पन्न (देवयुः) देवों, विद्वानों से अभिलषित, (पयः) पोषणकारी आनन्द रस को (अथर्वाणः) अहिंसक तपस्वी लोग (मधुना) मनन करने योग्य ब्रह्मज्ञान के संग (अशिश्रयुः) मिलाकर आस्वादन करते हैं ।

(३) हे (राजन्) देदीप्यमान परमेश्वर ! (सः) वह तू (नः) हमारे (गवे) ज्ञानेन्द्रियगण या पशु सम्पत्ति में (शं) कल्याण, सुख (पवस्व) प्रदान कर । (जनाय) हमारी समस्त प्रजाजन को, (शं) सुख कल्याण हो और (अर्वते) कर्मेन्द्रियों या अश्वादि सेनाङ्गों में (शं) शान्ति सुख हो । और हमारे (ओषधीभ्यः) उष्णता, प्रताप या तेज को धारने हारे लोगों को भी (शं) सुख हो ।

[६५४] दविद्युतन्या रुचा परिष्टोभन्त्या कृपा ।
सोमा शुक्रा गवाशिरः ॥ १ ॥

[६५५] हिन्वानो हेतृभिर्हित आ वाज वाज्यक्रमीत् ।
सीदन्तो वनुषो यथा ॥ २ ॥

[६५६] ऋधक्सोम स्वस्तय संजग्मानो दिवा कवे।
पवस्व सूर्यो दृशे ॥ ३ ॥ २ ॥ ऋ० ९। ६४। २८-३०॥

भा०—(१) (सोमा.) सौम्य गुणों से युक्त विद्वान् योगीजन, (शुक्रा) शुक्ल-कर्म अर्थात् निष्पाप कर्म करने हारे, (गणाशिरः) अपनी इन्द्रियों पर वश करने हारे, (दविद्युतत्या) अधिक प्रकाशमान (रुचा) कान्ति और (परिष्टोभन्त्या) सर्वत्र गुणवर्णन करने हारे (कृपा) प्रशंसनीय सामर्थ्य से युक्त रहते हैं।

(२) (यथा) जिस प्रकार (वनुष·) हिंसक योद्धा लोग (सीदन्त·) विशेष पैतरों पर रहते हुए आक्रमण करते हैं, या जिस प्रकार (वाजी) बलवान् घोड़ा (हेतृभि) हण्टरों से (हिन्वान·) ताड़ा गया (वाजं) युद्ध के मैदान में (अक्रमीत्) दौड़ता है उसी प्रकार (वाजी) ज्ञानवान् पुरुष (हेतृभि·) लौकिक कष्टों या हेय, त्याज्य दुःखों से (हिन्वान.) प्रेरित होकर (हित·) सन्मार्ग में आकर (वाज) ज्ञानपथ पर (अक्रमीत्) कदम रख देता है।

(३) हे (कवे) क्रान्तदर्शिन् ! मेधाविन् ! हे (सोम) सौम्यगुणों से युक्त महानुभाव ! विद्वन् ! (दिवा) प्रकाश, ज्ञान के बल पर (ऋधक्) दूर २ भी, लोक के (स्वस्तये) कल्याण के लिये (संजग्मान.) गमन करता हुआ तू (सूर्य·) सूर्य के समान (दृशे) सबको सत्य पदार्थों के दर्शाने के लिये (पवस्व) सर्वत्र जा।

[६५७] पवमानस्य ते कवे वाजिन्त्सर्गा असृक्षत।
अर्वन्तो न श्रवस्यव ॥ १ ॥

[६५८] अच्छा कोशं मधुश्चुतमसृग्रं वारे अव्यये।
अवावशन्त धीतय. ॥ २ ॥

१ २ ३ २ ३ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २
[६५९] अच्छा समुद्रमिन्दवोऽस्त गावो न धेनव ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ २
अग्मन्नृतस्य योनिमा ॥ ३ ॥ ३ ॥ अ० ९ । ६६ । १०-१२ ॥

भा०—(१) हे (कवे) मेधाविन् ! विद्वान् पुरुष ! हे (वाजिन्) ज्ञानवन् ! (अर्वन्त न) जिस प्रकार रथ दौड़ाते हुए पुरुष के घोड़े बराबर सरपट होजाते हैं उसी प्रकार (ते पवमानस्य) योगसाधना के मार्ग पर गमन करते हुए तेरे (अवस्यव) ज्ञान का प्राप्त करने हारे (सर्गा) प्रयत्न (असृक्षत) आप से आप सफल होने लगते हैं।

(२) (धीतय) ध्यान करने हारे साधक लोग (अव्यय) कभी न क्षीण होने वाले या प्राणमय (वारे) आवरण के ऊपर (मधुश्चुत) मधु, ब्रह्मानन्द रस को चुवाने वाले (कोशे) आनन्दमय कोश को (अच्छा) उत्तम रीति से (असग्र) प्रकट करते हैं और (अवावशन्त) उसी की कामना करते हैं। अर्थात् तामस आवरण पार करके व ज्ञानमय आनन्द को प्राप्त करते हैं और उसी में मग्न होजाते हैं।

(३) (धेनव गाव) दुधारी गौएं जिस प्रकार (अरं न) घर को स्वयं आजाती हैं उसी प्रकार (इन्दव) ऐश्वर्यसम्पन्न ज्ञान से प्रकाशित चित्त वाले विद्वान् लोग (समुद्र) उत्तम रीति से उमड़ने वाले आनन्द सागर, परम धाम, (ऋतस्य योनिम्) सत्य ज्ञान और समस्त यज्ञ के मूल कारण परमेश्वर को (अच्छ) भली प्रकार (आ अग्मन्) प्राप्त होते हैं।

इति प्रथम खण्ड ।

— ० —

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[६६०] अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
३ २ ३ १ २
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ १ ॥

[६६१] तं त्वा समिद्भिरंगिरो घृतेन वर्धयामसि ।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥ २ ॥
[६६२] स न पृथु श्रवाय्यमच्छा देव विवाससि ।
बृहदग्ने सुवीर्यम् ॥ ३ ॥ ४ ॥ ऋ० ६ । १६ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [१] पृ० १ ॥

(२) हे (अंगिर) प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (त) उस प्रसिद्ध (त्वां) तुझ परमेश्वर को (समिद्भि.) दीप्ति के साधन ज्ञानों और (घृतेन) देदीप्यमान तेज से (वर्धयामसि) हम आपको बढ़ाते हैं, आपकी विशालता प्रकट करते हैं अत हे (यविष्ठ्य) सबसे अधिक सामर्थ्य वाले ! सर्वशक्तिमन् ! (बृहत्) आप अति अधिक (शोच, हृदय में प्रकाशित हों ।

(३) हे देव ! अग्ने ! विद्वन् ! प्रभो ! आप हमें (पृथु) अति विशाल (बृहत्) बड़े, (सुवीर्यं) उत्तम सामर्थ्य युक्त (श्रवाय्य) श्रवण करने योग्य वेदज्ञान को (अच्छ) भली प्रकार (विवाससि) प्रकट करें ।

[६६३] आनो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम् ।
मध्वा रजांसि सुक्रतू ॥ १ ॥
[६६४] उरुशंसा नमोवृधा मह्ना दक्षस्य राजथ ।
द्राघिष्ठाभि शुचिव्रता ॥ २ ॥
[६६५] गृणाना जमदग्निना योनावृतस्य सीदतम् ।
पात सोममृतावृधा ॥ ३ ॥ ५ ॥ ऋ० ३ । ६२ । ६१-१८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [२२०] पृ० ११३ ॥

(२) हे (मित्रावरुणा) प्राण और अपान ! तुम दोनों (शुचिव्रतौ) शुद्ध पवित्र कर्म करनेहारे, (उरुशंसौ) अति प्रशंसनीय, (नमोवृधौ) ज्ञान

बल, अन्न और स्तुति से बढ़ने वाले (दक्षस्य) आत्मा के (महा) महान् सामर्थ्य से और (दाधिष्ठाभि) अति दीर्घ दृष्टियों से आप (राजथः) प्रकाशित होते और सबके ऊपर विराजमान रहते हो।

(३) तुम दोनों (ऋतावृधा) सत्य और ज्ञानयज्ञ के बढ़ाने हारे, (जमदग्निना) हृदय के भीतर प्रकाशित, अग्निस्वरूप आत्मा या परमेश्वर के ज्ञान से प्रज्वलित आत्मा वाले योगी द्वारा (गृणानौ) अपने सामर्थ्य को प्रकट करते हुए आप प्राण और अपान (ऋतस्य) इस जीवनयज्ञ या उपासना या योगयज्ञ के (योनौ) मूल भाग में (सीदतम्) स्थिति को प्राप्त करो और (सोम) सर्वप्रेरक बल को (पात) प्राप्त करो।

[६६६] आयाहि सुषुमा हि न इन्द्र सोम पिबा इमम्।
उदं वाहँ सदो मम ॥ १ ॥

[६६७] आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना।
उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥२॥

[६६८] ब्रह्माणस्त्वा युजा वयं सोमपामिन्द्र सोमिनः।
सुतावन्तो हवामहे ॥ ३ ॥ ६॥ ऋ० ३ । १७ । १ ३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो मन्त्र संख्या [१६१] पृ० १०२ ॥

(२) हे (इन्द) आत्मन्! (ब्रह्मयुजा हरी) ब्रह्म, ब्रह्मविद्या या वेद मन्त्रों के ज्ञानपूर्वक योग युक्त, समाहित होने वाले (हरी) गतिशील प्राण और अपान, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय (केशिना) दीप्तियों से युक्त होकर (त्वा) तुझको (वहताम्) आगे, उन्नति पथ पर लेजावें। और तू (नः) हमारे (ब्रह्माणि) वेदमन्त्रों को (शृणु) सुन और मनन कर। ज्ञानी पुरुषों का अपने आत्मा के प्रति सम्बोधन है।

(३) हे (इन्द) परमेश्वर! (वयम्) हम (ब्रह्माणः) ब्रह्मज्ञानी लोग (सोमपा) सोमरस का पान करने वाले (सुतावन्तः) सम्पादित सोम

मय आनन्दरस को प्राप्त होकर (युजा) समाधि द्वारा (त्वा) तुझ (सोमपाम्) सोम, समस्त विश्व का पान अर्थात् आदान या वश करने हारे परमेश्वर को (हवामहे) पुकारते हैं।

[६६९] इन्द्राग्नी आगतं सुत गीर्भिर्नभो वरेण्यम् ।
अस्य पातं धियेषिता ॥१॥

[६७०] इन्द्राग्नि जरितु सचा यज्ञो जिगाति चेतनः ।
अया पातामिमं सुतम् ॥२॥

[६७१] इन्द्रमग्निं कविच्छदा यज्ञस्य जूत्या वृणे ।
ता सोमस्येह तृम्पताम् ॥३॥७॥ । ऋ० ३ । १२ । २,३॥

भा०—(१) हे (इन्द्राग्नी) ऐश्वर्यवान् आचार्य ! और ज्ञानसम्पन्न अग्ने ! उपदेशक ! जिस प्रकार वायु और सूर्य सब जगत् की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार (अस्य मध्ये) इस संसार के बीच में (इषिता) समस्त बातों का ज्ञान कराने हारे (गीर्भि) अपनी वाणियों से और (धिया) अपनी धारणावती बुद्धि से (नभः) समस्त जगत् की और (वरेण्य सुत) वरण करने योग्य, श्रेष्ठ पुत्र की (पात) रक्षा करो। अथवा—(नभः) सब को एक सूत्र में बांधने वाले (वरेण्य) श्रेष्ठ (सुत) ज्ञान और आनन्द का (पात) उत्तम रीति से स्वयं पान करो, और अन्यों को कराओ, उपदेश करो।

(२) हे (इन्द्राग्नी) ऐश्वर्य के स्वामिन् इन्द्र ! राजन् ! और अग्ने ! ज्ञान के स्वामिन् ! विद्वन् ! ब्राह्मण ! जो (चेतना) चेतनास्वरूप (यज्ञ) आत्मा (युवा) आप दोनों को (जिगाति) प्राप्त है आप उस (जरितु) सत्य गुणगान करने हारे पुरुष के (सचा) साथ रहकर (अया) इस प्रत्यक्ष शक्ति से (इम सुत) इस उत्पन्न संसार का (पात) पालन करो।

(३) मैं (कविच्छदौ) मेधावि पुरुष के आच्छादन, सहायक और रक्षा करने वाले (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् और (अग्निं) ज्ञानवान् पुरुष को (यज्ञस्य) इस पूज्य आत्मा में (जूत्या) भीतरी ज्योति से (वृणे) वरण करता हूं, अपनाता हूं । (तौ) वे दोनों (इह) इस संसार में (सामस्य) समस्त ऐश्वर्य के द्वारा (तृप्यतां) स्वयं तृप्त हों, और सबको तृप्त करें ।

इति द्वितीय खण्ड ।

---

[६७२] उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्याददे ।
उग्रं शर्म महि श्रवः ।

[६७३] स नः इन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः ।
वरिवोविदत्परिस्रव ॥२॥

[६७४] एना विश्वान्यर्य आ द्युम्नानि मानुषाणाम् ।
सिषासन्तो वनामहे ॥३। ८॥ ऋ० ९ । ६१ । १०,१२,११॥

भा०—इन तीनों ऋचाओं का व्याख्यान क्रम से देखो अविकल संख्या [५६७] पृ० २३६, और [५६२, ५६३] पृ० २६८ ॥

[६७५] पुनान सोम धारयापो वसानो अर्षसि ।
आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देवो हिरण्ययः ॥१॥

[६७६] दुहान ऊधर्दिव्यं मधुप्रियं प्रातः सवमासदत् ।
आ पृच्छ्यं धरुणं वाज्यर्षसि नृभिर्धौतो विचक्षणः ॥२॥६॥
ऋ० ९ । १०७ । ४, २ ॥

भा०—(१) इसकी व्याख्या देखो अविकल संख्या [५११] पृ० २५२।
(२) (विचक्षणः) चतुर, बुद्धिमान्, (धौतः) ज्ञानी, (ऊधः) उन्नति के पथ में से जाने वाले, (दिव्यं) दिव्य (मधुप्रियं) मधु और

भीतरी पापा आदि से मुक्त, शुद्ध पवित्र (विप) उत्तम, (प्रत्न) प्राचीन आनादि (सधस्थ) नित्य साथ रहने वाला (मधु) मनन योग्य आत्मानन्द या ज्ञान को (आसदत्) प्राप्त हो जाता है और बाद में वही योगी (नृभि) ज्ञानवान् पुरुषों से भी (आपृच्छ्य) गुरुओं से प्रश्न पूर्वक ज्ञान करने योग्य (धरुण) सबके आश्रयभूत ईश्वर को (अर्षसि) प्राप्त होता है।

[६७७] प्रो तु द्रव परित्राशं निषीद नृभि पुनानो अभिवाजमर्ष।
अश्व न स्वा वाजिन मजयन्तास्छा बर्हिरशनाभिर्यन्ति॥
[६७८] स्वायुध पवत देव इन्दुरशस्तिहा वृजना रक्षमाण।
पिता देवाना जनिता सुदक्षो विष्टम्भो दिवो धरुण
पृथिव्या ॥७॥
[६७९] ऋषिर्विप्र पुरएता जनानामृभुर्धीर उशना काव्येन।
स चिद्विवेद निहित यदासामपाच्यं गुह्य नाम गोनाम्।
॥३॥१०॥ ऋ० ९। ८७। १-३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [५२३] पृ० २५६॥

(२) (इन्दु) ऐश्वर्यशील, (देव) देव, ईश्वर और राजा (स्वायुध) उत्तम आयुधों से युक्त (अशस्तिहा) शासन न मानने वालों का नाश करने वाला, (वृजना) सेनाबलों की (रक्षमाण) रक्षा करता हुआ, (देवाना पिता) सब देवों, विद्वानों का पालक (सुदक्ष) उत्तम बल शाली, कार्यकर्त्ता (दिव) ज्ञान प्रकाश और दिव्यगुण सम्पन्न सूर्य, द्यौलोक और सात्विक पुरुषों को (विष्टम्भ) थामने वाला, वशकारक (पृथिव्या) इस पृथिवी और राष्ट्र का एकमात्र धारण करने हारा है।

६७८—(२) वृजिना' इति ऋ०।

(३) (ऋषि.) अतीन्द्रिय ज्ञानों का द्रष्टा, (विप्र) ज्ञानवान् मेधावी, (जनाना पुर. एता) समस्त जनों, जीवों का नायक के समान अग्रेसर, (प्रभु) सब ज्ञान से अति प्रकाशमान, (धीर) कर्म और प्रज्ञानों का दाता, (उशनाः) सब पर वश करने वाला, एकमात्र यागी (काव्येन) ज्ञान-मय वेद साहित्य द्वारा (आसा) इन (गाना) वेदवाणियों का (अपीच्य) मनोहर, गुप्त, (गुह्य) हृदय से जानने योग्य (निहित) भीतर रक्खा हुआ (नाम चिद्) सार (विवेद) स्वयं जाने और औरों को जनावे ।

इति तृतीय खण्ड ।

---

[६८०] अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥१॥

[६८१] न त्वावाँ अन्यो दिव्या न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥२॥

(११ ॥ ऋ० ७ । ३२ । २२-२४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकल संख्या [२३३] पृ० ११६ ।

(२) हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! परमेश्वर ! (त्वावान्) तेरे जैसा (अन्य) दूसरा (दिव्य) दिव्य गुणों से युक्त (न जात) न पैदा हुआ और (न जनिष्यते) न पैदा होगा । और तेरे जैसा अन्य (पार्थिव) इस पृथ्वी का कोई पदार्थ, या पृथ्वी का मालिक भी (न जात. न जनिष्यते) न हुआ और न होगा । हम (अश्वायन्त गव्यन्त) अश्व और गौओं या प्राण और कर्मेन्द्रियों को चाहने वाले, (वाजिनः) ज्ञान और बल के इच्छुक होकर (त्वा हवामहे) तेरी स्तुति करते हैं ।

६८१—(१) 'अश्वं मघास्तुतिभिः' इति ऋ० ।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[६८२] कया नश्चित्र आभुवदूती सदावृधः सखा ।
२ ३ १ २ ३ २
कया शचिष्ठया वृता ॥ १ ॥
१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
[६८३] कस्त्वा सत्यो मदानां महिष्ठो मत्सदन्धसः ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २
दृढा चिदारुजे वसु ॥ २ ॥
३ २ ३ २ ३ २ ३ २
[३८४] अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम् ।
३ १ २ ३ १ २
शतं भवास्यूतये ॥ ३ ॥ १२ ॥ ऋ० ४ । ३१ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [१६१] पृ० ९३ ।

(२) (महिष्ठ) पूजनीय, (सत्य) सत्यस्वरूप (मदानां) हर्षों, आनन्दों के बीच में (क) कौनसा (अन्धस) जीवन धारण कराने वाला या अन्धकार का नाश करने वाला परम रस है जो (आरुजे) आरोग्य के लिये और (दृढ चिद् वसु) दृढ वास योग्य जीवनरूप धन होकर (त्वा) आपको (मत्सत्) आनन्दित करे ।

(३) हे इन्द्र ! आप (नः) हमारे (सखीनां) मित्र (जरितॄणां) सद्विद्या का उपदेश करने वाले विद्वानों के (ऊतये) रक्षा के लिये (शतं) सौ वर्षों तक (अविता) रक्षक (भवासि) बन रहें ।

१ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १र २र
[६८५] तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः ।
३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥ १ ॥
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[६८६] घृतं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम् ।
३ २ ३ १ २ ३ १ १ ३ १ २ ३ १र २र
चुमन्तं धाज शतिनं सहस्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे ॥ २ ॥
॥ १३ ॥ ऋ० ८ । ८८ । १–२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [२३६] पृ० १२० ।

(२) (युवं) दिव्य गुणों में निवास करने हारे (सुदानुं) उत्तम दाता, (तविषीभि०) बलों से (आवृतम्) घिरे हुए, परिपूर्ण, (पुरुभोजस) प्रजाओं के पालक से हम (शुमन्तं) निवास योग्य गृहादिसम्पन्न (शतिन) सैकड़ों (सहस्रिणं) सहस्रों सुखों और लाभों से युक्त (गोमन्तं) गो धन से पूर्ण (वाज) ज्ञान और ऐश्वर्य को (ईमहे) याचना करते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६८७] नरोभिर्यो विदद्वसुमिन्द्र सयाव ऊतये ।
३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
वृहद्वायन्त सुतसामे अध्वरे हुवे भरं न कारिणम् ॥१॥
२ ३ ३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[६८८] न यं दुधा वरन्ते न स्थिरा मुरो मदे सुशिप्रमन्धस० ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २ २
य आदृत्या शशमानाय सुन्वत दाता जरित्रे उक्थ्यम् ॥२॥
॥ १४ ॥ अ० ८ । ६६ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अविकल संख्या [२३७] पृ० १२१ ।

(२) (यं) जिस (सुशिप्र) उत्तम ज्ञानवान् पुरुष या आत्मा को (दुधाः) बड़ी कठिनता से रोके जाने योग्य, अदम्य क्रोध, काम आदि के वेग भी (न वरन्ते) वारण नहीं करते, या नहीं घेरते और (स्थिरा न) स्थिर, तामसभाव या आलस्य आदि भी जिसको रोक नहीं सकते । और जिसको (मुर) मरणशील अविवेकभाव भी विचलित नहीं कर सकते, वह आत्मा (अन्धस) सोमरस, जीवनदायक, अज्ञान नाशक उपेक्षित रूप (मदे) आनन्द में (शशमानाय) स्तुति उपासना करते हुए (सुन्वते) योग साधना करनेहारे (जरित्रे) अन्यों को सद्विद्या का उपदेश करनेहारे साधु पुरुष को (उक्थ्यं) वेदमय ज्ञान को (आदृत्य) आदरपूर्वक (दाता) प्रदान करता है ।

इति चतुर्थः खण्डः ४

---

[६८६] म्रक्षिम्रो मद्रिष्ठया पवस्व सोम धारया ।
इन्द्राय पातवे सुत. ॥ १ ॥
[६९०] रक्षोहा विश्वचर्षणिरभियोनिमयोहते ।
द्रोणे सधस्थमासदत् ॥ २ ॥
[६९१] वरिवो धातमो भुवा मंहिष्ठो वृत्रहन्तम. ।
पर्षि राधो मघोनाम् ॥ ३ ॥ १५ ॥ ऋ० ९ । १ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [४६८] पृ० २३६ ।

(२) (रक्षोहा) राक्षसों, दुष्ट पुरुषों का नाशक (विश्वचर्षणिः) संसार का द्रष्टा, प्रभु (अयोहत द्रोणे) लोह के बने कूंडे में जलराशि के समान (अयोहते) गतिदायक शक्ति से गतिमान् (द्रोणे) जगत् में व्यापक होकर (सधस्थ) साथ ही स्थिर रहने वाले स्वाभाविक (योनिं) इस अन्तरिक्ष को (अभि आसदत्) सर्वत्र व्याप्त किये हुए हैं ।

(३) हे (वृत्रहन्तम) आवरणकारी तम, अज्ञान के नाशक परमात्मन् ! आप (वरिवः धातम) नाना प्रकार से वरण करने योग्य धनों, रत्नों को धारण करने हारे, (मंहिष्ठ) और सब से बड़े दानी (भुवः) हैं । आप ही (मघोनाम्) बड़े २ धनाढ्यों का भी (राधः) धन (पर्षि) देकर पूर्ण करते हो ।

[६९२] पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम ऋतुवित्तमो मदः ।
मॉह च्छन्तमो मद ॥ १ ॥
[६९३] यस्य ते पीत्वा वृषभो वृषायतेऽस्य पीत्वा स्वर्विदः ।
स सुप्रकेतो अभ्यक्रमीदिषोच्छ्वाञ्च नैतशं ॥ २ ॥ १६ ॥
ऋ० ९ । १०८ । २–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५७८] पृ० २६१ ।

(२) हे परमात्मन् ! (ते) आपके (मदस्य) जिस आनन्दकारक रस का (पीत्वा) पान करके (वृषभ) अपने अन्तरात्मा में सुख का वर्षण कराने हारा आत्मा (वृषायते) गौरूप इन्द्रियों में भाव के समान उनमें बल का आधान करता और उनका भोग करता है और (स्वर्विद) सुख और प्रकाश का प्राप्त करानेहार (अस्य) इस सोमरस का (पीत्वा) पान करके ही (स) वह (सुप्रकेत) उत्तम ज्ञान करनेहारा आत्मा (इव) सब मन की कामनाओं का (अभि धक्षति) इस प्रकार पार कर लेता है जैसे (एतशः वाजम्न) वेगवान् घोड़ा या सवार संग्राम को ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ १२ ३ १ २
[६१४] इन्द्रमच्छ सुता इमे वृषणं यन्तु हरयः ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
श्रुष्टी जातास इन्दवे स्वर्विदे ॥ १ ॥
३ १ १२ ३ १ १२ ३ २
[६१५] अयं भराय सानसिरिन्द्राय पवते सुतः ।
३ २ १ १ ३ १ २ ३ २
सोमो जैत्रस्य यातवे यथा विदे ॥ २ ॥
३ १२ ३ २ ३ १ ३ १ ३ २
[६१६] अस्यदिन्द्रो मदेष्वा ग्राम गृभ्णाति सानसिम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
वज्रं च वृषणं भरत्समप्नुजित् ॥ ३ ॥ १७ ॥
अ० ६ । १०६ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५६६] । पृ० २८६ ।

(२) (अयं) यह (सानसिः) सबके सेवन और भजन करने योग्य, (सुतः) आनन्दादि आनन्दरस (इन्द्राय) आत्मा के (भराय) भरण पोषण उन्नति के लिये अन्नमिश्रित के समान (पवते) प्राप्त होता है । वह (सोमः) सोम रसमात्र सबका प्रेरक करने हारा योगी (जैत्रस्य)

५१४—(३) 'चूर्णं' इति ऋ० ।

काम क्रोधादि पर वश करने हारे आत्मा को (चेतति) ऐसे जान लेता है (यथा विद) मानो उसे साक्षात् प्राप्त ही कर लेता है।

(३) (इन्द्र) आत्मा (मदेषु) अपने आत्मिक ज्ञान के आनन्द प्रवाहों में (सानसिं) सेवन भजन करने और (प्राभ) ग्रहण करने योग्य (वज्रं) काम क्रोधादि के वर्जन करने में समर्थ ज्ञानशक्ति का (आ अस्यत्) चारों ओर फेंक फैलाव । (अप्सुजित्) क्रियाओं, प्रज्ञानों और प्राणों पर विजय प्राप्त करने हारा योगी (स भरत्) अज्ञान का नाश करता हुआ या ज्ञान का संग्रह करता हुआ (वृषणं) सुखों की वर्षा करने हारे उस परमात्मा का (गृभ्णाति) पकड़ता, उसका आश्रय लेता या प्राप्त हो जाता है।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६६७] पुरोजिती वो अन्धस सुताय मादयित्नवे ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३क २१
अप श्वान स्थविष्नव सखायो दीर्घजिह्वयम् ॥१॥
१ २१ ३ १ १ ३ १ १ ३ १
[६६८] यो धारया पावकया परिप्र स्यन्दते सुत ।
२ ३२ ३ २१
इन्दुरश्वो न कृत्व्य ॥ २ ॥
२ ३ १ २ ३ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[६६९] त दुरोषमभी नर सोम विश्वाच्या धिया ।
३ १ २ ३ १ २
यज्ञाय सन्त्वद्रय ॥३॥१८॥ ऋ० ९ । १०१ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [६४६] पृ० २७३ ।

(२) (इन्दु) यह परम ऐश्वर्य, विभूतियों से सम्पन्न योगी (अश्व न) अश्व के समान (कृत्व्य) कर्म करने में कुशल होता है । (प) जो (पावकया) पवित्र करने वाली (धारया) धारणा या ज्ञान द्वारा (सुत) निष्पन्न निष्णात, उसमें निष्ठ होकर (परि प्र स्यन्दते) चारों तरफ अपने ज्ञान उपदेशों द्वारा विचरण करता है ।

६६७—(२) 'दध हिन्वन्त्यद्रिभि ' इति ऋ० ।

(२) (त) उस (दुरोषं) दुःखकारी रोष या दाह प्रताप या तेज वाले (सोम) सोम्य यागी के पास (नरः) लोग (विश्वाच्या धिया) विश्वव्यापी प्रेमबुद्धि से (अभि) आते हैं। मनुष्यों को चाहिये कि वे (अद्रय) पर्वत के समान स्थिर अभेद्य हृदय या मेघ के समान आदरपूर्ण, उदार हृदय होकर (यज्ञाय) दान आदि शुभ कार्यों के निमित्त (सन्तु) लगे रहें ।

[७००] अभि प्रियाणि पवते चनो हितो नामानि यह्वो अधि येषु वर्धते । आ सूर्यस्य बृहतो बृहन्नधि रथं विष्वञ्चमरुहद्विचक्षणः ॥ १ ॥

[७०१] ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियं वक्ता पतिर्धियो अस्या अदाभ्यः । दधाति पुत्रः पित्रोरपीच्यं३ नाम तृतीयमधि रोचने दिवः ॥ २ ॥

[७०२] अव द्युतान कलशां अचिक्रदद्धरिर्येमाण कोश आ हिरण्यये । अभी ऋतस्य दोहना अनूषताधि त्रिपृष्ठ उषसो विराजसि ॥ ३ ॥ १६ ॥ अ० ६ । ७५ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [५५४] पृ० २७६ ।

(२) (ऋतस्य) सत्यवादी, योगाभ्यासी की (जिह्वा) वाणी (प्रियं) अति उत्तम, हृदय को तृप्त करने वाले, (मधु) आनन्दजनक रस और ज्ञान को (पवते) बहाती है। (अस्याः) इस (धियः पतिः) सत्य धारणा या बुद्धि का स्वामी और (वक्ता) सत्य वाणी का बोलने हारा (अदाभ्यः) कभी नाश नहीं किया जा सकता, पापियों से मार कर दबाया नहीं जा सकता ।

७००—(२) 'अधिरोचने' इति ऋ० ।

(३) 'अभीमृतस्य' 'विराजति' इति ऋ० ।

तब वह वाणी (पुत्र) अपने मा बाप का सुपुत्र (पित्रो) मा बाप से भी (अपीच्य) अज्ञात (तृतीय) तीसरा (दिव अधि रोचन) दिव्य गुण वाले ज्ञानप्रकाश स युक्त, सूर्य के समान सर्वत्र प्रकाश करने वाला, विद्वानों के समाज की शोभा बढ़ाने वाला (नाम) स्वरूप या तेजस्वी पद (दधति) प्राप्त करता है। एक माता का प्रेम का नाम, एक पिता का व्यावहारिक नाम, तीसरा वह प्रतिष्ठित नाम जिससे दुनिया उसका आदर करती है, जैसे महर्षि, महात्मा लोकमान्य दशबन्धु आदि। यहां सत्यवाणी सोम है।

(३) वह वाणी आ मा (द्युतान) दीप्तिमान् होकर (नृभि) नयन करने हार प्राणों स (यमाण) नियन्त्रित होकर (हिरण्यय) हिरण्मय आनन्दमय (कोश) कोश में (अव अचिक्रद्) शनै २ प्रवेश करता है। (ऋतस्य) सत्यमय ज्ञान के (दोहना) दोहन या पूर्ण करने वाले प्रवाह (इम्) इसका (अभि अनूषत) स्तुति करते हैं, प्रकट होते हैं। (त्रिपृष्ठ) तीन प्राणों के स्पर्श या सगम-स्थान त्रिपुटी रूपक पर (उषस) प्रात प्रभा के समान विद्योका प्रज्ञाओं के बीच (अधि विराजसि) विराजमान होता है।

इति पञ्चमः खण्डः ।

[७०३] ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ ३ १ २
यज्ञायज्ञा यो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे ।
१ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १
प्र प्र वयममृत जातवेदस प्रिय मित्र न शंसिषम् ॥
३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७०४] ऊर्जो नपात स हिनायमस्मयुर्दाशेम हव्यदातये ।
२ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
भुवद्वाजेष्वविता भुवद्वृध उत त्राता तनूनाम् ॥ २० ॥
अ० १ । ४८ । १, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो ऋचि० स० [३१] पृ० १२।

(२) (ऊर्जः) बल को (नपात) न क्षीण होने देने वाले इस 'अग्नि' का मैं वर्णन करता हूं। (स) वह (हिना) सदा (अस्मयु)

हमारा हितकारी है। (हव्यदातये) ग्रहण करने योग्य पदार्थों को दान करने वाले उस परमात्मा को हम भी (दाशेम) अपना आत्मा समर्पण करें। वह (वाजेषु) संग्रामों या बल के कार्यों में (अविता) रक्षक (भुवत्) होता है और (वृधे) हमारी उन्नति के अवसरों पर (तनूनाम्) देहों और देहधारियों का (त्राता) पालक (उत) भी (भुवत्) होता है।

२ ३ १ २१ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
[७०५] एह्यू षु ब्रवाणि तऽग्न इत्थेतरा गिरः।
३ १ २ ३ १ ३
एभिर्वर्धास इन्दुभिः ॥ १ ॥

२३क २१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[७०६] यत्र क च ते मनो दक्षं दधस उत्तरम्।
२ ३ १ २
तत्र योनिं कृणवसे ॥ २ ॥

१ २१ ३ १ २ ३ १ २१ ३
[७०७] न हि ते पूर्तमक्षिपन्नुवन्नमानां पते।
२ ३ १ २
अथा दुवो वनवसे ॥३॥२१॥ ऋ० ६। १६। १६-१८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [७] पृ० ४।

(२) हे (अग्ने) ज्ञानी आत्मन्! हे परमात्मन्! तू (ते) अपने (मन) चित्त या मनन करनेहारे आत्मा का (उत्तरं) उन्नत (दक्ष) कर्म (दधसे) धारण कर। (तत्र) वहां तू (योनिं) आश्रयस्थान (कृणवसे) बना।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवन् आत्मन्! हे (नेमानां) इन्द्रियों और शरीर के (पते) पालक! प्रभो! (ते पूर्तम्) तेरा पूर्ति या तृप्ति करने वाला तेज या बल (अक्षिपत्) इन्द्रियों का नाश करने वाला (नहि) न (भुवत्) हो। (अथ) और हम आत्मा (दुवः) परिचर्या, सेवा या साधना को (वनवसे) स्वीकार कर।

३ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २ ३ १ २
[७०८] वयमु त्वामपूर्व्य स्थूर न कञ्चिद्भरन्तोऽवस्यवः।
१ २ ३ १ २
वाजेश्चित्रं हवामहे ॥ १ ॥

[७०९] उप त्वा कर्मन्नूतये स नो युवोग्रश्चकाम यो धृषत्।
त्वामिद्धयवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम् ॥२॥२२॥
अ० ८ । २१ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५०८] पृ० २०७ ।

(२) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (कर्मन्) समस्त कर्मों में (ऊतये) रक्षा और ज्ञान के निमित्त (त्वा) आपको (उप) उपासना करते हैं । (सः) वह (युवा) बलवान् (उग्र) तेजस्वी है (यः) जो (धृषत्) शत्रु काम, क्रोधादि को पराजित करता है । हे (इन्द्र) प्रभो ! (त्वामिद् हि) तुझको ही हम (सखाय) मित्र जीवगण मिलकर (सानसिं) सबके प्रति समान रूप से आश्रय करने योग्य (अवितारं) रक्षक रूप से (ववृमहे) वरते हैं ।

[८१०] अघादिन्द्र गिर्वण उप त्वा काम ईमहे ससृग्महे ।
उदेव ग्मन्त उदभिः ॥ १ ॥

[७११] वार्ण त्वा यव्याभिर्वर्धन्ति शूर ब्रह्माणि ।
वावृध्वांस चिदद्रिवो दिवेदिवे ॥ २ ॥

[७१२] युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथयोरौ रथ उरुयुगे वचोयुजा ।
इन्द्रवाहा स्वर्विदा ॥३॥२३॥ अ० ८ । १८ । ७-९ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५०६] पृ० २०७

(२) हे (अदिव) न विनाश होने वाले ज्ञान को धारण करने हारे ! हे शूर ! नदियों से (वार्ण) जिस प्रकार जलमय समुद्र भरता है उसी प्रकार (दिवे दिवे) प्रतिदिन (ब्रह्माणि) ब्रह्मज्ञान या वेदमन्त्र (वावृध्वांस) सबसे बड़े महान् (त्वा) तुझको (यव्याभिः) तुझ तक पहुंचने वाली स्तुतियों से (वर्धन्ति) बढ़ाते हैं, अर्थात् वे तेरी महिमा को उससे और बढ़ाते हैं ।

(३) (इषिरस्य) सबका प्रेरणा करने वाले ईश्वर की (गाथया) स्तुति द्वारा हम योगी लोग (हरियुग) विशाल २ समाधि वाले (रथे) रमण-योग्य स्थान इस देह या रसस्वरूप आत्मा में रथ में, घोड़ों के समान (वचोयुजा) वाणी द्वारा हम समाहित या वश हुआ जान वाले (हरी) हरणशील प्राण और अपान दोनों को (युञ्जन्ति) योग से अपने वश कर लेते हैं। वे ही दोनों (स्वर्विदा) ज्योति और सुख को प्राप्त कराने हारे (इन्द्रवाहा) आत्मा के वहन करने वाले दो अश्व के समान हैं।

इति षष्ठ खण्ड ।

इति प्रथमाऽध्याय । इति प्रथमार्ध प्रपाठक ॥



अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

द्वितीयार्ध प्रपाठक ।

ऋषि —१ ४ श्रुतकक्ष २ १४ १५ वसिष्ठ । २ मेध्य तिथिप्रियमेधौ । ५ हरिमिठि ६ कुमीद काण्व ७ त्रिशोक । ८ काण्व प्रियमेध । ९ विश्वामित्र । १० मधुच्छन्दा । ११ शुन शेप । १२ नारद । १३ वाम ० १६ अत्रि सार । १७ १८ असित काश्यपो वामदेवो वा । १९ २१ त्र्यारुण । २० भरद्वाज दश सप्त ऋषय । २२ प्रथमस्याऽस्य त्र्यारुण द्वितीयस्य ऋषय प्रजापति तृतीयस्याऽस्य अम्बरीष ॥ देवता १ १२ इन्द्र । १३ १६ अग्नि १४ उषा । १५ अश्विनौ । १७ २२ सोम ॥ छन्द —१ ११ १६—१९ २१ गायत्री १२ त्रिष्टुप् । १३ १५ २० बृहती । २३ प्रथमद्वितीयस्याऽन्त्यो त्रिष्टुप् तृतीयस्या अनुष्टुप् ॥ स्वर —१ ११ १६—१९ २१ २२ षड्ज । १२ ऋषभ । १३ १५ २० मध्यम ॥

[७१३] पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभि प्र गायत ।
विश्वासाꣳ शतक्रतु महिष्ठ चर्षणीनाम् ॥ १ ॥

[७१४] पुरुहूत पुरुष्टुत गाथान्याऽऽसनश्रुतम् ।
इन्द्र इति ब्रवीतन ॥ २ ॥

[७१५] इन्द्र इन्नो महोनां दाता वाजानां नृतु ।
महाँ अभिष्टायमत् ॥ ३ ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ६२ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५५] पृ० ८७ ।

(२) (पुरुहूत) इन्द्रियों द्वारा, या प्रजाओं द्वारा अपनी रक्षा के निमित्त पुकारे गये, (पुरुष्टुत) प्रजाओं या इन्द्रियों द्वारा स्तुति किये गये, (गाथान्यं) गाथारूप, वेदवाणियों के श्रवण द्वारा प्राप्त करने योग्य, (सनश्रुत) सदाकाल से गुरूपदेशों में सुने गये, विशेष पुरुष-आत्मा को (इन्द्रः) इन्द्र (इति) इस प्रकार (ब्रवीतन) कहो । राजा, आत्मा, परमात्मा सर्वत्र समान है ।

(३) (इन्द्र इत्) परमेश्वर ही (नः) हमें (महोनां) दिव्य तेजों से युक्त महान् (वाजाना) अन्नों और बलों का दाता, (नृतु) सबको अपने बल पर नचाने वाला (महान्) सबसे बड़ा (अभिष्टु) सर्वज्ञ (आयमत्) सबको व्यवस्था में बांधता है ।

[७१६] प्र व इन्द्राय मादन हर्यश्वाय गायत ।
सखायः सोमपाव्ने ॥ १ ॥

[७१७] यस्येदुक्थं सुदानव उप ब्रुवे यथा नरः ।
चक्रमा सत्यराधसे ॥ २ ॥

७१३—(२) 'गाथान्य' ½ (३) 'महोना' इत ऋ० ।

(२) हे वज्रिन् ! हे ज्ञान वज्र के धारक इन्द्र ! (अपस) कर्म के (नविष्ठ) प्रारम्भ में मैं (अन्यद्) और किसी की (न घ ईम् आपपन) स्तुति नहीं करता । (तव इत् उ) तेरा ही (स्तोमै) स्तुतियों द्वारा (चिकेत) ज्ञान करता हू ।

(३) (देवा) विद्वान् लोग या इन्द्रियगण (सुन्वन्त) प्रेरणा या आज्ञा करते हुए या साम सवन या ईश्वरोपासना करते हुए या ज्ञान ऐश्वर्य लाभ करत हुए पुरुष को ही (स्पृहयन्ति) प्रेम करत हैं । (स्वप्नाय) सोते हुए आलसी पुरुष को (न स्पृहयन्ति) प्रेम नहीं करते । (अतन्द्रा) आलस्य रहित होकर ही ये विद्वान् देव या इन्द्रियगण (प्र० माद) अत्यन्त हर्ष को (यन्ति) प्राप्त होते है ।

[७२२] इन्द्राय मद्वने सुत परिष्टोभन्तु नो गिर. ।
अर्कमर्चन्तु कारव ॥ १ ॥

[७२३] यस्मिन् विश्वा अधिश्रिय रणन्ति सप्त सप्तद ।
इन्द्र सुते हवामहे ॥ २ ॥

[७२४] त्रिकद्रुकेषु चेतन देवासो यज्ञमत्नत ।
तामद्य वर्धन्तु नो गिर ॥३॥ ४ ॥ ऋ० ८ । ९२ । १९–२१ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [१२८] पृ० ८८ ।

(२) (यस्मिन्) जिस इन्द्र में (विश्वा श्रिय) समस्त विभूतिया (अधि) अधिक शोभा देती हैं और जिसमें (सप्त सप्तद) उत्तम प्रकार से अपने स्थिति प्राप्त किय हुए हाता स्वरूप सात इन्द्रियगण (रणन्ति) ज्ञान-यज्ञ में आनन्दलाभ करत हैं उस (इन्द्रम्) आत्मा को (सुते) योग यज्ञ में ऋतम्भरा सिद्ध होने पर (हवामहे) पुकारते हैं उसका स्मरण, चिन्तन, स्तुति करते हैं ।

[७२८] आ तू न इन्द्र क्षुमन्त चित्र ग्राभ सङ्गृभाय ।
महाहस्ती दक्षिणेन ॥१॥

७२९] विद्मा हि त्वा तुविकूर्मिन्तुविदष्ण तुविमघम् ।
तुविमात्रमवोभि ॥२॥

[७३०] न हि त्वा शूर देवा न मर्त्तासो दित्सन्तम् ।
भीम न गां वारयन्ते ॥३।६॥ ऋ० ८ ८१ । १ ३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [१६७] पृ० ९३ ।

(२) हे इन्द्र (त्वा) तुझको हम (अवोभि) तेरी रक्षाओं, ज्ञानों और कृपाओं के कारण (तुविकूर्मिम्) बहुत से कर्मों के करनहारा (तुविदष्ण) बहुतसे धन सम्पदाओं का दाता, (तुविमघम्) बहुत उत्तम धनों, ज्ञानों से सम्पन्न (तुविमात्र हि) बहुतसे ज्ञान साधनों से युक्त भी (विद्म) जानते हैं ।

(३) हे शूर ! (भीम) भयजनक (गां न) जिस प्रकार साड को कोई हटाने का साहस नहीं करता उसी प्रकार (भीम) सबका भयजनक, सर्वव्यापक (दित्सन्त) दान की कामना करते हुए तुझको (न देवा) न विद्वान् लोग और (न मर्त्तासः) और न साधारण लोग (वारयन्ते) वारण करते हैं ।

[७३१] आभ त्वा वृषभा सुते सुत सृजामि पीतये ।
तृम्पा व्यश्नुही मदम् ॥१॥

[७३२] मा त्वा सूरा अभिष्यवो माप हस्वान आदभन् ।
मार्भा ब्रह्मद्विषो वन ॥२॥

६८०—[२] 'ब्रह्मद्विषो इति ऋ० ।

[७३३] इह त्वा गोपरीणस महे मन्दन्तु राधसे ।
सरो गौरो यथा पिब ॥३॥७॥ अ० ८। ४५। २२ २४ ॥

भा०—(१) ग्यारवा दशा अवि० सं० [१६१] पृ० ८६।

(२) हे (इन्द्र) आत्मन् ! (मूरा) मूर्ख (अविष्यव) तुझे पालन पोषण की चेष्टा करने हारे भोगी विलासी लोग (त्वा) तुझे (मा दभन्) नाश न करें। (मा उपहस्वान) तुझ पर उपहास करनेहारे, तेरे उपदेशकारी भी तेरा विनाश न करें। और (ब्रह्मद्विष) वेद और ब्रह्मज्ञान का प्रेम न रखने वाले तेरा कभी सेवन न करें, तेरा कभी आनन्द लाभ न करें।

मूर्ख लोग देह की पालना कर आत्मा का नाश करते हैं उपहास कारी लोग नास्तिक भी आत्मा का नाश करते हैं, पापों में बह जाते हैं और वेद और ब्रह्मविद्या के द्वेषी भी आत्मज्ञान का आनन्द नहीं पाते।

(३) (यथा) जिस प्रकार (गौर मृग) गौर मृग (सर) जल से भर तालाब पर आकर जल पीता है उसी प्रकार हे (इन्द्र) आत्मन् ! तू यहां इस हृदय में विराज कर ब्रह्मानन्द के रस का (पिब) पान कर। (इह) यहां ही (गो परीणस) इन्द्रियगण से परिवृत जितेन्द्रिय (त्वा) तुझको (महे राधस) बड़ा भारी ब्रह्मज्ञान साधना के लिये (मन्दन्तु) साधक लोग आनन्दित करते हैं, जगाते हैं।

[७३४] इद्वसो सुतमन्धः पिबा सुपूर्णमुदरम् ।
अनाभयिन् रारिमा ते ॥१॥

[७३५] मुमिधीत सुनो अग्नेरद्या दशे पवीत ।
अश्वो न निक्तो नदीषु ॥२॥

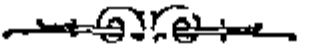
[७३६] त ते यव यथा गोभि स्वादुमकर्म श्रीणन्त ।
इन्द्र त्वास्मिन्त्सधमादे ॥३॥८॥ अ० ८। २। १३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१२४] पृ० ६६ ।

(२) (नदीषु) नदियों में (निक्तः) स्नान कराये गये (अश्वः न) अश्व के समान (नृभिः) नेता लोगों द्वारा (धौतः) मलादि छुड़ाकर शुद्ध किया गया (अरैः) सूक्ष्म तत्वों तक पहुंचने, एवं आत्मानन्द का भोग करने हारे विद्वानों द्वारा (सुतः) उत्पन्न किया, सोमरस, आत्मज्ञान (अव्याः) चिति शक्ति या प्राण के (वारैः) प्रकट करने हारे योगाङ्गरूप साधनों द्वारा (परिपूतः) परिशोधित, (नदीषु निक्तः) प्रवाह के रूप में बहने वाली ज्ञानधाराओं में शुद्ध होता है ।

(३) (यथा) जिस प्रकार हम (गोभिः) गो-रसों से (श्रीणन्तः) मिलाते और परिपाक करते हुए (यवं) यव के बने पक्वान्न को (स्वादुं) आनन्ददायक यवागू पाक (अकर्म) बना लेते हैं उसी प्रकार (तं) उस ज्ञानमय आत्मा को (ते) वे साधक लोग (गोभिः) ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त रसों या तेजोमय ध्यानरश्मियों से (श्रीणन्तः) मिलाते, परिपक्व या दृढ़ करते या अभ्यास करते हुए (अस्मिन्) इस (सधमादे) आनन्द-जनक समाधि-दशा में हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वा) तुझको (स्वादुं) स्वादु, अति हर्षदायक रूप से (अकर्म) साक्षात् करते हैं ।

इति द्वितीयः खण्डः ।



३।१ २४ ३ १ २
[७३७] इंद्र ह्वयोजसा सुतं राधानां पते ।
२ ३ २ १ ३
पिबा त्वाऽऽभ्य गिर्वणः ॥१॥
२ ३ १३ ३ १र २र ३ १र २र ३क २र
[७३८] यस्ते अनु स्वधामसत्सुत तियच्छ तन्वम् ।
१ २
स त्वा ममत्तु सोम्य ॥२॥

[७३९] प्र ते अश्नोतु कुक्ष्योः प्रेन्द्र ब्रह्मणा शिरः ।
प्र बाहू शूर राधसा ॥२॥९॥ ऋ० ३ । ४९ । १० १२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१६४] पृ० ९२ ।

(२) हे इन्द्र ! (ते) तेरा (य) जो (स्वधाम्) स्व अर्थात् अपने स्वरूप में धारणा करने के (अनु) अनन्तर (असत्) प्रकट होता है (सुते) उस उत्पन्न आनन्द में तू हे आत्मन् ! (तन्वं) अपने स्वरूप को (नि यच्छ) नियमित कर, समर्पित कर । हे सोम्य ! सोमरस के पान करने योग्य आत्मन् ! वह ज्ञानरस (त्वा) तुझको (ममत्तु) अति आनन्दित करे ।

(३) हे (इन्द्र) आत्मन् ! वह ज्ञानरस और आनन्दरस (ते कुक्ष्योः) तेरे दोनों ज्ञान और कर्मरूप पार्श्वों का और (शिरः) शिर का (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञान द्वारा (अश्नोतु) व्याप्त कर या दुःखों का बाध । और हे शूर ! (ते बाहू) तेरी बाहुओं का (राधसा) बल ऐश्वर्य से पूर्ण कर ।

आत्मा के दोनों कोखा और शिर का व्याख्यान देखो (तैत्ति० उप० १)

[७४०] आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत ।
सखाय स्तोमवाहसः ॥१॥
[७४१] पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम् ।
इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥२॥
[७४२] स घा नो योग आभुवत्स राये स पुरन्ध्या ।
गमद्वाजेभिरा स न ॥३॥१०॥ ऋ० १ । ५ । १ २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१६४] पृ० ९१ ।

(२) (पुरूणां) प्राणों और इन्द्रियों में सबसे (पुरूतमम्) श्रेष्ठ (वार्याणाम्) वरण करने योग्य ज्ञानों और धनों के (ईशानम्) स्वामी (इन्द्रम्)

राजा और आत्मा की (सुते सोमे) उत्पन्न किये इस आनन्दकारी, सबके प्रेरक, भोग्य रस या ज्ञानरस, या ऐश्वर्य में मग्न होकर सब (सखा) साथ मिलकर (अभि प्र गायत) गान करो, उसकी स्तुति करो।

(३) (स घ) वही आत्मा (न) हमारी (योगे) समाधिदशा में (आभुवत्) साक्षात् होता है। (स राये) वही नाना ज्ञान, तप रूप धनराशि के अवसर में और (स) वही (पुरन्ध्या) नाना पदार्थों को स्मृतिरूप से या दृढ़ को धारण करने हारी बुद्धि द्वारा भी (आभुवत्) प्रत्यक्ष साक्षात् होता है। (स नः) वह हमारे पास (वाजेभिः) ज्ञानों द्वारा (गमत्) प्राप्त हो।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
[७४३] योगे योगे तवस्तरं वाजवाजे हवामहे।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
सखाय इन्द्रमूतये ॥१॥
१ २ ३ १२ २१ ३ १ २ ३ १२ २१
[७४४] अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम्।
२ ३ १ २ ३ २ ३ २
य ते पूर्वं पिता हुवे ॥२॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७४५] आ घा गमद्यदि श्रवत्सहस्रिणी भिरूतिभिः।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
वाजेभिरुप नो हवम् ॥३॥११॥य० २१। ३०। ७, ६, ८॥

भा० —(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [१६३] पृ० ६१।

(२) (प्रत्नस्य) बहुत प्राचीन (ओकसः) परम आश्रयरूप मोक्ष के प्रति (नरं) लजाने वाले (तुविप्रतिं) बहुतों की कामना पूर्ण करने हारे परमेश्वर को (अनु हुवे) पुनः २ प्रतिदिन स्मरण करता हूं। (यं) जिस (ते) तुझको (पिता) हमारे पालन करनेहारे साक्षात् गुरु, आचार्य आदि (पूर्वं) हमसे पहले (हुवे) स्तुति करते रहे।

(३) (यदि) यदि वह परमेश्वर (नः) हमारी (हवम्) स्तुति को (श्रवत्) सुनले तो वह (सहस्रिणीभिः) सहस्रों बलशालिनी (ऊतिभिः)

रक्षा करनेहारी शक्तियों से और (वाजभि) सहस्रों सत्य ज्ञानों के सहित (उ आगमत् ग) साक्षात् प्रकट ही हो जावे।

[७४६] इन्द्र सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीष उक्थ्यम्।
विदे वृधस्य दक्षस्य महा हि षः ॥ १ ॥

[७४७] स प्रथमे व्योमनि देवानां सदने वृधः।
सुपारः सुश्रवस्तमः समप्सुजित् ॥ २ ॥

[७४८] तमु हुवे वाजसातय इन्द्रं भराय शुष्मिणम्।
भवा नः सुम्न अन्तमः सखा वृधे॥३॥१२॥ क०८।१ ३।१२-३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३८१] पृ० ११७।

(२) (स) वह परमेश्वर (प्रथम) सबसे श्रेष्ठ (व्योमनि) विशेष रूप से शरण प्राप्त करने योग्य (देवानां सदने) विद्वान् ज्ञानी और मुक्त पुरुषों के आश्रय या निवास करने योग्य लोक में (वृधः) सबसे बड़ा है। वह (सुपारः) उत्तम रूप से ज्ञान करने योग्य और कष्टों से तरा देने वाला (सुश्रवस्तम) उत्तम यश और ज्ञान का धारण करनेहारा, (समप्सुजित्) समस्त कर्मबन्धनों या बन्धनों में फंसे जीवों में सबसे उत्कृष्ट एवं आदि मूल कारण प्रकृति पर भी वश करने वाला है।

(३) (तम्) उस (भराय) भरण पोषण करनेहारे, अथवा (भराय=हराय) कर्मजाल को हरण करके मुक्तिमार्ग में लेजाने वाले (शुष्मिणम्) सर्वशक्तिमान् का ही मैं (इन्द्र) इन्द्र' नाम से (हुवे) पुकारता हूं। वह परमात्मा (नः) हमारे (सुम्ने) सुखशान्ति और (वृधे) वृद्धि करने के निमित्त (अन्तमः) अति समीप का, अन्तरंग (सखा) मित्र है।

इति तृतीय खण्ड ।

७४६—(३) 'तमु हे' इति ऋ०।

[७४९] ३ १ २ ३ १ २१ ३ १ १३१२
एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमाहुवे ।
३ १ १ ३ १ २ ३ १ १ ३२३१२
प्रिय चातृमगंतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥१॥
१ २ ३२ ३ १ २ ३ १ २ क २१
[७५०] स योजते अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत्स्वाहुत ।
३ १ २ ३२ ३२ ३ १ २ ३२ब ३ १ २
सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देव राधो जनानाम् ॥२॥१३।
ऋ० १० । ६ । ५ । यजु० ३ । ५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४५] पृ० २० ।

(२) (स) वह परमात्मा (अरुषा) दीप्तिमान् (विश्वभोजसा) विश्व समस्त संसार का भोग कराने हारे पालक सूर्य और पृथिवी दोनों को (योजते) नियुक्त करता है । वह (स्वाहुत) उत्तम रूप से कीर्त्तित परमात्मा ही (द्रुद्रवत्) सर्वत्र व्यापक है । वही (सुब्रह्मा) उत्तम ज्ञानवान् सबका उत्पादक है और वही (यज्ञः) महादानी यज्ञस्वरूप, (सुशमी) उत्तम शान्त गुण सम्पन्न है । (वसूनां) वास करने हारे (जनानां) मनुष्यों के (राधः देवं) उस आराधनीय देव का उपासना करो ।

[७५१] ३ २ ३ २ ३ २
प्रत्यु अदर्शायत्यूच्छन्ती दुहिता दिवः ।
१ ३१२ ३ १२३२३ १२ ३१२
अपो महीवृणुते चक्षुषा तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी ॥१॥
२३१२ ३ २३ १२३१२ २१ ३२
[६५२] उदुस्रिया सृजते सूर्यः सचोषसश्चित्रमाचियत् ।
१ ३१ ३ २ ३ १२ ३ २३१२
तदेषां व्युषि सूर्यस्य च सा भक्तेन गमेमहि ॥२॥१४॥
ऋ० ७ । ८१ । १, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३०३] पृ० १२२ ।

(२) (सूर्यः) सबका प्रेरक उत्पादक परमात्मा (उस्रियाः) वास करने योग्य किरणों और भूमियों को (सचा) एक साथ सूर्य के समान (उत्सृजते) प्रकट करता है और (उषन्) उदित होता हुआ भी स्वयं (न क्षत्रम्) अपने स्थान से च्युत न होने वाले नक्षत्र के समान स्थिर तथा

व्यापक (अर्चिवत्) तेजोमय है। हे (उष) पापदाह करने वाली ज्योतिष्मति ! प्रज्ञ ! (तव इत्) तेरे और (सूर्यस्य च) सूर्य के समान तेजोमय आ मा के (वि उषि) प्रखर तेज से प्रकट होने के अवसर में (भक्षेन) भजन करन योग्य उस इष्टदेव से (स गमेमहि) हम सासग करें, उसका ध्यान कर।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ १
[७५३] इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्ते अश्विना।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अय वामह्वेऽवस शचीवसू विश विश हि गच्छथ ॥ १ ॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७५४] युवं चित्र ददथुर्भोजन नरा चोदेथां सूनृतावते ।
३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अर्वाग्रथ समनसा नियच्छत पिबत सोम्य मधु ॥२॥१५॥
ऋ० ७। ७४। १, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [३०४] पृ० १५५।

(२) (अश्विना) हे अश्वियो ! प्राण अपान नामक नेताओ ! या विद्वान स्त्री पुरुषो ! आप दोनों (चित्र) सग्रह करने योग्य, विविध प्रकार के (भोजन) भोग योग्य पदार्थ (ददथु) देते हो। और (सूनृतावते) सूनृता, नाम वेदवाणी को धारण करनेहारे क लिय धन (चोदेथा) प्रदान करते हो। आप (समनसा) समान मन वाल होकर (अर्वाग्) नीच की ओर या (अर्वाग्) इन्द्रियों क प्रति जानहार (रथ) अपन वेग या वेगवान् आत्मा या मन और शरीर का (नियच्छत) नियन्त्रित करो, वश करो और आप दोनों (सोम्य मधु) सोमरसयुक्त मधुररस उत्तम शुद्धवायु, और आरोग्यता का (पिबतम्) पान करो।

प्राणायाम का अभ्यासी प्राण को अपान में और अपान को प्राण में आहुति दे और ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का पालन करे।

इति चतुर्थ. खण्ड ।

३ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७५५] अस्य प्रत्नामनुद्युत शुक्रं दुदुह्रे अह्रय ।
१ २ ३ १ २ २
पय सहस्रसामृषिम् ॥ १ ॥
३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ २
[७५६] अय सूर्य इवोपदृगय सरांसि धावति ।
३ २ ३ २ २ ३ १ २ २ २
सप्त प्रवत आदिवम् ॥ २ ॥
३ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[७५७] अय विश्वानि निष्टति पुनानो भुवनोपरि ।
१ २ २ १ २ २
सोमो देवो न सूर्य ॥ ३ ॥ १६ ॥ ऋ० ९ । ५४ । १, ३ ॥

भा०—(१) (अस्य) इस सोमस्वरूप परम आत्मा की (प्रत्नाम्) अनादि काल से चली आई, पुरानी (द्युतम्) वेदज्ञानरूप कान्ति को (अनु) अनुसरण करके (अह्रय [1]) नि सकोच, माननीय, विद्वान् लोग, (सहस्रसाम्) सहस्रों फलों को देने वाले, (शुक्रं) शुद्ध, पापरहित (ऋषिं) अतीन्द्रिय बातों को दिखलाने हारे (पय) ज्ञान, वेदराशि का (दुदुह्रे) दोहन करते, उससे ज्ञान प्राप्त करते हैं ।

(२) (अय) यह सोम (सूर्य इव) सूर्य के समान (उपदृग्) समस्त पदार्थों और सब प्राणियों, सब लोकों का द्रष्टा है (अय) यह सोम (सरांसि) समस्त लोकों में (धावति) व्यापता प्रकाशित करता और गति देता है, (दिवम्) आकाश के (सप्त) सात प्रकार के (प्रवत) गतिमान् पदार्थों को चलाता है । अध्यात्मपक्ष में—जीव, प्राणात्मा (सरांसि) इन्द्रियों में स्वय गति करता है और द्यौ अर्थात् मूर्धास्थान में (सप्त प्रवत) सात शीर्षण्य प्राणों को भी गति देता है ।

(३) (अय) यह (सोमः) सोम, परमात्मा (सूर्य न) सूर्य के समान (विश्वानि) समस्त (भुवना उपरि) लोकों के ऊपर (पुनान)

७५५—१ अहयो गाव इति महीधरः ।

उनको गति देता हुआ और पवित्र करता हुआ (तिष्ठति) उनपर शासन करने वाले अधिष्ठाता के रूप में विराजमान है।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ २
[७५८] एष प्रत्नेन जन्मना देवो देवेभ्यः सुतः।
१ २ ३ १ २
हरिः पवित्रे अर्षति ॥ १ ॥ ऋ० ९। ३। ६॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[७५९] एष प्रत्नेन मन्मना देवो देवेभ्यस्परि।
३ १ २ २ १
पविर्विशेण वावृधे ॥ २ ॥ ऋ० ९। ४२। २॥

३ २ ३ १ २ २ १ ३ ३ ३ १ २
[७६०] दुहान. प्रत्नमित्पयः पवित्र परिषिच्यसे।
१ २ ३ १ २
मन्दन् द्यां अजीजनः ॥ ३ ॥ १७॥ ऋ० ९। ४२। २॥

भा०—(१) (एषः) यह सोम (देवः) ज्योतिर्मय आत्मा (प्रत्नेन) अनादिकाल से चले आये (जन्मना) जन्म, जननशक्ति, सामर्थ्य से (देवेभ्यः) इन्द्रियों के लिये भोगार्थ (सुतः) प्रकट होकर (हरिः) हरणशील, उनको गति देनेहारा होकर (पवित्रे) प्राण और अपान के बने मलशोधन करने वाले, साधन में (अर्षति) गति करता है।

प्राणापानौ पवित्रे। तै० ३। ३। ४। ४।

(२) (एषः) यह सोमस्वरूप जीव (प्रत्नेन) अनादिकाल से वर्त्तमान (मन्मना) मनन शक्ति द्वारा (देवेभ्यः) अपनी दिव्यगुण वाली इन्द्रियों के भोग के निमित्त (देवः) स्वयं प्रकाशस्वरूप, चेतन (कविः) मेधावी, ज्ञानी होकर भी (विप्रेण) मेधावी परम ब्रह्म प्रजापति के साथ (परिवावृधे) सब प्रकार से उन्नति को प्राप्त होता है।

प्रजापतिर्वै विप्रः, देवः विप्रः। शतपथ ९। ३। १। १६॥

७५८—'भारद्वाजस्ते सुतः।' इति ऋ०। ७५९—'अजीजनत्' इति ऋ०।

(३) हे सोम ! (प्रत्नम् इत्) पुराने, अनादिकाल से चले आये (पथ) प्राण जीवन का ही (दुहान) रस या जीवनरूप में दुहता हुआ तू (पवित्र) पवित्र करने हारे प्राण और अपान या परम पावन ज्ञान के द्वारा ही (परि सिच्यसे) पवित्र किया जाता है। (क्रन्दन्) शब्द करता हुआ, 'माइ' का नाद करता हुआ या 'ओं' का नाद करता हुआ तू (देवान्) इन्द्रियगण को (अजीजनत) प्रकट करता है।

प्राणा पथ ॥ शत० ६ । ५ । ४ । १५ । और ६२ । ३ । ३ । ३१ । अन्तर्हितमिव वा एतद् यत् पथ । ताण्डय० ८ । ६ । ३ ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[७६१] उप शिक्षापतस्थुषो भियसमा धेहि शत्रवे ।
१ २ ३ २ ३ २
पवमान विदा रयिम् ॥१॥ ऋ० ९ । १९ । ६ ७

२ ३ २ ३ २ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २र
[७६२] उपोषु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्ग परिष्कृतम् ।
१ २ ३ १ २
इन्दुं देवा अयासिषुः ॥२॥ ऋ० ९ । ६१ । १२ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २
[७६३] उपाम्मै गायता नर पवमानायेन्दवे ।
३ २ ३ १ २ र
अभि देवाँ इयक्षते ॥३॥१८॥ ऋ० ९ । ११ । १ ॥

भा०—(१) हे (पवमान) पावन करने वाले ! हे (सोम) ऐश्वर्यवन् ! (अपतस्थुषः) नीचवृत्ति से स्थिति रखने हारों को (उपशिक्ष) शिक्षा दो कि वे अपनी बुरी वृत्ति का छोड़कर भले मार्ग में आवें। (शत्रवे) शत्रु को (भियसम्) भय (आधेहि) दिलावो। हे प्रभो ! (रयिम्) धन को (विदा) प्राप्त कराओ।

अग्निर्वाऽपि पवमान । ऐ० २ । ३० ॥ प्राणो वै पवमान ॥ श० २ । २ । १ । ६ ॥ आत्मा वै पवमान । तां० ७ । ३ । ७ ॥ पुष्टं वै रयि । श० २ । ३ । ७ । १३ । वीर्यं वै रयि । श० १३ । १४ । २ । १३ ॥ पशवो वै रयि ।

(२) व्याख्या देखो अवि० सं० [४८७] पृ० २४३ ।

(३) व्याख्या देखो अवि० सं० [६५१] पृ ३२८ ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

---

[७६४] प्र सोमासो विपश्चितोऽपो नयन्त ऊर्मयः ।
वनानि महिषा इव ॥१॥

[७६५] अभि द्रोणानि बभ्रवः शुक्रा ऋतस्य धारया ।
वाज गोमन्तमक्षरन् ॥२॥

७६६ सुता इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः ।
सोमा अर्षन्तु विष्णवे ॥३॥ १६॥ अ० ९ । ३३ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४७८] पृ० २४० ।

(२) (बभ्रव) भूरे वर्ण वाले काषाय वस्त्रधारी विद्वान् लोग (ऋतस्य) ज्ञान और तप की (धारया) धारणा से (शुक्राः) कान्तिमान्, (अभि द्रोणानि) राष्ट्रों के प्रति (अभि) आकर (गोमन्तम्) वेदवाणी से युक्त या पशुओं से सम्पन्न (वाजं) ज्ञान या धन को (अभि क्षरन्) उत्पन्न करते, प्रदान करते हैं । अथवा अध्यात्म में—(बभ्रव) पुष्टिकारक प्राण और (ऋतस्य) सत्यज्ञान के (धारया) धारण करने वाली अन्तर्भरा प्रज्ञा से (शुक्राः) कान्ति या ज्योति से सम्पन्न होकर (द्रोणानि) प्राणेन्द्रियों के प्रति (अक्षरन्) प्रवाहित होते हैं । और (गोमन्तं) वाणी से युक्त (वाजं) ज्ञान को (अभि अक्षरन्) साक्षात् प्रकट करते हैं ।

राष्ट्रं द्रोणकलशः । ता० ६ । ६ । १ । प्राणा वै द्रोणकलशः ता० । ६ । ६ । १२ ।

७६३—'अपो नयन्त्यूर्मयः' इति ऋ० ।

७६५—'भान्ति' इति ऋ० ।

(३) (सुता सोमा) उत्पन्न हुए ये ज्ञान या आनन्दप्रद समस्त पदार्थ (वायवे) प्राणस्वरूप (वरुणाय) ज्ञानी (विष्णवे) सर्वव्यापक ब्रह्म में लीन (इन्द्राय) आत्मा के लिये और (मरुद्भ्यः) विद्वानों के लिये (अर्षन्तु) प्राप्त हों ।

[७६७] प्र सोम देववीतय इन्द्रस्य पिप्ये अर्णसा: ।
अंशो पयसा मादरा न जागृविरच्छा कोशं मधुश्चुतम् ॥१॥

[७६८] आहर्यता अर्जुना अक्त अञ्यत प्रिय सूनुर्न मर्ज्य ।
तमी हिन्वन्त्यपसो यथा रथं नदीष्वागमस्त्यो ॥२॥२०॥

ऋ० ९ । १०७ । १२, १३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [५१४] पृ० २५४ ।

(२) (हर्यत) हरण करने योग्य, प्रिय (अर्जुन[1]) इन्द्र, आत्मा (प्रिय:) प्राणों का प्रिय, इष्ट (सूनुः न) पुत्र के समान (मर्ज्य) संभाल कर, धो, पोंछ कर, साफ स्वच्छ करने योग्य है । वह (अक्त) सर्वव्यापक ब्रह्म में (आ अञ्यत) मग्न होजाता है और (तम् ईं) उसको ही (गमस्त्यो) दीप्तिस्वरूप प्राण और अपान, इड़ा और पिंगला के बीच की (नदीषु) धाराओं या नाड़ियों में (अपस) वेगवान् प्राण या ध्यान वृत्तियों को उसी प्रकार (आ हिन्वन्ति) प्रेरित करता है (यथा) जिस प्रकार (अपसः) वेगवान् सुभट (रथं) अपने रथ को प्रेरित करते हैं, आगे बढ़ाते हैं ।

१. अर्जुनो ह वा इन्द्रो यदस्य शुक्लं नाम ॥ श० ५ । ४ । ३ । ७ ॥

[७६९] प्र सोमासो मदच्युत श्रवसे नो मघोनाम् ।
सुता विदथे अक्रमुः ॥३॥

७६९—'मघोन' इति ऋ० ।

[७७०] आदीं हंसो यथा गण विश्वन्यावीवशन्मतिम्।
अत्यो न गोभिरज्यते ॥२॥

[७७१] आदीं त्रितस्य योषणो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः।
इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥३॥ २१॥ अ० १०। ३२। १, ३, २॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४७७] पृ० २४०।

(२) (आत्) और (गण) उत्पन्न होने वाले (हंसः) इस शरीरगत प्राणगण को (इव) आत्मा (यथा) जिस प्रकार से (अवावशत्) वश करता है उसी प्रकार वह परमात्मा (विश्वस्य) समस्त संसार के (मतिं) मनों को भी (अवीवशत्) वश करता है। और (अत्यः न) जिस प्रकार अश्व (गोभिः) नाना प्रकार की चालों से (अज्यते) अपने गुण प्रकट करता है उसी प्रकार वह आत्मा अपनी इन्द्रियों की नाना सुख, दुःख, ज्ञान आदि गतियों से और वह प्रभु अपने बनाये गतिशील पिण्डों और वेदवाणियों से अपनी सत्ता और स्वरूप को प्रकट करता है।

[७७२] अया पवस्व देवयूरमन् पर्येषि विश्वतः।
मयोधरो असृक्षत ॥ १ ॥ अ० ९। १०६। १४॥

[७७३] पवते हर्यतो हरिरतिह्वरांसि रह्या।
अभ्यर्षन्स्तोतृभ्यो वीरवद्यशः ॥ २ ॥ अ० ९। १०६। १२॥

[७७४] प्रसुन्वानायान्धसा मत्तो न वष्ट तद्वचः।
अपश्यन्नमराधस हृता मघं न भृगवः ॥ ३ ॥ २२ ॥
अ० ९। १०१। १३ ॥

भा०—(१) हे सोम ! योगिन् ! (देवयु) अपने का प्रकाश करने वाले विद्वानों और इन्द्रियगणों से युक्त होकर (अया) इस (धारया)

७७२—(१) द्वितीयदशीरपादस्योर्विश्वेदेव., काश्यप ।

धारणा ज्ञान और आनन्द की धारा द्वारा (पवस्व) प्रकट हो। तब (रभन्) स्तुति करता हुआ तू (विश्वा) सब प्रकार से (पर्यावि) व्याप्त या निष्ट हो और तब (मधा) मधुर आनन्दजनक (धारा) ज्ञानधारा और आनन्दरस की धाराएं (असृक्षत) उत्पन्न हों।

(२) व्याख्या देखिये अविकल सं० [२७६] पृ० २६०

(३) व्याख्या देखिये अविकल सं० [२५३] पृ० २६८

इति षष्ठ खण्ड ।

इति द्वितीयोऽध्यायः ।

इति द्वितीयार्ध । इति प्रथम प्रपाठक ।

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

अथ द्वितीय प्रपाठक (प्रथमार्ध)।

ऋषि—अग्नि । २, ५, १५ अग्नीध्र । ३ वत्सप्री । ४ १० मृगुवत्सः शुनहोत्र भित्रयु । ६ ७ मधातिथि काण्व । ८ मधुच्छन्दा वैश्वामित्र । ९ वसिष्ठ । ११ उपमन्युर्वासिष्ठ । १२ शक्त्युरुबार्षभ । १३ प्रस्कण्व काण्व । १४ नृमेधा । १६ नहुषो मानव । १७ सिकतानिवावरी आत्रेयाङ्गिरसो कृष्णोऽत्रेरवसस्य । १८ शुनकः शुनहोत्रो वा । १९ जेता माधुच्छन्दसम् ॥ देवता—१—५, १०, १५—१७ पवमान सोम । ६ अग्नि । ७ मित्रावरुणौ । ८, ११—१४, १८ २१ इन्द्र । ९ इन्द्राग्नी छन्द—१—१०, १५, १८ गायत्री । ११ त्रिष्टुप । १२—१४ प्रागाथ । १६, १९ अनुष्टुप् । १७ गायत्री ॥ स्वर—१—१०, १५, १८ षड्ज । ११ धैवत । १२–१४ मध्यम । १६, १९ गान्धार । १७ निषाद ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
[७७५] पवस्व वाचा अग्रिय सोम चित्राभिरूतिभि. ।
३ १ १ २ ३ १ २
अभि विश्वानि काव्या ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ ३ २ १ २ २ ३ १ २
[७७६] त्वं समुद्रिया अपाग्रिया वाच ईरयन् ।
१ २
पवस्व विश्वचर्षणे ॥ २ ॥
२ ३ १ २ २ ३ १ २
[७७७] तुभ्येमा भुवना कवे महिम्ने सोम तस्थिरे ।
१ २ ३ १ २
तुभ्यं धावन्ति धेनव. ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० ९ । ६२ । २५-२७ ॥

भा०—(१) हे सोम ! सबके प्रेरक ! आप अपनी (चित्राभिः) पूजनीय (ऊतिभि) शक्तियों और रक्षा-कार्यों और ज्ञानों सहित (वाचः) हमें वेदवाणियां (पवस्व) प्राप्त कराते हो। और (विश्वानि) समस्त (काव्या) क्रान्तदर्शी, मेधावी पुरुषों की वाणियों के (अभि) साक्षात् वाच्य हो।

(२) हे (विश्वचर्षणे) समस्त संसार के देखने हारे ! हे (सोम) सर्वोत्पादक ! जिस प्रकार मेघ या वायु स्वरूप सोम शब्द करता हुआ समुद्र से भरे जल को पृथ्वी पर बरसाता है इसी प्रकार (अग्रिय) सबके अग्रणी सबसे प्रथम वर्त्तमान, सबसे मुख्य, अनादि (वाच) वेदवाणियों को (ईरयन्) प्रकट करते हुए आप (समुद्रिया.) भली प्रकार उन्नति की ओर लेजाने वाले (अप) कर्मों को (पवस्व) उपदेश करते हो।

(३) हे (कवे !) मेधाविन् ! हे (सोम) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक, रसस्वरूप ! (महिम्ने) विशाल महिमास्वरूप (तुभ्यं) तेरे लिये (इमा भुवना) ये समस्त लोक (तस्थिरे) स्थिर हैं। (तुभ्य) तेरे लिये ये (धेनव) वाणियां और नदियां (धावन्ति) गति कर रही हैं, प्रकट होती

७७५—(२) 'विश्वमेन्व' इति ऋ०। (३) 'तुभ्यमधन्ति सिन्धव.' इति ऋ०।

हैं, दौड़ रही हैं। अर्थात् ये समस्त लोक और वेदवाणियां, नदियां कामधुक् भूमियां तेरी ही महान् सत्ता को प्रकट करने के लिये हैं।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[७७८] पवस्वेन्दो वृषा सुत. कृधी नो यशसो जने।
२ ३ २ ३ १ २
विश्वा अप द्विषो जहि ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३१ २ ३ १२ ३ २
[७७९] यस्य ते सख्ये वयं सासह्याम पृतन्यतः।
१ २ ३ १ २ ३ २
तवेन्दो द्युम्न उत्तमे ॥ २ ॥

१ २ ३ १२ २१ ३ २ ३ २ ३ १ २
[७८०] या ते भीमान्यायुधा तिग्मानि सन्ति धूर्वणे।
३ २ ३ २
रक्षा समस्य नो निद. ॥ ३ ॥ २ ॥ ऋ० १ । ६१ । २८, ३० ॥

भा०—(१) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन्! आप (सुतः) सामर्थ्यवान् (वृषा) सब सुखों के वर्षाने वाले (पवस्व) हमारे समीप प्रकट होओ। और (जने) जनसमूह में (नः) हमें (यशसः) यशस्वी (कृधि) करो। और (विश्वा) समस्त (द्विषः) हमसे अप्रीति करने हारे, हमारे अनिष्टकारियों को (अप जहि) दूर करो।

(२) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन्! (यस्य ते) जिस तेरे (सख्ये) मित्र भाव में रहते हुए (पृतन्यतः) सेनाएं लेकर चढ़ाई करने हारे विरोधियों को (सासह्याम) पराजित करें उस (तव) तेरे (उत्तम) उत्तम (द्युम्नम्) तेज या ऐश्वर्य या बल के अधीन हम सदा रहें।

(३) हे प्रभो! (या) जो (ते) तेरे (तिग्मानि) तीक्ष्ण (आयुधा) हथियार (धूर्वणे) हिंसाकारियों के लिये (सन्ति) हैं उन द्वारा (नः) हमारी (समस्य) समस्त (निदः) निन्दाकारियों से (रक्ष) रक्षा कर।

राजा के प्रति योजना भी स्पष्ट है।

७८८—(३) द्वितीयतृतीययोः पादयोर्विपर्ययः, ऋ०।

[७८१] वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः ।
वृषा धर्माणि दधिषे ॥१॥

[७८२] वृष्णस्ते वृष्ण्यं शवो वृषा वनं वृषा सुतः ।
स त्वं वृषन्-वृषेदसि ॥२॥

[७८३] अश्वो न चक्रदो वृषा सं गा इन्दो समर्वतः ।
वि नो राये दुरो वृधि ॥३॥३॥ अ० ३ । ६४ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [५०४] पृ० २५० ।

(२) हे वृषन् ! सबसे महान् सब सुखों के वर्षा करने हारे ! हे (सोम) सर्वोत्पादक ! सर्वप्रेरक ! (वृष्णः) वर्षणशील (ते) तेरा (शव.) बल और ज्ञान (वृष्ण्यं) सुखवर्षक है । तेरा (वनं) भजन सेवन भी सुखदायक है और (सुतः) तेरी प्रेरणा भी सुखदायक है । (स त्वं) वह तू (वृषा इत्) सदा सुखवर्षक (असि) है ।

(३) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! (वृषा) सब सुखों के वर्षक आप (अश्वः न) भोक्ता आत्मा के समान (गाः) ज्ञानेन्द्रियों को (सं चक्रदः) अच्छी प्रकार नादित करो, ज्ञानवान् करो । और (अर्वतः) अश्व के समान दौड़ने हारी प्राणेन्द्रियों को भी (सं चक्रदः) बलवान् करो । अथवा (अश्वः न) राष्ट्र या राजा जिस प्रकार अपने गौ आदि पशुओं को अधिक समृद्ध और बलवान् बनाता है उसी प्रकार आप सर्वैश्वर्यप्रापक सर्वेश्वर होकर (गाः) वेदवाणियों का उपदेश करो और (अर्वतः) ज्ञानी पुरुषों को उपदेश करो । आप (नः) हमारे (दुरः) द्वारों को (राये) इष्ट ज्ञानरूप धन के निमित्त (वि वृधि) और अधिक खोल दो ।

७८१—(२) 'वृषावनः' 'सत्य' इति ऋ० ।

[७८४] वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्त त्वा हवामहे ।
पवमान स्वर्दृशम् ॥१॥

[७८५] यदद्भि परिषिच्यस मर्मृज्यमान आयुभि ।
द्रोणे सधस्थमश्नुष ॥२॥

[७८६] आ पवस्व सुवीर्यं मन्दसान स्वायुध ।
इहोष्विन्द्रागहि ॥३॥३॥ ऋ० ९ । ६५ । ४, ६, ५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४८०] पृ० २४१ ।

(२) हे (सोम) आत्मन् ! (आयुभि) मनुष्यों या प्राणों द्वारा (मर्मृज्यमान) परिशोधित होकर (यद्) जब (अद्भि) योगाभ्यास के कर्मों द्वारा, या ज्ञान धारणाओं द्वारा (परिषिच्यस) पुन २ स्वच्छ किया जाता है तब (द्रोणे) इस मूर्धास्थल या देह में (सधस्थम्) अपने साथ ही स्थिर, कूटस्थ परम आत्मा के भी (अश्नुषे) प्राप्त कर लेता है ।

(३) हे (स्वायुध) उत्तम आयुधों से सम्पन्न समाधि में ध्येय इष्ट देव के संग मिलने के लिये उत्तम यम नियम के साधनों से सम्पन्न आत्मन् ! आप (मन्दसान) आनन्दमय होकर (सुवीर्यं) उत्तम सामर्थ्य का (आ पवस्व) प्रकट करो । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! दयाशील, रस रूप से बहने वाले ! (इह उ) यहां ही इस अन्तःकरण में (सु आ गहि) उत्तम रूप से आ, प्रकट हो ।

[७८७] पवमानस्य ते वय पवित्रमभ्युन्दत ।
सखित्वमावृणीमहे ॥१॥

---

*८८५—मृज्यमानो गभस्त्यो वृषा' इति ऋ० ।

[७८८] ये ते पवित्रमूर्मयोऽभिक्षरन्ति धारया।
तेभिर्नः सोम मृळय ॥२॥
[७८९] स नः पुनान आ भर रयिं वीरवतीमिषम्।
ईशानः सोम विश्वतः ॥३॥ ५॥ अ० १। ६१। ४-६॥

भा०—(१) हे परमात्मन् ! (पवित्रम्) समस्त शरीर को पवित्र करने वाले मेरे आत्मा या अन्तःकरण को (अभि उन्दतः) साक्षात् द्रवित करते हुए, आपकी तरफ बहते हुए भावयुक्त बनाते हुए (पवमानस्य) सबके परम पावन (ते) आपके (सख्यं) मित्रभाव का हम (आ वृणीमहे) वरण करते हैं।

(२) हे (सोम) समस्त संसार के उत्पादक ! प्रेरक ! (ते ऊर्मयः) तेरी शक्तियां (धारया) समस्त संसार को धारण करने हारी शक्ति के रूप में (पवित्रम्) हमारे अन्तःकरण में (अभि क्षरन्ति) प्रकट होती हैं तू (तेभिः) उनसे (नः) हमें (मृळय) सुखी कर।

(३) हे (सोम) सर्वप्रेरक ! (सः) वह अतिप्रसिद्ध आप (ईशानः) समस्त संसार पर वश करने हारे स्वामी (नः) हमें (पुनानः) पवित्र करते हुए (रयिं) प्राण और रयि-चितिशक्ति या ऐश्वर्य को (आ भर) प्राप्त कराइये और (वीरवतीम्) बलसम्पन्न (इषम्) अन्न आदि पदार्थों वा इच्छा शक्ति को (विश्वतः) सब ओर से प्राप्त कराइये।

इति प्रथमः खण्डः।

—०—

[७९०] अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ १ ॥

[७६१] ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अग्निमग्निं हवीमभि सदा हवन्त विश्पतम् ।
३ १ २ ३ २
हव्यवाह पुरुप्रियम् ॥२॥

[७६२] १ २ ३ ४ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अग्ने देवाँ इहावह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे ।
४ ३ १ २ ३ १ २
असि होता न ईड्य ॥३॥६॥ ऋ० १ । १२ । १ ३ ॥

भा०—(१) व्याख्या दशा अवि स० [३] पृ० २ ।

(२) विद्वान् लोग (अग्निम् अग्रिम्) सबके आगे विद्यमान प्रकाश-स्वरूप, ज्ञानप्रद आचार्यरूप सर्वोत्तम अग्नि और सब पापों के विनाशक (विश्पतिं) सब प्रजाओं के स्वामी, (पुरुप्रिय) समस्त प्रजाओं के प्रेम पात्र, (हव्यवाह) समस्त स्तुतियों को धारण करने वाले परमात्मा को ही (हवीमभि) स्तुति करने योग्य मन्त्रों से (सदा) नित्य (हवन्ते) स्मरण करते हैं, पुकारते हैं ।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! आप (देवान्) दिव्यगुणयुक्त सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, वायु, अग्नि आदि देवों और विद्वानों को (वृक्तबर्हिषे) देह बन्धनों का काट देनहार जीवन्मुक्त, कुशल पुरुष के लिये (इह) इस संसार में (जज्ञान) उनके सब रहस्यों को प्रकट करते हुए (आ वह) हमें प्राप्त कराओ । आप (होता) सबको अपने भीतर आहुतिरूप में ले लेने हारे एवं सबको सुख ऐश्वर्य के दाता होकर (न) हमारे (ईड्य) एकमात्र स्तुति योग्य हैं ।

[७६३] ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
मित्र वयं हवामहे वरुण सोमपीतये ।
२ ३ २ ३ १ २
या जाता पूतदक्षसा ॥ १ ॥

[७६४] ३ २ १ १ २ ३ १ १ ३ २ ३ १, २ ३ १ २
ऋतेन यावृतावृधावृतस्य ज्योतिषस्पती ।
२ ३ १ २ २
ता मित्रावरुणा हुवे ॥ २ ॥

[७९५] वरुण. प्राविता भुवन्मित्रो विश्वाभिरूतिभि ।
करतां न सुराधस. ॥ ३ ॥ ७ ॥ ऋ० १ । २३ । ४-५ ॥

भा०—(१) (वयं) हम लोग (सोमपीतये) समाधि से उत्पन्न होने वाले उस ब्रह्मानन्द रस का पान करने के लिये (मित्र) स्नेह करने योग्य प्राण, मन, चित्त और (वरुण) शरीर के विघ्नों का वारण करने हारे अपान को (हवामहे) परस्पर में आहुति देते या उनको वश करते हैं। (या) जो दोनों (पूतदक्षसा) पवित्र कर्म करने हारे, मल के शोधक होकर (जाता) विद्यमान एवं प्रकट हैं।

(२) मैं (नौ) उन मित्रावरुणा) मित्र और वरुण दोनों को (हुवे) पुकारता हूं (यौ) जो दोनों (ऋतेन) जीवनमय यज्ञ से या सत्य के बलपर (ऋतावृधौ) वास्तविक सत्य और जीवन की वृद्धि करने हारे (ऋतस्य) सत्य आत्मा को (ज्योतिष.पती) आनन्दमय विशोका, ज्योति के पालन करने हारे हैं।

(३) (वरुण) वरुणस्वरूप अपान (अविता) दुःख से बचाने वाला (प्र भुवत्) होता हुआ और (मित्र) मित्र, प्राण (विश्वाभिः सब प्रकार की (ऊतिभि) रक्षण शक्तियों से (न.) हमारे (सुराधस.) उत्तम साधनाएं (करताम्) सिद्ध करें।

[७९६] इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किण ।
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ १ ॥

[७९७] इन्द्र इद्धर्यो. सचा सम्मिश्ल आ वचो युजा ।
इन्द्रो वज्री हिरण्यय ॥ २ ॥

[७९८] इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च ।
उग्र उग्राभिरूतिभि. ॥ ३ ॥

[७९६] इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि।
वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ४ ॥ ८ ॥ ऋ० १। ७। १,२,४, ३॥

(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१६८] पृ० १०४।

(२) व्याख्या देखो अविकल सं० [५६७] पृ० ३०१।

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [५६८] पृ० ३०१।

(४) (इन्द्र) ऐश्वर्यशाली परमात्मा (दीर्घाय) दूर देश तक के पदार्थों को (चक्षसे) दर्शन करने अर्थात् दिखलाने के लिये (दिवि) आकाश में सूर्य के समान उच्च ज्ञान में (सूर्यं) तेजस्वी विद्वान् को (आ रोहयत्) स्थापित करता है। और (गोभि) रश्मियों द्वारा (अद्रिम्) मेघ के समान आनन्दवर्षी आत्मा को (ऐरयत्) विशेष रूप में प्रेरित करता है।

[८००] इन्द्रे अग्ना नमो बृहत्सुवृक्तिमेरयामहे।
धिया धना अवस्यव ॥ १ ॥

[८०१] ता हि शश्वन्त ईडत इत्था विप्रास ऊतये।
सधाो वाजसातये ॥ २ ॥

[८०२] ता वां गीर्भिर्विपन्यव प्रयस्वन्तो हवामहे।
मधुमाता अनिष्यव ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ७। ९४। ४–६ ॥

भा०—(१) (इन्द्र) ऐश्वर्यशील, (अग्ने) ज्ञानप्रकाश से प्रकाशित और अन्धकारमय अज्ञान मार्गों में अग्नि के समान पथदर्शक विद्या प्रदाता अग्निस्वरूप परम आचार्य में (नमः) आदरपूर्वक नमस्कार और (बृहत्) बहुत (सुवृक्तिम्) उत्तम गुण स्तुतियों का (आ ईरयामहे) प्रयोग करें। और (अवस्यव) ज्ञान, रक्षा, तेज और उत्तमगुणों की कामना वाले

होकर हम (धिया) ध्यान और मननपूर्वक (धेनाः) ज्ञानरस पान कराने वाली वेदवाणियों का उच्चारण करें ।

(२) (विप्रास.) मेधावी विद्वान् लोग (ता) इन्द्ररूप और अग्निरूप परम गुरुओं के प्रति (शश्वन्त.) अनादि काल से (ऊतये) आत्मरक्षा और ज्ञान प्राप्त करने के लिये (इत्था) इसी प्रकार की सत्य-वाणियों द्वारा (समाधः) एक दूसरे से समान रूप से बंधे हुए विद्वान् जन (वाजसातये) ज्ञानप्राप्ति के लिये (हवंते) स्तुति करते हैं ।

(३) हम (विपन्यवः) विशेष स्तुतिकर विद्वान्जन (प्रयस्वन्त.) ज्ञानी (मेधसातौ) पवित्र ज्ञान और बुद्धि की प्राप्ति के लिये (सनिष्यवः) भजन करने की कामना से (गीर्भि.) वेदवाणियों द्वारा (ता वां) उन आप दोनों को (हवामहे) स्तुति करते हैं ।

इति द्वितीय. खण्डः ।



[८०२] धृषा पवस्व धारया । मरुत्वते च मत्सरः ।
विश्वा दधान ओजसा ॥ १ ॥

[८०३] तं त्वा धर्तारमोण्योः ऽऽपवमान स्वर्दृशम् ।
दिव्येषु वाजेषु वाजिनम् ॥ २ ॥

[८०४] अया चित्ता विपानया हरिः पवस्व धारया ।
युजे वाजेषु चोदय ॥ ३ ॥ १० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४६१]

(२) हे (पवमान) समस्त संसार को गति देने हारे परमात्मन् ! (ओण्योः) दुःखों को दूर करने वाले, आकाश और पृथिवी दोनों के (धर्तारं) धारण करने वाले (स्वर्दृशम्) परमसुख या ज्ञान के प्रकाश को

दर्शन हार (वाजिन) ज्ञान और बल क भडार आपका (वाजपु) बल क कार्यों सग्राम आदि क अवसरों पर (हि व) स्मरण करता हू ।

(३) ६ साम [1] (हरि) सब दुखों क हरण करने हारे आप (अपा) इस (विपानपा) विशेष रूप स पान करन योग्य (धारया) ब्रह्मानन्द की धारा स (चित्त) ज्ञानामय स्वरूप स पृथक् प्रकट होकर (वाजेषु) ज्ञानों और पथर्यों में आप (युजम्) योग करन हार इस साधक का (च दय) प्रेरित करा ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ २ १ २
[८०५] उपा शाणा अभि क्रनिक्रदद्वा नदयन्नपि पृथिवीमुत द्याम् ।
१ २ २ ३ २ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १
इन्द्रस्य वग्नुरा शृणव आजौ प्रक्रोदयन्नर्यासि वाचमेमाम् ॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[८०६] रसाय्य पयसा पिन्वमान ईरयन्नपि मधुमन्तमशुम् ।
१ २ २ ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २
पवमान सन्तनिमेषि कृण्वन्निन्द्राय सोम परिषिच्यमान ॥
३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[८०७] एषा पवस्व मदिरा मदायोदग्राभस्य नमयन् वधस्नुम् ।
२ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २
पार यर्णे भरमाणा रुशन्त गव्युर्नो अर्ष परि सोम सिक्त
॥ ३ । ११ ॥ ऋ० ९ । ९७ । १३—१५ ॥

भा०—(१) (शोण) गतिमान् सर्वत्र व्यापक (वृषा) सब सुखों की वर्षा करन हारा परमात्मा (क्रनिक्रदद्) शब्द या ज्ञानोपदश करता हुआ या मेघ जिस प्रकार (गा) भूमियों का जलस सींचता है और महावृषभ जिस प्रकार गर्जता हुआ गौओं में वीय सचन करता है और आचार्य जिस प्रकार गम्भीर उपदश स शिष्यों रूप भूमियों का या उनकी चित्त भूमियों का ज्ञान स सींचता है उसी प्रकार (नदयन्) प्रतिध्वनि करता हुआ

८०५—(१) 'न यन्नति' प्रवतयन्नयति इति ऋ० ।
[२] नमयन् वधत्रै' इति ऋ० ।

(पृथिवीम्) पृथिवी (उत द्याम्) और आकाश में सर्वत्र (एषि) व्यापक है (इन्द्रस्य इव) भीतर बैठ २ अपने अन्तरात्मा के समान उसकी (धेनु) वाणी (आजौ) हृदय में (शश्वत्) सुनता हुआ । वह तू (प्रचोदयन्) अन्तःकरणों को प्रेरित करता हुआ, सब आत्माओं को ज्ञानवान् करता हुआ (इमाम् वाचम्) वेदवाणी या स्तुति को (अर्षसि) सर्वत्र प्रकट करता, एवं प्राप्त होता है ।

१. शुन गतौ इत्यस्मादौणादिकः ।

(२) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! (रसाय्य) आनन्द रस से परिपूर्ण, (पयसा) ज्ञान से (पिन्वमान) तृप्त करता हुआ, (मधुमन्त) मधुर, ज्ञान, ब्रह्मविद्या से युक्त (मधुम्) व्यापक आत्मा को तू (एषि) प्राप्त होता है । तू (पवमान) समस्त आत्माओं को पवित्र करता हुआ (इन्दाय) अन्तरात्मा के लिये (परिषिच्यमान) रसके समान सेचन किया जाता हुआ, पुनः २ ध्यान किया गया (सन्तनिं) निरन्तर बुद्धि धारणा को (कृण्वन्) दृढ़ करता हुआ (एषि) हृदय में आ विराज ।

(३) हे (सोम) आनन्दमय ! रसस्वरूप ! (मदिर) हर्ष को जागृत करने हारा (उद् प्रासस्य) सत्य ज्ञान के ग्रहण करने हारे आत्मा के (वधस्नु) विद्युत् द्वारा ताड़ना करने पर वर्षण करने वाले मेघ के समान, प्राणों के वश करने पर धर्ममेघ द्वारा आनन्द रसका वर्षा देनेहारे, चित्त या आत्मा को (नमयन्) अपने अधीन करता हुआ (पवस्व पुत्र) अवश्य प्रकट हो । और (रशनां) कान्ति से सम्पन्न (वर्णं) वरण करने योग्य स्वरूप को (परि भरमाणः) सब ओर से धारण करता हुआ (सिन्व) सर्वत्र व्याप्त या आनन्द से पूर्ण होकर (गव्यु) समस्त इन्द्रियों को प्रेरणा करता हुआ (अर्ष) स्रवित हो, प्रकट हो ।

इति तृतीयः खण्डः ।

[८०८] त्वामिद्धि हवामहे साता वाजस्य कारव. ।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वत ॥ १ ॥
[८०९] स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया महः स्तवानो अद्रिवः ।
गामश्वं रथ्यमिन्द्र सं किर सत्रा वाजं न जिग्युषे॥२॥१२॥
ऋ० ६। ४६ । १–२ ॥

भा०—व्याख्या देखो अवि० सं० [२३४] पृ०१२० ।

(२) हे (चित्र) पूजनीय ! समस्त प्राणियों को ज्ञान और चेतना के देने हारे ! (वज्रहस्त) खड्ग के धारण करने वाले वीर पुरुष के समान ज्ञानमय खड्ग का अज्ञान अन्धकार के नाश के लिये धारण करने हारे ! हे (अद्रिव) अभेद्य, अखण्डनीय बलधारक ! परमात्मन् ! (धृष्णुया) आप सबका धर्षण करने वाले, (महः) महान्, तेज-स्वरूप (स्तवानः) सबकी स्तुतियों के पात्र होकर (जिग्युषे) इन्द्रियों पर विजय करने हारे पुरुष के प्रति (वाजं न) जिस प्रकार ज्ञान ऐश्वर्य आप देते हैं उसी प्रकार (रथ्य) हम रथरूप देह के हितकारी हमें (गाम्) गौ=ज्ञानेन्द्रियों और (अश्वम्) अश्व, कर्मेन्द्रियों को भी (सत्रा) उत्तम रीति से (सं किर) प्रदान करो ।

[८१०] आभि प्र घ सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे ।
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः । सहस्रेणेव शिक्षति ॥१॥
[८११] शतानीकेव प्रजिगाति धृष्णुया हन्ति वृत्राणि दाशुषे ।
गिरश्च प्र रसा अस्य पिन्विरे दत्राणि पुरुभोजसः ॥२॥
॥ १३ ॥ ऋ० ८ । ४६ । १—२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२३५] पृ० १२० ।

(२) (धृष्णुया) अपनी इन्द्रियों पर और चित्त के शत्रु काम, क्रोधादि को वश करने वाला पुरुष या (शतानीक इव) सैकड़ों सेनाओं के पति

विजेगीषु पुरुष के समान (प्रजिगाति उत्तम प्रकार से आगे बढ़ का विजयकर लेता है। हे (दाशुषे) आत्म समर्पण करने हार के लिये (वृत्राणि) उसका घेर लेने वाले पाप विकल्पों को भी वह प्रभु (हन्ति) विनाश करता है। (अस्य) इस (पुरुभोजसः) इन्द्रियों के भोग भोगने हार आत्मा के (दत्राणि) त्याग किये हुए विषय ही (गिरः इव वृष्णि) मेघ से बरसे जलों के समान या पर्वत से झरते झरनों के समान आनन्दों को बहाने वाले आनन्द घन, ज्ञानोपदेशक परमेश्वर से बहते (रसा) आनन्दरस ही उसको (प्र पिन्विरे) अति अधिक तृप्त और पूर्ण करते हैं।

२ ३ १२ १२ ३ १ २
[८१२] त्वामिदा ह्यो नरोऽपीप्यन् वाजन् भूर्णयः।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
स इन्द्र स्तोमवाहस इह श्रुध्युप स्वसरमा गहि ॥१॥
१ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २
[८१३] मरुत्वा सुशिप्रिन् हरिवस्तुभ्यमिन्द्र स्वया भूषन्ति वेधसः।
२ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २
तव श्रवांस्युपमान्युक्थ्य सुतेष्विन्द्र गिर्वणः ॥ २॥ १४॥
ऋ० ८। ९९। १-२॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३०२] पृ० १२४

(२) हे (सुशिप्रिन्) उत्तम ज्ञानसम्पन्न! (हरिव) व्यापनशील शक्तियों से युक्त! हे (गिर्वणः) वाणियों के एकमात्र पात्र! (त्वं) उस तुझ इष्टदेव को हम (ईमहे) प्राप्त होते हैं। हे देव! (वेधसः) विद्वान् मेधावी लोग (त्वया) तुझ से, तेरे उत्तम गुणों से (भूषन्ति) अपने आपको अलंकृत करते हैं। तू स्वयं (मरुत्व) अपने ही में आनन्दस्वरूप होकर रह। हे (उक्थ्य) प्रशंसा के योग्य (श्रवांसि) सब श्रवण करने योग्य श्रुतियां (ते) तेरी ही (उपमानि) ज्ञान देने हारी हैं।

इति चतुर्थ खण्ड।

८१३—'सुशिप्र इति ऋ०।

[८१४] यस्त मदो वरेण्यस्तेन पवस्वान्धसा ।
देवावीर्घशसहा ॥१॥

[८१५] अग्निर्ऋषिरमामवित्र सस्निर्व्राज दिव दिवे ।
गोषातिरश्वसा असि ॥ २ ॥

[८१६] साम्मृष्टो अरुषो भुव सूरस्याभने धेनुभि ।
सीदच्छ्येनो न योनिमा ॥३॥१४॥ ऋ० ९।६१। १९-२१ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४७८] पृ० २३७ ।

(२) हे (साम) सर्वोत्पादक 'सर्वप्रेरक' (त्वम्) तू अमित्रिय) मित्रता या स्नेह से शून्य (वृत्र) हृदय को अज्ञान से घेरने वाले पाप को (जघ्नि) नाश करने वाला है । और (दिवे दिवे) दिनों दिन (वाज) ज्ञान, बल और अन्न, पुष्टि का (सस्नि) देने हारा है । और तू ही (गो सनि अश्व सनि) ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को भी शक्ति देने वाला (असि) है ।

(३) हे (साम) सर्वैश्वर्यवन् ! ज्ञान के दाता ! (सूरस्याभि धनुभि न) सुख से समीप प्राप्त होने वाली, सुशील गौए जिस प्रकार मधुर दुग्ध प्रदान करती हैं उसी प्रकार तू (सूरस्याभि) आचार्य के समीप जाकर सुख से प्राप्त करने योग्य (धनुभि) ब्रह्मास्वाद रस का पान कराने हारी वेद और उपनिषद् की स्तुति वाणियों से (साम्मिश्लो) उत्तम रीति से युक्त होकर (अरुष) अतिशोचक कान्तिसम्पन्न (भुव) होता है और तभी (श्येन न) बाज के समान शीघ्र गतिकारी एवं ज्ञानवान् आत्मा रूप (योनिम्) अपने आश्रय रूप शरणद परमेश्वर में (आसीदन्) विराजमान होता है ।

८१४—(२) 'गोत्रा, उ गदश्वसा' इति ऋ० ।

अथवा—(सुपस्थाभिर्न धेनुभि) सुशील गायों स जिस प्रकार (अरुष) लाल साढ (सभिरल भुव युक्त रह और जिस प्रकार (श्यन न योनिम् आसादत्) बाज़ अपन आश्रय स्थान पर जाता है उसी प्रकार उत्तम रूप स स्थिर रहन वाली रसप्रद इन्द्रियों या वाणियों द्वारा युक्त होकर आत्मा अपन गृह क समान परम आश्रयप्रद शरण, परब्रह्म में मग्न होजाता है ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[८१७] अय पृषा रयिभग सोम पुनानो अर्षति ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ २
पतिर्विश्वस्य भूमना व्यख्यद्रोदसी उभे ॥१॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[८१८] सम् प्रिया अनूषत गाव मदाय घृष्वय ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
सोमास कृण्वते पथ पवमानास इन्दव ॥२॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[८१९] य आजिघ्रत्कलशमा भर पवमान प्रजावतम् ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
य पञ्च चर्षणीराभ रयिं यन वनामहै ॥ ३ ॥ १६ ॥

ऋ० ९ । १०१ , ७ ९ ।।

भा०—(१) व्याख्या दखा अविकल स० [२४६] पृ० २७४ ।

(२) (प्रिया) मनोहर (गाव) वाणिया या इन्द्रिया (घृष्वय) परस्पर स्पर्द्धा करता हुई या अति तन युक्त होकर (मदाय) आनन्द प्राप्त करन क लिय (सम् अनूषत) आत्मा की स्तुति करता हैं । (पवमान सोमास) हृदय का विमल करन हुए (इन्दव) परमैश्वर्यसम्पन्न साधक (सोमास) शमदम आदि स सम्पन्न होकर मुमुक्षु गण (पथ) मार्ग साधनों का (कृण्वते) करत हैं

(३) ह (पवमान) सबक हृदयों का पवित्र करन हारे परमात्मन् ! (य) जो तू (आजिघ्र) सबस अधिक वह कान्ति और तन स युक्त है वह तू (श्रवायम) श्रवण करन योग्य, श्रुति स ज्ञान करन योग्य

रसरूप है । (तम्) उस परम आनन्द रस को हमें (आभर) प्राप्त कराओ। (य पञ्चचर्षणीः) जो पाचों ज्ञानदृष्टा इन्द्रियों का व्यास करता है, जिस से हम (रयिं) पुष्टि वीर्य या ऐश्वर्य को (वनामहे) प्राप्त किया चाहते हैं वह भी हमें प्राप्त कराओ ।

[८२०] वृषा मतीना पवत विचक्षण सोमो अह्नां प्रतरीतोषसां
दिव । प्राणा सिन्धूना कलशा असिक्षदिन्द्रस्य हार्यो-
विशन्मनीषिभि ॥ १ ॥

[८२१] मनीषिभि पवते पूर्व्यं कविर्नृभिर्यत परिकोशां असि-
ष्यदत् । त्रितस्य नाम जनयन्मधु क्षरन्निन्द्रस्य वायु
सख्याय वर्धयन् ॥२॥

[८२२] अय पुनान उषसो अरोचयदय सिन्धुभ्यो अभवदु लो-
ककृत् । अय त्रि सप्त दुदुहान आशिर सोमो हृदे पवत
चारु मत्सर ॥३॥१७॥ ऋ० ९ । ८६ । २०–२२॥

भा०—(१) (पूर्व्य) सबसे आदि में वर्तमान, अज, (कवि) ज्ञानी मेधावी, आत्मा (मनीषिभि) मन को सन्मार्ग में प्रेरित करने वाले विद्वान् (नृभिः) पुरुषों द्वारा (यत) संयत, नियमित किया गया (पवते) प्रकट होता है और (कोशान्) पाचों कोशों को (परि असिष्यदत्) व्याप लेता है उनपर अपना अधिकार कर लेता है । (त्रितस्य) तीनों स्थानों पर अर्थात् कण्ठ के ऊपर शिर, मध्यभाग और मूल इन तीनों स्थानों पर व्याप्त (इन्द्रस्य) आत्मा के (नाम) स्वरूप का (जनयन्) प्रकट करता हुआ (मधु) ज्ञानस्वरूप अमृत रस को (क्षरन्) चुआता हुआ (वायुम्) प्राणबल का (सख्या) अनुकूल रूप में (वर्धयन्) बढ़ाता है, पुष्ट करता है ।

(३) (अय) यह सोम (पुनानः) परिस्त होता हुआ (उषस) प्रकाशित तेज पटल को (अराचयत्) और अधिक उज्ज्वल कर देता है। (अथ) और यह सोम (सिन्धुभ्य) शरीर के भीतर बहने वाली ज्ञान-धाराओं या नाड़ियों को (उ) भी (लोककृत्) अधिक कान्तिमान् करने वाला (अभवत्) होता है। (अथ सोम) यह सोम ब्रह्मानन्दरस (त्रि-सप्त) २१ प्रकारों से (आशिर) आनन्दरस को (दुदुहान) उत्पन्न करता हुआ (हृदे) हृदय में (मत्सर) आनन्द बहाता हुआ (धारु) उत्तम रूप से (पवत) प्रकट होता है।

[८२३] एवाह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिर ।
एवा ते राध्य मन ।
[८२४] एवा रातिस्तुवीमघ विश्वेभिर्याधि धातृभि ।
अधा चिदिन्द्र न सचा ॥२॥
[८२५] मा पुब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवा वाजाना पते ।
मत्स्वा सुतस्य गोमत ॥३॥१८॥ अ० ६। १८। २८-३०॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [२३२] पृ० ११८

(२) हे (तुवीमघ ') ऐश्वर्यवन् ' (इन्द्र) आ मन् ' (विश्वेभि) समस्त (धातृभि) धारण करने वाले लोग (रातिं) तेरे दिये दान को (एव) ही (धायि, धारण करते हैं। (अध चित्) और हे (इन्द्र) आ मन्' आप (न) हमारे (सचा) सदा सहायक हो।

(३) हे (वाजानां पते ') ज्ञानों, ऐश्वर्यों बलों के स्वामिन् ' आप (ब्रह्मा इव) ब्रह्मा वेदज्ञ विद्वान् के समान सदा सावधान रहते हुए (तन्द्रयु) कभी आलस्ययुक्त निष्क्रिय (मा उ पु भुव) नहीं रहते अपितु (गोमत) इन्द्रियों के सम्पादित ज्ञान से मिश्र (सुतस्य) सोमरस

सुख को (मंस्व) आनन्द लाभ करो । प्राय केवल ज्ञानी लोग अजगरी वृत्ति धारण कर लेते हैं । पर तु ज्ञान बल दोनों से युक्त पुरुष को तो उत्तम कर्म सदा करते रहना उचित है ।

[८२६] इन्द्र त्रिभ्या अधीवृधन्त्समुद्रव्यचस गिर ।
रथीतम रथाना वाजाना सत्पति पतिम् ॥१॥

[८२७] सख्य न इन्द्र वाजिना मा भेम शवसस्पते ।
त्वामभि प्र णोनुमो जेतारमपराजितम् ॥२॥

[८२८] पूर्वीरिन्द्रस्य रातयो न विदस्यन्त्यूतय ।
यदा वाजस्य गोमतस्तोतृभ्यो महते मघम् ॥३॥१६॥

ऋ० १ । ११ । १ ३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३४३] पृ० १७८

(२) हे (शवसस्पत) बलों के स्वामिन् ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्य के देने हार ! (त सख्य) तेरे प्रेम भाव या मित्रभाव में रहते हुए हम (वाजिन) बलशाली, एश्वर्यवान् ज्ञानी होकर (मा भेम) भय न करें (जेतार) सबसे उत्कृष्ट (अपराजित) किसी से पराजित न होने वाले (त्वा) तुझ को (अभि प्र णोनुम) साक्षात् प्रणाम करते हैं ।

(३) (इन्द्रस्य) उस ऐश्वर्य के दाता परमेश्वर के (पूर्वी) सब से आदि काल से चले आये (रातय) दिये दान और (ऊतय) रक्षण (न विदस्यन्ति) कभी नाश को प्राप्त नहीं होती, (यदा) क्योंकि वह (स्तोतृभ्य) सद्गुणों के प्रकाशक विद्वानों का (गोमत) ज्ञान वेदवाणियों से युक्त (वाजस्य) बल या ज्ञान के (मघम्) ऐश्वर्य को भी (महते) प्रदान करता है ।

इति षष्ठ खण्ड ।

इति तृतीयोऽध्याय । इति द्वितीयप्रपाठकस्य मधमोऽर्द्ध ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

द्वितीयेऽर्धे ।

ऋषि —१ जमदग्नि । २ भृगुर्वाणिर्जमदग्निर्वा । ३ कविर्भार्गवः । ४ कश्यपः । ५ मधातिथि काण्व । ६ ७ मधुच्छन्दा वैश्वामित्र । ८ भरद्वाजो बार्हस्पत्य । ९ सप्तर्षय । १० पराशरः । ११ पुरुहन्मा । १२ मधातिथि काण्वः । १३ वसिष्ठ । १४ त्रित । १५ ययातिर्नाहुषः । १६ पवित्र । १७ सौभरि काण्व । १८ गोपूत्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ । १९ तिरश्ची ॥ देवता—३—४, ६, १०, १४—१६ पवमान सोम । ५, १७ अग्नि । ६ मित्रावरुणौ । ७ मरुत इन्द्रश्च । ८ इन्द्राग्नी । ११—१३ १८ १९ इन्द्र ॥ छन्द —१—८, १४ गायत्री । ९ बृहती सतोबृहती विपरीता क्रमण । १० त्रिष्टुप । ११ १३ प्रगाथ १२ बृहती १५ १६ अनुष्टुप । १७ जगती । १७ ककुप् सतोबृहती च क्रमण । १८ उष्णिक ॥ स्वर —१—८ १४ षड्ज । ९ ११—१३ मध्यम । १० धैवत । १५ १९ गान्धार । १६ निषाद । १७, १८ ऋषभ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[८३०] एत असृग्रमिन्दवस्तिरः पवित्रमाशवः ।

१ २ ३ १ २

विघ्नन्तो दुरिता पुरु सुगा तोकाय वाजिनः ॥ १ ॥

३ १ २ ३ २ ३२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[८३१] विघ्नन्तो दुरिता पुरु सुगा तोकाय वाजिनः ।

१ २ ३ २ ३२ १ २

त्मना कृण्वन्तो अर्वते ॥ २ ॥

३ २ ३ १ २ ३ २ २१ ३ २

[८३२] कृण्वन्तो वरिवो गवेऽभ्यर्षन्ति सुष्टुतिम् ।

१ २३ १ २ ३ १ २

इन्दवस्मभ्यं सयतम् ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० ६ । ६२ । १–३ ॥

(१) जिस प्रकार (तिरः) तिरछे रूप से जाते हुए (पवित्र) दशापवित्र नामक वस्त्र खण्ड पर (एत) ये (आशवः) शीघ्र गति करनेहारे

साम ओषधि के रस (विश्वानि) समस्त (सौभगा) सौभाग्यों को (अभि) प्राप्त करने के लिये (असृग्रम्) छोड़े जाते हैं, प्रवाहित किये जाते हैं । उसी प्रकार (आशव) व्यापनशील (इन्दव) आह्लादकारक, आनन्द रस (एत) ये (तिर) सत्स्वरूप, (पवित्र) शुद्ध, मलादि दोषों से रहित चित्त में (विश्वानि सौभगानि अभि) समस्त ऐश्वर्यों के साक्षात् करने के लिये (असृग्रम्) प्रवाहित होते हैं।

इस मन्त्र से समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई ऐसा बहुतसे विद्वानों का मत है । तदनुसार सृष्टि प्रकरण में (आशव) गतिशील (इन्दव) प्रकाशमान पिण्ड (एत) ये सब (विश्वानि सौभगानि अभि) समस्त ऐश्वर्यों को साक्षात् प्रकट करने के लिये (तिर पवित्रम्) सत्स्वरूप, परम ब्रह्मरूप मूलकारण से (असृग्रम्) उत्पन्न होते हैं ।

(२) (वाजिन) ज्ञानवान् साम शम दमादि साधनों से सम्पन्न विद्वान् लोग (पुरु) बहुत से (दुरिता) दुष्ट कर्मों को (विघ्नन्त) नाश करते हुए (रमना) अपने सामर्थ्य से (अवन) प्राणों की (कृण्वन्त) साधना करते हुए (ताकाय) अपने सन्तान के लिये अथवा अपने विविध दुखों के नाश करने के लिये या अगली जन्म परम्परा के सुधार लिये (सुगा) सुखपूर्वक अनुगमन करने योग्य उत्तम मार्ग बनाते हैं ।

(३) और वे ही विद्वान् लोग (गव) ज्ञानस्वरूप ब्रह्म के लिये (सुस्तुतिम्) उत्तम स्तुति (कृण्वन्त) करते हुए (अस्मभ्य) हमारे लिये (धनिव) धन और (इडाम्) उत्तम अन्न और (सपत) उत्तम व्यवस्था (अभि अर्षन्ति) प्रकट करते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २३
[८,३] राजा मेधाभिरीयत पवमानो मनावधि ।
३ १ २ ३ १ २
अन्तरिक्षेण यातवे ॥ १ ॥

[८३४] आ न सोम सहो जुवो रूप न वर्चसे भर।
सुष्वाणो देववीतये ॥ २ ॥

[८३५] आ न इन्दो शतग्विन गवा पोषं स्वश्व्यम्।
वहा भगत्तिमूतये ॥३॥२॥ ऋ० ९। ६२। १६, १८, १७ ॥

भा०—(१) (राजा) प्रकाशमान रूप में (पवमान) प्रकट होता हुआ, आत्मानन्द रस (अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्ष से मेघ के समान अन्त करण से (यातवे) जाने के लिये (मनो अधि) मननशील चित्त के भीतर (मेधाभि) प्रज्ञाओं, कर्मों द्वारा (इंयते) व्याप्त होता है।

(२) हे (सोम) आत्मन् ! तू (देववीतये) विद्वानों के इष्टसिद्धि के लिये (सुष्वाणः) स्वयं उत्पन्न होता हुआ (न) हमें (वर्चसे) दीप्ति कान्तिमान् तेजस्वी होने के लिये (सहः) सहनशीलता (जुवः) वेग और (रूपं) कान्ति (आ भर) प्राप्त करा।

(३) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! आप (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये हमें (शतग्विन) सैकड़ों गौओं और (स्वश्व्य) उत्तम २ घोड़ों से युक्त (पोषं) पुष्टिकारक पदार्थ और (भगत्तिम्) सेवन करने योग्य, उत्तम ऐश्वर्य (आ वह) प्राप्त कराइये।

[८३६] त त्वा नृम्णानि बिभ्रत सधस्थेषु महो दिव।
चारुं सुकृत्यये महे ॥ १ ॥

[८३७] सवृक्तबर्हिषमुक्थ्य महो मीळ्हुष्टम मदम्।
शतं पुरो रुरुक्षणिम् ॥ २ ॥

[८३८] अतस्त्वा रयिरभ्ययद्राजान सुप्रतो दिव।
सुपर्णो अध्वरे भरत् ॥ ३ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २१ ३ १ १
[८३९] अथा हिन्वान इन्द्रियं ज्यायो महित्वमानशे ।
३ १ २२
अभिष्टिकृद्विचर्षणि ॥ ४ ॥
२२ २ ३ १ २ १ २१ ३ १ २
[८४०] विश्वस्मा इत्सुदृशे साधारणं रजस्तुरम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २
गोपामृतस्य विर्भरत् ॥५॥३॥ ऋ० ९ । ४८ । १-५ ।

भा०—(१) हे परमेश्वर ! (नृम्णानि) नाना धनों को (बिभ्रतं) धारण करते हुए (ते) उस (दिवः) द्यौलोक या सूर्य के (सधस्थेषु) समान स्थान, अन्तराकाश में विद्यमान अनन्त लोकों में (चारुं) व्यापक (मद.) महान् (त्वा) तुझको हम (सुकृत्यये) उत्तम पुण्य कर्म करके (ईमहे) प्राप्त होते हैं ।

(२) और पुन (संवृक्तघृष्णुं) आत्मा का धर्षण करने हारे काम क्रोधादि नाना शत्रुओं का मूल काट डालने वाले, (उक्थ्यं) वेदमन्त्रों से स्तुति करने योग्य, (महामहिमतं) बड़े भारी पूजनीय कर्म करने वाले, (शत पुर) सैकड़ों देहों के समान ब्रह्माण्डों के भोक्ता, या सैकड़ों देहधारियों को (रुरुक्षिणं) उच्च लोक-मोक्ष में उठा लेने वाले आपको हम प्राप्त होते हैं ।

(३) (अतः) इसी कारण (त्वा राजानं) तुझ समस्त संसार के प्रकाशक स्वामी के पास हे (सुकर्मो) उत्तम कर्म से सम्पन्न ! (दिवः) सूर्यलोक को भी (रयिं) समस्त धन और ऐश्वर्य (त्वा अभि अयट्) तुझको ही प्राप्त है । तू ही (सुपर्णः) उत्तम ज्ञान और शक्ति से सम्पन्न होकर समस्त संसार को (अव्यथी) बिना व्यथा या पीड़ा अनुभव किये ही (भरत्) पालन पोषण और धारण करता है ।

(४) (अथ) और (विचर्षणि.) सब संसार का द्रष्टा, निरीक्षक (अभिष्टिकृद्) सबको अभीष्ट कर्मफल देने वाला होकर (इन्द्रियं) इन्द्र अर्थात् जीवात्मा से युक्त देहों को प्रेरित करता हुआ (ज्यायः) बहुत

बड़े (महित्व) महान् सामर्थ्य को (आनशे) धारण करता है। अथवा (इन्द्रिय ज्याय महित्वम् आनशे) परमैश्वर्य युक्त, सबसे अधिक बड़े महान् सामर्थ्य का प्राप्त है।

(५) (वि) देह से देहान्तर में गति करने हारा, पक्षि के समान यह जीव आत्मा (विश्वस्मा) सब प्रकार के (इ) ही (रय) सुखों या ज्ञानों का (दृशे) दर्शन करने के लिये (साधारण) समस्त लोकों को समान रूप से धारण करने हारे, (रजस्तुर) समस्त लोकों को गति देने हारे (पतस्य) समस्त जगत् और ज्ञान की (गोपाम्) रक्षा करनेहारे परमात्मा को (भरत्) अपने चित्त में धारण करे।

[८४१] इषं पदन्य धारया सृज्यमानो मनीषिभि ।
इन्दो रुचाभि गा इहि ॥ १ ॥

[८४२] पुनानो वारमक्ष्यूजं जनाय गिर्वणः ।
हरे सृजान आशिरम् ॥ २ ॥

[८४३] पुनानो देवजीतय इन्द्रस्य याहि निष्कृतम् ।
पुनानो वाजिभिर्हित. ॥३॥४॥८० । ६४ । १३-१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकल सं० [५०२] पृ०२२० ।

(२) हे (गिर्वणः) वाणियों के एकमात्र पात्र ! प्रभो ! (आशिरं) इस शीघ्र होम आदि देह को (सृजानः) बनाता हुआ, (पुनानः) स्वतः मलादिक पवित्र बन्धन रहित होकर भी (जनाय) उपयुक्त होने हारे इस मनुष्य के लिये (वारिव) ज्ञानरूप उत्तम धन, और (ऊर्जं) अन्न आदि बल (क्षरसि) उपयुक्त कर और प्रदान कर।

(३) हे परमात्मन् ! (वाजिभिः) विद्वानों द्वारा (हित) समाधि में साक्षात् किया हुआ और धारण किया गया (पुनानः)

(पुनान) सब मलों को शोधता हुआ (देववीतये) दिव्यगुणों के प्राप्त कराने के लिये (इन्द्रस्य) आत्मा के (निष्कृतम्) आवासस्थान हृदय देश में (याहि) आ, विराजमान हो।

इति प्रथमः खण्डः ।

[८४४] अग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा ।
हव्यवाड् जुह्वास्यः ॥ १ ॥

[८४५] यस्त्वामग्न हविष्पतिर्दूतं देव सपर्यति ।
तस्य त्वं प्राविता भव ॥ २ ॥

[८४६] यो अग्निं देववीतये हविष्माँ आविवासति ।
तस्मै पावक मृळय ॥ ३ ॥ ५ ॥ ऋ० १ । १२ । ६, ८, ३ ॥

भा०—(१) जिस प्रकार (अग्निना) अग्नि से (हव्यवाट्) चरु आदि हवि पदार्थों को जलवायु आदि पदार्थों तक पहुंचाने वाला (जुह्वास्यः) जुहू नामक यज्ञ पात्र या ज्वालारूप मुख वाला (अग्निः) आहवनीय अग्नि (समिध्यते) प्रज्वलित किया जाता है। अथवा जिस प्रकार एक अग्नि से दूसरा अग्नि जला लिया जाता है। उसी प्रकार (युवा) तरुण (कविः) विद्वान् मेधावी दूसरे विद्वान् से ज्ञान प्राप्त करता और (गृहपतिः) एक गृहस्थ भी दूसरे गृहस्थ से अपनी सत्ता को पाता है।

(२) हे अग्ने! (यः) जो (हविष्पतिः) सब हव्य पदार्थों का स्वामी जीव (त्वां) तेरा (सपर्यति) भजन करता है, हे देव! (तस्य) उसके आप (प्र अविता) रक्षा करने हार (भव) होइये।

(३) (यः) जो (हविष्मान्) उत्तम अन्नों और पदार्थों का स्वामी (देववीतये) विद्वानों या भौतिक दिव्य गुणों और पदार्थों को प्राप्त करने के

खिय (अग्निं) अग्नि के समान ज्ञानस्वरूप, सर्वप्रकाशक परमात्मा के (आविवासति) उपासना करता है । हे (पावक) सबका पवित्र करनेहारे परमेश्वर ! आप (तस्मै) उसका (मृळय) सुख शान्ति दें ।

३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[८४७] मित्र हुवे पूतदक्ष वरुण च रिशादसम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २
धिय घृताचीं साधन्ता ॥ १ ॥
३ १ २
[८४८] ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा ।
१ २ ३ १ २
ऋतु बृहन्तमाशाथे ॥ २ ॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[८४९] कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया ।
१ २ ३ १ २
दक्ष दधाते अपसम् ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० १ । २ । । ७–९ ॥

भा०—(१) मैं (पूतदक्ष) पवित्र, निष्पाप कर्म करने हारे, पवित्र बल वाले, *मित्र) सबके स्नेही और सबको मृत्यु के भय से बचानेहारे, ब्रह्माण्ड* में वर्त्तमान सूर्य के समान और देह में वर्त्तमान प्राण के समान (रिशादस) शत्रुओं के समान कष्टदायी रोगों का विनाश करने वाले, (वरुणम्) श्रेष्ठ प्राणवायु या भीतरी अपान वायु और उसके समान सब कष्टों के निवारक तेरा (हुवे) रहस्यपूर्ण अध्यात्म पदार्थों के ज्ञान के साथ २ ज्ञान करता हूं । (घृताचीं) जिस प्रकार सूर्य और वायु जल को ऊपर और सर्व देशों में खेंचते हैं उसी प्रकार ये दोनों प्राण और अपान भी शरीर की कान्ति को बढ़ाने वाले घृत या शुक्ररूप रस को सर्वत्र प्राप्त कराने हारी (धियं) क्रिया को (साधन्ता) साधने वाले होते हैं । उसी प्रकार हे परमेश्वर ! मृत्यु से त्राण करने वाला स्नेहमय और दुःखों का निवारक तेरा रुद्र और वरुणरूप दोनों रूप ही । घृताचीं धिय साधन्ता) आनन्दरस को प्राप्त कराने वाली बुद्धि को साधते हैं ।

(२) (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण दोनों (ऋतस्य) गति, ज्ञान और सत्य के बल पर (ऋतावृधौ) जल से बढ़ने हार वायु सूर्य के समान, ऋतरूप ब्रह्म की शक्ति स बढ़ने वाले (ऋतस्पृशा) सत्य के द्रावक सूर्य, वायु क समान (ऋत वृधौ) ज्ञान का सर्वत्र प्रचार करन हारे (बृहन्त) बड़ भारी (मनु) ससार रूप यज्ञ को ब्रह्मादों और पिण्डों को (आशाथ) व्याप्त किय हुए हैं।

(३) (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (कवी) क्रान्तदर्शी सब प्रकार के व्यवहारों का दर्शन करने हारे, (सुविजाता) बहुत स कारणों स प्रसिद्ध, (उरुक्षया) नाना जगत् क पदार्थों में व्यापक (दक्ष) बल और (अपस) क्रिया को (दधाते) धारण करत हैं, स्थापन करते हैं।

[८५०] इन्द्रेण स हि दृक्षसे सजग्मानो अबिभ्युषा।
मन्दू समानवर्चसा ॥ १ ॥

[८५१] आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे।
दधाना नाम यज्ञियम् ॥२॥

[८५२] धीडु चिद्राज्जनुभिर्गुहा चिदिन्द्र यह्वभि ।
अविन्द उस्रिया अनु ॥ ३ ॥ ७ ॥ अ० १ । ६ । ७, ४, ५ ॥

(१) हे प्राण ! तू (अबिभ्युषा) भयरहित (इन्द्रेण) इन्द्रस्वरूप आत्मा के साथ (सजग्मान) गति करता हुआ (स दृक्षसे हि) दिखाई देता है। इस कारण तुम दोनों प्राण और आत्मा (समानवर्चसा) समान कांति वाले होकर (मन्दू) आनन्द के उत्पादक होते हो। जीव और पर आत्मा क पक्ष में, एव सूर्य और वायु के पक्ष में भी स्पष्ट है।

(२) मरुद्गण, इन्द्रियां या दोनों प्राण (स्वधाम् अनु) अपने स्वरूप, या देह को स्वय धारण करन में समर्थ जीवात्मा क साथ (आद्)

बाद में (पुन) फिर (गर्भत्वम्) गर्भरूप स (ऽरिरे) प्रकट होत हैं और (यज्ञिय) जीवनरूप यज्ञ क योग्य (नाम) संज्ञा को (दधाना) धारण करत हैं। आधिदैविक पक्ष में स्वधा=जलके साथ वायुए आकाश में गर्भित होकर यज्ञ के योग्य जल वर्षा करात हैं।

(३) जिस प्रकार सूय का तज गुहा अर्थात् अन्तरिक्ष में किरणों द्वारा पदार्थों तक पहुचता है और उनके भीतर प्रवश करन हारी वायुओं स अन्तरिक्ष में जल का धारण करता है उसी प्रकार हे (इन्द) आत्मन् ! (गुहा चित्) भीतरी गुहा गर्भस्थान में भी (पीदु चित्) अति दृढ स्थान को (आरुजत्नुभि) पीड़ित करत हुए (वह्निभि) वहन करन वाल प्राणों स प्रकट होकर (अनु) पश्चात् (उक्थिया) अपनी किरणस्वरूप इन्द्रियों द्वारा (अनु अविन्द) तू ज्ञय पदार्थों को प्राप्त कर। अथवा हे (इन्द) आत्मन् ! तू गुहारूप हृदय देश में विराजमान होकर भी दह शरीर के भागों को फाड़ कर जीवन का वहन करन वाल इन प्राणों स अपन (उक्थिया) ज्ञानन्द्रियों का प्राप्त करता है।

[८५३] ता हुवे ययोरिदं पप्न विश्व पुराकृतम्।
इन्द्राग्नी न मर्धत ॥१॥

[८५४] उग्रा विघनिता मृध इन्द्राग्नी हवामहे।
ता नो मृडात ईदृशे ॥२॥

[८५५] हथा वृत्राण्यार्या हथो दासानि सत्पती।
हथो विश्वा अप द्विष ॥३॥८॥ ऋ० ६ । ६० । २-४॥

भा०—(१) मैं उन (इन्द्राग्नी) इन्द और अग्नि या परमात्मा आत्मा दोनों को (हुवे) स्तुति करता हूं (यया) जिनके आधार पर

८५३—३. 'हतो ऋ० ।

(इद) यह (विश्वम्) विश्व (पम) व्यवहार योग्य प्रसिद्ध होता है। और (ययो) जिन्हों के आधार पर यह जगत् (पुराकृतम्) प्रथम काल में भी बनाया गया था, जो इसका (न मधत) विनाश नहीं होने देते।

(२) उन (मृध) हिंसक शत्रुओं को (विघनिता) विशेषरूप से आघात करने हार (उग्रा) वेग वाले (इन्द्राग्नी) पूर्व उक्त इन्द्र और अग्नि दोनों का (हवामह) स्वीकार करते, स्तुति करते हैं जिनके आधार पर हम और (ता) वे दोनों (न) हमें (ईदृश) इस प्रकार के जीवन संग्राम में भी (मृडात) सुखी करें।

(३) (आर्या) उत्तम गुण कर्म स्वभाव वाले वे दोनों (वृत्राणि) मेघों के समान आवरक विघ्नों का (हथ) आघात करते, या नाश करते हैं। (सप्तती) और वे दोनों सज्जनों के पालक (दासानि) नाशकारी पदार्थों का (हथ) विनाश करते हैं और (विथा) समस्त (द्विष) शत्रुओं को (अप हथ) दूर मार भगाते हैं।

इति द्वितीय खण्ड।

---

[८५६] अभि सोमास आयव पवन्त मद्य मदम्।
समुद्रस्याधाराष्ट्रप मनीषिणो मत्सरासो मदच्युत ॥१॥
[८५७] तरत्समुद्र पवमान ऊर्मिणा राजा देव ऋत बृहत्।
अर्षा मित्रस्य वरुणस्य धर्मणा प्र हिन्वान ऋत बृहत् ॥२॥
[८५८] नृभिर्यमाणो हर्यतो विचक्षणो राजा देव समुद्रथ ॥३॥
॥६॥ अ० ६। १०७। १४ १३॥

८५६—१ 'मत्सरास स्वर्विद' इति ऋ०।
२ 'अर्षन् मित्रस्य,' प्रहिन्वान' इति ऋ०।
३ 'देव समुद्रिय' इति ऋ०।

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५१८] पृ० २५६ ।

(२) (पवमान) समस्त मलों का शोधन करने हारा (राजा) सूर्य के समान यागी (देव) विद्वान् (ऊर्मिणा) अपनी उच्चगति द्वारा (बृहत्) बड़े (ऋतस्) सत्यज्ञान स्वरूप परिपक्व (समुद्र) समस्त रसों के आश्रय ब्रह्म को (तरत्) प्राप्त हो जाता है । और (मित्रस्य) सबके स्नेहशील प्राणस्वरूप (वरुणस्य) सब पापों के निवारक परमात्मा का (धर्मणा) यम नियम पूर्वक प्राप्त धारक बल से, या सदाचार से । विद्वान्) इस मार्ग में गति करता हुआ स्वयं (बृहत्) बड़े (ऋत) सत्य ज्ञानस्वरूप अनन्त ब्रह्म को (प्र अप) प्राप्त होता है ।

(३) (नृभि) विद्वान् नेता ओं या प्राणों के द्वारा (यमाण) सुव्यवस्थित (राजा देव) प्रकाशस्वरूप यागी आत्मा इन्द्रियगण सबके प्रेमका पात्र (विचक्षण) और सब का साक्षी रूप होकर (समुद्रय) महान् रससागर में आनन्द प्राप्त करने वाला होकर उसी में मग्न हो जाता है ।

[८५९] तिस्रो वाचः ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम् ।
गावो यत्र गोपतिं पृच्छमाना सोमं यन्ति मतयो वाज्यक्षाः ॥२॥

[८६०] सोमं गावो धेनवो वावशाना सोमं विप्रा मतिभिः पृच्छमानाः । सोमः सुतः ऋक्वभिः पूयमानः सोमो अर्काय बृहते सनायन्त ॥२॥

[८६१] पवमानः सोम परिषिच्यमान आपवस्व पूयमानः स्वस्तिः ।
इन्द्रमाविश बृहता मदेन वर्धया वाचं जनयः पुरन्धिम् ॥३॥१०॥ अ० ९ । ९७ । ३४ ३६ ॥

८५९—३ 'बृहता रवेण' इति ऋ० ।

गमन युक्त होकर इस (सुत) अपने उत्पन्न किये पुत्ररूप संसार के प्रति (कदा) कब (आगम) आएँगे, कब कृपादृष्टि और आनन्दवृष्टि करेंगे ?

अथवा भक्त अपने आत्मा के प्रति कहता है—हे (वसो) आत्मन् ! बहुत से ज्ञानी अपने ज्ञानमय हृदय में तुझ ही स्वरसे गाते हैं। जिस प्रकार प्यासा जल के प्रति जाता है उसी प्रकार तू भी उत्कण्ठित होकर, उत्तम मेघवान् वायु के समान मनोहर गति वाला होकर कब हृदय-देश में प्रकट होगा और धर्म मेघ रूप में सुख की वर्षा करेगा ?

(३) हे (मघवन् !) सम्पूर्ण धनों और यज्ञों के स्वामिन् ! हे (विचर्षणे !) समस्त संसार के द्रष्टः ! हे (धृष्णो) सहनशील ! समस्त संसार के भार को वहन करने हारे ! सब कष्टों और दुष्टों को दूर करने हारे ! आप (कण्वेभिः) मेधावी पुरुषों के निमित्त (सहस्रिणम्) सहस्रों ऐश्वर्यों से युक्त (धृषत्) बाधक विरोधियों को पराजित करने वाले (वाजं) बल का (आदर्षि) देते हैं। उस ही (विशद्रूपं) अत्यन्त मनोहर, पीतवर्ण क, सुवर्ण आदि और (गोमन्तम्) गौ आदि पशुओं से युक्त (वाजं) धन की (मघ) निरन्तर हम (ईमहे) याचना करते हैं।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ १ ३ २
[८६७] तरणिरित्सिषति वाजं पुरन्ध्या युजा।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २१ ३ १ २
आ व इन्द्रं पुरुहूत नमे गिरा नेमिं तष्टेव सुद्रवम् ॥१॥
१ २ ३ १ ३ ३ १ २ १२ २१ ३ १ २
[८६८] न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते न स्रेधन्त रयिर्नशत्।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ १२ २१ ३ २
सुशक्तिरिन्मघवन् तुभ्य मावते देष्णं यत्पार्ये दिवि ॥२॥
॥१३॥ अ० ७। ३२। २०-२१॥

(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२३८] पृ० १२१।

८६७—२. 'न दुष्टुती मर्त्यो विन्दते वसु' इति ऋ०।

(२) (द्रविणोदेषु) द्रविण-धन और ज्ञान के दान करने हारे उदार पुरुषों के विषय में (दु.-स्तुतिः) बुरी निन्दा (न शस्यते) नहीं कही जाय और (क्षेधन्तं) दूसरों की हिंसा करने हारे पापी पुरुष को (रयिं) धन प्रजा और पुष्टि (न नशत्) प्राप्त हो । (यत्) जो (पार्यं) पालन करने हारे (दिवि) आकाश या सूर्य में (मावत) मेरे जैसे पुरुष के लिये (देष्णं) दान करने योग्य तेज जल वृष्टि आदि पदार्थ हैं । हे मघवन् ! (तुभ्य इत्) तेरी ही वह (सुशक्ति) उत्तम शक्ति है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

---

[८६९] निष्षो वाच उदीरत गावो मिमन्ति धेनवः ।
हरिरेति कनिक्रदत् ॥ १ ॥

[८७०] अभि ब्रह्मीरनूषत यद्घीक्षृतस्य मातरः ।
मर्जयन्तीर्दिवि शिशुम् ॥ २ ॥

[८७१] राय. समुद्राश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः ।
आपन्वस्व सहस्रिणः ॥ ३ ॥ १४ ॥ ऋ० ९ । ३३ । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४७१] पृ० २३७।

(२) (ब्रह्मीः) ब्रह्म वेद की वाणियें (ऋतस्य मातरः) सत्य का ज्ञान कराने हारी (दिवि) आकाश में सूर्य के समान, परम तेज और दिव्यगुणों में ज्ञान के स्वरूप में (शिशुं) शयन करने वाले, व्यापक परमात्मा को (अभि अनूषत) साक्षात् रूप से स्तुति करती हैं ।

(३) हे (सोम) सबके उत्पादक ! परमेश्वर ! (अस्मभ्यं) हमारे लिये (सहस्रिणः) सहस्रों पदार्थों से सम्पन्न (रायः) धनों से पूर्ण

८६९— २ 'मर्मृज्यन्त' इति ऋ० ।

(चतुर) चारों (समुद्रान्) समुद्रों या उन्नति के साधन रूप या नाना पदार्थों और सुखों के उत्पादक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों को (आ पवस्व) प्राप्त करो ।

३ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[८७२] सुतासो मधुमत्तमा सोमो इन्द्राय मन्दिन ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पवित्रवन्तो अक्षरन् देवान् गच्छन्तु वो मदा ॥ १ ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[८७३] इन्दुरिन्द्राय पवत इति देवासो अब्रुवन् ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
वाचस्पतिर्मखस्यते विश्वस्येशान ओजसः ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २
[८७४] सहस्रधार पवत समुद्रो वाचमीङ्खय ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सामस्पती रयीणां सखेन्द्रस्य दिवेदिवे ॥ ३ ॥ १५ ॥
ऋ० ९ । १०४ । ४–६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२४७] पृ० २६४।

(२) (इन्दु) सोम्य गुणवाला आनन्दस्वरूप साममय ईश्वर (इन्द्राय) इस आत्मा के हित के लिये (पवते) प्रकट होता है। (इति) इस प्रकार (देवासः) विद्वान् लोग (अब्रुवन्) कहते हैं। और वही साम (ओजसः) विशेष बल और प्रभाव के कारण (विश्वस्य) समस्त संसार का (ईशानः) प्रभु और (वाचस्पतिः) वेदवाणियों का स्वामी होकर (मखस्यते) यज्ञों द्वारा पूजा करने योग्य है।

(३) (सहस्रधार) सहस्रों धारण शक्तियों से सम्पन्न, (समुद्र) समस्त रसों का भण्डार या समुद्र के समान महान्, (वाचम् ईङ्खय) समस्त विश्व की वेदमय वाणियों का प्रकट करने हारा, (रयीणां) समस्त जड़ और चेतन पदार्थों और ऐश्वर्यों का (पति) स्वामी और (इन्द्रस्य)

८७२— २ ईशान आजसा इति ऋ० ।

इस आत्मा का (सखा) परम मित्र (सोम.) सबका प्रेरक और उत्पादक परमात्मा (दिवेदिवे) प्रतिदिन (पवते) प्रकट हो ।

[८७५] पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तः स तदाशत ॥ १ ॥

[८७६] तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदेऽर्चन्तो अस्य तन्तवो व्यस्थिरन् । अवन्त्यस्य पवितारमाशवो दिवः पृष्ठमधिरोहन्ति तेजसा ॥ २ ॥

[८७७] अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा मिमाति भुवनेषु वाजयुः ।
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः ॥ ३ ॥ १६ ॥ ऋ० ९ । ८३ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४६५] पृ० २६५।

(२) (तपो·) समस्त संसार को तपाने हारे, सूर्य के समान तेजस्वी परमेश्वर का (पवित्रं) पवित्र करने हारा, परम पावन स्वरूप, (दिवः) समस्त दिव्य तेजोमय प्रदार्थों में (विततं) व्याप्त है । (अस्य) इस परमेश्वर के (अर्चन्त·) गुणों को प्रकट करते हुए (तन्तव.) नाना तन्तु, यज्ञमय सूत्र (व्यस्थिरन्) नाना प्रकारों से विद्यमान हैं । (अस्य) इसके (आशवः) व्यापक और अति वेगवान् सामर्थ्य या शक्तियां (पवितारं) सबके शोधक सूर्य और वायु को (अवन्ति) नष्ट होने से बचाते हैं, और (तेजसा) तेज के रूप में (दिव·) आकाश के (पृष्ठं) सबसे उन्नत भाग में भी (अधिरोहन्ति) पहुचे हुए हैं ।

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [४६६] पृ० ३०० ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

[८७८] प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहतः शुक्रशोचिषे।
उपस्तुतासो अग्नये ॥ १ ॥

[८७९] आ वंसते मघवा वीरवद्यशः समिद्धो द्युम्न्याहुतः।
कुवित्नो अस्य सुमतिर्भवीयस्यच्छ वाजेभिरागमत् ॥२॥१७॥
ऋ० ८। १७३। ८, ९ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१०७] पृ०२७।

(२) (मघवा) ऐश्वर्यवान् (समिद्धः) प्रकाशमान, (द्युम्नी) यशस्वी, कान्तियुक्त, (आहुतः) विद्वानों से पुकारा गया परमात्मा (वीरवद्) सामर्थ्य से पूर्ण पुत्रों मृत्य मित्र आदि से युक्त (यशः) अन्न और तेज (आ वंसते) प्रदान करता है। (अस्य भवीयसी) सबसे अधिक शक्तिशाली (सुमतिः) उत्तम मनन या सङ्कल्प शक्ति (नः) हमें (वाजेभिः) नाना बलों ऐश्वर्यों और ज्ञानों सहित (कुवित्) बहुधा (आगमत्) आवे, प्राप्त हो।

[८८०] न ते मद गूर्णीमसि वृषण पृक्षु सासहिम्।
उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम् ॥ १ ॥

[८८१] येन ज्योतीष्यायवे मनवे च विवेदिथ।
मन्दानो अस्य बर्हिषो निराजसि ॥ २ ॥

[८८२] तदद्या चित्त उक्थिनोऽनुष्टुवन्ति पूर्वथा।
वृषपत्नीरपो जया दिवेदिवे ॥३॥ १८ ॥ ऋ० ८।१२ ४-६॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [३८३] पृ०१२८।

(२) (येन) जिस सामर्थ्य से हे (इन्द) परमेश्वर! आप (आयवे) जीवन के साधक, प्राणायाम के अभ्यासी और (मनवे) मननशील पुरुष

के प्रति अपनी (ज्योतींषि) ज्ञानदीप्तियों को (विवेदिथ) प्राप्त कराते हो, प्रकाशित करते हो, उस ही सामर्थ्य से (मन्दानः) आनन्दपूर्ण होकर (अस्य इस (बर्हिषः) महान् ब्रह्माण्डरूप यज्ञ के आश्रय बन कर (विराजसि) विराजते हो ।

(३) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (उक्थिनः) ज्ञानी लोग (अद्य चित्) आज तक भी (पूर्वथा) पहले के समान ही (ते) तेरी (अनुष्टुवन्ति) निरन्तर स्तुति करते हैं । तू (वृषपत्नीः) भीतरी आनन्दरस वर्षण करने हारे इन्द्र के सामर्थ्यों का पालन करने हारी (अपः) शक्तियों और बुद्धियों को (दिवेदिवे) प्रतिदिन नित्य (जय) विजय कर उन पर वश कर ।

[८८३] श्रुधी हव तिरश्च्या इन्द्र यस्त्वा सपर्यति ।
सुवीर्यस्य गोमतो रायस्पूर्धि महाँ असि ॥ १ ॥

[८८४] यस्त इन्द्र नवीयसीं गिरं मन्द्रामजीजनत् ।
चिकित्विन्मनसं धियं प्रत्नामृतस्य पिप्युषीम् ॥ २ ॥

[८८५] तमु ष्टवाम य गिर इन्द्रमुक्थ्यानि वावृधुः ।
पुरूणयस्य पौंस्या सिषासन्ता वनामहे ॥३॥१६॥

ऋ० ८ । ६५ । ४–६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३४६] पृ० १७६ ।

(२) हे इन्द्र ! (यः) जो (ते) तेरे लिये (नवीयसीम्) अति सुन्दर, अति स्तुति करने हारी (मन्द्रा) गम्भीर (गिरं) वाणी को (अजीजनत्) प्रकट करता है उस ज्ञानी, मननशील पुरुष को तू (ऋतस्य) सत्यज्ञान के (पिप्युषीम्) पुष्ट करनेहारी (प्रत्नां) अति प्राचीन (चिकित्वन्मनसं) ज्ञानशील मन से संयुक्त (धियं) बुद्धि या धारणा शक्ति को प्रदान करता है ।

(३) (तं) उस (इन्द) ऐश्वर्यशील परमात्मा को (उ) ही हम नित्य (स्तवाम) स्तुति करें (यं) जिसकी (उक्थानि) वेदमन्त्र (वावृधुः) सदा महिमा बढ़ाते हैं। हम अल्पशक्ति जीव (अस्य) उस परमात्मा के (पुरुणि) नाना प्रकार के (पौंस्या) बल से किये जाने वाले विश्वसर्जन, धारण और प्रलय आदि पौरुष कर्मों को, या बलयुक्त नाना ऐश्वर्यों को (सिषासन्तः) नाना प्रकार से उपयोग और सेवन करते हुए (वनामहे) उसकी स्तुति या भजन करते हैं।

इति षष्ठः खण्डः।

इति चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः।

इति द्वितीयः प्रपाठक समाप्तः।

अथ पञ्चमोऽध्यायः।

अथ तृतीयः प्रपाठकः (प्रथमोऽर्धः)।

ऋषि—१ आकृष्टभागाः। २ वसिष्ठः। ३ मेध्यातिथिः। ४, १२ बृहन्मतिः। ५ भृग्वाद्यङ्गिरोजमदग्नयः। ६ सुतम्भर आत्रेयः। ७ गृत्समदः। ८, २१ गोतमो राहूगणः। ९, १३ वसिष्ठः। १० श्रुतकक्ष आङ्गिरसः। ११ सप्तर्षयः। १४ रेभः काश्यपः। १५ पुरुहन्मा। १६ असितः काश्यपो देवलो वा। १७ शक्तिर्वरश्च क्रमेण। १८ अग्निः। १९ प्रतर्दनो दैवोदासिः। २० प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको वाहेस्पत्यः, अग्नयो गृहपतिर्वसिष्ठो सहस इतौ तयोर्वान्यतरः॥ देवता—१—५, १०—१२, १६—१९ पवमान सोमः। ६, २० अग्निः। ७ मित्रावरुणौ। ८, १३—१५, २१ इन्द्रः। ९ इन्द्राग्नी॥ छन्दः—१, ६ अग्नी। २—५, ७—१०, १२, १६, २० गायत्री। ११ बृहती सतोबृहती च क्रमेण। १३ विराट्। १४ अतिजगती। १५ प्रागाथ। १७ वङ्कुप् च सतोबृहती

स त्रमेण । १८ उष्णिक् । १६ त्रिष्टुप । २१ अनुष्टुप् ॥ स्वर —१ ६, १४ निषाद । २—५, ७—१०, १२ १६, २० षडज । ११, १३, १५, १७ मध्यम । १८ ऋषभ । १६ धैवत । २१ गान्धार ॥

[८८६] प्र त आश्विनी पवमान धेनवो दिव्या असृग्रन् पयसा
धरीमणि । प्रान्तरिक्षात् स्थाविरीस्ते असृक्षत ये त्वा
मृजन्त्यद्रिषाणु वेधस ॥ १ ॥

[८८७] उभयतः पवमानस्य रश्मयो ध्रुवस्य सतः परियन्ति
केतवः । यदी पवित्र अधिमृज्यते हरिः सत्ता नि योनौ
कलशेषु सीदति ॥ २ ॥

[८८७] रायश्चा यामानि विश्वचक्ष ऋभ्वस प्रभाष्टे सतः परियन्ति
केतवः । व्यानशी पवस सोम धर्मणा पतिर्विश्वस्य भुव
नस्य राजसि ॥३॥१॥ ऋ० ९ । ९६ । ४ ६, ५, ॥

भा०—(१) हे (पवमान) परमपावन व्यापक परमात्मन् [1] (ते) तेरी (आश्विनी) सर्वत्र व्यापक, (दिव्या) दिव्यगुणयुक्त, (स्थाविरी) निरन्तर स्थिर रहने वाली, (धेनव) सबका आनन्दरस का पान कराकर तृप्त करने वाली शक्तियां (पयसा) ज्ञान और बल और आनन्दरस एव जल के द्वारा (धरीमणि) धारण करने हार आत्मा या अन्तरिक्ष में (प्र असृग्रन्) उत्तमरूप से प्रकट होता हैं । हे (ऋषिषाण) ऋषियों, मन्त्रद्रष्टा ज्ञानी पुरुषों द्वारा भजन करने योग्य आत्मन् परमात्मन् [1] (ये) जो (वेधस) विद्वान् पुरुष (त्वा मृजन्ति) तेरे शुद्ध रूप को साक्षात्

(१) 'पवमान धीजूतो', प्रान्तरक्षस्थ स्थाविरीरसृक्षत' इति ऋ० ।
२ 'व्यानशि' 'धर्मभि' इति ऋ० ।

करते हैं (ते) वे (स्थाविरी) स्थिर कूटस्थ धारारूप धारणाओं को (अन्तरिक्षात्) अपने अन्त करण रूप भीतरी साक्षात् करने वाले साधन मन या अन्त करण से (प्र असृक्षत) तेरा ज्ञान सम्पादन करते, तेरी साधना करते हैं, निदिध्यासन करते हैं । आत्मपक्ष में—ऋषि= इन्द्रियगण ।

(२) (पवमानस्य) समस्त ससार में व्यापक, सब को गति देने हारे, परमेश्वर के (कतव) ज्ञान कराने वाले (रश्मय) किरण (ध्रुवस्य सत) सत्स्वरूप उस कूटस्थ ब्रह्म के (उभयत) जड़ और जगम दोनों प्रकार के ससार के प्रति (परियन्ति) व्याप्त होरहे हैं । (यद्ई) जब भी (हरि) *समस्त ससार को गति देने और समस्त दुखों को हरने हारा ईश्वर* (पवित्रे) पवित्र अन्त करण में (अधिमृज्यते) विवेक द्वारा साक्षात् किया जाता है तब (सत्ता[1]) हृदयों में सत्यस्वरूप होकर विराजमान वह (कलशेषु) सब शरीरों में भी विद्यमान (यानौ) उनके मूल आश्रय, अन्तरात्मा में घुसकर (सीदति] विराजमान है ।

(३) हे (विश्वचक्ष) *समस्त ससार का देखने वाले परमात्मन्* ! (सोम) सबके उत्पादक ! (सत) सत्यस्वरूप, महान् (प्रभा) सर्व शक्तिमान्, (त) आपके (कतव) सूर्य के किरणों के समान महिमा को जतलाने वाले चिह्न और ज्ञापक शक्तियां (विश्वा) समस्त (धामानि) लोकों में (परि यन्ति) फैली हुई हैं । और आप (व्यानशी) सर्वव्यापक (विश्वस्य भुवनस्य पति) समस्त संसार के स्वामी (धर्मणा) अपने धारण करने हारे बल से (विराजसि) सबसे ऊपर विराजमान है ।

१ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ २
[८८६] पवमानो अजीजनद्दिवश्चित्र न तन्यतुम् ।
१ २ ३ २ ३ २
ज्योतिर्वैश्वानर बृहत् ॥१॥

[८६०] पवमान रसस्तव मदो राजन्नदुच्छुनः ।
वि वारमव्यमर्षति ॥२॥

[८६१] पवमानस्य ते रसो दक्षो विराजति द्युमान् ।
ज्योतिर्विश्वं स्वर्दृशे ॥३॥२॥ ऋ० ९ । ६१ । १६ ।-१८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४८४] पृ० २४२ ।

(२) हे [पवमान] सर्व व्यापक ! परमपावन परमेश्वर ! (तव) तेरा (रसः) रस, आनन्दमय (मदः) हर्ष कारक (अदुच्छुनः) दुष्ट कुत्ते के समान भोग तृष्णावाली इन्द्रियों के स्पर्श से दूर, अथवा पागल कुत्ते के समान दुःखदायी काम, क्रोधआदि भीतरी शत्रुओं से रहित होकर (अव्यं) आत्मा के (वारं) वरण करने योग्य स्वरूप को (वि अर्षति) व्याप लेता है ।

(३) (पवमानस्य) अन्तःकरण को पवित्र करने हारे, या प्रकाशित करने हारे (ते) तेरा (रसः) आनन्दरस (दक्ष) ज्ञान और बल रूप (द्युमान्) कान्तिमय होकर (विराजति) विशेष रूप से चमकता है । और वह (ज्योतिः) ज्योति स्वरूप (विश्वम्) समस्त (स्वः) सुखों को (दृशे) प्रकाशित कर दर्शाने हारा है ।

[८६२] प्र यद् गावो न भूर्णयस्त्वेषा अयासो अक्रमुः ।
घ्नन्तः कृष्णामप त्वचम् ॥१॥

[८६३] सुवितस्य मनामहेऽति सेतुं दुरास्यम् ।
साह्याम दस्युमव्रतम् ॥२॥

[८६४] शृण्वे वृष्टेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः ।
चरन्ति विद्युतो दिवि ॥३॥

---

२. 'पवमानस्य ते रसो' ३. 'पवमानरसस्तव' इति पादयोर्व्यत्ययः, ऋ० ।

[८१५] आ पवस्व मदिंमिप गोमदि दो हिरण्यवत् ।
अश्ववत्सोम वीरवत् ॥४॥

[८१६] पवस्व विश्वचर्षण आ महीं रोदसी पृण ।
उषा सूर्यो न रश्मिभि ॥ ५ ॥

[८१७] परि न शर्मयन्त्या धारया सोम विश्वत ।
सरा रसेन विष्पम् ॥६॥३॥ ऋ० ९ । ४१ । १-६॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४११] पृ० २४५ ।

(२) (सुवितस्य) सब संसार को उत्तम रूप से शासन करने हारे, सबके प्रेरक परमात्मा की (मनामहे) हम शरण में जाते और ध्यान करते हैं जिससे (सनुम् अति) मर्यादा और सामाजिक बन्धन व्यवस्था को तोड़ने हारे (दुराध्यम्) कष्टसाध्य, बड़ा दुर्दान्त (अव्रतम्) कर्तव्य कर्मों से गिरे हुए निकम्मे (दस्युम्) प्रजा के विनाशक डाकू आदि अपराधी, या आत्मा के नाशक काम क्रोध आदि को (सासह्याम) हम विजय करें ।

(३) जैसे (दिवि) आकाश में (विद्युत) बिजुलियां (चरन्ति) गति करती हैं उसी प्रकार जब आत्मा की या ब्रह्मानन्दरस की (विद्युत) विशेष कान्तियां दीप्तियां, (दिवि) समस्त संसार में या मूर्धारूप ब्रह्मरन्ध्र में (चरन्ति) वेग से गति करती हैं तब (शुष्मिण) अति बलवान् (पवमानस्य) अन्तःकरण को पवित्र करने हारे और आनन्द को वर्षण करने हारे ब्रह्म का (स्वन) घोष (वृष्ण) मेघ के समान (शृण्वे) सुनता हूं । धर्ममेघ समाधि के अवसर में अनाहत आत्मरूप पर्जन्य ध्वनि का यह वर्णन है ।

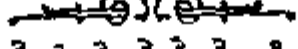
८१५—'मनामहे' 'दुराध्य' 'साहासो' 'अश्वन् वाजवत्सुत' इति ऋ० ।
८१६—'स पवस्व विचर्षण इति ऋ० ।

(४) हे (सोम !) परमात्मन् ! (इ द्रा) ऐश्वर्य के स्वामिन् ! आप हमें (गोमत्) गौओं वाणियों और इन्द्रियों से सम्पन्न (अश्ववत्) घोड़ों और प्राणों और वेगवान् साधनों से युक्त (वीरवत्) पुत्रादि वीर पुरुषों स युक्त, (इष) अन्न, प्रबल इच्छा शक्ति और शासन आदि ऐश्वर्य का और (महीम्) बड़ी प्रसिद्धि का (आ पवस्व) प्राप्त कराओ।

(५) हे (विश्वचर्षण) समस्त ससार का देखने हारे परमात्मन् ! (रश्मिभि.) किरणों से (सूर्य न) जिस प्रकार सूर्य (उषा) उषा के समयों में (मही रोदसी) बड़ भारी आकाश और पृथिवी दोनों का पूर्ण करता है उसी प्रकार आप भी उनका पूर्ण करत और पालन करत हो। आप हमारे प्रति (पवस्व) अपनी कृपा दर्शाइये।

(६) हे सोम ! (रसा इव) जिस प्रकार जल से पूर्ण नदी (विष्टपम्) मैदान में बहती है, उसी प्रकार आप भी (शर्मण्यया) सुख देने हारी (धारया) अपनी धारण समर्थ शक्ति या आनन्दरस की धारा से (विश्वत) सब ओर से (न) हमारे प्रति (परि सर) प्राप्त होइये।

इति प्रथम खण्ड ।



[८९८] आशुरर्षं बृहन्मते परि प्रियेण धाम्ना ।
यत्र देवा इति ब्रुवन् ॥१॥

[८९९] परिष्कृण्वन्ननिष्कृतं जनाय यातयन्निष ।
वृष्टिं दिव परिस्रव ॥२॥

[९००] अय स यो दिवस्परि रघुयामा पवित्र आ ।
सिन्धोरूर्मा व्यक्षरत् ॥३॥

[९०१] सुत पवित्र आ त्विषिं दधान ओजसा ।
विचक्षाणो विरोचयन् ॥४॥

[१०२] आविशस्पत् परावतो यथा अर्वावत सुत ।
इन्द्राय सिच्यते मधु ॥५॥
[१०३] समीचीना अनूषत हरिं हिन्वन्त्यद्रिभि ।
इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥६॥४॥ ऋ० ९ । ३९ । १-६ ॥

भा०—(१ हे (बृहन्मते) महान् ज्ञानसम्पन्न परमात्मन् ! आप (आशु) सर्वत्र व्यापक होकर (प्रियम्) अतिमनोहर श्रेष्ठ (धाम्ना) धारणशील तेज से (परि अर्ष) व्याप्त हो रहे हैं । (यत्र देवा) जहां २ विद्वान्गण, या दिव्यगुण से युक्त पृथ्वी जल वायु आदि पदार्थ हैं वहां ही आप भी व्यापक हैं व आप से भिन्न कोई नहीं रहते । (इति) इस प्रकार आप (ब्रुवन्) उपदेश करते हैं ।

(२) हे (सोम) परमात्मन् ! (प्र निष्कृतम्) संस्कार या परिष्कार रहित स्थान, गर्भाशय, या भूमि का (जनाय) जन्तुओं के उत्पत्ति के लिये (परिष्कृण्वन्) संस्कृत स्वच्छ परिष्कृत करते हुए (इष) मनोकामनाओं, पुष्टिकारक पदार्थों वा ओषधियों और अन्नों का (यातयन्) वहां स्वयं उत्पन्न करते हुए आप (दिव) सूर्यलोक आकाश या पुरुष दोनों पक्षों से (वृष्टिं) जलवर्षण बीजवपन आदि क्रिया के कार्य का (परिस्रव) करवाते हैं । समष्टि और व्यष्टि रूप से सृष्टि की उत्पत्ति समान रूप से वर्णित है ।

(३) (य) जो सोम (दिव परि) सूर्य में (रघुयामा) हलका सूक्ष्म रूप हो कर विचरता है (स) वह (पवित्र) मलादि दोष रहित (सिन्धो) स्रवण करने हारे जल के (ऊर्मौ) संघात रूप में (वि अक्षरत्) नाना प्रकार से चरित होता है ।

(४) (सुत) संसार का प्रेरक वह साम सर्वोत्पादक (ओजसा) अपने सामर्थ्य से (पवित्र) स्वच्छ मलरहित पदार्थों में (रिविषिम्) कान्ति को

(दधानः) धारण करता हुआ (वि रोचयन्) नाना पदार्थों को प्रकाशित करता और (विचक्षणः) समस्त पदार्थों का देखता और दिखाता हुआ अति (आएति) सर्वत्र व्यापक है ।

(५) (सुतः) वह सबका प्रेरक, सर्वोत्पादक (परावतः) दूर के (अथो) और (अर्वावतः) समीप के लोकों का (आविवासत्) प्रकाशित करता है । (इन्द्राय) ऐश्वर्यशील सृष्टि या आत्मा के जन्म के निमित्त (मधु) आनन्दकारी मधुर ज्ञानरूप से (सिच्यत) सेचन किया जाता है ।

(६) (समीचीनाः) उत्तम उद्देश्य से एकत्र हुए विद्वान लोग (हरिं) सर्वव्यापक परमात्मा को (अद्रिभिः) दृढ़ साधनों द्वारा (हिन्वन्ति) साक्षात् करते हैं, और (इन्द्राय) अपने आत्मा के (पीतये) ज्ञान और आनन्दरस के पान कराने के लिये (इन्दुम्) हृदय में कान्ति रूप से द्रवित होने वाले आनन्दरस की (अनूषत) स्तुति करते हैं ।

[१०४] हिन्वन्ति सूरमुस्रयः स्वसारं जामयस्पतिम् ।
महामिन्दुं महीयुवः ॥ १ ॥

[१०५] पवमान रुचारुचा देव देवेभ्यः सुतः ।
विश्वा वसून्याविश ॥ २ ॥

[१०६] आ पवमान सुष्टुतिं वृष्टिं देवेभ्यो दुवः ।
इषे पवस्व संयतम् ॥ ३ ॥ ५ ॥ ऋ० ९ । ६५ । १-३ ॥

(१) (उस्रियाः) गतिशील, (स्वसारः) स्वयं सरण या गमन करने वाली (जामयः) भार्याओं या भगिनियों के समान य इन्द्रियों या प्रजागण (महीयुवः) महत्व की आकांक्षा करती हुई (महां) पूजनीय, (इन्दुं)

१०४—(२) 'देव देवेभ्यस्परि' इति ऋ० ।

आह्लादक उस आनन्दमय (सूर) प्रेरक और उत्पादक (पतिं) पति के समान पालक को (हिन्वन्ति) स्तुति करती और प्राप्त होता हैं ।

(२) हे (पवमान) सर्वव्यापक, परमपावन परमात्मन् ! (देवेभ्य) विद्वानों के निमित्त (सुत) प्रकट होकर आप (विश्वा) समस्त (वसूनि) आवास-योग्य लोकों में (आविश) व्यापक हैं ।

(३) हे (पवमान) परमपावन, सर्वव्यापक ! (देवेभ्य) दिव्य-गुण सम्पन्न विद्वानों की (दुव) प्रार्थनोपासना और कामनाओं को पूर्ण करने के लिये (सुस्तुतिं) उत्तम प्रशंसा योग्य स्तुतिरूप वेदवाणी और (इष) अन्नादि पदार्थों के लिये (वृष्टिं) आनन्दरस की वृष्टि को (धन्वन्) नियमपूर्वक (पवस्व) प्रदान कीजिये । अर्थात्-हे परमेश्वर ! विद्वान् पुरुषों के सुख के लिये अन्नों के लिये, नियमपूर्वक वृष्टि और भजन और उपासना के लिये उत्तम स्तुति रूप वेदवाणी प्रदान करें ।

इति द्वितीय खण्ड ।

[१०७] जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविरग्नि सुदक्ष सुविताय नव्यसे । घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्विभाति भरतेभ्य शुचि ॥ १ ॥

[१०८] त्वामग्न अङ्गिरसो गुहाहितमन्वविन्दच्छिश्रियाण वन वन । स जायस मन्यमान सहो महत्त्वामाहुः सहस स्पुत्रमङ्गिर ॥ २ ॥

[१०९] यज्ञस्य केतु प्रथम पुरोहितमग्नि नरस्त्रिषधस्थ समिन्धते । इन्द्रेण देवैः सरथं स बर्हिषि सोदन्नि होता यजथाय सुक्रतु ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ५ । ११ । १ ६, २ ॥

१०९— समाप्तिः इति ऋ० ।

भा०—(१) (जनस्य गोपाः) समस्त जनों और जन्तुओं का रक्षक, (जागृविः) सदा जागरणशील, कभी आलस्य न करने वाला (सुदक्ष०) उत्तम बल से सम्पन्न, (घृतप्रतीकः) घृत, दीप्ति विशेष, ओजस्विता से सर्वत्र पहिचानने योग्य, (शुचि) शुद्ध, स्वच्छ अन्तःकरण वाला, निष्कपट (अग्निः) सबको आगे ले चलने वाला, आचार्यस्वरूप, अग्नि के समान तेजस्वी नायक, परम पुरुष, सबके (नव्यसे) नये २ अपूर्व (सुविताय) कल्याण के लिये (अजनिष्ट) प्रकट होता है। और वही (बृहन्ना) बड़े भारी (दिविस्पृशा) आकाश तक को स्पर्श करने वाले सूर्य समान तेज से (भरतेभ्यः) भरण पोषण करने हारे विद्वान् पुरुषों के लिये (द्युमत्) ज्ञानमय प्रकाशस्वरूप होकर (विभाति) विशेष रूप से शोभा देता है। अग्नि और सूर्य के दृष्टान्त से विद्वान् और ईश्वर का वर्णन किया गया है।

(२) हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! (वन वने) जिस प्रकार जंगल २ में, या काष्ठ२में अग्नि गुप्तरूप से रहती है उसी प्रकार जड़, जीव में (शिश्रियाण) व्यापक (गुहाहितं) हृदय में छुपे हुए (त्वां) तुझको (अंगिरसः) ज्ञानी लोग प्रत्येक पदार्थ में (अनु अविन्दन्) खोज करते और प्राप्त करते हैं। (सः) वह आप (सहः) सर्वशक्तिमान् (मथ्यमानः) हृदयदेश में पुनः प्रत्याहरण या मनन करने योग्य, (महत्) महान् हैं। हे (अंगिरः) ज्ञानस्वरूप! (त्वा) आपको (सहसस्पुत्र) योगशक्ति, या योगबल से पुरुष को पापों से रक्षा करने हारा (आहुः) कहते हैं। आत्मा, विद्वान्, परमात्मा और अग्नि चारों पक्षों में स्पष्ट है।

(३) (नरः) विद्वान् लोग (यज्ञस्य) देवपूजा एवं संगति आदि धर्मकार्य के (केतुं) बतलाने वाले, (प्रथमं पुरोहितं) सब से प्रथम, साक्षीरूप से स्थित परमेश्वर को (त्रि-सधस्थे) तीन प्राणों के एकत्र होने के प्रदेश त्रिपुटी में (समिन्धते) प्रज्वलित करते हैं। (सः) वह (अदितिं) दृढ़ जीवन यज्ञसे सम्पन्न, बराबर वृद्धि को प्राप्त, ज्ञान और जीवन रूप

यज्ञ में (इन्देव) इस आत्मा और (देवै.) इन्द्रियों के साथ (होता) सबको अपनी ओर बुलाने हारा, सब सुखों का दाता (सुक्रतु) उत्तम प्रज्ञान और कर्म करने हारा, सबका रचयिता परमात्मा (यजथाय) यज्ञ सम्पादन या आनन्द प्रदान करने के लिये (सख्यं) समान रूप से रमण करने योग्य हृदय दशा में (नि सीदन्) विराजमान होता है । आधिदैविक पक्ष में–इन्द्र=महान् विद्युत् और देव=अन्य पंचभूत और बर्हि=अन्तरिक्ष, यजथ=ब्रह्माण्ड रूप यज्ञ ।

[१०] ३ १ २ ३ १२ २१
अथ वां मित्रावरुणा सुत. सोम ऋतावृधा ।
२३ १ १ २ ३ १ २
ममदिह श्रुत हवम् ॥ १ ॥

[११] १ २ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ २
राजानावनभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे ।
३ १ २
सहस्रस्थूण आशाते ॥ २ ॥

[१२] २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २१३ १ २
ता सम्राजा घृतासुती आदित्या दानुनस्पती ।
१ २ ३ १ २
सचेते अनवह्वरम् ॥ ३ ॥ ७ ॥ ऋ० २ । ४१ । ४-६ ॥

भा०—(१) हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण, प्राण और उदान के समान अध्यापक और शिष्य ! (ऋतावृधौ) सत्य ज्ञान और जीवन को बढ़ाने वाले (वां) आप दोनों के लिये (अयं) यह (सोम.) ओषधियों का रस, या जीवन का रस, या ज्ञान (सुत) तय्यार है । (मम इत्) मेरा ही (इह) आह्वान, आदेश (श्रुतम्) आप लोग श्रवण करो ।

जिस प्रकार प्राण और उदान सब रस ग्रहण करके जीवन को बढ़ाते हैं, उसी प्रकार सत्यज्ञान के वर्धक अध्यापक और शिष्य भी ज्ञान का रस लेते हैं । उनके प्रति सब लोग अपना प्रेम प्रकट करें ।

(२) हे मित्र और वरुण ! प्राण और अपान आप दोनों (राजानौ) इस शरीर के राजा, (अनभिद्रुहौ) परस्पर द्रोह न करने हारे (उत्तमे)

उत्कृष्ट (ध्रुवे) नित्य (सहस्रस्थूणे) सहस्रों स्तम्भों के समान साधकों के आश्रय विराजमान (सदसि) भवनरूप, सत्यस्वरूप, सर्वाश्रय आत्मा में (आशाते) उपविष्ट हों। प्राण और उदान अध्यापक शिष्य, राजा, राजमन्त्री और ब्रह्म, जीव तथा जीव और मन सबका वर्णन भी समान है।

(३) (तौ) वे दोनों (घृतासुती) प्रदीप्त तेज को उत्पन्न करने हारे, (आदित्या) आदित्य के समान प्रकाशमान, अखण्डित, (दानुनः पती) धनों के स्वामी (सम्राजा) सम्राट् के समान तेजस्वी मित्र और वरुण, प्राण और उदान (अनवह्वरं) सरल, कपटादि रहित होकर (सचेते) परस्पर मिलकर कार्य करते हैं।

[११३] इन्द्रो दधी॒चो अस्थभि॑र्वृ॒त्राण्यप्रतिष्कुतः ।
जघान नवतीर्नव ॥ १ ॥

[११४] इच्छन्नश्वस्य यच्छिरः पर्वते॒ष्वप॑श्रितम् ।
तद्विदच्छर्य॑णावति ॥ २ ॥

[११५] अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपी॑च्यम् ।
इत्था चन्द्रम॑सो गृ॒हे ॥३॥८॥अ० १ । ८४ । १३-१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१७६] पृ० ६७० ।

(२) (पर्वतेषु) पोरुओं वाले मेरुदण्ड के मोहरों में (अपश्रितं) स्थित (अश्वस्य) शरीर में व्यापक, आत्मा का यत् जो (शिरः) मुख्य अंग है उसको (इच्छन्) चाहता हुआ (इन्द्रः) आत्मा (शर्यणावति) हृदय-देश में (तद्) उसको (विदद्) प्राप्त करता है।

मधुविद्या या ब्रह्मविद्या का उपदेश करने वाला दधीचि का शिर अश्वियों ने काट दिया, वह शर्यणावत् तालाब में पड़ा था। उसको इन्द्र ने अपना वज्र बनाने के निमित्त उसी स्थान पर पाया। ऐसी कथा प्रसिद्ध

है । इस अलंकार में ध्यान धारणा से सम्पन्न योगी आत्मा दर्शाया है । उसका ब्रह्मज्ञानोपदेशक शिरोभाग जो प्राण और उदान को ठीक गति का शिक्षण करता है मस्तक भाग में है । काम क्रोधादि पर वश करने वाला इन्द्र आत्मा उसी चित् केन्द्र का स्मरण करता है जिसके प्राण और अपान वश में हैं । वह उसको मध्य मस्तक में पाता है और ८१० प्रकार की मनोवृत्तियों पर वश करता है । यह अलंकार है ।

(३) व्याख्या देखो अवि० सं० [१४७] पृ० ८३ ।

[६१६] इय वामस्य मन्मन इन्द्राग्नी पूर्व्यस्तुति ।
अभ्राद्वृष्टिरिवाजनि ॥ १ ॥

[६१७] शृणुतं जरितुर्हवमिन्द्राग्नी वनतं गिर ।
ईशाना पिप्यत धिय ॥ २ ॥

[६१८] मा पापत्वाय नो नरेन्द्राग्नी माभिशस्तये ।
मा न रीरधतं निद ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ७ । ९४ । १–३ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्राग्नी) सूर्य और अग्नि सदृश गुरु शिष्य, ब्रह्म और जीव ! (वाम्) आप दोनों का (इय) यह (पूर्व्यस्तुति) प्राचीन या पूर्ण सत्य गुण वर्णन (मन्मन) मननशील विद्वान् पुरुष से (अभ्राद्) मेघ से (वृष्टि इव) वर्षा के समान (अजनि) प्रकट होता है ।

(२) हे (इन्द्राग्नी) गुरु शिष्य के समान ब्रह्म और जीव (जरितुः) स्तुति करने हारे विद्वान् के (हवम्) आह्वान या स्तुति को तुम दोनों (शृणुत) श्रवण करो । और (गिर) वेदवाणियों का (वनत) सेवन करो । आप दोनों (ईशाना) ऐश्वर्यवान् होते हुए (धिय) सब प्रकार के कर्मों को (पिप्यत) पूर्ण करते और सफल करते हो ।

(३) हे (नरा) नेताओ ! (इन्द्राग्नी) गुरु शिष्य ! या अध्यापक उपदेशक ! या परमेश्वर और आचार्य ! सूर्य और अग्नि के समान ब्रह्म और जीव ! आप दोनों (न) हमें (पापत्वाय) पापकार्य के लिये और (अभिशस्तये) पराधीनता या हिंसा कार्य के लिए और (निद) निन्दा-जनक कार्य, या निन्दा करने के लिये (मा रीरधत) कभी किसी के वश में न होने दें ।

इति तृतीय खण्ड ।

[९१९] पवस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे ।
मरुद्भ्यो वायवे मदः ॥ १ ॥
[९२०] स देवः शोभते वृषा कविर्योनावधि प्रियः ।
पवमानो अदाभ्यः ॥ २ ॥
[९२१] पवमान धियो हितोऽभियोनिं कनिक्रदत् ।
धर्मणा वायुमारुहः ॥ ३ ॥ १० ॥ ऋ० ९ । २५ । १,३,२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकक्ष स० [४७४] पृ० २३९ ।

(२) (वृषा) सब सुखों का वर्षण करने वाला, (पवमान) सब को ज्ञानदान से पवित्र करने हारा, (अदाभ्य) किसी से हिंसा न करने योग्य, (प्रिय) सबको प्रिय (कवि) विद्वान्, अन्तर्दर्शी, मेधावी (योनौ अधि) अपने आश्रय में ही (देवः) अन्य विद्वानों, या सहचर इन्द्रियगणों, या वायु आदि देवों के साथ (शोभते) शोभा देता है ।

राजा, योगी आत्मा, परमात्मा सब के पक्ष में समान है ।

९१९—'मृजता देवतातये' इति ऋ० ।

९२१—'वायुमाविश' इति ऋ० ।

(३) हे (पवमान) आत्मन् ! (धिया) ध्यान के बल से (अभियोनिं) अपने मूलस्थान, आश्रय, हृदयदेश में (हितः) स्थिर होकर (कनिक्रदत्) अनाहत नाद या ईश्वर की स्तुति करता हुआ (धर्मणा) अपने धारक प्रयत्न द्वारा (वायुम्) प्राणवायु पर (आ अरुह) वश कर ।

[१२२] तवाहं सोम रारण सख्य इन्दो दिवेदिवे ।
पुरूणि बभ्रो निचरन्ति मामव परिधीँ रति ताँ इहि ॥१॥

[१२३] तवाहं नक्तमुत सोम ते दिवा दुहानो बभ्र ऊधनि ।
घृणा तपन्तमति सूर्यं परः शकुना इव पप्तिम ॥२॥११॥
ऋ० ९ । १०७ । १९-२० ॥

(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५१६] पृ० २५५ ।

(२) हे (सोम) परमात्मन् ! हे (बभ्रो) समस्त संसार के भरण पोषण करने हारे परमेश्वर ! (नक्तं) रात में (तव) तेरे (उत) और (दिवा) दिन में भी (ते) तेरे ही (ऊधनि) रसमय कोश में (अहं) मैं (दुहानः) रस प्राप्त करता हुआ (ऊधनि शकुना इव) उषाकाल के अवसर में पक्षियों या रश्मियों के समान हम (घृणा) दीप्ति से (तपन्तं) जाज्वल्यमान (सूर्यम्) सूर्य के समान सर्वाधार (परः) परमदेव आपको देखकर (अति पप्तिम) कर्मबन्धन को पार करके मोक्ष को प्राप्त हो जाय ।

[१२४] पुनानो अकर्मीदभि विश्वा मृधो विचर्षणिः ।
शुम्भन्ति विप्रं धीतिभिः ॥ १ ॥

[१२५] आ योनिमरुणो रुहद् गमदिन्द्रो वृषा सुतम् ।
धुवं सदसि सीदतु ॥ २ ॥

•१२२—'सख्याय बभ्र' इति ऋ० ।

•१२४—'गमदिन्द्र वृषा सुतः' इति ऋ० ।

[१२६] नू ना रयिं महामिन्दोऽस्मभ्य सोम विश्वत ।
आ पवस्व सहस्रिणम् ॥ ३ ॥ १२ ॥ ऋ० ९ । ४० । १-३ ॥

(१) व्याख्या दशा अविकल स० [४८८] पृ० २४४ ।

(२) (अरुण) अरुणवर्ण कान्तिमान्, सोम (यानिम्) मूल स्थान हृदय-दश में (अरहद्) प्रकट होता है और (वृषा) सुखों का वर्षक (इन्द्र) आत्मा (सुतम्) आनन्दस्वरूप में प्रकट हुए उसके प्रति (गमद्) झुक जाता है । वह आनन्दस्वरूप परमात्मा मेरे (ध्रुव) स्थिर (सदसि) आश्रयस्थान, आत्मा में (सीदतु) सदा विराजमान हो ।

(३) हे (इन्दो) सोम ! (अस्मभ्य) हमारे लिये (सहस्रिणम्) सब सुखों से युक्त (महो) विशाल (रयिम्) ऐश्वर्य को (विश्वत) सब ओर से (न आ पवस्व) प्राप्त कराओ ।

इति चतुर्थ खण्ड ।

[१२७] पिबा सोममि न्द्र मन्दतु त्वा य ते सुषाव हर्यश्वाद्रि ।
सोतुर्बाहुभ्या सुयता नाभा ॥ १ ॥
[१२८] यस्ते मदो युज्यश्चारुरस्ति येन वृत्राणि हर्यश्व हंसि ।
स त्वामिन्द्र प्रभूवसो ममत्तु ॥ २ ॥
[१२९] योधा सु मे मघवन्नाजमेमा यात यासष्टा यवेति प्रशस्तिम् ।
इमा ब्रह्म स सभाद चुपस्थ ॥ ३ ॥ १३ ॥ ऋ० ७ । २२ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या दशा अवि० स० (३१८) पृ० २०४ ।

(२) हे (हर्यश्व) हरणशील अश्वरूप इन्द्रियों वाले मन स युक्त आत्मन् ! (यः) जो (ते) तेरा (सुत) याग समाधि से द्रवरूप दान पाया (मद) आनन्द (चारु) मनोहर, उपभोग करने योग्य (अस्ति)

है और (यत) जिसके बल पर तू (वृत्राणि) आवरणकारी विघ्नों, काम, क्रोध आदि शत्रुओं को (हंसि) विनाश करता है । ह (इन्द) ऐश्वर्यवन्[1] आत्मन्[1] ह (प्रभूवसा) समस्त प्राणियों में बसने हारे[1] (स) वह (त्वा) तुझको (मम्तु) आनन्दित करे ।

(२) हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन्[1] (वसिष्ठ) वसिष्ठस्वरूप, इन्द्रिय या मुख्य प्राण या विद्वान् पुरुष (यां) जिस (प्रशस्तिं) उत्तम गुण वर्णन करने वाली (वाचं) वाणी को (अर्चति) प्रकट करता है (इमां) इस (मे) मेरी वाणी को (सुवाध) तू उत्तम रूप से ज्ञान कर । और (इमा) इन (ब्रह्म) वेदमन्त्रों का (सधमाद) एकत्र हर्ष प्राप्त करने के स्थान यज्ञ आदि, अथवा त्रिपुटी या हृदयदेश में (जुषस्व) सेवन कर, उनका मनन कर ।

[१३०] निष्ठा पृतना अभिभूतरन्नर सजूस्ततक्षुरिन्द्रजजनुष्टा
राजस । त्वे धरे स्थेमन्यामुरं मुताग्रमाजिषु तरस
तरास्वनम् ॥ १ ॥

[१३१] नेमिं नमन्ति चक्षसा मेषं विप्रा अभिस्वर ।
सुदीतया वो अद्रुहोऽपि कर्णे तरस्विन समृक्वभि ॥ २ ॥

[१३२] त्वमु ष्मा सो अस्यराध्न्द्र सामस्य पीतये ।
त्वं पतिर्यज्ञो वृध घृतव्रतो ह्योजसा समूतभि ॥ ३ ॥ १४ ॥

ऋ ८ । ९७ । १०, १२, ११ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [२७०] पृ० १९१ ।

(२) (विप्रा) मेधावी ज्ञानी लोग (चक्षसा) अपने दर्शन कराने हारे आत्मा को साक्षात् करके (अभिस्वर) गायन में (नेमिं) नमन करने हारे (मेघं) सूर्य या मेघ के समान सुखों के वर्षाने वाले उस परमात्मा को ही

कार का नाशक (वज्रः) ज्ञानमय वज्र (प्रतिधायि) धारण किया है, वह (दर्शत) दर्शनीय (महा) महान्, (देव) सब सुखों का दाता, (सूर्यः न) *सूर्य के समान सब ज्ञानों का प्रकाशक और प्रेरक है ।*

इति पञ्चम खण्डः ।

— o —

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २र ३क २र ३ २

[६३५] परि प्रिया दिव कविर्वयांसि नप्त्यो हितः ।

३ १ २ ३ १ २

क्वानैर्याति कविक्रतु ॥१॥

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[६३६] स सूनुमातरा शुचिर्जातो जाते अरोचयत् ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २

महान्मही ऋतावृधा ॥२॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६३७] प्र प्र क्षयाय पन्यसे जनाय जुष्टा अदुहः ।

३क २र ३ १ २

वीत्यर्ष पनिष्टये ॥३॥१६॥ ऋ० ९ । ६ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४७६] पृ० २३६ ।

(२) (स) वह सर्वोत्पादक परमेश्वर (सूनु) पुत्र के समान हर्ष का सञ्चारक, समस्त ऐश्वर्यों का देने वाला, सब लोकों का प्रेरक (जात) होकर (शुचि) स्वच्छ, कान्तिमान् (महान्) यशस्वी है । वह (जाते) प्रसिद्ध हुए (ऋतावृधा) सत्य ज्ञान और जीवन को बढ़ाने वाले (मातरा) मा बाप दोनों को पुत्र के समान, आकाश और पृथिवी, गुरु शिष्य और स्त्री पुरुष, राजा और प्रजा दोनों को (अरोचयत्) उज्ज्वल करता है ।

(३) (पन्यसे) व्यवहार या स्तुति करने हारे (जनाय) पुरुष के लिये (जुष्ट) प्रेम से सेवन करने योग्य (अदुहः) द्रोह से रहित, हे परमेश्वर ! आप (क्षयाय) निवास और (पनिष्टये) व्यवहारसिद्धि,

९३७—३ 'अदुहः' चनिष्ठया' इति ऋ० ।

स्तुति और (वीती) रक्षा और ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये (प्र) अच्छी प्रकार (अर्ष) हमें प्राप्त हो।

[६३८] त्व ह्यङ्ग दैव्य पवमान जनिमानि द्युमत्तम ।
अमृतत्वाय घोषयन् ॥१॥

[६३९] येना नवग्वा दध्यङ्ङपोणुत येन विप्रास आपिर ।
देवानां सुम्न अमृतस्य चारुणा येन श्रवांस्याशत। २॥१७॥
ऋ० ९ । १०८ । ३, ४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१८३] पृ० २६३ ।

(२) (नवग्वा) सदा अभिनव वेदवाणियों को प्राप्त करने वाला, नव शिक्षित (येन) जिस परमब्रह्म के द्वारा (दध्यङ्) विद्वान्, ध्यानवान् होकर (अप ऊर्णुते) ज्ञान प्रकट करता है। (येन) जिसके बल पर (विप्रास) विद्वान् मेधावी जन वेदमन्त्रों के तात्पर्य वा परमपद को (आपिरे) पहुंचते हैं। और येन जिसके बल पर (देवानां) विद्वान् दिव्यगुणसम्पन्न महात्माओं के (सुम्ने) सुखकारी यज्ञादि स्थानों में (चारुणा) उत्तम (अमृतस्य) आत्मा के (श्रवांसि) ज्ञान रहस्यों को (आशत) विद्वान् लोग प्राप्त करते हैं। हे परमेश्वर ! वही तुम हमें प्राप्त होवो।

[६४०] सोम पुनान ऊर्मिणाव्य वार वि धावति ।
अग्रे वाच पवमान कनिक्रदत् ॥१॥

[६४१] धीभिर्मृजन्ति वाजिन वने क्रीडन्तमत्यविम् ।
अभि त्रिपृष्ठ मतय समस्वरन् ॥२॥

६३८—२ 'नवग्वो', आनङ्ग ' इति इति ऋ० ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१४२] असर्जि कलशा अभि मीढ्वान् त्सप्तिर्न वाजयु ।
३ १ २ ३ १ २
पुनानो वाचञ्जनयन्नसिष्यदत् ॥ ३ ॥ १८ ॥

ऋ० ९ । १०६ । १०-१३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२७२] पृ० २८८ ।

(२) (वन) शरीर में (क्रीडन्त) नाना कर्मों का या क्रीड़ा, विनोद, करते हुए (वाजिन) अति बलवान्, ज्ञानी (अत्यविम्) शरीरबन्धन को अतिक्रमण करके विराजमान, अतीन्द्रिय आत्मा को (धामि) धारणावाली बुद्धियों और उत्तम कर्मों द्वारा (मृजन्ति) परिशोधन करते, उसका स्वच्छ और समाहित करके और भी अधिक विवेक से उसके दर्शन करते हैं । (म तय) मननशील मुनि लोग (त्रिपृष्ठ) मन, वाक्, काय तीनों स्थानों पर विराजमान उस आत्मा का (अभि सम् अस्वरन्) साक्षात् स्तुति करते हैं ।

(३) (मीढ्वान्) आनन्दघन, वह सोम (वाजयु) संग्राम में जाने हारे (सप्ति न) अश्व के समान (कलशान् अभि) सकल देहों में (असर्जि) प्रकट होता है । और (पुनान) सब मलों का दूर करता हुआ (वाचम्) वाणी का (जनयन्) प्रकट करता हुआ । असिष्यदत्) द्रवित होता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१४३] साम पवते जनिता मनीना जनिता दिवो जनिता
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३
पृथिव्या । जनिताग्नजनिता सूर्यस्य जानतेन्द्रस्य जान
१ २
तान विष्णो ॥१॥
३ २ ३ १ १ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१४४] ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम् ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन् २॥

[६४५] ग्राधीन्त्रिपद्धाच ऊर्मिं न सिन्धुर्गिरस्तामान्पवमानो मनीषाः
अन्तः पश्यन्वृजनेमाजगन्व्यानिष्टति शुरभो गोषु जानन्
॥ ३ ॥ १६ ॥ अ० ६ । ६६ । ६,७॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५२७] पृ० २६२ ।

(२) (सोमः) सोम (देवानां) इन्द्रियों और विद्वानों के बीच में (ब्रह्मा) समस्त विद्या के ज्ञाता के समान, (कवीनां) अन्तर्दर्शी ज्ञानेन्द्रियों का (पदवीः) मार्गदर्शक, (विशाम्) मर्यादा पुरुषों में (ऋषिः) मन्त्रों के अर्थों का द्रष्टा, (मृगाणां) मृगों के बीच में (महिषः) महिष के समान बलवान्, (गृध्राणां) गृध्र आदि पक्षियों में (श्येन) श्येन के समान आकाश शीलों में बलवान् (वनानां) जंगल के वृक्षों के बीच (स्वधितिः) कुठार के समान कर्मबन्धनों के नाश करने हारा (सोम) आत्मा (रभेन्) अनाहत नाद करता हुआ (अति एति) सब जालों को पार करके (पवित्रं) शुद्ध निर्मल ब्रह्म को प्राप्त होता है।

यास्काचार्य के मत से अध्यात्म पक्ष में—(ब्रह्मा देवानां) यह आत्मा देवनकर्मा, क्रीड़ाशील इन्द्रियों का ब्रह्मा अर्थात् साक्षी है। (पदवीः कवीनां) चेतन के समान काम करने वाली, पदार्थों का ज्ञान करने वाली इन्द्रियों के पद को जानने वाला है । (ऋषिः विप्राणां) व्यापन कर्मा इन्द्रियों को गति देने वाला है। (महिषः मृगाणां) विषयों को खोजने वाली इन्द्रियों में से सबसे बड़ा है। (श्येनः गृध्राणां) विषयाभिलाषी ज्ञानशील इन्द्रियों के बीच यह आत्मा श्येन चेतन ज्ञाता है। (स्वधितिः वनानां) विषयों के सेवने वाली इन्द्रियों के कर्मों को स्वयं करने में धारण करता है। ऐसा सोम, आत्मा (पवित्र) इन्द्रियों पर ही (रभेन्) स्वयं ध्वनि किया जाकर (अति एति) उन द्वारा सब अनुभव करता, सबसे ऊपर विराजता है (निरु० प० अ० २ । १२)।

[६६५] त्वं सोम नृमादन पवस्व चर्षणीधृतिः ।
सक्षीयो अनुमाद्य ॥ ५ ॥

[६६६] पवस्व वृत्रहन्तम उक्थेभिरनुमाद्य ।
शुचिः पावको अद्भुत ॥ ६ ॥

[६६७] शुचिः पावक उच्यते सोम सुतः स मधुमान् ।
देवावीरघशंसहा ॥ ७ ॥ ३ ॥ अ० १ । २४ । १–७ ॥

भा०—(१) (पवमानास) भ्रमण करते हुए, (इन्दव) ज्ञान-सम्पन्न, (सामास) बहते जलों के समान सौम्य गुणों से युक्त, शमदमादि के साधक, शान्त स्वभाव मुक्तजन (श्रीणाना) अपने अनुभव और ज्ञान में परिपक्व या तपस्वी होकर (अप्सु) प्रजाओं या लोकों में (वृन्जते) भ्रमण करते हैं ।

(२) (गाव) गमनशील, ज्ञानी, विद्वानजन, (प्रवता) प्रकृष्ट उत्तम मार्ग में (यती) गमन करते हुए (आप न) जल प्रवाहों के समान (अभि अधन्विषु) बराबर आगे बढ़ते जाते हैं । और वे (पुनाना) सब विघ्नों को पार करते हुए और अपने आत्मा को नित्य पवित्र करते हुए (इन्दम्) ऐश्वर्यशील उस सबके प्रभु को (आशत) प्राप्त होजाते और आत्मानन्द का लाभ करते हैं ।

(३) हे (पवमान) गतिशील ! हे (सोम) विद्वन् शिष्य ! तू (इन्दाय) आचार्यरूप इन्द्र के लिये (मादनः) अति प्रसन्नता का कारण होता हुआ (प्र धन्वसि) उत्तम दशा को, उत्तम ज्ञान को प्राप्त हो और (नृभि) सन्मार्ग के नेता गुरुओं द्वारा (सत) नियमों में व्यवस्थित होकर (वि नीयसे) विनयपूर्वक शिक्षित किया जावे ।

६६५. 'चर्षणीसहे' ९६६ 'सुतस्य मध्व.' इति ऋ० ।

(४) हे (इन्दो) उपासक शिष्य ! व ब्रह्मचारिन् ! (अद्रिभि) पर्वत के समान स्थिर प्रज्ञा वाले विद्वानों से (सुत) प्रेरित एवं शिक्षित होकर (पवित्र) पावन करने वाले ज्ञानस्वरूप प्रभु के प्रति तू (परिदीयसे) समर्पित किया जा रहा है । अर्थात् ज्ञान और सदाचार के मार्ग में आगे बढ़ रहा है । (इन्द्रस्य) ज्ञानवान् आचार्य के (धाम्ने) पद, स्थान के लिये (अर) तू पर्याप्त रूप से योग्य होजा ।

(५) हे (सोम) शिष्य ! ब्रह्मचारिन् (त्व) तू (नृमादनः) सब नेता गुरुओं के हर्ष का उत्पन्न करने और (चर्षणीधृति) निरीक्षक लोगों की दृष्टि में उत्तम आचार का धारण करने वाला होकर (सनिः) स्नान करके, स्नातक होकर (य) जो आप पुनः (अनुमाद्य) सब के हर्ष का कारण बनकर (पवस्व) ज्ञान का प्रदान कर ।

(६) हे (वृत्रहन्तम) विघ्नों और काम क्रोध आदि आभ्यन्तर, तामस आवरणों का नाश करने में सबसे उत्तम ! तू (उक्थेभिः) उत्तम वचनों द्वारा (अनुमाद्यः) आदर करने योग्य (शुचिः) शुद्ध, कान्तिमान्, (अद्भुतः) आश्चर्यजनक, (पावकः) समस्त प्रजा को पवित्र, निष्पाप बनानेहारा होकर (पवस्व) सर्वत्र भ्रमण कर और ज्ञान प्रदान कर ।

(७) (सः) वह ब्रह्मचारी (मधुमान्) ज्ञानवान्, ब्रह्मवेत्ता, (शुचिः) मन, वाणी और कर्म में पवित्र, (पावकः) औरों को पवित्र करनेहारा, (अग्निः) पवित्रपावन (सोमः) सोम (उच्यते) कहाता है जो (देववीः) विद्वानों का और दिव्यगुणों का रक्षण करने हारा और (अघशंसहा) पाप की बात बतलाने वालों के पापबल को नाश करने वाला होता है ।

इति प्रथमः खण्डः ।

---

[१६८] प्र कविदेववीतयेऽव्या वारेभिरव्यत ।
सहस्रान्दिव्या अभिस्पृधः ॥ १ ॥

[१६६] स हि ष्मा जरितृभ्य आभराज गोमन्तमिन्वति ।
पवमान सहस्रिणम् ॥ २ ॥

[१७०] परि विश्वानि चेतसा मृज्यसे पवसे मती ।
स न सोम श्रवो विद. ॥ ३ ॥

[१७१] अभ्यर्ष बृहद्यशो मघवद्भ्यो ध्रुव रयिम् ।
इष स्तोतृभ्य आभर ॥ ४ ॥

[१७२] त्व राजन्त्र मुग्रतो गिरः सामा विवेशिथ ।
पुनानो वह्ने अद्भुत ॥ ५ ॥

[१७३] स वह्निरप्सु दुष्टरो मृज्यमानो गभस्त्यो. ।
सोमश्चमूषु सीदति ॥ ६ ॥

[१७४] क्रीळुर्मखा न महयु. पावन सोम गच्छसि ।
दधत्स्तोत्रे सुवीर्यम् ॥ ७ ॥ ४ ॥ ऋ० ९ । २० । १-७ ॥

भा०—(१) ब्रह्मचारी (कवि) क्रान्तदर्शी, विद्वान् वाग्मी, मेधावी (दक्षसीतय) ज्ञान से प्रकाशमान विद्वानों को प्राप्त होने के लिये (अव्या वारेभि) भेड़ के बालों से बने कम्बलों द्वारा (अज्यत) अपने को ढापता है और (विश्वा) समस्त (अभिस्पृध') प्रतिस्पर्धी शत्रुओं के समान आगे आने वाली बाधाओं को (साह्वान्) पराजित करता है । अथवा (अव्या) रक्षा करने हारी विद्या के (वारेभिः) आवरणों, व्रतों, साधनों से (अज्यत) अपने को युक्त करता है ।

(२) (स हि) और वही (पवमान) सर्वत्र गमन करता हुआ (जरितृभ्य) विद्या का उपदेश करने हारे आचार्यों के लिये (सहस्रिणं)

१६८—दक्षसीतये इव्या' 'वारेभिरति' १६९—'मृज्यसे पवसे' इति ऋ० ।

सहस्रों सुखों के देनेहारे (गोमन्तं) गवादि पशु से सम्पन्न धन को (इन्वति) गुरुदक्षिणा में लाकर देता है ।

(३) हे (सोम) ब्रह्मचारिन् ! तू (चेतसा) अपने ज्ञान से (विश्वानि) सबको (परिसृज्यसे) परिशोधित करता है, विवेक करता है । और (मती) मनन करने हारी शक्ति से (पवसे) सत्य तक पहुंचता है । (स.) वही तू (न.) हमें (श्रवः) वेदज्ञान को (विद) प्राप्त करा ।

(४) हे (सोम) ब्रह्मचारिन् स्नातक ! (बृहद्) बड़े (यशः) यश को तू (अभि अर्ष) प्राप्त हो और (मघवद्भ्य.) बड़े धनाढ्य पुरुषों से तू (ध्रुवं) स्थिर (रयिं) धन को भी प्राप्त कर । और (स्तोतृभ्यः) सत्य ज्ञान का उपदेश करने वाले गुरुओं के लिये (इषं) उनकी इच्छानुकूल अन्न, धन (आ हर) लेजा ।

(५) हे (सोम) हे स्नातक ! हे (वह्ने) ज्ञान को धारण करने हारे ! हे (अद्भुत) हे अभूतपूर्व विद्वन् ! तू (सुव्रतः) उत्तम व्रतनिष्ठ, सदाचारी (पुनानः) सर्वत्र गमन या पवित्र करता हुआ (राजा इव) स्तुति पात्र राजा के समान (गिरः) वेदवाणियों के (आ विवेशिथ) मर्म में *प्रवेश कर अथवा स्तुतियों को प्राप्त कर ।*

(६) (सः) वही (वह्निः) ज्ञान का नेता (सोमः) ब्रह्मचारी, शान्त, तपस्वी (अप्सु) प्रजाओं के भीतर (दुस्तरः) दुर्गम, अजेय (ज्ञानस्योः) ज्ञान और कर्म द्वारा (मृज्यमानः) शुद्ध पवित्र होकर (धर्मसु) सत्यों में, प्रजा के हृदयों में (सीदति) स्थिति पाता है ।

(७) हे सोम ! (क्रीडु) क्रीडा करने वाला, किशोर-दशा में वर्त्तमान, सुप्रसन्न तू (मखः न) यज्ञ के समान (मंहयुः) पूजनीय (पवित्रं) पवित्र व्रत में (गच्छसि) आचरण करता है और (स्तोत्रे) सत्य गुण के प्रकाशक गुरु के अधीन (सुवीर्यं) उत्तम ज्ञान को और बल को (दधत्) धारण करता है ।

[६६९] स हि ष्मा जरितृभ्य आवाज गोमन्तमिन्वति ।
पवमान सहस्रिणम् ॥ २ ॥

[६७०] परि विश्वानि चेतसा मृज्यसे पवसे मती ।
स न सोम श्रधो विद ॥ ३ ॥

[६७१] अभ्यर्ष बृहद्यशो मघवद्भ्यो ध्रुव रयिम् ।
इष स्तोतृभ्य आभर ॥ ४ ॥

[६७२] त्व राजन्त्सुव्रतो गिरः सोमा विवेशिथ ।
पुनानो वह्ने अद्भुत ॥ ५ ॥

[६७३] स वह्निरप्सु दुष्टरो मृज्यमानो गभस्त्यो ।
सोमश्चमूषु सीदति ॥ ६ ॥

[६७४] श्रीळुमंखा न महयु. पावत्र सोम गच्छसि
दधत्स्तोत्रे सुवीर्यम् ॥ ७ ॥ ४ ॥ ऋ० ९

भा०—(१) ब्रह्मचारी (कवि) क्रान्तद
धावा (दवीतये) ज्ञान से प्रकाशमान
लिये (अभ्या वारेभि) भेद के वालों से इ
अपने को व्याप्त है और (विश्वा) स
शत्रुओं के समान आगे आने वाली बाधाओं
करता है । अथवा (अभ्या) रक्षा करने हारी विद्या
रणों, व्रतों, साधनों से (अभ्यत) अपने को युक्त करता है ।

(२) (स हि) और वही (पवमान) सर्वत्र गमन करने
(जरितृभ्य) विद्या का उपदेश करने हारे आचार्यों के लिये (सहस्रिण

१६८—देवीतये इत्या' 'वारिभिरिति' ९६९—'मृज्यसे पवसे' इति ऋ० ।

सहस्रों सुखों के देनेहारे (गोमन्तं) गवादि पशु से सम्पन्न धन को (इन्वति) गुरुदक्षिणा में लाकर देता है ।

(३) हे (सोम) ब्रह्मचारिन् ! तू (चेतसा) अपने ज्ञान से (विश्वानि) सबको (परिसृज्यसे) परिशोधित करता है, विवेक करता है । और (मती) मनन करने हारी शक्ति से (पवसे) सत्य तक पहुंचता है । (स) वही तू (नः) हमें (अवः) वेदज्ञान को (विद) प्राप्त करा ।

(४) हे (सोम) ब्रह्मचारिन् स्नातक ! (बृहद्) बड़े (यशः) यश को तू (अभि अर्ष) प्राप्त हो और (मघवद्भ्यः) बड़े धनाढ्य पुरुषों से तू (ध्रुवं) स्थिर (रयिं) धन को भी प्राप्त कर । और (स्तोतृभ्यः) सत्य ज्ञान का उपदेश करने वाले गुरुओं के लिये (इषं) उनकी इच्छानुकूल अन्न, धन (आ हर) लेजा ।

(५) हे (सोम) हे स्नातक ! हे (बर्हि) ज्ञान को धारण करने हारे ! हे (अद्भुत) हे अभूतपूर्व विद्वन् ! तू (सुव्रतः) उत्तम व्रतनिष्ठ, सदाचारी (पुनानः) सर्वत्र गमन या पवित्र करता हुआ (राजा इव) स्तुति पात्र राजा के समान (गिरः) वेदवाणियों के (आ विवेशिथ) मर्म में प्रवेश कर अथवा स्तुतियों को प्राप्त कर ।

(६) (सः) वही (बर्हि) ज्ञान का नेता (सोमः) ब्रह्मचारी, शान्त, तपस्वी (अप्सु) प्रजाओं के भीतर (दुस्तरः) दुर्गम, अजेय (गभस्त्योः) ज्ञान और कर्म द्वारा (मृज्यमानः) शुद्ध पवित्र होकर (चमूषु) सत्पात्रों में, प्रजा के हृदयों में (सीदति) स्थिति पाता है ।

(७) हे सोम ! (क्रीडु) क्रीड़ा करने वाला, किशोर दशा में वर्त्तमान, सुप्रसन्न तू (मखः न) पशु के समान (मंहयुः) पूजनीय (पवित्रं) पवित्र व्रत में (गच्छसि) आश्रय करता है और (स्तोत्रे) सत्य गुण के प्रकाशक गुरु के अधीन (सुवीर्यं) उत्तम ज्ञान को और बल को (दधत्) धारण करता है ।

[६७५] यव यवं नो अन्धसा पुष्ट पुष्ट परिस्रव ।
विश्वा च सोम सौभगा ॥ १ ॥

[६७६] इन्दो यथा तव स्तवो यथा ते जातमन्धसः ।
नि बर्हिषि प्रिये सदः ॥ २ ॥

[६७७] उत नो गोविदश्ववित्पवस्व सोमान्धसा ।
मक्षू तमेभिरहभिः ॥ ३ ॥

[६७८] यो जिनाति न जीयते हन्ति शत्रूमभीत्य ।
स पवस्व सहस्रजित् ॥ ४ ॥ ५ ॥ ऋ० ९ । ९९ । १–४ ॥

भा०—(१) हे (सोम) सबको उत्पन्न करने हारे प्राणों के प्रेरक परमात्मन् ! अन्नपते ! (नः) हमें (अन्धसा) प्राण धारण कराने हारे सामर्थ्य से (पुष्टं पुष्टं) खूब पुष्ट हुए (यवं यव) यव तथा यव के समान अन्य धान्य भी (परि स्रव) प्रदान कर । (विश्वा च) और समस्त (सौभगा) सौभाग्य देनेहारे पदार्थ भी प्रदान कर ।

(२) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! (अन्धस) जीवन धारण कराने हारे, प्राणों के प्राण, अथवा अन्धकार के नाशक तेरी (यथा स्तवः) जिस प्रकार सत्यगुण प्रकाशक स्तुति है और (यथा) जिस प्रकार तेरी प्रसिद्धि है ठीक उसी प्रकार सम्पन्न होकर (प्रिये) सबको प्रिय लगने वाले प्यारे, उत्तम (बर्हिषि) सूर्य में तेज के समान, देह में आत्मा के समान विश्व में, या उत्तम आसन पर (नि सदः) विराजमान हो ।

(३) हे (सोम) ऐश्वर्यवन् ! (उत) और (गोवित्) ज्ञानेन्द्रियों के वश करने हारे और (अश्ववित्) प्राणेन्द्रियों के वश करने हारे आप (अन्धसा) प्राण के धारक आप (मक्षूतमेभिः) शीघ्र ही गुजर जाने वाले (अहोभिः) इन थोड़े से दिनों में ही (नः) हमें (पवस्व) प्राप्त हो ।

(४) (यः) जो (जिनाति) स्वयं जीत लेता है और (न जीयते) दूसरों से नहीं जीता जाता और (अभि इत्य) सन्मुख आकर (शत्रुम्) शत्रु को (हन्ति) नाश करता है (सः) वह (सहस्रजित्) हज़ारों को जीतने वाला, बलस्वरूप तू (पवस्व) हमारे प्रति आ, प्रकट हो, हमें प्राप्त हो।

[६७६] यास्ते धारा मधुश्च्युतोऽसृग्रमिन्द ऊतये।
ताभिः पवित्रमासद ॥ १ ॥

[६८०] सो अर्षेन्द्राय पीतये तिरो वाराण्यव्यया।
सीदन्नृतस्य योनिमा ॥ २ ॥

[६८१] त्वं सोम परिस्रव स्वादिष्ठो अङ्गिरोभ्यः।
वरिवोविद् घृतं पयः ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ६। ६२। ७-६ ॥

भा०—(१) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन्! (ते) तेरी (मधुश्च्युतः) मधुर रस को बहाने वाली, ज्ञान देने हारी, आनन्दप्रद (धारा) धारण करने वाली शक्तियां (याः) जो (ऊतये) रक्षा करने के लिये हैं (ताभिः) उन से (पवित्रं) पवित्र करने हारे वायु या सूर्य, प्राण में सूक्ष्म रूप से (आसदः) विराजमान हो।

(२) (सः) वह तू (इन्द्राय) इस अन्तरात्मा के (पीतये) पान के लिये, तृप्ति के लिये, (अव्यया) अवि अर्थात् चित् प्रकृति के (वारा) आवरण करनेहारे आवरणों को (तिरः) दूर (अर्ष) कर और (ऋतस्य) प्रकाशस्वरूप सत्य के (योनिम्) आश्रय स्थान ब्रह्म को (सीदन्) प्राप्त होकर (आ) प्रकट हो।

६८०—'तिरो रोमाण्यव्यया सदिन्योना वनेषां' इति ऋ०।

६८१—'त्वमिदो परी' इति ऋ०।

(३) हे (साम) आत्मन् [1] (त्व) तू (अगिराम्य) ज्ञानी आत्माओं के लिये (वरिवाविद) वरण करने योग्य सुखों आत्मानन्दों का प्राप्त कराने हारा और (स्वादिष्ठ) अत्यन्त अधिक रस का देने वाला होकर (घृतम्) अति प्रकाशमय (पय) अमृत रस को (परिस्रव) प्रदान कर ।

इति द्वितीय खण्ड ।

---

[१८२] तव श्रिया वर्ष्यस्येव विद्युतोऽग्नाश्चित्र उषसामिवेतय ।
यदाप्यधीरभिसृष्ट धनानि च परि स्रव चिनुषे अन्नमासनि ॥१॥

[१८३] वातोपजूत इषितो वशाँ अनु तृषु यदन्ना वेविषद्वि तिष्ठसे । आ ते यतन्ते रथ्याऽइयथा पृथक् शर्द्धास्यग्ने अजस्य धृष्णत ॥२॥

[१८४] मेधाकारं विदथस्य प्रसाधनमग्निं होतारं परिभूतरं मतिम् । त्वामभस्य हविष समानमित्त्वा महो वृणते नान्य त्वत् ॥३॥७॥ ऋ० १० । ९१ । २, ७ ८ ॥

भा०—(१) हे परमेश्वर ! (अग्ने) ज्ञान प्रकाशक (तव) तेरी (श्रिय) विभूतियां (वर्ष्यस्य) मेघ की (विद्युत इव) विद्युतों के समान (उषसा) प्रभात कालों में निकलती हुई (इतय) किरणों के समान

१८२—'चित्राद्रिचित्र', 'उषसा न केतव 'अन्नमास्ये' इति ऋ० ।

१८३—'वामोषधूत' 'अजराणि धृष्णत' इति ऋ० ।

१८४—'परिभूत्य' तमिदभेदविष्या समानमित्तमिन्महे' इति ऋ० ।

(विविशे) सर्वत्र जाती जाती है। (यत्) जब कि (ओषधीः) ओषधियों और (वनानि च) वृक्षादि वनस्पतियों में भी (अभिसृष्टः) लग कर उनमें भी श्वास होकर, (आसनि) मुख में (अन्नम्) अन्न के समान समस्त पदार्थों को (स्वः) अपने भीतर खेलता है।

ओषधि अन्नादि और वनस्पतियों को जिस प्रकार अग्नि अपने भीतर जलाकर मानों ग्रास कर जाता है उसी प्रकार परमेश्वर सब पदार्थों को अपने भीतर लीन करता है इसी प्रकार विद्वान भी समस्त ओषधि वृक्षादि को अन्न के समान जानकर उनका सारस्वरूप से विवेक करे।

(२) (जातोपजूतः) गन्धन आदि गुणों के ज्ञान से सम्पन्न (इषितः) स्वयं इच्छा पूर्वक (तृपु) शीघ्र ही (वरां) कमनीय उत्तम गुण से युक्त वनस्पतियों को, (अन्ना) और अन्नों को (वविक्वत्) प्राप्त कर के (विविक्षसे) नाना प्रकार से प्रकाशित करता है। हे (अग्ने) प्रकाश-स्वरूप ! विभुत् (अजराय) कभी वृद्ध न होने वाले, (धक्षत) अग्नि के समान अज्ञान को भस्म करने हारे, (रथ्यः) रथपर चढ़े महारथी शूरवीर के छोड़े शस्त्र जिस प्रकार (पृथक्) पृथक् २ अस्त्रों पर जाते हैं उसी प्रकार (ते) तेरे (शर्धांसि) बल प्रयोग और ज्ञानरूप तेज भी (पृथक्) पृथक् २ नाना कार्यों में (आपतन्ते) लग रहे हैं, सफल हो रहे हैं।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवन् (मेधाकारं) ज्ञान और धारणावती बुद्धि के उत्पादक (विदथस्य प्रसाधनम्) ज्ञान की परम उत्कृष्ट साधना के करने वाले (अग्निं) सबके आगे होकर चलने वाले दीपक के समान सबके प्रकाशक, (होतारं) सबको अपने शरण में लेने और सब सुखों के देने वाले, (परिभूतरम्) सब ओर अपने सामर्थ्य या सत्ता को प्रकट करने हारे, (मनसः जवम्) मनके वेग (त्वाम्) तुझको ही (अमर्त्य) छोटे और (मर्त्य) बड़े, थोड़े और बहुत (इविषः) ज्ञान के लिये भी (समानम्-

इत्) समान रूप से ही (शृणुत) सब वरण करत हैं, सुनत हैं (अत् अ य न) तुम स दूसरे को नहीं ।

[१८५] पुरूरुणा चिद्ध्यस्त्यवो नून वां वरुण ।
मित्र वंसि वां सुमतिम् ॥१॥

[१८६] ता वां सम्यगद्रुह्वाणमश्याम धाम च ।
वय वां मित्रा स्याम ॥२॥

[१८७] पात नो मित्रा पायुभिरुत त्रायेथा सुत्रात्रा ।
सासह्याम दस्यून तनूभि ॥३॥८॥ ऋ० ५ । ७० । १-३ ॥

भा०—(१) हे मित्र ! हे वरुण ! (वां) आप दोनों का (अव) रक्षण सामर्थ्य और ज्ञान (पुरूरुणा) बहुत अधिक (चित् हि) ही (अस्ति) है । (नूनम्) निश्चय से (वां) आप दोनों ही अपनी (सुमतिम्) उत्तम ज्ञान को (वंसि) देते हो ।

(२) (ता) वे दोनों (वां) आप लोग (अद्रुह्वाणा) किसी का द्रोह नहीं करत । हम आपक (इषम्) प्रेरण बल, अन्न और सकल्प बल और (धाम) धारण सामर्थ्य तेज को (अश्याम) उपभोग करें, प्राप्त करें और (वय) हम (वां) आपक (मित्रा) मित्र (स्याम) होकर रहें ।

(३) आप दोनों (मित्रा) हमारे स्नेह करने वाल होकर (पायुभि) अपने रक्षकों या रक्षा साधनों से (उत) और (सुत्रात्रा) उत्तम त्राण कर्त्ता पालकों द्वारा (न) हमें (त्रायेथां) बचावें । हम (तनूभि) अपन शरीरों द्वारा (दस्यून्) नाशकारी पदार्थों और पुरुषों को (सासह्याम) बलपूर्वक पराजित करें ।

१८६— धायसे इति ऋ० । १८७— पात नो स्वा' तुर्वणिस्यू इति ऋ० ।

मित्र और वरुण से प्राण और अपान, सभापति और सेनापति, राजा और मन्त्री समझने चाहियें।

[१८८] उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वा शिप्रे अवेपयः ।
सोममिन्द्र चमूसुतम् ॥१॥

[१८९] अनु त्वा रोदसी उभे स्पर्धमानं मदेताम् ।
इन्द्र यद्दस्युहाभवः ॥२॥

[१९०] वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतावृधम् ।
इन्द्रात्परि तन्वं ममे ॥३॥६॥ ऋ० ८। ७६। १०–१२॥

भा०—(१) हे (इन्द्र) आत्मन्! (चमूसुतम्) सेना दलों में अभिषेक को प्राप्त पदाधिकारी के राजा या सेनापति के समान इन्द्रियों, प्राण और अपान रूप चमसों में उत्पन्न हुए (सोमं) सबके प्रेरक आत्मा के बल वीर्य और प्राण को (पीत्वा) पान करके (ओजसा) बल और कान्ति सहित (उत्तिष्ठन्) उठते हुए आप (शिप्रे) अपने हनुरूप ज्ञान और कर्म की शक्तियों को (अवेपयः) गति देते हो। परमात्म पक्ष में द्यौ पृथिवी।

(२) (यद्) जब तू (दस्युहा) विनाशक पदार्थों और बाधक विघ्नों का शत्रुओं के समान नाश (अभव) करता है। हे (स्पर्धमान) सब से आगे बढ़ने हारे (इन्द्र) इन्द्रियों के स्वामिन्! आत्मन्! (त्वा अनु) तेरे पीछे २ तेरी शक्ति से (उभे रोदसी) दोनों प्राण और अपान या शरीर के ऊपर और नीचे के दोनों भाग (मदेताम्) आनन्द अनुभव करते हैं।

(३) मैं (अष्टापदीं) आठ चरण वाली (नवस्रक्तिं) नौ प्रकार की रचनावली (ऋतावृधम्) यज्ञ और सत्य की वृद्धि करने वाली (तन्वं)

१८८—'१. 'पीत्वी' २. क्रममाणमवृषेताम्' ३. ऋतावृधम्' इति च ऋ०।

विस्तृत (वाचं) वाणी का (इन्द्रात्) इन्द्रस्वरूप अपने आचार्य या उस परमगुरु परमेश्वर से (परि भमे) ज्ञान प्राप्त करता हूं ।

अष्टपदी चार वेद और चार उपवेद ये वाणी के आठपद अर्थात् विद्या के आश्रय स्थान हैं । नवसक्ति —नव सङ्ग्रह. रचना वस्या । १ शिक्षा, २ कल्प, ३, व्याकरण, ४ निघण्टु, ५ निरुक्त, ६, छन्दः, ७ ज्योतिष, ८ धर्मशास्त्र, और ९ मीमांसा । ये नौ प्रकार की रचनाएं वेदों के आशय स्पष्ट करने के लिये हैं ।

[१११] इन्द्राग्नी युवामिमेऽभि स्तोमा अनूषत ।
पिबतं शम्भुवा सुतम् ॥१॥

[११२] या वां सन्ति पुरुस्पृहो नियुतो दाशुषे नरा ।
इन्द्राग्नी ताभिरागतम् ॥२॥

[११३] ताभिरा गच्छतं नरोपेदं सवनं सुतम् ।
इन्द्राग्नी सोमपीतये ॥३॥१०॥ ऋ० ६ । ६३ ७–९ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्राग्नी) विद्युत् और सूर्य के समान समापति और सेनापति ! (युवाम्) आप दोनों के (इमे) ये (सोमाः) प्रशंसा युक्त कार्य (अनूषत) वर्णन करते हैं । आप (शम्भुवा) सबके सुख और कल्याण का कार्य करने हारे (सुतम्) इस दुग्ध आदि रस एवं ओषधियों के रस और ज्ञान को (पिबतम्) पान करो । इन्द्राग्नी, से प्राण और अपान, गुरु शिष्य, सभापति और सेनापति सूर्य और विद्युत् आदि का ग्रहण उचित है ।

(२) हे (नरा) सबके नेताओ ! (दाशुषे) सबको शान्ति सुख देने हारे नरपति के निमित्त (वां) आपकी (या) जो (पुरुस्पृहः) सबको प्रिय लगने वाली (नियुतः) अनेक निश्चित मतियें (सन्ति) हैं, हे

(इन्द्राग्नी) सूर्य विद्युत् के समान ज्ञानोपदेश करने हारे अध्यापक और उपदेशक महोदयो ! आप (ताभि) उनके सहित (आगतम्) प्रजाओं में आओ ।

(३) हे (नरौ) दोनों नेताओ ! (ताभिः) आप पूर्वोक्त विवेचक शक्तियों के साथ ही (इदं) इस (सुतं) उत्पादित (सवन) यज्ञ में (सोम-पीतये) उत्तम आनन्दप्रद, सोमरस, या धर्मपथ प्राप्त कराने के लिये (उप आ गच्छतं) आइये ।

इति तृतीयः खण्डः ।

---

[१९४] अर्षा सोम द्युमत्तमोभिर्द्रोणानि रोरुवत् ।
सीदन्योनौ वनेष्वा ॥१॥

[१९५] अप्सा इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः ।
सोमा अर्षन्तु विष्णवे ॥२॥

[१९६] इषं तोकाय नो दधदस्मभ्यं सोम विश्वतः ।
आ पवस्व सहस्रिणम् ॥३॥११॥ अ० १ । ६४ । १९–२१ ॥

भा०—व्याख्या देखो अविकल सं० [१०२] पृ० २५९ ।

(१) (इन्द्राय) आत्मा के लिये, (वायवे) प्राण के निमित्त, (वरुणाय) अपान के लिये (मरुद्भ्यः) अन्य ज्ञानेन्द्रियों और प्राणेन्द्रियों के लिये और (विष्णवे) उस सर्व व्यापक प्रजापति परमात्मा के साक्षात् ज्ञान के लिये (अप्सा.) नाना ज्ञानों और कर्मों को व्याप्त करने हारे (सोमाः) आनन्दरस और विद्वान् जन (अर्षन्तु) प्राप्त हों ।

१९४—'सीदन् इयेनो न योनिमा, १९५—'सोमा अर्षति' इति ऋ० ।

(३) हे (सोम) परमात्मन् ! आप (न) हमारे (तोकाय) सन्तति को और (अस्मभ्य) हमें (विश्वत) सब ओर से (इष) अन्न और (सहस्रिणम्) सहस्रों सुखों के देने वाले बलशाली प्राणात्मा को (आ पवस्व) प्रकाशित करो ।

[६६७] साम उष्वाण सोतृभिरधिष्णुभिरर्वनाम् ।
अश्वयेव हरिता याति धार्या मन्द्रया याति धारया ॥१॥

[६६८] अनूपे गोमान् गोभिरक्षा सोमो दुग्धाभिरक्षाः ।
समुद्र न सवरण्यन्यग्मन्मन्दी मदाय तोशते ॥२॥१२॥

ऋ० ९ । १०७ । ८-९ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [५१५] २५४ ।

(२) जिस प्रकार (गोमान्) गोपाल (गोभि) गौओं के साथ उनको चरान के लिये (अनूपे) निम्न देश में (अक्षा) जाता है उसी प्रकार (साम) व्यापक आनन्दरस (दुग्धा) दुग्ध के समान ज्ञानपूर्ण आनन्दमय धाराओं के साथ निम्न, हृदयदेश में क्षरित होते हैं । (सवरण्यानि) जल जिस प्रकार (समुद्र न) समुद्र की तरफ बहते हैं उसी प्रकार उत्तमरूप से वरण करने योग्य, सेवन करने योग्य आनन्दरस भी समुद्ररूप विलास रहित आत्मा में प्रकट होते हैं और (मन्दी) आनन्द में मग्न आत्मा (मदाय) अति हर्ष प्राप्त करने के निमित्त (तोशते) आगे बढ़ता है ।

[६६९] यत्सोम चित्रमुक्थ्य दिव्य पार्थिव वसु ।
तन्न पुनान आभर ॥१॥

९९९—'पुनान आयुषु' 'योनिमासदत्' इति ऋ० ।

[१०००] वृषा पुनान आयूषि स्तनयन्नधि बर्हिषि ।
हरिः सन् योनिमासदः ॥२॥
[१००१] युवं हि स्थः स्वःपती इन्द्रश्च सोम गोपती ।
ईशाना पिप्यतं धियः ॥३॥१३॥ अ०९। १६ । १, ३, २, ॥

भा०—(१) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! (पुनानः) तू सर्वव्यापक परमेश्वर (नः) हमें (यत्) जो (चित्रं) संग्रह करने योग्य उत्तम अद्भुत (दिव्यं) दिव्यगुण सम्पन्न, (पार्थिवम्) इस पृथ्वी पर (वसु) धन है (तत्) वह (आभर) प्राप्त करा ।

(२) हे (सोम) परमेश्वर ! तू (वृषा) सब सुखों का वर्षक (अधिबर्हिषि) यज्ञ में, इस देह में, अन्तरिक्ष में, (स्तनयन्) गर्जते मेघ के समान उपदेश करता हुआ (आयूंषि) समस्त प्राणियों की आयुओं को (पुनानः) पुनः नया, शुद्ध पवित्र हरा भरा करता हुआ (हरिः सन्) दुःखहारी होकर (योनिम्) हृदयदेश में (आ सदः) आ विराजमान हो ईश्वर, पर्जन्य, प्रजापति, सोमरस और योगज ब्रह्मानन्दरस और राजा का समान रूप से वर्णन है । राजा के योनि अर्थात् आश्रय प्रजाएं हैं ।

(३) हे (सोम) सर्वोत्पादक तू और (इन्द्रः च) ऐश्वर्यवान् दोनों (गोपती) इन्द्रियों, प्रजाओं और रश्मियों के स्वामी (युवं हि) आप दोनों (स्वपती स्थः) सब सुख और ज्ञान, ज्योतिर्मय पिण्डों और द्यौलोक के स्वामी हो । आप (ईशाना) सबके ईश्वर हमारे (धियः) बुद्धियों को (पिप्यत) बढ़ाइये ।

सोम=परमात्मा इन्द्र=आत्मा अथवा इन्द्र=परमात्मा सोम आत्मा । आत्मा, और परमात्मा, जीव और मन, वायु और सूर्य, राजा और मन्त्री आदि का समान रूप से वर्णन है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

[१००२] इन्द्रा मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभि ।
तामन्महस्वाजपूतमर्भवामहे सवाजेषु प्र नोविषत् १
[१००३] असि हि वीर सेन्योऽसि भूरि पराददि । असि दभ्रस्य
चिद्वधो यजमानाय शिक्षसि सुन्वते भूरि ते वसु ॥ २ ॥
[१००४] यदुदीरत आजयो धृष्णव धीयते धनम् । युङ्ध्वा
मदच्युता हरी कं हन. कं वसौ दधाऽसा इन्द्र वसौ दध
॥ ३ ॥ १४ ॥ ऋ० १ । ८१ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० [४११] पृ० २०१ ।

(२) हे वीर ! (सेन्य असि) तू सेना का हितकर है । और (भूरि) बहुत (पराददि) शत्रुओं को पराजय देने हारा है । और तू (दभ्रस्य) स्वल्प थोड़े सामर्थ्य वाले निर्बल को (चित्) भी (धृष) बढ़ाने हारा (असि) है । तू (सुन्वते) सुखों के उत्पन्न करने हारे (यजमानाय) यज्ञ के कर्त्ता, या करदाताओं को (ते भूरि वसु) तू अपना बहुत धन (शिक्षसि) देता है । जो 'इन्द्र' अर्थात् स्वामी या नेता के सहित होती है वह 'सेना' कहाती है । इन्द्रियगण आत्मा नेता के संग होने से सेना कहाती हैं । उनका हितकर, उनमें उत्तम आत्मा सेन्य' है । वह काम क्रोध आदि का पराभव करके स्वल्प (दभ्र) दहराकाश को भी विशाल करता है और यजमान स्वरूप मुख्य प्राण को नाना प्रकार के ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों द्वारा प्राप्त भोग्य वस्तुएं देता है ।

(३) इसकी व्याख्या देखिये अवि० स० [४१४] पृ० २११ ।

[१००५] स्वादोरित्था विषूवतो मधो पिबन्ति गौर्या । या इन्द्रेण
सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥१॥

१००५—'मदन्ति शोभसे' इति ऋ० ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २१
[१००६] ता अस्य पृशनायुव. सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः।प्रिया इन्द्रस्य
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकं वस्वीरनु स्वराज्यम्॥२॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १
[१००७] ता अस्य नमसा सह सपर्यन्ति प्रचेतसः ।व्रतान्यस्य
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
सश्चिरे पुरूणि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥३॥१५॥

ऋ० १ । ८४ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [४०६] पृ० २०८ ।

(२) (ताः) वे (अस्य) इस आत्मा के (पृशनायुवः) स्पर्श, संग, या सन्निकर्ष चाहती हुई, या भोग्य पदार्थों तक पहुंचने की चेष्टा करने वाली (पृश्नयः) रस तक पहुंचने वाली, (प्रियाः) प्रिय (धेनवः) गौओं के समान इन्द्रिया (सोमं) ज्ञान को (श्रीणन्ति) और भी परिपक्व करती हैं, बढ़ाती हैं। और वे (सायकं) नाश करने वाले, अन्त कर डालने वाले (वज्रं) वैराग्य को (हिन्वन्ति) उत्पन्न करती हैं और वे (वस्वीः) इस शरीर में वास करने हारे आत्मा की शक्तियां (स्वराज्यं) अपने निजी आत्मा के प्रकाशमय सत्ता के (अनु) अनुकूल, वश होकर उसमें ही विराजती हैं। साधक का अनुभव परिपक्व होने पर इन्द्रियां ही स्वयं भोग को त्याग कर देती हैं। और वैराग्य होकर आत्मा में आभ्यन्तर ज्ञान-प्रकाश उत्पन्न होता है और उसके अनुकूल सब इन्द्रिया अन्तर्वृत्ति होकर रहती हैं।

(३) (प्रचेतसः) उत्कृष्ट चेतनाशक्ति से युक्त होकर (ता) वे इन्द्रियरूप गौएं (अस्य) इस आत्मा के (सहः) सहनशक्ति या काम, क्रोध आदि पराजित करने वाले बल को (नमसा) शरीर के बल को अन्न के समान अपने प्राप्त अनुभव से (सपर्यन्ति) और भी अधिक आदर और अनुकूलता से बढ़ाती हैं। और (पूर्वचित्तये) पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने

के लिये (वरसी) देह में बसी इन्द्रिय-वृत्तियां (अस्य) इसके (पुरुधि) बहुत से (व्रतानि) कर्मों और गुणों का (स्वराज्यम् अनु) आत्मशक्ति के बल की वृद्धि के लिये (सश्चिरे) सेवन करती हैं, पालन करती हैं, स्वीकार करती हैं।

इति पञ्चम खण्ड ।

[१००८] असाव्यंशुर्मदायाप्सु दक्षो गिरिष्ठाः ।
श्येनो न योनिमासदत् ॥ १ ॥

[१००९] शुम्भन्ति देववातमप्सु धौत नृभि सुतम् ।
स्वदन्ति गाव पयोभि ॥ २ ॥

[१०१०] आदीमश्वं न हेतारमग्रुभमन्नमृताय ।
मधो रस सधमादे ॥३॥१६॥ ऋ० ९ । ६२ । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४७३] पृ० २३८ ।

(२) (देववातम्) देव अर्थात् इन्द्रियों से प्राप्त (अप्सु धौत) ज्ञानवृत्तियों, या प्राणों द्वारा संस्कृत, (नृभि सुतम्) साधक पुरुषों, या प्राणों द्वारा उत्पादित (शुम्भ) शुद्ध, कान्तिस्वरूप, (अन्ध) जीवन धारण करने हार आत्मानन्दरस का (गाव) सूक्ष्म इन्द्रिय वृत्तियें अथवा ज्ञानी पुरुष (पयोभि) अन्न-रसों के साथ २ (स्वदन्ति) आस्वाद लेते हैं।

(३) (आत्) तदनन्तर (अश्व न) जिस प्रकार राजा लोग युद्ध में अपने अश्व को अपनी रक्षा के लिये नाना प्रकार के अस्त्रों और कवचों से सुसज्जित करते हैं उसी प्रकार (हेतार) सब के प्रेरक (इम्) इस

१००९—'अप्सु धूतो नृभि' इति ऋ० ।

(मधोः रसं) मधुर आत्मसम्बन्धी आनन्दमय रस को (सचमादे) शरीर रूप एकत्र आनन्द प्राप्त करने के स्थान में (अमृताय) मोक्ष या अमृतत्व प्राप्त करने के लिये (अयुञ्जन्) नाना साधनाओं से सुशोभित करते हैं।

३ २ ३ २ ३।२।३ १ २ ३ १ २ ३ १
[१०११] अभिद्युम्नं बृहद्यश इषस्पते दिदीहि देव देवयुम्।
१।२ २।२ ३ १ २
विकोशं मध्यमं युव ॥ १ ॥
१ २ ३ २।२ ३ २ ३ २।२ ३ २ ३ १ २
[१०१२] आवच्यस्व सुदक्ष चम्वोः सुतो विशां बर्हिर्न विश्पतिः॥
३ २ ३ १ २ ३ २ ३।२।३ ३ १ २ ३ १ २
वृष्टिं दिव. पवस्व रीतिमपा जिन्वन् गविष्टये धियः ॥२॥
॥ १७ ॥ ऋ० ९ । १०८ । १–१० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [२७९] पृ० २९२।

(२, ३) हे (सुदक्ष) उत्तम बलसम्पन्न सोम ! (विशां) प्रजाओं की (बर्हिः) पुष्पवत्ता का भार वहन करने हारे ! आत्मन् (चम्वोः) दोनों सेनाओं के बीच (सुतः) विराजमान (विश्पतिः न) राजा के समान आप प्रजापति, परमात्मा (गविष्टये) गतिशील पशुओं, प्राणियों और पृथ्वी के समस्त जीवों के हित के लिये (अप. जिन्वन्) जलों को नीचे गिराते हुए (दिवः) अन्तरिक्ष से (रीतिं) अन्नों के देने हारी, विशाल (वृष्टिं) जलवृष्टि को (आवच्यस्व) प्रेरित कर और (धियः) उत्तम बुद्धियों को (पवस्व) प्रेरित कर मेघ रूप प्रजापति पक्ष में—द्यौ और पृथ्वी 'चमू' हैं। अध्यात्म पक्ष में—ज्ञानभूमि और कर्मभूमि, या ज्ञानेन्द्रिय और प्राणेन्द्रिय तदनुसार मस्तक के ऊपर के और नीचे के दोनों भाग चमू हैं। धर्ममेघ समाधि में प्रकट होने वाली ब्रह्मरस की वृष्टि और अप=कर्म अथवा लिङ्ग शरीरमय प्राणों और धियः=ध्यानवृत्तियों को प्रेरित करता हुआ आत्मा, गोः=इन्द्रियों के हित के लिये या स्वयं वृषभरूप आत्मा के हित के लिये सोम=शुद्ध कान्तिरूप में प्रकट होता है।

३ १२ २१३ १ २ ३ २ ३२ ३ १ २
[१०१३] प्राणा शिशुर्महीना हिन्वन्मृतस्य दीधितिम्।
२ ३ १ १ ३ १ २३१२ ३ २
विश्वा परि प्रिया भुवदध द्विता ॥ १ ॥
१२ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १२ २२ ३२
[१०१४] उप त्रितस्य पाव्योऽ३ऽरभक्त यद् गुहा पदम्।
३ १ २ ३ १२ २२ ३१ २ ३ १
यज्ञस्य सप्त धामभिस्त्र प्रियम् ॥ २ ॥
१ २ ३२ ३ १२ ३ १२ ३ २
[१०१५] त्रीणि त्रितस्य धारया पृष्ठेष्वेरयद्रयिम्।
२ ३ १ २ ३ २ ३१२
मिमीते अस्य योजना वि सुक्रतुः ॥ ३ ॥ १८ ॥

ऋ० १। १०२। १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [१७०] पृ० २१८।

(२) (यत्) जब (त्रितस्य) मन, वाक्, काय तीनों से साधना करने हारे योगी आत्मा के (पाव्या) पाषाण के समान कुचल डालने वाले, प्राण और अपान दोनों के बीच में प्रकट होकर यह आनन्दरस (गुहा) भीतरी आकाशगुहा में (पदं) स्थिति को (उप अभक्त) प्राप्त होता है, तब (यज्ञस्य) यज्ञस्वरूप आत्मा के (सप्तधामभि) सातों ऊपर के धारणशील प्राणों से (प्रियम्) आनन्दकारी, उस आत्मानन्दरस का आस्वादन किया जाता है।

(३) (त्रितस्य) साधक आत्मा को (धारया) धारणा से केवल (त्रीणि) तीन रसस्थान प्रकट होते हैं। और उन तीनों (पृष्ठेषु) रस के सेचक मुख्य केन्द्रों में आत्मा अपने (रयिम्) कान्तिमय ऐश्वर्य को (एरयत्) प्रकट करता है। (सुक्रतु) उत्तम योगी साधक (अस्य) इस आत्मा के (योजना) तीनों योग द्वारा-जागृत स्थानों को (वि मिमीते) विशेष रूप से जान लेता है और साध लेता है। तीन स्थान–१ ब्रह्मरन्ध्र, २

१०१५—'पृष्ठेष्वेरय' इति ऋ०।

२ आज्ञाचक्र या सोमचक्र और ३ मणिपूर या स्वाधिष्ठान चक्र अथवा मूलाधार, हृदय और भ्रूमध्य।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१०१६] पवस्व वाजसातये पवित्रे धारया सुतः।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्राय सोम विष्णवे देवेभ्यो मधुमत्तरः ॥ १ ॥
१ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
[१०१७] त्वां रिहन्ति धीतयो हरिं पवित्र अद्रुहः।
३ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
वत्सं जातं न मातरः पवमान विधर्मणि ॥ २ ॥
१ २ २ ३ १ २ २
[१०१८] त्वं द्यां च महिव्रत पृथिवीं चाति जभ्रिषे।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
प्रति द्रापिममुञ्चथाः पवमान महित्वना ॥ ३ ॥ १९ ॥
ऋ० ९ । १०० । ६, ७, ९ ॥

भा०—(१) हे सोम ! (वाजसातये) ज्ञान प्राप्ति के लिये (धारया) धारणावती बुद्धि द्वारा निरन्तर (सुतः) साक्षात् किया गया, प्रेरित या उत्पन्न किया गया, तू (मधुमत्तरः) बराबर क्रम से अधिक २ आनन्द और सुख का देने हारा होकर (इन्द्राय) इन्द्रियों के स्वामी आत्मा और (विष्णवे) सर्वव्यापक परमात्मा के प्रकाश के लिये और (देवेभ्यः) विद्वानों के हितार्थ या प्राणों के ज्ञान के लिये (पवस्व) प्रकट हो।

(२) हे (पवमान) व्यापक रसस्वरूप ! (मातरः) गौएं (जातं) उत्पन्न हुए (वत्सं न) बछड़े को जिस प्रकार (रिहन्ति) चाटती हैं। उसी प्रकार (धीतयः) ध्यानवृत्तियां (विधर्मणि) विशेष धारणा के स्थल, (पवित्रे) पवित्र शुद्ध धारणास्थान में (अद्रुहः) एक दूसरे का घात प्रतिघात या विरोध न करती हुई (हरिं) सब दुःखों के हारक (त्वा) तुझको उत्सुकता से (रिहन्ति) आस्वाद लेती हैं तेरे आनन्द अनुभव करती हैं।

१०१६—'वाजसातम.', इति ऋ०।

(३) हे (महिव्रत) महान् कर्मों के करने वाले परमात्मन्[1] आप (द्यां) आकाश या सूर्य, और (पृथिवीं च) पृथिवी दोनों लोकों को (अति जभ्रिषे) पार करके भी दोनों को ग्रहण किये हुए हो। हे (पवमान) सर्वव्यापक[1] (महित्वना) अपनी महिमा से आप (द्यावि) रूपवान् जगत् को कवच को वीरपुरुष के समान (प्रतिमुञ्चथा) धारण कर रहे हैं।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१०१९] इन्दुर्वाजी पवते गोन्योघा इन्द्रे सोम सह इन्वन्मदाय।
२ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
हन्ति रक्षो बाधते पर्यरातिं वरिवस्कृण्वन्वृजनस्य राजा॥१
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१०२०] अध धारया मध्वा पृचानस्तिरो रोम पवते अद्रि दुग्धः।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
इन्दुरिन्द्रस्य सख्य जुषाणो देवो देवस्य मत्सरो मदाय ॥२॥
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ २ १
[१०२१] अभि ग्रतानि पवते पुनानो देवो देवान्त्स्वेन रसेन पृञ्चन्।
२ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
इन्दुर्धर्माण्यृतुथा वसानो दश क्षिपो अव्यत सानो अव्ये
॥ ३ ॥ २० ॥ ऋ० ९। ९७। १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [९४०] पृ० २७० ।

(२) (अध) और (अद्रिदुग्ध) दृढ़ साधनों द्वारा या धर्ममेघ द्वारा उत्पन्न किया गया (इन्दु·) आनन्दरूप सौमरस (मध्वा) ज्ञानसम्पन्न, मधुर, मनोहर (धारया) धारणा द्वारा (पृचानः) संयुक्त होकर (रोम) स्वबाधक पदार्थों को (तिर) पार करके (पवते) बहता या प्रकट होता है। वह (इन्द्राय) आत्मा की (सख्य) मित्रभाव, प्रेम या आनन्दरूपता को (जुषाण) प्राप्त करता हुआ (देव) प्रकाशमान, (मत्सर) आनन्द हर्षरूप होकर (देवस्य) देव, आत्मा के (मदाय) हर्ष और आनन्द का कारण होता है।

१०१२—'अभिप्रियाणि' इति ऋ० ।

(३) (स्वेन रसेन) अपने आनन्द रस से (देवान्) विद्वानों या इन्द्रियों को (पृञ्चन्) तृप्त करता हुआ (देव.) सुख शान्तिप्रद, तेजोमय वीर्य, (पुनानः) स्वतः स्वच्छ और पवित्र एवं व्यापक होकर (अतानि) सब कर्मों को (अभिपवते) पवित्र कर सर्वत्र प्रकट होता है। (इन्दः) आत्मा (ऋतुथा) प्रत्येक ऋतु के अनुकूल, या प्राणों के बल से (धर्णसि वसानः) धारण-सामर्थ्यों या नाना धर्मों अर्थात् गुणों को सम्पादन करता हुआ (अव्ये सानौ) न गतिशील, प्राणमय, स्थिर सानु अर्थात् सुखग्राहक अन्तःकरण में (दश क्षिपः) दशों क्षिप्रगति करनेहारी इन्द्रियों को (अव्यत) प्राप्त होता है।

ऊर्ध्वरेता योगियों की साधना से वीर्य ऊर्ध्वगामी होकर उन में सब ऋतुओं में सहनशीलता उत्पन्न करता और इन्द्रियों में बल पैदा करता है।

इति षष्ठः खण्डः।

[१०२२] आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम्। यद्धस्था ते पनीयसी समिद्दधति द्यवीषं स्तोतृभ्य आभर ॥ १ ॥

[१०२३] आ ते अग्न ऋचा हविः शुक्रस्य ज्योतिषस्पते। सुश्चन्द्र दस्म विश्पते हव्यवाट् तुभ्यं हूयत इषं स्तोतृभ्य आभर२॥

[१०२४] ओमे सुश्चन्द्र विश्पते दर्वी श्रीणीष आसनि। उतो न उत्पुपूर्या उक्थेषु शवसस्पत इषं स्तोतृभ्य आभर ॥३॥२१॥

अ० ५ । ६ । ४, ५, ६ ॥

भा०—(१) हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप, परमात्मन्! हे (देव) सबके प्रकाशक! (ते) तेरी प्राप्ति के निमित्त या तुझ से हम

१०२३–'शोचिषस्पते'। १०२४–'उभे सुश्चन्द्र सर्पिषो' इति ऋ०।

(द्युमन्त) प्रकाशित, (अनरम्) न जीर्ण होने वाले, अमर नित्य अपने आत्मा को (इधीमहि) प्रकाशित करते हैं । (यत्) और जो (दिवि) मध्य आकाश में (पनीयसी) व्यवहार करने योग्य, अतिस्तुत्य (समित्) समान रूप से प्रकाशित होने वाली सूर्य रूप ज्योति (दीदयति) चमकती है (स्य) वह भी (ते) तेरा ही प्रकाश है । इस कारण हे परमात्मन् ! (स्तातृभ्य) सत्य गुणों के प्रकाशक विद्वानों को आप ही (इष) उत्तम ज्ञान और अन्न (आ भर) प्राप्त कराइये ।

(२) हे (ज्योतिष स्पते) सूर्य आदि ज्योतियों के परिपालक परमात्मन् ! (शुक्रस्य) शुद्ध कान्तिस्वरूप (ते) आपको (ऋचा) ऋग्वेद के ज्ञान द्वारा (हवि) समर्पण करने योग्य इस आत्मा रूप हवि का (तुभ्यं) आपके लिये (आहूयते) सब प्रकार से अर्पित किया जाता है । हे (सु चन्द) सबको उत्तम सुख, आह्लाद देने हारे ! हे (दस्म) सबके भीतर व्याप्त, वा विघ्नों के हर्त्ता ! हे (हव्यवाट्) समस्त संसार को वहन करने हारे ! हे (विश्पते) समस्त प्रजाओं के स्वामी (स्तातृभ्य) सत्य गुणों के प्रकाशकों के निमित्त (इषम्) अन्न और उत्तम ज्ञान प्रेरणा को (आ भर) प्राप्त कराइये ।

(३) हे (सु चन्द) सर्व उत्तम ऐश्वर्यों के स्वामिन् ! सर्वसुखकारक, (विश्पते) प्रजेश्वर ! हे (शवस स्पते) सर्वशक्तिमन् ! सब बलों के स्वामिन् ! आप (उभे) दोनों (दर्वी) अज्ञान का दलन करने हारे ज्ञान और कर्म या सूर्य और पृथिवी को (आसनि) अपने मुखस्थानीय तप में (श्रीणीषे) परिपक्व करते हो और (उक्थ्यु) प्रशंसा करने योग्य धर्मयुक्त कर्मों में, यज्ञों में (न) हमें (उत्पूर्यां) उत्तम फलों द्वारा पूर्ण करें (इष स्तोतृभ्य , आ भर) आप विद्वान् सत्यज्ञानी पुरुषों को अन्न और ज्ञान प्राप्त कराइये ।

[१०२५] इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् ।
ब्रह्मकृते विपश्चित पनस्यवे ॥१॥

[१०२६] त्वामिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः ।
विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि ॥२॥

[१०२७] विभ्राजञ्ज्योतिषा स्वाऽऽरुरुक्षो रोचनं दिवः ।
देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे ॥३॥२२॥ ऋ० १।९८।१-३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३८८] पृ० २००।

(२) हे इन्द्र ! (त्वम्) आप (अभिभूः) सबसे अधिक सामर्थ्यवान् (असि) हो। (त्वं) आप ही (सूर्यं) सूर्य को (अरोचयः) प्रकाशित करते हो। और आप ही (विश्वकर्मा) समस्त संसार के बनाने हारे (विश्वदेवः) सबके प्रकाशक और उनके उपास्य देव सब ऐश्वर्यों के दाता, सब देवों के देव और (महान्) सबसे बड़े पूजनीय (असि) हो।

(३) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! आप (दिवः) सूर्य आदि समस्त द्यौलोक के (रोचनं) प्रकाशक, आनन्दमय, सात्विक (ज्योतिषा) ज्योति से (विभ्राजन्) विशेष रूप से देदीप्यमान होकर (स्वः) आनन्दमय मोक्ष में (अगच्छः) व्याप्त हो। (देवाः) सब विद्वान्गण और तेजस्वी पृथिवी आदि लोक भी (ते) तेरी (सख्याय) मित्रता के लिये (येमिरे) प्रयत्न करते हैं।

[१०२८] असावि सोम इन्द्र ते शविष्ठ धृष्णवा गहि ।
आ त्वा पृणक्त्विन्द्रिय रजः सूर्यो न रश्मिभिः ॥१॥

[१०२९] आ तिष्ठ वृत्रहन्रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी ।
अर्वाचीन सुते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना ॥२॥

[१०३०] इन्द्रमिद्धरी वहतो प्रतिधूर्शवसम् ।
ऋषीणां सुष्टुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम् ॥३॥२३॥
ऋ० १ । ८४ । १, ३, ५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३४७] पृ० १८० ।

(२) हे (वृत्रहन्) विघ्नों के नाशक ! (रथम्) रमणीय, अत्यन्त प्रिय, रस रूप हृदय या आत्मा में, रथमें वीर पुरुष के समान (आ तिष्ठ) आ, विराज । (ते) तेरे (हरी) हरण करनेहारे, भजन करने वाले मन और वाणी दोनों को (ब्रह्मणा) मन्त्र द्वारा (युजा) वाणी (वनुना) मनोहर ध्यान द्वारा हमें (ते) तेरे (अर्वाचीनं) अभिमुख (सु-कृणोतु) उत्तम प्रकार से करे जिससे तेरा साक्षात् करें ।

(३) (हरी) हरण करने हारे मन और वाणी, ज्ञान और कर्म दोनों (अप्रतिधृष्ट-शवसं) अदृश्य और असह्य, बलवान् (इन्दं) आत्मा को (ऋषीणां) विद्वानों या इन्द्रियों की (सुस्तुती.)उत्तम स्तुतियों और अभिलाषाओं को और (मानुषाणां) मनुष्यों के (यज्ञम्) यजन योग्य, उपास्य और सगति करने योग्य परमेश्वर को (उप वहतः) प्राप्त कराते हैं ।

इति सप्तम खण्डः ।

इति द्वितीयोऽर्धः ।

इति तृतीयः प्रपाठकः समाप्तः ॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्थ प्रपाठकः (प्रथमोर्धः)

अथ सप्तमोऽध्यायः

ऋषि—१ (१) आकृष्टभाषा (२, ३) विकृतनिधारी च । २, ११ गय । ३ मेधातिथिः । ४ हिरण्यस्तूपः । ५ अवत्सारः । ६ जमदग्निः । ७ कुत्स

आगिरस॰ । ८ वसिष्ठः । ९ त्रिशोक. काण्वः । १० इडावाश्व॰ । १२ सप्तर्षय । १३ अमहीयुः । १४ शुन.शेप आजीगर्ति । १६ मान्धाता यौवनाश्व. । १५ मधुच्छन्दा वैश्वामित्र॰ । १७ असितः काश्यपो देवलो वा । १८ ऋणचयः शाक्त्य । १९ पर्वतनारदौ । २० मनु सावरण । २१ कुत्स । २२ बन्धुः सुबन्धु श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायना लौपायना वा । २३ भुवन आप्त्य. साधनो वा भौवन. । २४ ऋषि रज्ञातः, प्रतीकस्य वा ॥ देवता—१—६, ११—१३, १७—२१ पवमान. सोमः । ७, १२ अग्नि॰ । १० इन्द्राग्नी । ९, १४, १६, इन्द्रः । १५ सोम. । ८ आदित्य॰ । २३ विश्वेदेवा ॥ छन्दः—१, ८ जगती । २—६, ८—११, १३, १४, १७ गायत्री । १२, १५, बृहती । १६ महापङ्क्तिः । १८ गायत्री स्तोबृहती च । १९ अष्टिक् । २० अनुष्टुप् २१, २३ त्रिष्टुप् । २२ भुरिग्बृहती । स्वरः—१, ७ निषाद॰ । २—६, ८—११, १३, १४, १७ षड्जः । १—१५, २२ मध्यम. १६ पञ्चम॰ । १८ षड्ज. मध्यमश्च । १९ ऋषभ॰ । २० गान्धार. । २१, २३ धैवतः ॥

[१०२१] ज्योतिर्यज्ञस्य पवते मधुप्रिय पिता देवानां जनिता विभूवसुः । दधाति रत्नं स्वधयोरपाक्य मदिन्तमो मत्सर इन्द्रियो रस ॥१॥

[१०२२] अभिक्रन्दन् कलश वाज्यर्षसि पतिर्दिव. शतधारो विचक्षणः । हरिर्मित्रस्य सदनेषु सीदति मर्मृजानोऽविभिः सिन्धुभिर्वृषा ॥२॥

[१०२३] अग्रे सिन्धूनां पवमानो अर्षस्यग्रे वाचा अग्रियो गोषु यच्छसि । अग्रे वाजस्य भजसे महद्धनं स्वायुधः सोतृभिः सोम सूयसे ॥३॥१॥ ऋ० ९ । ८७ । १०—१२ ॥

१०२२—३. 'अर्षत्यग्रे', 'गच्छति' इति ऋ० ।

भा०—(१) (यज्ञस्य) यज्ञ जीवन और समस्त ब्रह्माण्ड का (ज्योति) प्रकाशक (प्रियम्) सबसे उत्कृष्ट (मधु) मनन करने योग्य, योग समाधि द्वारा साक्षात् करने योग्य, (देवाना पिता) २४ देवों का पालक और (जनिता) उत्पादक, (विभूवसु) सर्वव्यापक होने से सब के भीतर वास करने और सबका वास कराने हारा, (स्वधयो) अपनी सत्ता से देह और विश्व को धारण कराने वाले, जीवात्मा और प्रकृति इन दोनों के भीतर (अपीच्यम्) अति सूक्ष्म, सर्वत्र व्यापक (मदिन्तम) सबसे अधिक आनन्दमय और (मासर) सबके हृदयों में आनन्द को बहाने वाला (इन्द्रिय) ऐश्वर्यमय, अथवा इन्द्ररूप जीव आत्माओं का हितकारी, (रस) सर्वव्यापक, रसस्वरूप परमात्मा (रत्न) समस्त ज्योतिर्मय पिण्ड, हिरण्यगर्भ को या अति रमण योग्य सुखमय मोक्ष को (दधाति) धारण करता है।

(२) (वाजी) सर्वशक्तिमान्, ऐश्वर्यवान् (दिव पतिः) द्यौलोक का या सूर्यादि दिव्य पिण्डों का भी परिपालक, उनको नाश होने से बचाने वाला स्वामी, (शतधार) सैकड़ों धारण-शक्तियों से युक्त, (विचक्षण) समस्त संसार का देखने वाला, (अभिक्रन्दन्) नाद करता हुआ, गर्जता हुआ (कलशेषु) कलशों में, जीवधारियों के देहों में आत्मा के समान (अर्षति) व्याप्त रहता है। और वही (हरि) सबके कष्टों और तापों का हरण वाला, सबको गति देने हारा (मित्रस्य) अपने स्नेहपात्र आत्मा के (सदनेषु) निवासगृह, देहों में भी (सीदति) व्यापक होकर विराजता है। वही (वृषा) सब सुखों का वर्षक (सिन्धुभिः) विषयों के प्रति द्रुत गति से जाने वाली (अविभिः) तन्मात्राओं या इन्द्रियों या प्राण शक्तियों द्वारा, धारणाओं द्वारा (मृज्यमान) बार २ शोधा, या बार २ खाना, या परिष्कृत किया जाता है।

(३) हे आत्मन्! तू (सिन्धूनां) उन सूक्ष्म इन्द्रिय शक्तियों प्राणों के (अग्रे) आगे ही (पवमानः) ज्योति-स्वरूप होकर प्रकट होने वाला (वाचः अग्रे) वाणी के भी आगे और (गोषु) प्राणेन्द्रियों के भी (अग्रियः) नेता के समान (अग्रे) आगे होकर (गच्छसि) जाता है अर्थात् वह उनसे भी परे रहकर उनका ग्राह्य विषय नहीं होता। (वाजस्य) ज्ञान और बल का स्वामी प्राण के भी (अग्रे) आगे (महद् धनं) बड़े भारी आनन्दरूप कोष को (भजसे) धारण करता है और (सु आयुध) उत्तम सत्संग साधनों से युक्त या उत्तम शक्तियों से सम्पन्न होकर हे (सोम) सबके प्रेरक, आत्मन्! (सोतृभिः) योगियों द्वारा तू (सूयसे) साक्षात् किया जाता है।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २
[१०३४] असृक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्व्या।
३ १ २ ३ १२ १२
शुक्रासो वीर्याशवः ॥१॥
३ १ २ ३ १२३ १ २ ३ १ २
[१०३५] शुम्भमाना ऋतायुभिर्मृज्यमाना गभस्त्योः।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
पवन्ते वारे अव्यये ॥२॥
१२ २२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१०३६] ते विश्वा दाशुषे वसु सोमा दिव्यानि पार्थिवा।
१ २ ३ १२ २२
पवन्तामान्तरिक्ष्या ॥३॥२॥ अ० ६। ६४। ४-६।

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४८२] पृ० २२४।

(२) (ऋतायुभिः) सत्य, यज्ञ और आत्मा की कामना करने वाले शिष्य साधकों द्वारा (शुम्भमानाः) स्तुति किये गये, प्रार्थना किये गये या उनसे शोभा प्राप्त करने वाले, (गभस्त्योः) अन्धकार को दूर करने हारे, ज्ञान और योगाभ्यास दोनों से (मृज्यमानाः) अपने को परिष्कृत शुद्ध, निष्पाप मलरहित, करते हुए (अव्यये) आत्मा से उत्पन्न, या

अव्यय, अविनाशी (वीर) सब कष्टों के वारक, रक्षास्थान, अमय परमेश्वर में (पवन्ते) विचरते हैं ।

(३) (ते) वे (सोमा.) सोम्यगुणसम्पन्न, विद्वान् योगीजन (दाशुषे) आत्मसमर्पण करने हारे शिष्य के लिये (दिव्यानि) दिव्य, पारलौकिक और (पार्थिवा) इहलोक के और (आन्तरिक्ष्या) मध्यमलोक के (वसु) वास योग्य ज्ञानरूप ऐश्वर्य को (पवन्ताम्) प्रदान करते और स्वयं प्राप्त करते हैं ।

१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
[१०३७] पवस्व देववीरति पवित्र सोम रंहया ।
१ २ ३ १२ २२
इन्द्रमिन्दो वृषा विश ॥१॥
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१०३८] आवच्यस्व महि प्सरो वृषेन्दो द्युम्नवत्तम ।
११ २२ ३ २
आ योनिन्धर्णसि सद. ॥२॥
१ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०३९] अधुक्षत प्रिय मधु धारा सुतस्य वेधसः ।
३ १ २ ३ १ २
अपो वसिष्ट सुक्रतुः ॥३॥
३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[१०४०] महान्तं त्वामहीनां समुद्रं गाधमाविदन् ।
११ २२ ३ १ २
यदु गोभिर्वासयिष्यसे ॥४॥
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१०४१] समुद्रो अप्सु मामृजे विष्टम्भो धरुणो दिवः ।
१ २ ३ १ २ ३ २
सोम पवित्रे अस्मयु ॥५॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ २
[१०४२] अचिक्रदद्वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शत. ।
११ २२
स सूर्येण विपश्चिते ॥६॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०४३] गिरस्त इन्द्र ओजसा मर्मृज्यन्ते अपस्युवः ।
२ ३ १ २ ३ १ २
याभिर्मदाय शुम्भसे ॥७॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०४४] तन्त्वा मदाय घृष्वय उ लोककृत्नुमीमहे ।
२ ३ १ २ ३ २
तव प्रशस्तये महे ॥८॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[१०४५] गोषा इन्दो नृषा असश्वसा वाजसा उत ।
३ २ ३ १ २ ३ २
आत्मा यज्ञस्य पूर्व्यः ॥९॥
३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
[१०४६] अस्मभ्यमिन्दविन्द्रियं मधोः पवस्व धारया ।
३ १ २ ३ १ २
पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव ॥१०॥३॥ ऋ० ९ । २ । १–१० ॥

भा०—(१) (देवयीः) पृथिवी सर्वों और प्राणों में भी व्यापक, उन को कान्ति देने हारा, उनको प्रेरित करने हारा, तू हे (सोम) आत्मन् ! (रंह्या) वेग से (पवित्रे) हृदयदेश, मन को (अति) अतिक्रमण करके (पवस्व) प्रकाशित हो । हे (इन्दो) कान्ति और ऐश्वर्ययुक्त ! (वृषा) सुखों का वर्षक ! तू (इन्दो) आत्मा या परमात्मा के ऐश्वर्यमय स्वरूप में (विश) प्रवेश कर ।

(२) हे (इन्दो) आत्मन् ! (वृषा) सुखों का वर्षक (द्युम्नवत् तमः) अति अधिक तेज-सम्पन्न, यशस्वी, होकर (महि) बड़े (श्रवः) ज्ञान को (आ वक्षस्व) प्रकट कर । और (घृतासिः) घृतिशील, ध्रुव होकर (योनिम्) अपने आश्रय स्थान, या स्वरूप में (सदः) प्रतिष्ठित हो ।

(३) (सुतस्य) योग साधनों से निष्पन्न (वर्धसः) स्वयं करों, विद्वान् योगी की (धारा) धारणा शक्ति (प्रियं मधु) अति आनन्द

१०४४–४८. 'प्रशस्तयो महीः' इति ऋ० । १०४५. अस्मभ्यमिन्दविन्द्रियुः इति ऋ० ।

अमृत रस को (अधुक्षत) दोहती हैं, प्रकट करती हैं और (सुकृत) उत्तम कर्मनिष्ठ योगी (अप) समस्त प्रज्ञानों और कर्मों और लोकों पर (व सिष्ट) वश करता है और उनमें वास करता है।

मधु अमृतम् [सा०]

(४) इ साम ' (यत्) जब (गोभि) आदित्य की सी किरणों से तू (वासयिष्यसे) आच्छादित हो जाता है तब (त्वा) तुझे (महान्त) महान् को (सिन्धव) गतिशील, व्यापक (मैंदी) बड़े भारी (आप) आप्त ज्ञान योग्य लोक (अनु अर्षन्ति) पीछे २ गमन करते अर्थात् अनुसरण करते, तेरे वशवर्ती होते हैं।

(५) (पवित्रे) महान् आकाश में (सोम) सूर्य (अस्मयु) हमारा आश्रय (दिव धरुण) द्यौलोक को धारण करने वाला (विश्वम) नाना प्रकार के पिण्डों का स्वरूपक, आश्रय (समुद्र) समुद्रों को बहाने वाला होकर (अप्सु) अन्तरिक्ष में जैसे (मामृज) विशुद्ध रूप में भासता है। उसी प्रकार योगी का आत्मा भी भीतर हृदयाकाश में आनन्दरस का सा होकर विराजमान होता है।

(६) व्याख्या देखो अविकल स० [४२७] पृ० २४३।

(७) हे (इन्द्रो) आत्मन् ' (ते) तेरे (आत्मा) बल से (अपस्युव) कर्म और इच्छा का प्रकाश करने हारी (गिर) वाणियां (मृज्यन्ते) परिष्कृत स्वरूप शुद्ध हो जाती हैं (याभि) जिनसे (मदाय) आनन्द की प्राप्ति के लिये तू (शुम्भसे) प्रकाशित होता है।

(८) हे सोम ' परमात्मन् ' (मदाय) हर्ष के लिये (घृतस्पे) आत्मा के स्पर्श करने वाले (मदाय) आनन्द को प्राप्त करने के लिये (लो कवित्तमु) दर्शन करने हारे, सर्वदृष्टा या ज्ञान के उत्पादक या समस्त संसार के रचयिता (तं) उस परमानन्दस्वरूप (त्वा) आपको (गृणे)

बड़े भारी (तव) आपकी (प्रशस्तये) महिमा होने के कारण (ईमहे) प्राप्त होते हैं या प्रार्थना करते हैं ।

(९) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! आप (गोषा) वाणियों, गौओं, रश्मियों और ज्ञान इन्द्रियों के दाता (नृषा) पुत्र भृत्यादि तथा नेता अग्रणी पुरुषों के देने हारे, (अश्वसा) देहों में आत्मा, ब्रह्माण्ड में सूर्य और प्राणेन्द्रियों और धन में अश्वों के देने हारे, (वाजसा) ज्ञानबल और अन्न के देनें वाले (उत) भी (असि) हो । आप ही (यज्ञस्य) आत्मा, ब्रह्माण्ड, जीवन और सब कर्मों के (पूर्व्यः) पूर्ण करनेहोर, सबसे आदिम (आत्मा) आत्मा, कर्त्ता, स्वामी हो ।

(१०) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! (मधो.) अमृत की (धारया) धारणा शक्ति से (इन्द्रियं) आत्मा के बल को बढ़ाने वाले या उसके स्वरूप के दर्शन रस को (अस्मभ्यम्) हमारे लिये जिस प्रकार (वृष्टिमान्) वर्षाने वाला (पर्जन्यः) मेघ रस को वर्षाता है उसी प्रकार (पवस्व) बरसाओ ।

इति प्रथमः खण्डः ।

—:o:—

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१०४७] सना च सोम जेषि च पवमान महिश्रवः ।
१ २ ३ १ २
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ १ ॥

२ ३ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २
[१०४८] सना ज्योतिः सना स्वाऽ३ऽविश्वा च सोम सौभगा ।
१ २ ३ १ २
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०४९] सना दक्षमुत क्रतुमप सोम मृधो जहि ।
१ २ ३ १ २
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ३ ॥

[१०५०] पवीतार पुनीतन सोममिन्द्राय पातवे।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ४ ॥

[१०५१] त्वं सूर्य न आभज तव क्रत्वा तवोतिभि।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ५ ॥

[१०५२] तव क्रत्वा तवोतिभिर्ज्योक पश्येम सूर्यम्।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ६ ॥

[१०५३] अभ्यर्ष स्वायुध सोम द्विबर्हस रयिम्।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ७ ॥

[१०५४] अभ्याऽऽववर्तिथो वाजिन्त्समत्सु सासहि।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ८ ॥

[१०५५] त्वा यज्ञैरधीमहि पवमान विधर्मणि।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ९ ॥

[१०५६] रयिं चश्चित्रमश्विनमिन्दो विश्वायुषामर।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ १० ॥ ऋ० ९। ४। ६–१० ॥

भा०—(१) हे (पवमान) सर्वव्यापक ! हमें (महि) बहुत बड़ा (श्रव) यश और ज्ञान का (सन) दान कर और (नृषु च) विद्वानों पर विजय कर। (अथ) और बाद में (न) हमें (वस्यस) श्रेष्ठों में युक्त या ज्ञानियों में श्रेष्ठ (कृधि) कर।

(२) हे (सोम) परमात्मन् ! हमें (ज्योति) प्रकाश, ज्ञान (सन) दो। (रय) सुख (सन) दो। और (विश्व च सौभगा) समस्त सौभाग्ययुक्त पदार्थ दो। (अथ न वस्यस कृधि) और हमें उत्तम वसुमान् अर्थात् ज्ञानवान् में श्रेष्ठ करो।

(३) हे प्रभो ! हमें (दक्षम् उत क्रतु) बल और उत्तम कर्म करने का सामर्थ्य (सन) दो और (मृध) प्रतिस्पर्धी, विघ्नकारी हिंसकों को (अप जहि) विनाश करो, (अथ न०) और हमें सब में श्रेष्ठ करो ।

(४) हे (पवितार) प्रभु को साक्षात् करने हारे विद्वान् पुरुषो ! (इन्दाय पात्वे) आत्मा को पान कराने के लिये (सोम) आनन्दरस या ज्ञान को (पुनीतन) उत्पादन करो, प्रकट करो (अथ न०) और हमें श्रेष्ठ करो ।

(५) हे (सोम) परमात्मन् ! (तव) तेरे (क्रत्वा) ज्ञान सामर्थ्य या कर्म सामर्थ्य से और (तव ऊतिभि) तेरी शक्तियों स (त्व) तू (न) हमें (सूर्ये) सबके प्रेरक आत्मा या परमात्मा में (आ भज) प्राप्त करा (अथ न०) और हमें सबसे उत्तम बना ।

(६) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! (तव क्रत्वा) तेरे ज्ञान से (तव ऊतिभि) तेरी प्रेरणाओं स (सूर्य) सूर्य के समान ज्ञान और प्रकाशस्वरूप तेरा (उर्वाक्) चिरकाल तक (पश्येम) दर्शन करें ।

(७) हे (सोम) सर्वप्रेरक ! इ (स्वायुध) उत्तम साधनों, बलों से युक्त ! (त्व) तू (द्विबर्हस) दोनों लोकों में बढ़ाने वाले (रयिं) प्राणरूप सामर्थ्य को (अभि अर्ष) दे । और (अथ न०) हमें श्रेष्ठ बना ।

(८) हे (सोम) प्रेरक ! (समस्यु) समान भाव से आनन्द के प्राप्त करने के अवसरों में हे (वाजिन्) बल और ज्ञान से सम्पन्न ! (अनपच्युत) अविचल और (सासहि) अभ्यन्तर शत्रुओं का दबाने हारा होकर तू (अभि अर्ष) प्रकट हो (अथ न०) और हमें सबसे श्रेष्ठ बना ।

(९) हे (पवमान) सर्वव्यापक ! (विधर्मणि) अपने विशेषरूप से परिष्कृत और नाना शक्तियों के आश्रय स्थान आत्मा में (यज्ञै) कर्म, ज्ञान, तप आदि यज्ञों द्वारा साधकजन (त्वा) तुझको ही (अवीवृधन्) बढ़ाते हैं और तू (अथ न०) हमें सबसे उत्तम बना ।

(१०) हे (इन्दो) परमेश्वर ! तू (चित्र) सग्रह करने योग्य नाना प्रकार के (अभिनम्) इन्द्रियों का धारण करने हारे (विश्वायु) समस्त आयु का दान कर (रयिं) आत्मिक सामर्थ्य, वीर्य को (आ भर) दे । और (सघ न०) हमें श्रेष्ठ उत्तम बना ।

[१०५७] तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः ।
तरत्स मन्दी धावति ॥ १ ॥

[१०५८] उक्षा यद् वसुनाम्मर्तस्य देव्यवसः ।
तरत्स मन्दी धावति ॥ २ ॥

[१०५९] धन्वयो पुरुपन्त्यारा सहस्राणि दशहे ।
तरत्स मन्दी धावति ॥ ३ ॥

[१०६०] आ ययोस्त्रिंशत तना सहस्राणि च दशहे ।
तरत्स मन्दी धावति ॥ ४ ॥ ५ ॥ ऋ० ९ । ५८ । १–५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविच्छ स० [१००] पृ० २४८ ।

(२) (उक्षा) ऊपर की ओर सेचन करने वाली (देवी) सुख और प्रकाश को दान वाली, प्रकाशस्वरूप, सामरूप शुक्र की धारा (मर्त्यस्य) मरणधर्मा शरीर के भीतर (वसूनां) वास करने हारे प्राणों को (अवस) रक्षा करने का सामर्थ्य (देव) प्राप्त कराती है । तभी (तरत् स मन्दी धावति) वह योगी आत्मा आनन्दमय होकर, सब कष्टों को पार करता हुआ ब्रह्म की ओर चला जाता है ।

(३) हम (धन्वयो) दुःखों को क्षय करनेहारे, या स्वतः विशुद्ध होने वाले (पुरुपन्त्यो) पुरुषरूप आत्मा के सदा समीप वर्तमान प्राण और अपान दोनों के हे (सोम) परमेश्वर ! (सहस्राणि) हजारों वास प्रधान तथा बल,

कर्मों को हम (आदग्रहे) धारण करें, अपने वश करें। उन बलों से ही (तरत् स०) वह आत्मा सैकड़ों कष्ट पार करके ब्रह्म की ओर चला जाता है।

(४) हम (यया) जिनके बल पर (त्रिंशत सहस्राणि) तीस हज़ार ३०००० (तना) दिन रात अर्थात् लगभग ४०० वर्ष पर्यन्त (आदग्रह) जीवन ग्रहण करते हैं उनके बल पर ही (तरत्स मन्दी धावति) वह आनन्दमय जीव सब दुःखों को पार करके ब्रह्म की ओर चला जाता है।

[१०६१] एते सोमा असृक्षत गृणाना शवसे महे।
मदिन्तमस्य धारया ॥ १ ॥

[१०६२] अभि गव्यानि वीतये नृम्णा पुनानो अर्षसि।
सनद्वाज परिस्रव ॥ २ ॥

[१०६३] उत नो गामनारिषमश्वां अर्षं परिस्रुव।
गृणानो जमदग्निना ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ९ । ६२ । २२-२४ ॥

भा०—(१) (मदिन्तमस्य) अति आनन्दकारक परमात्मा की (धारया) आनन्दरूप धारणा शक्ति से (महे) बड़े भारी (शवसे) ज्ञान प्राप्ति के लिये (गृणाना) वेद का अध्ययन, प्रवचन करते हुए (एते सोमा) ये विद्वान् गुरुजन (असृक्षत) उत्पन्न हों। 'शवसे' इति ऋ०।

(२) हे (सोम) परमात्मन्! (वीतये) सर्वत्र कान्ति या प्रकाश करने के लिये (गव्यानि) ज्ञान वाणियों के योग्य (नृम्णानि) मनुष्यों के चित्तों का (पुनान) पवित्र करता हुआ तू (अभि अर्षसि) साक्षात् प्रकाशित होता है। हे (सनद्वाज) ज्ञान के देने हारे, बल के देने हारे ईश्वर! आप हमें ज्ञान और बल (परि स्रव) प्राप्त करावें।

(३) हे परमात्मन्! (जमदग्निना) आत्मा को साक्षात् करने हारे योगी द्वारा (गृणान) स्तुति किये हुए (न) हमारे लिये (गामती)

वेदवाणियों से सम्पन्न (विश्वाः, इष) सब कामनाओं और ऐश्वर्यों को और (परिस्रुभ.) सब प्रार्थनाओं को (उत) भी (अर्ष) पूर्ण स्वीकार कर प्रदान करो ।

[१०६४] इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सम्महेमा मनीषया ।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं
तव ॥ १ ॥

[१०६५] भरामेध्मं कृणवामा हवींषि ते चितयन्त पर्वणा पर्वणा
वयम् । जीवातवे प्रतरं साधया धियोऽग्ने सख्ये मा
रिषामा वयं तव ॥ २ ॥

[१०६६] शकेम त्वा समिधं साधया धियस्त्वे देवा हविरदन्त्याहुतम् ।
त्वमादित्या आवह तान्ह्युऽश्वमस्यग्ने सख्ये
मा रिषामा वयं तव ॥ ३ ॥ ७ ॥ च० १ । ६४ । १,४,३ ॥

भा०—(१) (अर्हते) पूजनीय (जातवेदसे) तेज के ज्ञाता, इस विद्वान्, परमेश्वर और आचार्य के लिये (मनीषया) अपनी मति से (रथम् इव) उत्तम ज्ञानरस के समान सुखकारक (स्तोमं) गुण कीर्तन (संमहेम) करें । (संसदि) सभा में (अस्य) इसकी (प्रमति) उत्तम मति और ज्ञान (नः) हमारे लिये (भद्रा) कल्याण और सुखकारिणी होती है । इसके (सख्ये) मित्रभाव में (मा रिषाम) हम कभी कष्ट न पावें । हे प्रभो ! और हे विद्वन् गुरो ! (वयं तव) हम तुम्हारे हैं । इन्द्रियों का आत्मा के प्रति, भक्तों का ईश्वर के प्रति और शिष्यों का गुरु के प्रति समानरूप से वचन है ।

(२) हे अग्ने ! ज्ञानस्वरूप प्रकाशक ! (ते) तेरे लिये (इध्मं) प्रदीप्त, तेजस्वी होने के साधनों को (भरामः) हम प्रस्तुत करें । (हवींषि)

ग्रहण करने योग्य नाना पदार्थों को (कृणवाम) सम्पादन करें । और (वयं) हम (ते) तेरा (पर्वणा) पोरू २ पर या पूर्ण साधनों या प्रति पर्व, या अध्याय २ द्वारा (चितयन्त) शक्ति और ज्ञान का लाभ करते हुए, (जीवातवे) अपने जीवन के निमित्त (तव सख्ये) तेरे सहयोग या मैत्री में (मा रिषाम) कभी पीड़ित न हों । और तू (प्रतरा) बहुत उत्तम प्रकार से (धिय) हमारी प्रज्ञाओं और कर्मों का (साधय) सुदृढ़ बना ।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! प्रभो ! गुरो ! (धिय) हमारी बुद्धियों को (साधय) उत्तम बना । हम (समिधम्) उत्तमरूप से प्रकाशित होने हारे (त्वा) तेरी सेवा करने में (शकेम) समर्थ हों । (त्वे) तेरे आधार पर (देवा) विद्वान् लोग (आहुतम्) श्रद्धापूर्वक दान किये हुए अन्न आदि पदार्थ को (अदन्ति) भोग करते हैं । (त्वम्) और तू सूर्य के समान (आदित्यान्) किरणों, बारहों मासों, अथवा आदित्य के समान तेजस्वी या सवत्सर के अधीन रहने वाले मासों के समान गुरु के अधीन रहने वाले शिष्यों को यथायोग्य (आ वह) प्राप्त कर, हम (तान्) उनको (उशमसि) चाहते हैं । और हे (अग्ने) प्रकाशक ! (तव सख्ये) तेरी मित्रता में (वयं) हम (मा रिषाम) कभी दुःख, पीड़ा प्राप्त न करें ।

अष्टम द्वितीय खण्ड ।

— o —

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०६७] प्रति वां सूर उदिते मित्र गृणीषे वरुणम् ।
३ १ २ ३ १ २
अर्यमणं रिशादसम् ॥ १ ॥
३ १ २ ३ १, ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१०६८] राया हिरण्यया मतिरियमवृकाय शवसे ।
३ १ १ २ ३ १ २
इयं विप्रा मेधसातये ॥ २ ॥

[१०६९] ते स्याम देव वरुण ते मित्र सूरिभि सह ।
इष स्वश्च धीमहि ॥ ३ ॥ ८ ॥ ऋ० ७ । ६६ । ७-९ ॥

भा०—(१) (सूरे) सूर्य के समान सबके प्रेरक, मुख्य आत्मा के (उदिते) उदय होने पर, जागृत होने पर (मित्र) मित्र, (वरुण) और वरुण, प्राण और अपान (वा) आप दोनों को (रिपादस) विघ्नों के नाशक (अर्यमणम्) न्यायकारी स्वामी के समान पालक जानकर (प्रति-मृषीय) उन दोनों को उपदेश करता हूं ।

(२) (इयम्) यह हमारी (मति) मति, बुद्धि, मननशक्ति, (हिरण्यया) हितकारी, मनोहर (रायो) सम्पत्ति द्वारा, (अवृकाय) हिंसक, चोरों से अतिरिक्त साधु पुरुष के (शवसे) बल वृद्धि करने के लिये हो । हे (विप्रा) विद्वान् पुरुषो ! यह हमारा ज्ञान (मेधसातये) अन्य पवित्र दीक्षित, शिष्यों को ज्ञान दान करने के लिये हो ।

(३) हे देव ! वरुण ! हे (मित्र) मृत्यु को मेटने हारे ! (सूरिभिः) तत्व के ज्ञाता विद्वानों के साथ हम (स्याम) रहें । और (ते) तेरे (इष) अन्न, ज्ञान और (स्व श्च) सुख, आनन्द-स्वरूप को (धीमहि) ध्यान और धारण करें ।

[१०७०] भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृध ।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥ १ ॥

[१०७१] यस्य ते विश्वमानुषग्भूरेर्दत्तस्य वेदति ।
वसु स्पार्हन्तदा भर ॥ २ ॥

[१०७२] यद्वाडाबिन्द्र यत् स्थिरे यत्पशाने परा भृतम् ।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥ ३ ॥ ९ ॥ ऋ० ८ । ४५ । ४०-४२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० स० [१३४] पृ० ७२ ।

(२) हे इन्द्र (त) तेरे (भूरे) बहुतसे (अस्य) जिस (दत्तस्य) दिये हुए दान के विषय में (विश्वम्) समस्त संसार (आनुषग्) बराबर सदा युक्त रह कर (वेदति) जानता या प्राप्त करता है (तत्) वह (स्पार्हं) अभिलाषा करने योग्य (वसु) वासयोग्य जीवनरूप उत्तम धन (आ हर) हम प्राप्त करा ।

(३) व्याख्या देखो अविकल स० [२०७] पृ० १०८ ।

३ २ ३ २३ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१०७३] यज्ञस्य हि स्थ ऋत्विजा सस्री वाजेषु कर्मसु ।

१ २ ३ १ २

इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३

[१०७४] तोशासा रथयावाना वृत्रहणापराजिता ।

१ २ ३ १ २

इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१०७५] इदं वां मदिरं मध्वधुक्षन्द्रिभिर्नरः ।

१ २ ३ १ २

इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् । ३॥१०॥ ऋ० ८ । ३८ । १–३ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र, गुरो ! और अग्ने ! विद्वन् ! आचार्य और अध्यापक आप दोनों (यज्ञस्य) इस महान् अध्ययनाध्यापन ज्ञान दानरूप यज्ञ और परमेश्वर के (ऋत्विजौ) यथाऋतु प्रवर्त्तक एवं प्राण साधना द्वारा उपासना करने हारे (स्थ) हो । और (वाजेषु) ज्ञान यज्ञों में और (कर्मसु) सब कर्मों में (सस्री) स्नातक पारंगत हो । (तस्य) उस उक्त यज्ञ के विषय में आप (बोधतम्) हमें ज्ञान कराइये ।

(२) आप दोनों (रथयावाना) रथरूप देह या रसस्वरूप प्रभु को प्राप्त होने हारे (वृत्रहणा) समस्त अज्ञान आवरण का नाश करने हार, (अपराजिता) कभी पराजित न होने वाले, (तोशासा) विघ्नों के नाशक

[१०६६] ते स्याम देव वरुण ते मित्र सूरिभि सह ।
इष स्वश्च धीमहि ॥ ३ ॥ ८ ॥ ऋ० ७ । ६६ । ७-६ ॥

भा०—(१) (सूरे) सूर्य के समान सबके प्रेरक, मुख्य आत्मा के (उदिते) उदय होने पर, जागृत होने पर (मित्र) मित्र, (वरुण) और वरुण, प्राण और अपान (वां) आप दोनों को (रिषादस) विघ्नों के नाशक (अर्यमणम्) न्यायकारी स्वामी के समान पालक जानकर (प्रति-मृक्षीपे) उन दोनों को उपदेश करता हूं ।

(२) (इयम्) यह हमारी (मति) मति, बुद्धि, मननशक्ति, (हिरण्यया) हितकारी, मनोहर (राया) सम्पत्ति द्वारा, (अवृकाय) हिंसक, चोरों से अतिरिक्त साधु पुरुष के (शवसे) बल वृद्धि करने के लिये हो । हे (विप्रा) विद्वान् पुरुषो ! यह हमारा ज्ञान (मेधसातये) अन्य पवित्र दीक्षित, शिष्यों को ज्ञान दान करने के लिये हो ।

(३) हे देव ! वरुण ! हे (मित्र) मृत्यु को मेटने हारे ! (सूरिभि) तत्व के ज्ञाता विद्वानों के साथ हम (स्याम) रहें । और (ते) तेरे (इष) अन्न, ज्ञान और (स्व च) सुख, आनन्द-स्वरूप को (धीमहि) ध्यान और धारण करें ।

[१०७०] भिन्ध विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृध ।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥ १ ॥

[१०७१] यस्य ते ।वश्वमानुषग्भूरेदुत्तस्य वेदति ।
वसु स्पार्हन्तदा भर ॥ २ ॥

[१०७२] यद्वीडाव द्रि यत् स्थिरं यत्पशाने परा भृतम् ।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । ४२ । ४०-४२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिय अवि० सं० [१३४] पृ० ७२।

(२) हे इन्द्र (ते) तेरे (भूरे) बहुतसे (यस्य) जिस (दत्तस्य) दिये हुए दान के विषय में (विश्वम्) समस्त संसार (आनुषग्) बराबर सदा युक्त रह कर (वेदति) जानता या प्राप्त करता है (तत्) वह (स्पार्हं) अभिलाषा करने योग्य (वसु) वासयोग्य जीवनरूप उत्तम धन (आ हर) हमें प्राप्त करा।

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [२०७] पृ० १०८।

३ २ ३ २उ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१०७३] यज्ञस्य हि स्थ ऋत्विजा सस्री वाजेषु कर्मसु।

१ २ ३ १ २

इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३

[१०७४] तोशासा रथयावाना वृत्रहणापराजिता।

१ २ ३ १ २

इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

[१०७५] इदं वां मदिरं मध्वधुक्षन्द्रिभिर्नरः।

१ २ ३ १ २

इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥ ३ ॥१०॥ ऋ० ८। ३८। १-३ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र, गुरो! और अग्ने! विद्वन्! आचार्य और अध्यापक आप दोनों (यज्ञस्य) इस महान् आत्मसमर्पण ब्रह्म दानरूप यज्ञ और परमेश्वर के (ऋत्विजौ) यथानुक्रम प्रवर्तक एवं ब्रह्म साधना द्वारा उपासना करने हारे (स्थ) हो। और (वाजेषु) ज्ञान बलों में और (कर्मसु) सब कर्मों में (सस्री) आगे प्रगामी हो। (तस्य) उस उक्त यज्ञ के विषय में आप (बोधतम्) ज्ञान करावें।

(२) आप दोनों (रथयावाना) रमण करने या रमणीय ब्रह्म को प्राप्त होने हारे (वृत्रहणा) समस्त अज्ञान अन्धकार को नष्ट करने हारे (अपराजिता) कभी पराजित न होने वाले, (इदम्) यह (मदिरं) हर्ष के उत्पादक

हैं, (इन्द्राग्नी) आप इन्द्र और अग्नि परमात्मा और आचार्यस्वरूप दोनों मुझको उस यज्ञ का ज्ञान कराइये ।

(३) (नर) विद्वान् मनुष्य (अद्रिभि) अखण्ड व्रतों से (वां) आप दोनों के (इदं) इस दर्शनीय (मधु) अमृत, ज्ञान का (अक्षरन्) क्षरण करते हैं (तस्य) उसका (वाघतम्) हमें भी ज्ञान कराइये ।

इति तृतीयः खण्डः ॥

---

[१०७] इन्द्रायेन्दो मरुत्वत पवस्व मधुमत्तमः ।
अर्कस्य यानिमासदम् ॥१॥

[१०७] तन्त्वा विप्रा वचोविद परिष्कृण्वन्ति धर्णसिम् ।
स त्वा मृजन्त्यायवः ॥२॥

[१०८] रस ते मित्रो अर्यमा पिबन्तु वरुण कवे ।
पवमानस्य मरुतः ॥३॥११॥ ऋ० ९ । ६४ । २२-२० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकल सं० [४७२] पृ० २३८ ।

(२) हे प्रभो ! (वचोविद) वेदवाणी का तत्त्व जानने हारे ये (विप्राः) मेधावी लोग (तं) उस स्मरणीय (धर्णसिं) समस्त संसार को दृढ़ के समान धारण करने हारे (त्वा) तुझ परम आत्मा को (परिष्कृण्वन्ति) नाना प्रकार से पहचानते हैं । (त्वा) तुझको ही (आयवः) मनुष्य लोग (सं मृजन्ति) योग साधनों से खोजते और आत्मा को पवित्र करते हैं ।

(३) हे (कवे) क्रान्तदर्शिन् विद्वन् ! (मित्र) मृत्यु से बचाने हारा प्राण और (वरुण) वरणरूप अपान और (अर्यमा) संयमी और (मरुतः) शेष प्राणगण भी (पवमानस्य ते) प्रकाशित होते हुए तेरे (रसं) बल को (पिबन्तु) पान करें ।

[१०७९] मृज्यमान सुहस्त्या समुद्रे वाचमिन्वसि ।
रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहं पवमानाभ्यर्षसि ॥१॥
[१०८०] पुनानो वारं पवमानो अव्यये वृषा अचिक्रदद्वने ।
देवानां सोम पवमान निष्कृतं गोभिरञ्जानो अर्षसि
॥२॥१२॥ ऋ० ९ । १०७ । २१–२२॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५१७] पृ० २५५ ।

(२) (अव्यय वारं) प्राणमय या कर्ममय आवरण में स (पुनान) पवित्र होता हुआ (पवमान) व्यापक आत्मा (वृष) सुखों का वर्षक होकर (वन) इस ब्रह्माण्ड या अन्तरिक्ष में मेघ के समान (अचिक्रदत्) अनाहत रूप से नाद करता और सुखों का वर्षा कराता है । हे (सोम) प्रेरक ! आप (गोभिः) रश्मियों से (अञ्जानः) अभिव्यक्त होते हुए (देवानां) समस्त प्रकाशमान पदार्थों के (निष्कृतं) स्थान या मूलकारण को (अर्षसि) प्राप्त होते हैं । आत्मपक्ष में–वह (गोभिः) प्राणों से (अञ्जानः) प्रकट होकर इन्द्रियों के आश्रय को प्राप्त है ।

[१०८१] एतमु त्यं दश क्षिपो मृजन्ति सिन्धुमातरम् ।
समादित्यभिरख्यत ॥१॥
[१०८२] समिन्द्रेणोत वायुना सुत एति पवित्र आ ।
सं सूर्यस्य रश्मिभिः ॥२॥
[१०८३] स नो भगाय वायव पूष्णे पवस्व मधुमान् ।
चारुर्मित्रे वरुणे च ॥३॥१३॥ ऋ० ९ । ६२ । ७–९ ॥

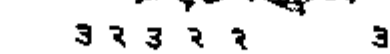
१०८१—२ 'मृजानो वारे,' वृषाचक्रदा वने' इति ऋ० ।

भा०—(१) (एतम्) इस (उ त्य) ही उस (सिन्धुमातरं) दक्षण शील प्राणों के माता अर्थात् उत्पादक या ज्ञाता आत्मा को (दश क्षिप) बाहर फैंक गये दस गौण प्राण, इन्द्रियां (मृजन्ति) परिष्कृत करती हैं। वह (आदित्यभि) किरणों के समान लगी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा (सम् अ शयत) भली प्रकार देखता है। परमेश्वर के पक्ष में—उस (सिन्धुमातरं) समस्त आकाश और सागर आदि के निर्माता प्रभु को दशों दिशाएं सुशोभित करती हैं। वह सूर्य स सबको प्रकाशित करता है।

(२) (इन्दव) आत्मा (उत वायुना) और प्राण से (सुत) निष्पादित होकर वह आनन्दरस (सूर्यस्य) सबके प्रेरक मुख्य प्राण को (रश्मिभि) किरणों स (पवित्रे) पवित्र करने हार अन्त करण में (सम् आ एति) उत्तम रीति से विदित होता या प्राप्त है।

(३) (स) वह (मनुमान्) अमृत स्वरूप (भगाय) ऐश्वर्यवान् (वायवे) प्राण स्वरूप (पूष्ण.) पुष्टिकारक, आत्मा के निमित्त और (मित्रे) प्राण और (वरुणे च) अपान के लिये भी (पवस्व) प्रकट हो। परमेश्वर पक्ष में-(मित्रे वरुणे च) सर्व सुहृद्वान् और सर्व दुःख वारक के रूप में प्रकट होता है।

इति चतुर्थ खण्ड ।



[१०८४] रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः ।
क्षुमन्तो याभिर्मदेम ॥१॥

[१०८५] आ घ त्वावान्मनायुक्तः स्तातृभ्यो धृष्णवीयान् ।
ऋणोरक्षं न चक्र्योः ।

१०८५—'त्वनाऽऽस' इति ऋ० ।

१र २र ३ १र २र ३ २
[१०८५] आ यदुव शतक्रत्वाकाम जरितृणाम् ।
३ २ज ३ १र २र
ऋणोरक्षं न शचीभि ॥३॥१४॥ ऋ० १ । ३० । १३-१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५३] पृ० ८६ ।

(२) हे (घृष्णो) शत्रुओं के या काम क्रोधादि के घर्षण अर्थात् मान मर्दन करने हारे (चक्रयो.) रथ के चक्रों का (अक्ष न) धुरा जिस प्रकार स्वयं अपने आश्रय रहकर भी रथ को दूर देश में पहुचाता और आप भी जाता है उसी प्रकार हे आत्मन् ! (त्वावान्) तेरे सदृश तू ही (त्मना युज.) स्वयं अपने आपमें समाहित होकर (इयान.) इसको अभीष्टतक पहुचाता हुआ (आ ऋणोः) मोक्ष तक पहुचता और साथ ही स्वय भी वहां प्राप्त होता है ।

(३) (अक्ष न) जिस प्रकार धुरा (शचीभिः) अपने में लगे अरों द्वारा रथ को दूर देश तक पहुचा देता है । उसी प्रकार हे शतक्रतो ! सैकड़ों प्रज्ञानों से युक्त आत्मन् ! (जरितृणाम्) विद्वान् ज्ञानोपदेशकों को भी (आकाम) उनकी कामनाओं के अनुसार (दुव·) उनके मनोरथ या अर्थित पदार्थ (शचीभि) अपनी शक्तियों से (आ ऋणो.) प्राप्त करा देते हो ।

सर्वोत्तकाम ब्रह्मवेत्ता जीवनमुक्त की दशा का वर्णन है । उसके साथ ही राजा और प्रभु का वर्णन भी स्पष्ट है ।

३ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २
[१०८७] सुरुपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे ।
२ ३ २ ३ १
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥१॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०८८] उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपा. पिब ।
३ २ब ३ २ ३ १ २
गोदा इद्रेवतो मदः ॥२॥

[१०८९] अथा ते अन्तमाना विद्याम सुमतीनाम् ।
मा नो अतिख्य आगहि ॥३॥१५॥ ऋ० १ । ४ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१६०] पृ० ८६ ।

(२) (सामपा) सोम अर्थात् आत्मानन्द के रस का पान करने हारा, समस्त आत्म पदार्थों और ज्ञानों का रक्षक, साम्य गुणों को धारण करने हारे विद्वानों का पालक, सूर्य के समान विद्यार्थियों का प्रकाशक, आचार्य और परमात्मा (सोमस्य) उत्पन्न कार्य जगत् के बीच में (स वना) ऐश्वर्ययुक्त पदार्थों और ज्ञानों को प्रकाशित करने के लिये (न) हमारे (उप) समीप (आगहि) आवे और (शिव) स्वयं ज्ञान प्राप्त करके अन्यों का पान करावे । (गोदा) ज्ञान की आखों को देने वाला (इत्) ही (रेवत) इष्ट पदार्थ को प्राप्त करने वाले जीव को (मद) हर्षकारी होता है ।

(३) हे परमेश्वर ! (ते) तेरे (अन्तमाना) समीप में प्राप्त (सुमती ना) उत्तम मेधावी ज्ञानियों के पास से (विद्याम) हम तेरा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करें (न , आगहि) आप हमें प्राप्त होइये, (मा नो अतिख्य) हमें त्याग न कीजिये ।

[१०९०] उभ यादिन्द्र राजसी आपप्राथापा इव ।
महान्त त्वा महीना सम्राज चर्षणीनाम् ।
देवा जानन्यजीजनन्ब्रह्मा जानन्यजीजनत् ॥१॥

[१०९१] दीर्घ ह्यङ्कुश यथा शक्ति बिभर्षि मन्तुम ।
पूर्वेण मघवन् पदा वयामजा यथा यम ।
देवा जानन्यजीजनन्ब्रह्मा जानन्यजाजनत् ॥२॥

१०९१—२ 'मघवन् पदावया यथा वन' ।

[१०९२] अव स्म दुर्हणायतो मर्त्तस्य तनुहि स्थिरम् ।
अधस्पदं तमी कृधि यो अस्माँ अभिदासति ॥
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ॥३॥१६॥
ऋ० १० । ११४ । १, ६, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३७६] पृ० १९६ ।

(२) हे (मन्तुम।) ज्ञानवान् ! सर्वज्ञ ! (यथा) जिस प्रकार आप (दीर्घं) दूर तक जान वाल (अकुशम्) ज्ञानाकुश को (बिभर्षि) धारण करते हो उसी प्रकार (शक्तिं) उसके प्रयोग के सामर्थ्य और उपाय को भी जानते हो। हे (मघवन्) एश्वर्यवन् ! (यथा) जिस प्रकार से (यम) इन्द्रियों और उनके समान लोकों पर वश करन हारा (अज) अजन्मा आत्मा परमात्मा (पूर्वम्) पूर्व (पदा) ज्ञान और सामर्थ्य स (वया) व्यापक प्रकृति का वश करता है और तभी (देवी) दिव्यगुण वाली यह प्रकृति (जनित्री) समस्त संसार का उत्पन्न करन हारी (अजीजनत्) इस संसार का उत्पन्न करती है। (भद्रा) कल्याण और सुख को दन हारी (जनित्री) प्रकृति (अजीजनत्) इस संसार का उत्पन्न करती है। और (भद्रा) वह सुखदायी (जनित्री) माता के समान संसार की जननी होकर भी महिमा का प्रकट करती है।

(३) हे परमेश्वर (दुर्हणायत) दुष्ट चोर (मर्त्तस्य) मनुष्य की, (स्थिर) स्थिति का (अवतनु हि स्म) नीचा कर। (य) जो, (अस्मान्) हमें (अभिदासति) गुलाम बनाना चाहता है (तम् इत्) उसको ही (अध पद) नीच के स्थान में (कृधि) करदे। (देवी जनित्री) उस दिव्यगुण वाली सबकी माता प्रकृति तेरी महिमा को

१०९२ ३ 'यो अस्मा आदिदेशति, इति ऋ० ।

प्रकट करती है। वह कल्याणकारी सब की माता होकर भी तेरी महिमा को प्रकट करती है।

इति पञ्चम खण्ड।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१०९३] परि स्वानो गिरिष्ठा पवित्रे सोमो अक्षरत्।
१ २ ३ १ २
मदेषु सर्वधा असि।
३ १ १ ३ ३ ३ २ ३ १र २र
[१०९४] त्व विप्रस्य कविमधुप्रजातमन्धस।
१ २ ३ १ २
मदेषु सर्वधा असि ॥२॥
१र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०९५] त्व विश्व सजोषसो देवास पीतिमाशत।
१ २ ३ १ २
मदेषु सर्वधा असि ॥३।१७। ष० ३। १८। २-३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४७५] पृ० २२९।

(२) हे (सोम) परमात्मन् (त्व) तू (विप्र) मेधावी (कवि) क्रान्त दर्शी है। (अन्धस) अन्न से (जातम्) उत्पन्न हुए जीवन शक्ति के रूप में प्रकट होने वाले (मधु) अमृतस्वरूप वीर्य और आनन्द को (प्र) प्रदान कर। तू (मदेषु) सब आनन्दों में (सर्वधा) समस्त संसार का धारण करने हारा है।

(३) (त्व) त्व (विश्वे) समस्त (सजोषस) समान रूप से आप को प्रेम करने हारे (देवास) विद्वान् लोग (पीतिम्) आपके रसास्वादन का आनन्द (आशत) प्राप्त करते हैं और (मदेषु) सब आनन्दों में आप ही सबको धारण करने हारे हो।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ १ १र २र
[१०९६] स सुन्वे यो वसूना यो रायामानेता य इडानाम्।
२ ३ १ २ ३ २
सोमा य सुन्वतीनाम् ॥१॥

[१०९७] यस्य त इन्द्र पिबाद्यस्य मरुता यस्य धामन्ना भग. ।
आ येन मित्रावरुणा करामह एन्द्रमवसे महे ॥२॥१८॥
ऋ० ६ । १०८ । १३-१४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२८२] पृ० २६३ ।

(२) हे (सोम) परमेश्वर (यस्य) जिस (ते) तेरे रस को (इन्द) यह आत्मा (पिबात्) पान करता है (यस्य) जिस तेरे रस को (मरुत) ये दश प्राण और समस्त विद्वान्गण और (यस्य वा) जिस तेरे रस या बल को (अर्यम्णा) अर्यमा अर्थात् समान वायु के साथ (भग) उदान वायु और सूर्य पान करते हैं और (येन) जिसके बल पर (मित्रावरुणा) प्राण और अपान दोनों का (आ करामहे) परिचालित करते हैं और (इन्दम्) जिसके बल पर विद्वानजन आत्मा को (आ) साक्षात् करते हैं । वह तू (महे अवसे) बड़ी रक्षा प्राप्त करने के लिये है तू ही शान्तिप्रद अभय स्वरूप है ।

[१०९८] त च सखाया मदाय पुनानमभिगायत ।
शिशुमृहस्य. स्वदयन्त गूर्त्तिभि. ॥१॥
[१०९९] स वत्स इव मातृभिरिन्दुर्हिन्वानो अज्यते ।
देवावीरघो मतिभि परिष्कृत. ॥ २ ॥
[११००] अय दक्षाय साधनाय्य शर्धाय धीतये ।
अय देवेभ्यो मधुमत्तम सुत: ॥३॥१६॥ ऋ० ९।१०२।१ ३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१६६] पृ० २८७ ।

(२) (मातृभि) दूध पिलाने वाली माताओं द्वारा (वत्स इव) जिस प्रकार बच्चा (हिन्वानः) प्रेरित और परिवर्धित और प्रालित

१०९८—३ 'मधुमत्तमः सुत.' इति ऋ० ।

पोषित होकर (अज्यते) प्रकट होता है । उसी प्रकार (इन्दु-) सोम= विद्वान् शिष्य भी (मातृभि) विद्वान् ज्ञानियों द्वारा बालक के समान (हिन्वान) शिक्षित किया गया (अज्यते) विद्या आदि उत्तम गुणों से प्रकट होता है । वह (देवावी) विद्वानों के पास जाने हारा (मद) सबको हर्षकारक (मतिभि) विशेष मननयोग्य प्रज्ञाओं या मननशील विद्वानों द्वारा (परिष्कृत) परिष्कृत अलकृत होता है ।

(३) (अय) यह (सोम) उत्तम गुणों से युक्त ज्ञानवान् पुरुष (दक्षाय) बलशाली कार्य को (साधन) साधन करने वाला और (अय) यह (शर्धाय) बल या ज्ञान के प्राप्त करने (वीतये) और कान्ति, दीप्ति या तेज प्राप्त करने के लिये यत्नवान् हो । (अय) यह (देवेभ्य) विद्वानों के हित के लिये (मधुमत्तर) माधुर्य आदि गुणों से और अधिक युक्त होकर (सुत) उत्पन्न या दीक्षित है ।

सोम के दृष्टान्त से स्नातक का वर्णन किया है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११०१] सोमा पवन्त इन्दवोऽस्मभ्यं गातुवित्तमा ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
मित्रा स्याना अरेपस स्वाध्य स्वर्विद ॥१॥
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[११०२] त पूतासो विपश्चित सोमासो दध्याशिर ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सूरासो न दर्शतासो जिगत्नवो ध्रुवा घृते ॥२॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११०३] सु स्वाणासो व्यद्रिभिश्चिताना गोरधि त्वचि ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इषमस्मभ्यमभित समस्वरन्वसुविद ॥३॥२०॥

ऋ० १ । १०१ । १०, १२, १३ ॥

भा० —(१) व्याख्या देखो अविकल स० [५४८] पृ० २७५ ।

११०१—१. 'मित्रा सुयाना' २. पते पूता.' इति ऋ० ।

(२) (ते) वे (पूतास) पवित्र हृदय वाले (विपश्चितः) मेधावी (सोमास) सोम्यगुण वाले विद्वान् (घृते) ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप ब्रह्म में (जिगत्नव) उन्नति की तरफ़ जाने वाले (ध्रुवा.) स्थिर, अखण्डित, दृढ़ (सूरास.) आदित्यों के समान तेजस्वी, विद्वान्, आदित्य ब्रह्मचारी होकर (दर्शतास.) दर्शनीय, भव्य हों ।

(३) (गो) सूर्य के समान तेजस्वी गुरु के (अधि त्वचि) आश्रय या संरक्षकता में (सु स्वानास) ज्ञानवान् होते हुए (अद्रिभिः) विद्वानों द्वारा (वि चिताना.) नाना प्रकार का ज्ञान प्राप्त करते हुए (वसुविद·) आत्मज्ञान के जानने हार (अस्मभ्यम्) हमें (अभितः) सब ओर से (इष) ज्ञान का (सम्-अस्वरन्) उपदेश करें ।

३ ८ ३ १ २ १८ २८ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११०४] अया पवा पवस्वैना वसूनि माश्चत्व इन्दो सरसि प्रधन्व ।
३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
ब्रह्माश्चियस्य वातो न जूतिं पुरुमेधाश्चित्तकवे नरं धात्॥१॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ८ ३ २ ३ १ २ ३ २
[११०५] उत न एना पवया पवस्वाधि श्रुते श्रवाय्यस्य तीर्थे ।
३ २ ३ १ २ ३ १८ १८ ३ २ ३ ८ १ २ ३ १ ·
पर्षि सहस्रा नैगुतो वसूनि वृक्षं न पक्वं धूनवद्रणाय॥२॥
२ ३ १ २ ३ ८ ३ १ २ ३ १८ २८ ३ १ २ ३ १ २
[११०६] महीम अस्य धृषतामशूषे मांश्चत्वे वा पृशने वा वधत्र ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
अस्त्रापव्राङ्गुत क्नेहयच्चापामित्रॉ अपाचितो अचेतः
॥ ३ ॥ २१ ॥ अ० ९ । ३७ । ५२–५४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५४१] पृ० २७० ।

(२) हे (सोम) परमेश्वर ! (श्रवाय्यस्य) श्रवण करने योग्य उपदेश के दाता तुझ प्रसिद्ध जगद्गुरु के (तीर्थे) ज्ञानसागर से तराने वाले स्थान, या आश्रमस्वरूप (श्रुते) वेद में (अधि) और भी अधिक (एना) इस प्रकार की (पवया) पवित्र करने हारी ज्ञान धारा या धारणा से (नः)

हमारे लिये (पवस्व) उपदेश करो। (वृक्ष न पक्व) जिस प्रकार फल चाहने वाला पके फलों से लदे वृक्ष को बल से कंपाता है और सहस्रों फल नीचे आ टपकते हैं उसी प्रकार आप (नेगुप्त) जो मुख से कभी न कहे जाते हों ऐसे अत्यन्त गुह्य ज्ञानों के रक्षक हैं। आप (पंक्ति सहस्रा) ६० हज़ार या १०६० (वसूनि) ज्ञान रत्नों को (रणाय) आत्मा के आनन्द प्राप्ति के लिये (धूनवत्) हमें प्राप्त कराओ।

(३) (अस्य) इस आत्मा के (इम) ये (वृष नाम) सुखों का वर्षण और उदारता का नमन ये दोनों काम (मही) बड़े भारी (शूषे) सुखकारी मन के एकमात्र गतिस्थान हृदय में होते हैं। हे साधक (वा) और (पृशन) स्पर्शन करने वाले (बधन्न) हिंसा या पीड़ा से बचाने वाले आश्रय स्वरूप इन्द्रिय में (निगुत) छुपे हुए निगूढ़ काम और क्रोध आदि शत्रुओं को (अस्वापयत्) सुलाता हुआ (स्नेहयत् च) और उन का नाश करता हुआ तू (अभिख्यान्) उन शत्रुओं और (अचित अप) ज्ञान रहितों को दूर कर और (अचत) चेतना रहित जड़ पदार्थों मूर्खों, हृदयहीनों को भी (अप) दूर कर।

इति षष्ठः खण्डः

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ ४ १
[११०७] अग्न त्व नो अन्तम उत त्राता शिवो भुवा वरूथ्य ॥१॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ४ ३ १ २
[११०८] यसुरग्निवसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमा रयिं दा ॥२॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११०९] त त्वा शक्किष्ठ दीदिव सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्य ।
॥३॥ २२ ॥ ऋ० ५ । २४ । १, २, ४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४४८] पृ० २२६।

(२) (वसु) सबमें वास करने हारा (वसुश्रवा) ज्ञान का श्रवण कराने वाला ज्ञानघन (अग्ने) ज्ञानवन् (द्युमत्तम) अति अधिक

तेजस्वी, आत्मा (नाभि) हृदय में व्यापक है। वह तू हमें (रयिं) समस्त जीवन रूप धन का (दा) दान कर।

(३) हे (शचिष्ठ) कान्ति और तेज से युक्त ! हे (दीदिव) दीप्तिमान् अग्ने ! प्रभो ! हम (सुम्नाय) सुख के लिये और (सखिभ्य) अपने समान ख्याति वाले अपने मित्रों और बन्धुओं के लिये (नूनं) अवश्य (इमहे) आप से याचना करते हैं।

[१११०] इमा नु कं भुवना सीषधेन्द्रश्च विश्वे च देवा ॥३॥

[११११] यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्र सहसीषधातु ॥२

[१११२] आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्मभ्यं भेषजा करत् ॥ ३ ॥ २३ ॥ ऋ० १०। १५७। १, २ ३।

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकल सं० [४१२] पृ० २२७।

(२) (नः) हमारे (यज्ञम्) आत्मा का (तन्वं च) और शरीर को (प्रजां च) और प्रजा सन्तति का (इन्द्र) परमात्मा (आदित्यैः) द्वादश मासों, या आदित्य स्वरूप विद्वानों और प्राणों के (सह) साथ (सीषधातु) रक्षा करे।

(३) (इन्द्र) आत्मा (मरुद्भिः) प्राणों और (आदित्यैः) ज्ञानेन्द्रियों द्वारा या वायुओं और ऋतुओं के द्वारा सूर्य के समान (सगणः) अपना अन्य सहायक शक्तियों सहित (अस्मभ्यं) हमारे लिये (भेषजा) आरोग्यकारक उपाय (करत्) करें।

[१११३-१५] प्रवोचोप ॥२४॥

भा०—(१) (व) आप लोग (प्र) परमेश्वर की उत्तम रूप से,

(२) (अच) स्तुति करो,

१११३—२ 'सहवीर्यत्वप्राप्ति' ३ 'अस्माकं भूयविष्ठा तनूना' इति च।

(३) और (उप) उपासना करो ।

[सायणाचार्य ने इस मन्त्र को एक ऋचा मान कर व्याख्या की है । माधव ने अपने विवरण में इस मन्त्रों को तीन मन्त्रों की एक सविंश प्रतीक माना है जो क्रम से 'प्र व इन्द्राय०' 'अर्चन्त्यर्कं०' 'उप प्रक्ष मधुम०' इन मन्त्रों के आद्य अक्षरों से बनी है । इन तीनों मन्त्रों की क्रम से व्याख्या देखिये अविकल सं० [४४६, ४४५, ४४४] पृ० २२१, २२४ तदनुसार इनको यहां संक्षेप से रख देने का प्रयोजन 'उद्दालपुत्र' नामक उदाहरण की दर्शाना मात्र है ।

इति सप्तम खण्डः ।

इति प्रथमोऽर्धः प्रपाठकः ।

इति सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ।

अथाष्टमोऽध्यायः

अथ चतुर्थप्रपाठकस्य (द्वितीयोऽर्धः)

ऋषि —१ वृषणो वासिष्ठः । २ असित काश्यपो देवलो वा । ११ भृगुर्वारुणिर्जमदग्निः । ८ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । ४ यजत आत्रेयः । ५ मधुच्छन्दो वैश्वामित्रः । ७ सिकता निवावरी । ८ पुरुहन्मा । ९ पर्वतानारदौ शिखण्डिन्यौ काश्यप्यावप्सरसौ । १० भर्गवो विण्यायाः । १२ वरसः काण्वः । नृमेध । १४ अत्रिः ॥ देवता—१, २, ७, ९, १० पवमानः सोमः । ४ मित्रावरुणौ । ५, ८, १३, १४ इन्द्रः । ६ इन्द्राग्नी । १२ अग्निः ॥ छन्दः—१, ३ त्रिष्टुप् । २, ४, ५, ६, ११, १२ गायत्री । ७ अनुष्टुप् । ८ प्रागाथः । ९ उष्णिक् । १० द्विपदा विराट् । १३ ककुप्, पुर उष्णिक् । १४ अनुष्टुप् ॥ स्वरः—१—३ धैवतः । २, ४, ५, ६, १२ षड्जः । ७ निषादः । १० मध्यमः । ११ ऋषभः । १४ गान्धारः ॥

१ २१ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१११६] प्रकाव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमाविवक्ति ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३१ २१ ३ १ २
महिव्रत शुचिबन्धु पावक पदा वराहो अभ्येति रेभन्॥१॥
२३ १ ३ १ २ ३१३ ३ २३ ३ १२
[१११७] प्रहंसास्तृपलावन्नुमच्छामादस्तं वृषगणा अयासुः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१२ ३ २
अङ्गोषिणं पवमानं सखायो दुर्मर्षं वाणं प्रवदन्ति साकम्॥२॥
१ २ ३ १ २ ३२३ ३ १ २ ३१२ २१
[१११८] स योजत उरुगायस्य जूतिं वृथा क्रीडन्तं मिमते न गावः ।
३ १ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १२३ १ २ ३ २
परीणसं कृणुते तिग्मशृंगो दिवा हरिर्ददृशे नक्तमृज्रः ॥३॥
ऋ० ९ । ९७ । ७–९ ॥
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[१११९] प्र स्वानासो रथा इवार्वन्तो न श्रवस्यवः ।
१ २ ३ १ २
सोमासो राये अक्रमुः ॥ ४ ॥
३ २ ३ १ २ ३१२ २१
[११२०] हिन्वानासो रथा इव दधन्विरे गभस्त्योः ।
१ २ ३ १ २
भरासः कारिणामिव ॥ ५ ॥
१ २ ३१२ २१ ३ १ २ ३ १ २
[११२१] राजानो न प्रशस्तिभिः सोमासो गोभिरञ्जते ।
३ २३ ३ २ ३ १ २
यज्ञो न सप्त धातृभिः ॥ ६ ॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[११२२] परिस्वानास इन्दवो मदाय बर्हणा गिरा ।
१ २ ३ १ २
मघो अर्षन्ति धारया ॥ ७ ॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[११२३] आपानासो विवस्वतो जन्यन्त उपसो भगम् ।
२ ३ २ ३ १ २
सूरा अण्वं वितन्वते ॥ ८ ॥

१११७—'तृपल मन्नु', 'आनूषय पवमान', 'दुर्मर्षं साकं प्रवदन्ति वाण' ।
१११८—'सरहत उरुगायस्य' इति ऋ० । ११२३—'जनन्त उषसो भग' ।

[११२४] अप द्वारा मतीना प्रत्ना ऋण्वन्ति कारव ।
वृष्णो हरस आयव ॥ ९ ॥

[११२५] समीचीनास आशत होतारः सप्त जामय ।
पदमेकस्य पिप्रत ॥ १० ॥

[११२६] नाभा नाभिं न आ ददे चक्षुषा सूर्यं दृशे ।
कवरपत्यमादुहे ॥ ११ ॥

[११२७] अभि प्रिय दिवस्पदमध्वर्युभिर्गुहा हितम् ।
सूर पश्यति चक्षसा ॥ १२ ॥ १ ॥ अ० ९ । १० । १-९ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [११२४] पृ० ४८७ ।

(२) (हसास) नीर क्षीर का विवेक करने हारे हंसों के समान सत्यासत्य का विवेक करने हारे परमहंस योगी लोग (तृपला[1]) सत्व, रजस् और तमस् तीनों को पार करके जाने हारे, या काम क्रोधादि का प्रहार करने हारे, उन पर वशी, (पवनुम्) रमणीय अनाहत नाद को (अच्छ) लक्ष्य करके (वृषगणा) उत्तम, धर्ममेघ समाधि के साधक योगिजन (अमात्[2]) अध्यक्ष बल या ज्ञान से (अस्त) शरण-योग्य आत्मा को (प्र अयासु) प्राप्त होते हैं । (सखाय) वे समान आत्मा नाम वाले, या परम प्रभु के प्यारे (साकं) एक साथ (पवमान) व्यापक (दुर्मदं) न सहन करने योग्य, असह्य तेज से युक्त (अगाधिण[3]) इस देह में

११२५—'आसते होतारः' 'सप्त जामय' ।

११२६—'चक्षुश्चिरसूर्यं सचा' । ११२७—'अभिप्रिया दिवस्पद' इति ऋ० ।

१ तृपल क्षिप्रप्रहारी, सप्तप्रहारी सोमो वा इन्द्रो वा (निरु० ५।२।७)

२ अमा पुनर्निर्मित भवति (निरु० ५ । २ । ८)

३ उप दाहे दीप्तौ च । दीप्त सोम इति (मा० वि०)

बसने हारे, कान्तिस्वरूप या स्तुति करने योग्य (वार्यं) भोग्य आत्मा को (प्र वदन्ति) उपदेश करते हैं ।

(३) (स) वह योगी (उरुगायस्य) विशाल गुणों वाले, स्तुतियों से सम्पन्न परमात्मा की (जूतिं) ज्योति या प्रेरणा को (वोजते) समाधि द्वारा साक्षात् करता है । (गाव) अन्य इन्द्रियगण या अन्य लोग (वृथा) अनायास (क्रीडन्त) नाना प्रकार से जगत् सर्जन प्रलय आदि लीला करते हुए उस परमात्मा को (न) नहीं (मिमते) ज्ञान करते । (सः हरिः) वह सब दुःखों को हरण करने वाला हरि (तिग्मशृंगः) तीक्ष्ण तेज से युक्त होकर आदित्य के समान (परीणसं) नाना प्रकार का तेज प्रकट करता है, और वह (ऋज्रः) विस्पष्ट प्रकाश से युक्त ऋजु मार्ग पर चलने हारा, धार्मिक, होकर (दिवा नक्तं) रात दिन (ददृशे) प्रकाशित होता है ।

इसमें सूर्य और स्वराट् योगी का वर्णन है । जिसके मुख पर दिन रात तेज का मण्डल दीखने लगता है ।

(४) (स्वानासः) विशुद्ध रूप में प्रकट होने वाले (सोमासः) ज्ञानी लोग (रथा इव) वेगवान् रथों के समान और (अर्वन्तः न) अश्वों के समान (श्रवस्यवः) अन्न, ज्ञान और परम ऐश्वर्य की कामना करने हारे (राय) परम साक्षात्कार या परमानन्द प्राप्ति के लिये (अक्रमुः) और आगे क़दम रखते हैं ।

(५) वे (रथा इव) रथों के समान प्रबल वेगवान् होकर और (कारिणाम्) योद्धाओं के (भरासः) संग्राम या यज्ञकर्त्ताओं के कर्त्ताओं के समान (हिन्वानासः) आगे बढ़ते हुए । (गभस्योः) प्राण और अपान दोनों की साधनाओं द्वारा (दधन्विरे) साधना करते हैं ।

(६) (प्रशस्तिभिः) उत्तम कीर्त्तियों, स्तुतियों से (राजानः न) राजाओं के समान और (सप्तधातृभिः) सात ज्ञान धारण

यौगिक ऋत्विजों द्वारा या सात मुख्य प्राणों द्वारा आत्मा के समान (गोभि) प्रकाश की किरणों द्वारा (अञ्जते) आत्मा के स्वरूप को प्रकाशित करते हैं ।

(७) (इन्दव) ज्ञान सम्पन्न योगिजन (स्वानास) ब्रह्मरस का सम्पादन करते हुए, (वईणा) बड़ी ब्रह्मरूप (गिरा) वेदवाणी द्वारा (मधो) अमृत रस या आत्मानन्द की (धारया) धारक शक्ति से युक्त होकर (मदाय) ब्रह्मानन्द प्राप्ति के लिये (परि अर्षन्ति) और आगे बढ़ते हैं । [देखो अवि० सं० ४८१ । पृ० २४२]

(८) (अप नास) अपान को वश करने हारे योगिजन (विवस्वत) विशेष रूप से देह में निवास करने हारे आत्मा के (उपस) पापदाहक, तमोनाशक तेज के (भगम् ऐश्वर्यं) को (जिन्वन्ति) प्राप्त करते हैं । वे (सूरा) सूर्य के समान आदित्य योगी उस (अएव) अति सूक्ष्म आत्म-तत्व को (वितन्वते) विशेषरूप से साक्षात् करते हैं ।

(९) (प्रत्ना.) पुरातन, उत्कृष्ट अभ्यासी (कारव.) योगक्रिया के करने हारे (वृत्या) वर्त्तनशील, सुखवर्षक आत्मा के (हरस.) स्वरूप को प्राप्त होने वाले (आयव.) उस तक पहुंचे हुए जन (मतीनां) मनन शक्तियों के (द्वारा) द्वारों को (अप अरुवन्ति) खोल डालते हैं ।

(१०) जिस प्रकार यज्ञ में एक यजमान का कार्य सम्पादन करने के लिये सात होता लोग बैठते हैं उसी प्रकार (समीचीनास) उत्तमरूप से गति या ज्ञान सम्पादन करने हारे, शान्तस्वरूप, सोमस्वरूप (सप्त) सात, या प्रसर्पणशील, प्राण (होतार) आत्मा का अनुसन्धान करनेहारे (जानय) ज्ञानोत्पादक इन्द्रियगण और विद्वान्जन (एकस्य) एक ही आत्मा के (पद) स्थान, स्वरूप, ज्ञान या सामर्थ्य को (पिप्रत) पूर्ण करते हुए (आसत) विराजते हैं, आनन्द का भोग करते हैं ।

(११) (नाभिं) सबको केन्द्ररूप होकर बांधने हारे आत्मा को (न) हम (नाभा) अपने शरीर के केन्द्र, या मुख्य बन्धनस्थान अपने मन में (आददे) धारण करें जिससे (चक्षुषा) ज्ञान चक्षु से हम (सूर्यं) सर्वप्रेरक प्रकाशक आदित्यरूप परमात्मा का (दृशे) दर्शन करें। (कवे) क्रान्तदर्शी मेधावी के (अपत्यं) अविनाशी, अपने आश्रित को नीचे न गिरने देने वाले ध्रुव स्वरूप परमात्मा के (आदुहे) आनन्द रस का ग्रहण करें।

अपत्य कस्मादपतत भवति, न अनेन पतति इति (निरु० ३। १। १)

(१२) (सूर) सूर्य के समान आदित्य योगी, उत्तम योगबल से सम्पन्न होकर (चक्षसा) दिव्य चक्षु द्वारा (अभिप्रियं) अत्यन्त मनोहर (अध्वर्युभि) जीवन यज्ञ के सम्पादक, इन्द्रियों के सूक्ष्म सामर्थ्यों सहित (गुहा हितम्) हृदयाकाश रूप गुहा, या गुहारूप परमात्मा के भीतर (दिव) दीप्त तेजःस्वरूप आत्मा के (पद) स्वरूप को (परयति) देखता है।

दिवस्पद तस्यात्मन पदम् (सा०)।

इति प्रथम खण्ड ।

[११२८] अक्तुभिन्द्रय॰ पथा धर्भ्रुतस्य सुधिय ।
उदाना अस्य योजना ॥ १ ॥

[११२९] प्र धारा मध्वो अग्रियो महीरपो निगाहते ।
हविर्हवि पु वन्द्य ॥ २ ॥

[११३०] प्र युजा वाचो अग्रियो वृषा अचिक्रदद्वने ।
सद्मामित्सत्या अध्वर ॥ ३ ॥

११२९—'मध्वो अग्रियो' इति ऋ० ।

२ ३ १२ २१ ३ २३ १ २ ३१२ २१
[११३१] परि यत्काव्या कविर्नृम्णा पुनानो अर्षति ।
१२ ३ १ २
स्वर्वाजी सिषासति ॥ ४ ॥
१ २ ३ २३ ३ २ ३ १ २
[११३२] पवमानो अभिष्टुतो विशा राजेव सीदति ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
यदीमृण्वन्ति वेधस ॥ ५ ॥
१ ३ २ ३ १ २ ३ १३ ३ १ २
[११३३] अव्या वारे परि प्रियो हरिर्वनेषु सीदति ।
३ १ २ ३ २
रेभो वनुष्यते मती ॥ ६ ॥
२ ३१२ २१३ १ २ ३ १२ १२
[११३४] स वायुमिन्द्रमश्विना साकं मदेन गच्छति ।
२ ३ १ २ ३ १ २
रणा यो अस्य धर्मणा ॥ ७ ॥
२ ३१२ २१ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३
[११३५] आ मित्र वरुण भगे मधो पवन्त ऊमय ।
३ १ २ ३ १ २
विदाना अस्य शक्मभि ॥ ८ ॥
३ १ २ ३ २३ १ २ ३ १ २
[११३६] अस्मभ्यं द्यावापृथिवी रयिं मध्वो वाजस्य सातये ।
२ ३ १ २ ३ १ २
धर्णा वसूनि सञ्जितम् ॥ ९ ॥
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[११३७] आ ते दक्ष मयोभुव ऊतिमियर्मि वृत्तये ।
२ ३ १ २ ३ १ २
पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ १० ॥
२ ३ १२ २१ ३ २१ ३ १ २ ३ १ २
[११३८] आमन्द्रमाचरण्यमाविप्रमा मनीषिणम् ।
१ ३ १ २ ३ १ २
पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ ११ ॥

११३१—'नृम्णा वसानो' । ११३३—अव्या वार ।
११३४—'मदस्य धर्मणा' । ११३५—आदित्या वरुणा भग' इति सू० ।

[११३६] आ २ ३।१ २ ३ २ ३ १ ३ ३ २ रयिमा सुचेतुनमा सुक्रतो तनूष्वा।
२ ३ १ २ ३ १ २ पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ १२ ॥ २ ॥

आर्चा० ऋ० ६ ७। १–६। शाम्बव्य ऋ० ६। ६५। ५८–६० ॥

भा०—(१) (इ दव) आत्मसम्पत्ति स सम्पन्न शमादि गुणयुक्त यागीजन, (क्षतस्य) स यज्ञान क (धर्मन्) धारण करन हार परमात्मा क स्वरूप में (सुक्रिय) उत्तम रूप स आश्रय प्राप्त करने वाल (पथा) सत्य ज्ञान क मार्ग से (अस्य) इस आत्मा क (याजना) याग-समाधि द्वारा मिलापों क आनन्दों का (विदाना) लाभ करत हुए (अमृतम्) कृतकृत्य होजात हैं।

(२) (हविषु) समस्त अभिलाषा योग्य, या इष्टदव को समर्पण करने योग्य पदार्थों में भी उत्तम (इ वि) स्वीकार करन और धरने योग्य पदार्थ आत्मा ही (वन्द्य) स्तुतियोग्य है। वह (महो) बड़ (अप) ध्यान धारणाओं, और कर्मों और प्रज्ञाओं को समुद्रों क समान (विगाहते) पार कर जाता है और (मधो) अमृत की (अग्रियः) आगे प्रकट हान हारी, मुख्य, उत्तम (धारा) शक्तियों को (प्र) प्राप्त करता है।

(३) (अग्रिय) मुख्य या प्रबल (वृषा उ) सुखों का वर्षक आत्मा ही (प्रयुजा) प्रयोग करन योग्य (वाच) वाणियों का (वन) भजन करन योग्य ब्रह्म में (अचिक्रदत्) उच्चारण करता है। वह यागी आत्मा (सयः) स याचरण करन हारा, सज्जनों में श्रेष्ठ, (अघ्न्या) किसी की हिंसा न करन हारा (सद्म) अपन आश्रयस्वरूप, परम शरण परमेश्वर का (अभि) प्राप्त हाता और साक्षात् करता है।

(४) (यत्) जब (कवि) मेधावी, ज्ञानवान् (नृम्णानि) मनुष्यों के मनोहारी साधन, चित्त का (पुनान) शुद्ध पवित्र करता हुआ (काम्या) उत्तम वेदवाणियों का (परि अर्षति) ज्ञान प्राप्त करता है

तब वह (वाजी) ज्ञानवान् होकर (स्व) परमसुख मोक्षरूप आनन्द को (सिषासति) सेवन करता है ।

(५) (यद्) जब (ईम्) इस आत्मा को (वेधस) योगसाधक ज्ञानी लोग (अख्यन्ति) प्राप्त करते हैं तब (पवमान) देदीप्यमान, आत्मा (अभिस्पृध) स्पर्धा करने हारे, विघ्नकारी, बाधक कारणों या व्युत्थान लक्षणों को दूर करके (विश राज इव) प्रजाओं पर राजा के समान (सादति) प्रबल होकर बैठता है ।

(६) (हरि) दुःखों के विनाशक आत्मा (प्रिय) अत्यन्त प्यारा होकर (वनपु) देहों में (अव्या वारे) चितिशक्तिरूप अवि के आवरण कारी, या वरण योग्य त्रिपुटी आदि स्थान में (परिसीदति) विराजता है । और (रेभ) अप्रतिहत नाद करने हारा, या स्तुतिशील (मती) मनन शक्ति द्वारा (वनुष्यत) प्राप्त किया जाता है ।

वनुष्यतिर्ईन्तिकर्मोऽनवगतसंस्कारो भवति (निरु० २ । १ । २)

(७) (य) जो (अस्य) इस साम के (धर्मणा) धारणयोग्य गुण या धारणा बल से (रणा) रमण करता है, (स) वह आत्मज्ञानी (वायुम्) प्राणवायु (इन्दम्) आत्मा और (अश्विनौ) ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों को (मदन) आनन्द और हर्ष के साथ (गच्छति) वश कर लेता है ।

(८) (मधो) हर्षकारक आनन्दरूप सामरस की (ऊर्मय) ऊर्ध्वगतियां या तरंगें (मित्र) प्राण और (वरुण) अपान (भग) और समान में (पवन्त) गति करती हैं । और साधकजन (अस्य) इस आत्मा की (शक्तिभि) शक्तियों द्वारा (सम्विदाना) उत्तम रीति से ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं ।

(९) हे (रोदसी) सूर्य और पृथिवी, प्राण और अपान तुम दोनों (इह मन्म) हमें (वाजस्य) ज्ञान और (मध्व) आनन्दस्वरूप अमृत की (सातये)

शक्ति के लिये (रयिं) प्राप्त सामर्थ्य, बल, (अव०) उपदेश, (वसूनि) जीवनोपयोगी पदार्थों पर (सं जितं) यश करादो।

(१०) हे सोम ! (वयं) हम लोग (अद्य) आज (मघोभुवः) शान्ति को उत्पन्न करने हारे, (वह्नि) शक्तियों के वहन करने हारे, (पान्तं) हमारे पालक, (पुरुस्पृह) सब के कामना के योग्य, (ते दंसः) तेरे बल को (आवृणीमहे) उत्तम समझ कर प्राप्त करते हैं। अवि० [४१८]।

(११) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! (वरेण्यम्) वरण करने योग्य, सर्वोत्तम, (विप्र) मेधावी और (मनीषिणं) सबके हृदयों के प्रेरणा करने हारे (पान्तं) सब के पालक (पुरुस्पृहम्) सब के प्रेमपात्र आपको हम (आ) साक्षात् करते हैं।

(१२) हे (सुकर्मो) उत्तम कर्म और ज्ञान से युक्त ! प्रज्ञा से सम्पन्न ! हे (सोम) सब के प्रेरक ! (रयिम्) रयिस्वरूप (सुचेतुनम्) उत्तम ज्ञाता (तनूषु आ) हमारे देहों में भी व्याप्त (पान्तं) रक्षक (पुरुस्पृहम्) प्रजा के प्रेमपात्र और सबके स्नेही आपको (आ) वरण करते हैं।

इति द्वितीयः खण्डः।

[११४०] मूर्धन्नं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम्।
कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्नः पात्रं जनयन्त देवाः॥१॥

[११४१] त्वां विश्वे अमृत जायमानं शिशुं न देवा अभि सं नवन्ते।
तव क्रतुभिरमृतत्वमायन् वैश्वानर यत्पित्रोरदीदः॥२॥

[११४२] नाभिं यज्ञानां सदनं रयीणां महामाहावमभि सं नवन्त।
वैश्वानरं रथ्यमध्वराणां यज्ञस्य केतुं जनयन्त देवाः॥३॥३॥

अ० ६। अ० १। व० १, ४, २॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [६७] पृ० ३४ ।

(२) हे (अमृत) मरणरहित अमृतस्वरूप ! हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! आत्मन् ! (शिशु न) लोग बालक के प्रति जिस प्रकार प्रेम से आकृष्ट होकर उसको बार २ देखने की इच्छा से उस पर झुकते और प्रेम प्रकाश करते हैं (विश्वे देवा०) समस्त दिव्यगुणयुक्त सूर्य, चन्द्र, वायु आदि पदार्थ और विद्वान् गण उसी प्रकार(शिशु) सर्वत्र गुप्त रूप से व्यापक (जायमान) अपने सामर्थ्य से सर्वत्र प्रकट होने हारे आपको (अभि संनवन्ते) साक्षात् कर स्तुति करते हैं । हे (वैश्वानर) समस्त मनुष्यों के हृदयों में व्यापक ! वे विद्वान् योगी लोग (तव) आपके ही (क्रतुभि) उपदिष्ट कर्मों और ज्ञानों द्वारा (अमृतत्वम् आयन्) अमृतत्व या मोक्षपद को प्राप्त करते हैं । और आपका रसरूप तेज (विप्रो) मात पिता के बीच में पुत्र के समान ही देह के पालक प्राण और अपान के मध्य सुषुम्ना नाड़ी में (अदीद) प्रकाशित होता है ।

(३) (यज्ञानां) देवपूजा, सङ्गम, मैत्री और समस्त दान पुण्य आदि परोपकार के कार्यों के (नाभिं) एकमात्र आधार, केन्द्र (रयीणां सदनं) समस्त ऐश्वर्यों और वीर्य-सामर्थ्यों के भण्डार (महां) बड़े भारी (आहावं) तृष्णा को शान्त करने के निमित्त सब को अपने प्रति बुलाने वाले जलाशय के समान जीवनाधार रस के समुद्र, आपको (देवा) विद्वान् लोग (अभि सं नवन्त) साक्षात् स्तुति करते हैं । और उसका (अरराणा) समस्त हिंसा रहित पवित्र कार्यों के (रय्यम्) महारथी के समान वहन करनेहारे (वैश्वानर) समस्त हृदयों में व्यापक, सबके नेता और (यज्ञस्य) आत्मा का (केतुं) ज्ञापक (जनयन्त) बतलाते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[११४३] प्र वो मित्राय गायत वरुणाय विपा गिरा ।
१ २ ३ २ ३ २
महि क्षत्रावृतं बृहत् ॥१॥

३ १ ३ १ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ २
[११४४] सम्राजा या घृतयोनी मित्रश्चोभा वरुणश्च ।
३ १ ३ १ २ ३ १
देवा देवेषु प्रशस्ता ॥२॥
१ १ ३ १ २ ३ १ ३ १ ३ १ १
[११४५] ता नः शक्तं पार्थिवस्य महो रायो दिव्यस्य ।
१ १ ३ १ ३ १ २
महि वां क्षत्रं देवेषु ॥३॥४॥ अ० ५ । ६ । १-३ ॥

भा०—(१) (यः) आप लोग (मित्राय) जीवन को स्नेह करने हारे प्राण और (वरुणाय) दोषों का वारण करने वाले अपान को या विद्वान् और उपदेशक को (विपा) ज्ञानयुक्त, मन से प्रेरित, सार्थक (गिरा) वाणी से (प्र गायत) स्तुति करो । हे मित्र और वरुण, (महि-क्षत्रा) बड़े बलशाली आप दोनों (बृहत्) बड़े भारी (वचः) सत्य आत्म-ज्ञान को प्रकाश करते हो ।

(२) (या) जो (मित्र च वरुण· च) मित्र और वरुण प्राण और अपान हैं वे (उभा) दोनों (घृतयोनी) कान्ति, प्रकाश और तेज के उत्पत्ति-स्थान और (सम्राजा) स्वयं उत्तम रीति से प्रकाश देनेहारे (देवेषु) दिव्य पदार्थों, विद्वानों और इन्द्रियगण में (प्रशस्ता) प्रशंसा योग्य (देवा) सुख के दाता हैं ।

(३) (ता) वे दोनों (नः) हमारे लिये (पार्थिवस्य) पृथिवी और (दिव्यस्य) आकाश से होने वाले (महः) बड़े भारी (रायः) ऐश्वर्य सामर्थ्य को (शक्तं) भोगने और धारण करने में समर्थ हैं । (देवेषु) समस्त दिव्य पदार्थों और विद्वानों में (वां) आप दोनों का भी (महि क्षत्रं) बड़ा भारी बल है ।

१ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११४६] इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः ।
१ १ ३ १ १ २ ३ १ २
अण्वीभिस्तना पूतासः ॥१॥

१२ १२ ३ २ ३ १२ २१ ३ १ २
[११४७] इन्द्रायाहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः ।
२ ३ १ २ ३ १ २
उप ब्रह्माणि वाघतः ॥ २ ॥
२१ २१ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[११४८] इन्द्रायाहि तू तुजान उप ब्रह्माणि हरिवः ।
३ १ २ ३ १ २
सुते दधिष्व नश्चनः ॥३७५॥ अ० २ । ३ । ४-६ ।

भा०—हे (इन्द्र) परमात्मन् ! हे (विप्रमानो) आश्चर्यकारक ज्ञानों और प्रकाशों से सम्पन्न ! (आयाहि) हमें तू प्राप्त हो । (इमे) ये समस्त (सुता.) संसार के पदार्थ (त्वायव.) तेरे आश्रय पर हैं और (अधीभि.) कारणस्वरूप, सूक्ष्म प्रकाशावयवों द्वारा (तना) विस्तृत विरचित और (पूतासः) पवित्र होने से ग्रहण करने योग्य हैं । अथवा (आधीभि पूतासः) योगसाधनाओं से पवित्र (सुताः) ये ऐश्वर्यवान् योगीजन (त्वायव.) तेरी कामना करते हैं, तुझ चाहते हैं, तू इन्हें प्राप्त हो ।

(२) हे (इन्द्र) परमात्मन् ! (धिया) बुद्धि या उत्तम कर्म द्वारा (इषितः) प्राप्त करने योग्य (विप्रजूत.) विद्वानों से जाना गया, (सुतावत) ज्ञान से सम्पन्न (वाघत.) वेदार्थ को जानने हारे विद्वान् ब्रह्मणों के (ब्रह्माणि) वेद मन्त्रों द्वारा की स्तुतियों को तू (उप आयाहि) प्राप्त हो ।

(३) हे (इन्द्र) विद्वन् या प्राणवायो ! (हरिवः) हरणशील अथवा इन्द्रियों के स्वामिन् ! (तूतुजान.) वेगवान् आप (सुते) उत्पन्न जगत् में व्यापक (ब्रह्माणि) वेद मन्त्रों की स्तुतियों या उस के ज्ञाता विद्वानों को (आयाहि) प्राप्त करते हैं और (न.) हमारे (धनः) स्तुतियों को स्वीकार करो ।

[११४९] नमोऽग्निभ्यो यो अर्चिषा वना विश्वा परिष्वजत् ।
कृष्णा कृणोति जिह्वया ॥१॥

[११५०] य इद्ध आ विवासति सुम्नमिन्द्रस्य मर्त्य ।
द्युम्नाय सुतरा अप ॥२॥

[११५१] ता नो वाजवतीरिष आशून् पितृतमर्वत ।
ऐन्द्रमग्निं च वोढव ॥३॥६॥ अ० ६ । ६० । १०-१२ ॥

भा०—(१) हे मनुष्य ! (तम् अग्निम्) उस सबके पापों के दहन करने हार ज्ञानमय परमात्मा का (इडिष्व) उपासना कर (य) जो (अर्चिषा) अपने तेज से (विश्वा) समस्त (वना) भोगने योग्य कर्म-बंधनों को वनों में अग्नि के समान (परिष्वजत) जा लगता है और जैसे अग्नि वनों में लगकर उनको जलाकर काला कर देता है उसी प्रकार वह अग्नि (जिह्वया) अग्नि की ज्वाला के समान भस्म करने वाली शक्ति से सबको (कृष्णा) विश्व भिन्न, दग्ध (कृणोति) कर डालता है। जगत्को जला देने वाला अग्नि से कर्मदाहक ज्ञानाग्नि की तुलना है।

(२) (य मर्त्यः) जो मरणधर्मा मनुष्य (इद्ध) स्वयं प्रकाशित, ज्ञानवान् होकर (इन्द्रस्य) आत्मा के (सुम्नं) सुख करने वाले ज्ञान को (आ विवासति) उद्दीपन करता है उस (द्युम्नाय) प्रकाशस्वरूप ज्ञानों के लिये (अप) कर्म बन्धन (सुतराः) सुख से तरने योग्य हो जाते हैं।

(३) हे ज्ञान और बल ! (ता) वे आप दोनों (वाजवतीः इषः) ज्ञानसम्पन्न कामनाओं और (आशून्) शीघ्रगामी बलवान् (अर्वतः) ज्ञानेन्द्रियों को (पितृतम्) तृप्त करने वाले (इन्द्रम् अग्निम् च) इस आत्मा और उस ज्ञानस्वरूप ईश्वर को (आ वह) अपने में सुख से धारण करो।

[illegible]

११४९—३. ऋ० १ । ७ । ४ ।

[११५२] प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृत सखा सख्युर्न प्रमिनाति
सांङ्गरम् । मर्य इव युवतिभिः समर्षति सोम कलशे
शतयामना पथा ॥१॥

[११५३] प्र वो यिये मन्द्रयुवो विपन्युवो मनस्युव सञरण्यव-
क्रमु । हरिं क्रीडन्तमभ्यनूषत स्तुभो भि धेनव पयसे
दशिथयु ॥२॥

[११५४] आ न सोम सयत पित्युषीमिषमिन्दो पवस्व पवमान
ऊर्मिणा । या नो दोहते त्रिरह्नसध्र्यी क्षुमद्वाजवन्म-
धुमत्सुधीर्यम् ॥३॥७॥ अ० ६ । ६८ । १६-२८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५१७] पृ० २८० ।

(२) हे (सोमा) विद्वान् पुरुषो[1] (व) आप लोगों की (धिय) प्रज्ञाएं, बुद्धियां, वाणियां (मन्द्रयुव) आनन्दस्वरूप परमात्मा की तरफ लगी हुई (मनस्युव) स्तुति करने की इच्छा करती हुई, (विपन्यव) और स्तुति करती हुई (सञरण्यव) हृदयों में विशेषरूप से या विविध यज्ञगृहों सभास्थानों, विद्वत्-मण्डलों में (अक्रमु) फैलती हैं । (स्तुभ) विद्वान् लोग (क्रीडन्त) जगत् का सर्जन और (हरिं) प्रलय करने हारे परमात्मा को (इत्) ही (अभ्यनूषत) साक्षात् स्तुति करते हैं और (धेनव) रसपान कराने कराने हारे व्याख्याता लोग भी अपने (पयसा) वर्णनरूप से दुग्धरूप से गौओं के समान उसका ही (अभि दशिथयु) अपना आधार बनाते हैं । अथवा (धेनव) वेदवाणियां (पयसा) अपने ज्ञानरूप से उसका ही अभिषेक करती हैं ।

११५२—१ 'आयासीत्' २. 'मित्रस्येषकृत्' 'मम मनीषा अभ्यनूषत' 'दशम मदिधिषु' 'दशमानो मदिषे' इति ऋ० ।

(३) (हे इन्दो) तेजस्विन् ! सोम ! (पवमान) सर्वत्र व्यापक ! (या) जो (नः) हमारे लिये (अहन्) दिन में (त्रि) तीनवार (अस्र वन्ती) बिना रोक टोक के (सुमत्) कीर्त्तियुक्त (वाजवत्) बलयुक्त, ज्ञानयुक्त (मधुमत्) आनन्दरस से पूर्ण (सुवीर्यम्) उत्तम बल (दोहते) प्राप्त करावे ऐसी (संयतं) उत्तम रीति से सुप्रबन्ध युक्त (विष्युषीम्) सदा वृद्धि करने हारी (इषं) समृद्धि को (ऊर्मिणा) अपनी अनन्त शक्ति से (पवस्व) प्राप्त कराओ ।

[११५५] नाकिष्टं कर्मणा नशद्यश्चकार सदावृधम् ।
इन्द्रं यज्ञेर्विश्वमूर्तमृभ्वमधृषे धृष्णुमोजसा ॥ १ ॥

[११५६] अषाढमुग्रं पृतनासु सासहिं यस्मिन्महीरुरुज्रयः ।
सं धेनवो जायमाने अनोनवुर्द्यावः क्षामीरनोनवुः ॥२॥

ऋ० ८ । ७० । ३-४॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२४३] पृ० १२४ ।

(२) (यस्मिन्) जिसके (जायमाने) प्रादुर्भाव होने पर (उरुज्रयः) अति वेगवान् पराक्रमी (महीः) बड़ी २ (धेनवः) गौओं के समान अधिक सम्पत्ति देनेहारे प्रजागण या विद्वानगण (अनोनवुः) झुकते और स्तुति करते हैं । उस (अषाढं) असह्य (पृतनासु सासहिं) सेनाओं में सबसे अधिक सामर्थ्य वाले शासक के प्रति (द्यावः) तेजस्वी, उत्तम श्रेणी के धनाढ्य और ज्ञानी पुरुषगण या साधारण प्रजाएं (क्षामीः) पृथिवी के निवासी जमींदार या भूपाल भी (अनोनवुः) विनयपूर्वक स्तुति करते हैं । आत्मपक्ष में-पृतनाः=इन्द्रियगण । धेनवः—वाणियां, वेद-ऋचाएं आधिदैविक पक्ष या ब्रह्मपक्ष में, धेनवः=वेदवाणियां, द्यावः, क्षामीः=तेजोमय लोक और पार्थिव लोक ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

११५५—'धृष्णुमोजसा' २. अमाद्र' 'द्यावः क्षमो' इति ऋ० ।

[११५७] सखाय आ निषीदत पुनानाय प्रगायत ।
शिशुं न यज्ञैः परि भूषत श्रिये ॥ १ ॥

[११५८] सनी वत्सं न मातृभिः सृजता गयसाधनम् ।
देवाव्यमिन्दुमभि द्विशवसम् ॥ २ ॥

[११५९] पुनाता दक्षसाधनं यथा शर्धाय वीतये ।
यथा मित्राय वरुणाय शन्तमम् ॥ ३ ॥ ९ ॥

ऋ० ९ । १०४ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५९८] पृ० २८७ ।

(२) (मातृभिः) माताओं से जिस प्रकार (वत्सं न) बछे या बछड़े को उनका दूध प्राप्त करने के लिये मिलाया जाता है उसी प्रकार (इं) इस (सोम) सोम रूप शुक्र को (मातृभिः) ज्ञान के साधन इन्द्रियों और मनन-शक्तियों से और (सोमं मातृभिः) जिज्ञासु शिष्य को ज्ञान कराने वाले गुरुओं से (अभि स सृजत) साक्षात् रूप से संयोजित करो। उस (गयसाधनम्) समस्त प्राणों को वश करने हारे, (देवाव्यं) दिव्य कान्ति, सामर्थ्य और बल के प्रेरक प्रकाशक या रक्षक (मदम्) हर्षकारक और (द्विशवसं) ज्ञान और कर्म दोनों प्रकार के बल को धारण करनेहारे वीर्य तथा शिष्य को (अभि) उत्तम रूप से सम्पादन करो शिक्षित करो।

(३) (दक्षसाधनं) शरीर के बल को सम्पादन करने वाले इस सोम अर्थात् शुक्र को इस प्रकार (पुनात) सम्पादन करो, प्राप्त करो कि (यथा) जिस प्रकार वह (शर्धाय) शरीर के बल की वृद्धि और (वीतये) कान्ति के निमित्त हो। और (यथा) जिस प्रकार (मित्राय) प्राण और

११५८—'अभि द्विशवसम्' इति बहिष् प्रभृतिः सादनादित्वात्तृप्तिर्न तृप्तत्वात् ।

(वरुणाय) अपान इन दोनों जीवनाधारों के लिये भी (शन्तमम्) अति अधिक सुख और कल्याणकारक हो ।

[११६०] प्र वाज्यसौ सहस्रधारः सिन्धुः पवित्र इ वारमव्यम् ॥ १ ॥

[११६१] स वाज्यसौ सहस्ररेता अद्भिर्मृजानो गोभिः श्रीणानः ॥ २ ॥

[११६२] प्र सोम याहीन्द्रस्य कुक्षा नृभिर्येमाणो अद्रिभिः सुतः ॥ ३ ॥ १० ॥ ऋ० ९ । १०९ । १६-१८ ॥

भा०—(१) (वाजी) शक्तिमान्, ज्ञानी या आनन्दरस (सहस्रधार.) सहस्रों धारण करने वाली शक्तियों से युक्त होकर (अव्य) भूत, प्राणमय, (पवित्र) पावन करने हारे (वारं) वरणीय, या दुःखों के वारक आत्मा को (सिन्धुः इव प्रयाः) सागर, नाना प्रकार से उत्तम रीति से प्राप्त हो ।

(२) (सः) वह सोम योगी का आत्मा या आनन्दरस (वाजी) ज्ञानवान्, बलवान्, (सहस्रेता) सहस्रों पदार्थों का मूलकारण, सहस्रों शक्तियों से युक्त (अद्रि-) कर्मों और प्रज्ञाओं से (मृजानः) पवित्र होता हुआ, अधिक विस्पष्ट होता हुआ (गोभिः) वाणियों द्वारा (श्रीणानः) परिपक्व होकर (सुतः) हृदय में प्रकट हो ।

(३) हे (सोम) आत्मन् ! (नृभिः) नेताओं द्वारा (येमानः) हृदय-देश में यम नियमों द्वारा या ईश्वर-प्रणिधान द्वारा विचार किया जाकर (अद्रिभिः) स्थायी अखंडित तप-कर्मों, या ज्ञानी पुरुषों से (सुतः) साधित होकर (कुक्षौ) आत्माकाशरूप गुहा में (आ याहि) आ, प्राप्त हो ।

[११६३] य सोमास परावति य अर्वावति सुन्विरे ।
य वाद् ऋक्षणावति ॥ १ ॥

[११६४] य आजिषु क्रत्वसु य मध्य पस्त्यानाम् ।
य वा जनेषु पञ्चसु ॥ २ ॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[११६५] ते नो वृष्टिं दिवस्परि पवन्तामा सुवीर्यम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २
स्वाना देवास इन्दव ॥४॥११॥ ऋ० ९ । ६५ । २२-२४ ॥

भा०—(१, २, ३) (ये) जो (सोमास) सोम, विद्वान् लोग (परावति) दूर देश में और (ये) जो (अर्वावति) समीप देश में और (ये वा) जो (शर्यणावति) विषम अरण्यभूमि में और जो (अर्जीकेषु) ऋजु और सरल सम देशों में और जो (पस्त्यानां) गृहमेधी, गृहस्थियों के (मध्ये) बीच में (कृत्वसु) बनाये हुए गृहों में, (ये वा) और जो (पञ्चसु) पाचों प्रकार के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र और पाचवें निषाद जो चारों वर्णों के भी धर्म पालन न कर सकने के कारण देश या नगर की सीमा से बाहर कर दिये जाते हैं उनमें भी (सोमास) ज्ञान सम्पन्न विद्वान् लोग हैं (ते) वे (नः) हमें (दिव) आकाश या प्रकाश और शुभ पदार्थों की ज्ञान प्रकाश से उत्तम हितोपदेशों की (वृष्टिं) वर्षा अर्थात् अति अधिक राशि को (परिपवन्ता) दें और (सुवीर्यं) हमें उत्तम बल भी प्राप्त करावें । क्योंकि (देवास) विद्या आदि शुभ दिव्य गुणों से युक्त विद्वान् (स्वाना) ज्ञानी पुरुष ही (इन्दव) सोम या 'इन्दु' कहाते हैं ।

इति पञ्चम खण्ड ।



१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११६६] आ त वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात् ।
२ ३ १ २ ३ २
अग्ने त्वां कामये गिरा ॥ १ ॥
३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[११६७] पुरुत्रा हि सदृङसि दिशो विश्वा अनु प्रभु ।
१ २
समत्सु त्वा हवामहे ॥ २ ॥

[११६८] समत्स्वग्निमवसे वाजयन्तो हवामहे ।
वाजेषु चित्रराधसम् ॥३॥१२॥ ऋ० ८ । ११ । ७-९ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [८] पृ० ४ ।

(२) हे (अग्ने) परमात्मन् ! (पुरुत्रा) समस्त प्रजाओं को आप (सदृङ्) समान दृष्टि से देखने वाले (असि) हो । (विश्वा दिशः, अनु) समस्त दिशाओं में (प्रभुः) आप ही ईश्वर, उत्तम सामर्थ्यवान् हो । (समत्सु) आनन्द, उत्सवों, यज्ञों और संग्रामों के अवसरों पर (त्वा) तेरी ही (हवामहे) याद करते हैं ।

(३) हम (समत्सु) एकत्र आनन्द उत्सवों, यज्ञों और संग्रामों के अवसरों में (वाजेषु) ज्ञान, बल और अन्नादि के प्राप्ति, उत्पत्ति और वृद्धि के कार्यों में (वाजयन्तः) ज्ञानों और ऐश्वर्यों की कामना करते हुए या बल प्राप्त करते हुए हम (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (अग्निम्) आगे के नेता-स्वरूप, आचार्य, परमगुरु परमात्मा का ही (हवामहे) स्मरण करते हैं ।

[११६९] त्वं न इन्द्राभर ओजो नृम्णं शतक्रतो विचर्षणे ।
आ वीरं पृतनासहम् ॥ १ ॥

[११७०] त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥ २ ॥

[११७१] त्वां शुष्मिन्पुरुहूत वाजयन्तमुपब्रुवे सहस्कृत ।
स नो रास्व सुवीर्यम् ॥ ३ ॥ १३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [४०१] पृ० २०६ ।

(२) हे (वसो) सब में निवास करने हारे सर्वव्यापक ! (त्वं हि) आप ही हमारे (पिता) पालक हैं । (त्वं) आप (माता) माता के

समान उत्पादक और ज्ञानदाता (बभूविथ) हैं । (अथ) और हे (शतक्रतो) सैकड़ों ज्ञानों, कर्मों का अनायास सम्पादन करने वाले ! हम (त) आपके (सुम्न) आनन्द सुख की (ईमहे) प्रार्थना करते हैं ।

(२) हे (शुष्मिन्) सर्वशक्तिमन् ! हे (पुरहूत) बहुतों से स्तुति योग्य हे (सदस्कृत) सब बलों और बलशाली शक्तिमान् पदार्थों के उत्पादक ! (वाजायतम्) ज्ञान और बल को दान करने हारे आपसे मैं (उपस्तुत) प्रार्थना करता हूं कि (न) हमें (सुवीर्यम्) उत्तम बल, वीर्य और पुत्र, तेज और यश का (रास्व) प्रदान करें ।

[११७२] यदिन्द्र चित्र मꣳहनास्ति त्वादातमद्रिव ।
राधस्तन्नो विदद्वस उभया हस्त्याभर ॥ १ ॥

[११७३] यन्मन्यस वरेण्यमिन्द्र शुष्मन्तदा भर ।
विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावनः ॥ २ ॥

[११७४] यत्ते दिक्षु प्रराध्य मनो अस्ति श्रुतबृहत् ।
तेन दृढा चिदद्रिव आ वाज दर्षि सातये ॥ ३ ॥ १४ ॥

ऋ० ५ । ३३ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [३४१] पृ० १७६ ।

(२) हे इन्द्र ! परमात्मन् ! (यत्) जो (शुष्मम्) बल धन और यश आप (वरेण्य) वरण करने योग्य श्रेष्ठ (मन्यस) जानते हैं (तद्) वही (आभर) हमें प्राप्त करावें । (तस्य) उस अचिन्त्य महिमा वाले (अकूपारस्य) अति सुन्दर अनिन्दनीय असीम परम आनन्द के

११७१—'उपस्तुत महस्कृत' इति ऋ० ।

११७२—'दावनः' । ११७४—'दत्त दिक्षु' इति ऋ० ।

सारस्वरूप सबको उत्तमरूप से पालन करने हारे (त) तुझ (दावने) दानशील के दान को हम (विधाम) प्राप्त करें ।

(३) हे (अदिव) ज्ञानस्वरूप या प्रलय करने हारी शक्ति के मालिक ! (यत्) जो (ते) तेरा (दिषु) समस्त दिशाओं में (प्रराध्य) उत्तम रूप से आराधना करने योग्य (बृहत्) बड़ा विशाल (श्रुत) श्रवण करने योग्य (मन) मनन करने योग्य बल और ज्ञान है (तत) उस से ही (दृढ़ाचित्) पुष्ट उत्तम (वाज) ज्ञान और बल का (सातये) सबको समान रूप से दान करने के लिये (आदर्षि) खण्ड २ करके, अनुभव और विचारक्रम से देते हो ।

इति षष्ठ खण्ड ।

इति द्वितीयोऽर्द्ध ।

इति चतुर्थं प्रपाठक समाप्त । इत्यष्टमोऽध्याय समाप्त ॥

अथ पञ्चम प्रपाठक (प्रथमार्ध)

अथ नवमोऽध्यायः ।

प्रागाथ । १६, २० अनुष्टुप् १७ द्विपदा विराट् । २१ उष्णिक् ॥ स्वर –२–११, १५, १८ षड्ज । १ धैवत । १२ निषाद । १३, १४ मध्यम । १६, २० गान्धार । १७ पञ्चमः । १९ ऋषभ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२

[११७५] शिशु जज्ञान हर्यत मजन्ति शुम्भन्ति विप्र मरुतो गणेन।

३ २ ३ १२ २ ३ १२ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

कविर्गीर्भिष्काव्येन कविः सन्त्सोम पवित्रमत्येति रन्॥१॥

१ २ १ १ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ २ २ १

[११७६] ऋषिमना य ऋषिकृत्स्वर्षा सहस्रणीथ पदवीः कवीनाम्।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १२ १२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

तृतीयधाम महिषः सिषासन्त्सोमो विराजमनु राजति ष्टुप् ॥ २ ॥

३ २

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ १२ ३

[११७७] चमूषच्छ्येन शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत्।

१ २ ३ २ ३ १२ १२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १

अपामूर्मिं सचमान समुद्र तुरीयं धाम महिषो विवक्ति ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० ९ । १६ । १७ १९ ॥

भा०—(१) विद्वान् लोग (मरुत गणेन) अपने प्राणों के गण प्राण, अपान समान, उदान, व्यान देवदत्त, कृकल धनञ्जय, नाग, कूर्म आदि अथवा मूर्धा स्थान के ७ प्राणों द्वारा (जज्ञान) ज्ञान प्राप्त करने हार (हर्यत) कान्तिस्वरूप, सब का प्रकाशक (विप्र) ज्ञान और कर्म से सम्पन्न (शिशु) शरीर में शयन करने हारे आत्मा को (मृजन्ति) शुद्ध करते और (शुम्भन्ति) नाना गुणों से सुशोभित करते हैं। (कविः) अन्तर्दर्शी, तत्वज्ञानी मेधावी, पुरुष (काव्येन) जो तदर्थी परम ज्ञानी परमेश्वर के ज्ञानमय वेदमय काव्य से (कविः) ऋषियों का ज्ञान देने हारा (मन्[1]) परमगति को प्राप्त मुक्त होकर (सोम) सोमगुणवान् आनन्द और शमादि से सम्पन्न आत्मा (पवित्र) सब पतितों के पावन परमात्मा

११७६—[1] 'मह मन्ता' इति ऋ० ।

की (रेभन्[२]) अर्चना, ध्यान, गुणगान करता, हुआ (अति एति) कर्म बन्धन को पार कर जाता है।

(२) (य.) जो (ऋषिमनाः) मन्त्रद्रष्टा के समान मनन शक्ति से युक्त, स्वयं (ऋषिकृत्) अपने आपको ऋषि, तत्वदर्शी बनाने हारा, विवेकी, (स्वर्षाः) स्वयं उत्तम २ सब पदार्थों के मर्मों का द्रष्टा, (सहस्रनीथ) सहस्रों प्रकार से ईश्वर की स्तुति करने हारा, या सहस्रों सुख और ज्ञान आदि को प्राप्त कराने हारा (कवीनां) बहुत मेधावी प्रज्ञावान् पुरुषों को (पदवी) ज्ञान प्राप्त कराने हारा, सन्मार्ग का दर्शक स्वयं (महिष) महान् है, वह मुमुक्षु जीव (तृतीयं) तीसरे (धाम) लोक को अथवा इस कर्मबन्धन को पार करके प्राप्त होने योग्य परम ज्योति स्वरूप मोक्ष को (सिषासन्) प्राप्त करता हुआ (विराजम्) विराट् परमेश्वर की (स्टुप्) स्तुति करता हुआ (अनु राजति) उसके अनुग्रह से आनन्द प्राप्त करता है और सद्गति को प्राप्त होता है।

(३) (चमूषत्) अपनी ग्राहक इन्द्रिय शक्तियों में पूर्ण रूप से विराजमान (श्येन) गतिशील आत्मा कर्मबन्धन को पार करके मोक्ष मार्ग से गमन करने हारा, (शकुनः) शक्तिसम्पन्न, (विभृत्वा) समस्त लोकों में विहार करने में स्वतन्त्र होकर (गोविन्दु) समस्त ज्ञान रश्मियों और आदित्यमय लोक या परमब्रह्म को प्राप्त करने हारा जितेन्द्रिय या समस्त लोकों को प्राप्त करने हारा, (आयुधानि) सकल सामर्थ्यों को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ, (महिष) महिमा में सम्पन्न, महत्व को प्राप्त होकर (अपाः) समस्त लोकों के (ऊर्मिम्) प्रेरक (समुद्र) समुद्र के समान एकमात्र उत्कृष्ट सब के आश्रय परमेश्वर को (स्तवमान) भजन करता हुआ (तुरीयं) मोक्षस्वरूप (धाम) आनन्द को (विवक्ति) प्राप्त होता है। इस सूक्त में परमहंस की परमगति का स्पष्ट वर्णन है, ऐसे परम मुक्ति लाभ करने हारे को वेद गोविन्दु, शकुन, श्येन आदि नामों से

पुकारता है । पौराणिकों ने गरुड़ गोविन्द, समुद्रशायी आदि की कल्पना इन्हीं शब्दों के आधार पर की प्रतीत होती है ।

[११७८] एते सोमा अभि प्रियमिन्द्रस्य कामम क्षरन् ।
वर्धन्तो अस्य वीर्यम् ॥१॥

[११७९] पुनानासश्चमूषदो गच्छन्तो वायुमश्विना ।
ते नो धत्त सुवीर्यम् ॥२॥

[११८०] इन्द्रस्य सोम राधसे पुनानो हार्दि चोदय ।
देवानां योनमासदम् ॥३॥

[११८१] मृजन्ति त्वा दश क्षिपो हिन्वन्ति सप्त धीतय ।
अनु विप्रा अमादिषु ॥४॥

[११८२] देवेभ्यस्त्वा मदाय कं सृजानमति मेष्य ।
स पोभिर्याम्याससि ॥५॥

[११८३] पुनान कलशेष्वा वस्त्राण्यरुषो हरि ।
परि गव्यान्यव्यत ॥६॥

[११८४] मघोन आ पवस्व नो जहि विश्वा अप द्विषः ।
इन्दो सखायमा विश ॥७॥

[११८५] नृचक्षसं त्वा वयमिन्द्रपीतं स्वर्विदम् ।
भक्षीमहि प्रजामिषम् ॥८॥

[११८६] सृष्टि दिव पवस्व सुम्न पृथिव्या आ व ।
सहो नः सोम पृत्सु धा ॥९॥२॥ अ० २ । ८ । १–९ ॥

११७८—२. 'अस्मृक्षत', 'अदन्व वाजि' इति साम्नाहन्दो ब्रह्मदत्त, ऋ० ।

भा०—(१) (एते सोमाः) ये सोम्यगुणसम्पन्न विद्वान्गण (अस्य) इस इन्द्र के (वीर्यं) सामर्थ्य या यश को (वर्धन्तः) बढ़ाते हुए, फैलाते हुए (इन्दस्य) ईश्वर के (प्रियं) उत्तम (कामम्) अभिलषित धर्म, सृष्टि के उत्पादन, रक्षा और परोपकार आदि को (अक्षरन्) प्रकाशित करते हैं ।

(२) (चमूषदः) अपने ज्ञान ग्रहण शक्तियों में जितेन्द्रिय होकर विराजमान (पुनानासः) पवित्र होते हुए (अधिना) प्राण और अपान दोनों और (वायुम्) सबके प्रेरक आत्मा को (गच्छन्तः) उपलब्ध करते हुए (तेन) उस परमेश्वर या अपने भीतरी इन्द्र स्वरूप आत्मा के बल पर (उ) ही (सुवीर्यम्) उत्तम यश, बल और सामर्थ्य को (धत्त) धारण करते हैं ।

(३) हे (सोम) साधक ! (राधसे) इन्द्रस्वरूप परमात्मा की आराधना के लिये (हार्दि) हृदय में विराजमान (देवाना) देवगण, इन्द्रियों तथा पञ्चभूतों के (आसदं) प्रतिष्ठास्थान और (योनिं) मूलकारण चिति शक्ति का (चोदय) प्रेरित कर ।

(४) हे (सोम) योगिन् (त्वा) तुझको (दश) दश (क्षिपः) यम और नियम, या दश धर्मलक्षण, या दश प्राण (मृजन्ति) पवित्र, परिशोधन करते हैं और (सप्त) सात (धीतयः) ज्ञानेन्द्रिय या मूर्धा में स्थित सप्त छिद्रों में प्रवाहित प्राणशक्तियें, या सात स्थानों में लगाई गई ध्यानवृत्तियां (हिन्वन्ति) तुझको पूर्ण आनन्दित करती, बढ़ाती हैं । (विप्राः) ज्ञानी पुरुष तुझको लक्ष्य करके, तेरे अनुकूल होकर (अमादिषु) प्रसन्न होते हैं ।

(५) (देवेभ्यः) इन्द्रियगण या विद्वानों को (मदाय क) आनन्दलाभ करने और आनन्दकारी, ज्ञान से तृप्त करने के लिये (शेष्यः) आत्मा में

आनन्दरस वर्षण करने वाली प्राण शक्ति को (अति) पार करके (सृजान) वर्त्तमान आत्मानन्दरस का (गोभि) वेदवाणियों द्वारा (स वासयामसि) आच्छादित करते हैं। उसका वेदवाणियों द्वारा वर्णन करते हैं।

(६) (कलशेषु) हृदय प्रदेशों में (पुनान) पवित्र होता हुआ (अरुष) कान्तिमान् (हरि) दुःखहारी, व्यापक आनन्दरस (गव्यानि) वेदवाणियों या प्राणों के वन (वस्त्राणि) आच्छादनों को (परि अव्यत) धारण करता है, उनसे परे चला जाता है।

(७) हे (इन्द्र) आत्मन्! (मघवन्) सम्पत्तियों से युक्त ज्ञानवान् (न) हमारे प्रति तू (आपक्वस्व) प्रकट हो। और (विश्वा) समस्त (द्विष) दूसरे के प्रति अप्रेम या द्वेष के भावों को (अप) दूर कर। (सख्यम्) परम सखा परमात्मा में (आविश) प्रवेश कर, उसे प्राप्त कर।

(८) हे (साम) साधक आत्मन् (स्वर्विद) मोक्ष सुख को प्राप्त करने और जानने हारे (इन्दवीत) ईश्वर के अनुग्रह से या आत्मा के अपने ही रस से तृप्त (नृचक्षसम्) समस्त प्राणियों को समान दृष्टि से देखने हारे (त्वा) तुझको हम (भक्षीमहि) सेवन करें और (प्रजाम्) उत्तम सन्तान और (इषम्) बल, अन्न और सत् ज्ञान को भी (भक्षीमहि) प्राप्त करें।

(९) हे (सोम) परमात्मन् (दिव) अपने तेजोमय प्रकाश से आकाश से मेघ के समान (पृथिव्या अधि) पृथिवी के ऊपर (वृष्टिं) सुखों की वर्षा (परिस्रव) बरसा। और (द्युम्न) धन, यश या धन और (सह) सहन शक्ति, या बल को (न) हमारी (पृत्सु) इन्द्रियों और प्रजाओं में (धा) धारण करा।

इति प्रथम खण्ड।

—.o—

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ १
[११८७] सोम पुनानो अर्षति सहस्रधारो अत्यविः ।
३ १२ २२ ३ २
वायोरिन्द्रस्य निष्कृतम् ॥१॥
१ २ ३ १ २ ३ १२ २२
[११८८] पवमानमवस्यवो विप्रमभिप्रगायत ।
३ २ ३ १ २
सुष्वाणं देववीतये ॥२॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २२ ३ १ २
[११८९] पवन्त वाजसातये सोमा सहस्रपाजसः ।
३ २ ३ १ २
गृणाना दवर्धीतये ॥३॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२
[११९०] उत नो वाजसातये पवस्व बृहतीरिष ।
३ १ २ ३ १ २
द्युमदिन्दो सुवीर्यम् ॥४॥
१ २ ३ २३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[११९१] अत्या हियाना न हेतृभिरसृग्र वाजसातये ।
२२ ३ १ २ ३ १ २
विवारमव्यमाशव ॥५॥
१ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २
[११९२] ते न सहस्रिणं रयिं पवन्तामा सुवीर्यम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २
स्वाना देवास इन्दव ॥६॥
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २३ ३ १ २
[११९३] यथा अर्षतीन्दवोऽभि वत्सं न मातर ।
३ १२ २२
दधन्विरे गभस्त्योः ॥७॥
२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[११९४] जुष्ट इन्द्राय मत्सर पवमान कनिक्रदत् ।
२ ३ २ ३ १ २
विश्वा अप द्विषो जहि ॥८॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११९५] अप घ्नन्तो अराव्णः पवमानाः स्वर्दृशः ।
१ २ ३ १ २
योनावृतस्य सीदत ॥९॥३॥ ऋ० ९ । १६ । १-९ ॥

भा०—(१) (सोम) आत्मा, (पुनान) पवित्र करने हारा (सहस्रधार) हज़ारों, अनेक अगणित शक्तियों से सम्पन्न होकर (वारो) सर्वव्यापक (इन्दस्य) परमात्मा के (निष्कृत) कर्म बन्धनों से परे परम पद को (अत्यवि) प्राण के आवरण को पार करके (अर्षति) प्राप्त होता है।

(२) हे (अवस्यव) रक्षा चाहने वाले विद्वान् लोगो ! (पवमान) सब को पवित्र करने हारे (विप्रम्) विशेष ज्ञान से और आनन्द से सबको पूर्ण करने हारे, (देववीतये) परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (सुष्वाण) उत्तम रूप से प्रकट होने हारे उत्तम ज्ञान का या प्रसव या उत्तम प्रेरणा करने हारे उस आत्मा को (अभि प्र गायत) लक्ष्य कर स्तुति करो।

(३) (सहस्रपाजस) सहस्रों ज्ञानों से युक्त, सहस्रों आत्मिक बलों से युक्त (सामा) शमदम आदि गुण से सम्पन्न विद्वान् गण (देववीतये) परमात्मा का प्राप्त करने के लिये (गृणाना) उसकी स्तुति करते हुए (पवन्त) अपने आत्मा को पवित्र करते हैं।

(४) हे (सोम) सबके उत्पादक ! (न) हमें (वाजसातये) ज्ञान प्राप्त करने के लिये (बृहती इव) बड़ी २ प्रेरणायें, दीप्तियें, शक्तियें (पवस्व) प्रकाशित कर। हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! हमें (द्युमत्) दिव्य गुणों से युक्त (सुवीर्यम्) उत्तम सामर्थ्य भी दो।

(५) (वाजसातय) ज्ञान और सुख के लाभ के लिये (हियाना) प्रयत्न करते हुए (आशव) मार्ग या ज्ञान मार्ग से भी शीघ्रगति करते हुए विद्वान् लोग (हेतृभि) साधनों से (अन्य वार) तामस या प्राकृतिक या प्राणमय आवरण को (वि अति अक्रमन्) पार कर जाते हैं।

(६) (ते) वे (इन्दव) योगीजन (देवास) विद्वान् पुरुष (स्वना) साधना करते हुए (न) हमारे लिये भी (सुवीर्यम्) उत्तम बलयुक्त, यश उत्पादक (सहस्रिय) हज़ारों तत्वों के प्रदर्शक (रयिम्) ज्ञान और ऐश्वर्य को (पवन्ताम्) प्राप्त करें और प्रकट करें।

(७) (वाश्राः) उत्तम उपदेश करनेहारे (मातरः) ज्ञान सम्पादन करने हारे (इन्दव·) विद्वानगण परमात्मा के प्रति इसी प्रकार (अर्षन्ति) जाते हैं जैसे (मातरः वत्सं न) गौवें अपने बच्छे के प्रति जाती हैं । और वे (गभस्त्यो·) उसी प्रकार प्राण अपान दोनों के बल से अपने को (दधन्विरे) धारण करते हैं, स्थिर, दृढ़ बनाये रहते हैं।

(८) हे (पवमान) परमपावनकारी ! तू (इन्द्राय) परमात्मा के लिये (जुष्टः) प्रेम करने हारा साधक (मत्सरः) अपने ही में सदा सुप्रसन्न आत्मानन्द, स्वतः तृप्त (क्रनिक्रदत्) सबको समान भाव से उपदेश करके (विश्वाः) समस्त (द्विष·) द्वेष करने हारे प्राणियों को और द्वेष बुद्धियों को (जहि) नाश कर अर्थात् अजात शत्रु हो जा ।

(९) हे (पवमाना·) समस्त ससार को अपने धर्माचरणों से पवित्र करते हुए, पवित्रपावन (स्वर्दृशः) मोक्ष सुख का दर्शन करने वाले आप लोग (अराव्ण·) दान रहित, कदर्यवृत्तियों को (अप घ्नन्त·) दूर करते हुए (ऋतस्य) सत्यज्ञान के (योनौ) परम आश्रय, ब्रह्म में (सीदत) प्राप्त होवो ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

—:o:—

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[११९६] सोमा असृग्रमिन्दवः सुता ऋतस्य धारया ।

१ २ ३ १ २

इन्द्राय मधुमत्तमा ॥ १ ॥

३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[११९७] अभि विप्रा अनूषत गावो वत्सं न धेनवः ।

२ ३ १ २ ३ १ २

इन्द्रं सोमस्य पीतये ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[११९८] मदच्युत् क्षेति सादने सिन्धोरूर्मा विपश्चित् ।

१ २ ३ १ २ २ ३ २

सोमो गौरी अधि श्रितः ॥ ३ ॥

३ १र २र ३ २ ३ १ ३
[११९९] दिवा नाभा विचक्षणोऽव्या वारे महीयते ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ २
सोमो य सुम्नतु कवि ॥ ४ ॥
१र २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१२००] य सोम कलशेष्वा अन्त पवित्र आहित. ।
२र ३ १ २
तमिन्दु परिष्वजे ॥ ५ ॥
२र ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[१२०१] प्र वाचमिन्दुरिष्यति समुद्रस्यार्धं विष्टपि ।
२ ३ १ २ ३ १ १
जिन्वन् कोश मधुश्चुतम् ॥ ६ ॥
१ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२०२] नित्यस्तोत्रो वनस्पतिर्धेनामन्त सघर्दुघाम् ।
३ १र २र ३ २
हिन्वानो मानुषा युजा ॥ ७ ॥
१ २ ३ २ ३ १ २
[१२०३] आ पवमान धारय रयिं सहस्रवर्चसम् ।
३ १ २ ३ १ २
अस्मे इन्दो स्वाभुवम् ॥ ८ ॥
३ २ ३ १ ३ २ ३ २र ३ १र २र ३ २
[१२०४] अभि प्रिया दिव कविर्धिम स धारया सुत ।
१ २ ३ १ २
सोमो हिन्वे परावति ॥ ९ ॥ ४ ॥ ऋ० ९ । १२ । १–९ ॥

भा०—(१) (इन्दाय , परमेश्वर के निमित्त (मधुमत्तमा) अमृतमय ज्ञानों से सराबोर (ऋतस्य) सत्य ज्ञान की (धारया) धारा, व्यवस्था, या वाणी से (सुता) प्रेरित हुए (इन्दव) ज्ञानैश्वर्यादि से सम्पन्न सब के आह्लादक (सोमा) शुभ गुणों से युक्त विद्वान् लोग (असृग्रम्) उत्पन्न होते हैं ।

(२) (वत्स न) जिस प्रकार बछड़े के प्रति (धेनव) दूधार (गाव) गौएं हंभारती हैं, प्रेम से उसको अपने प्रति बुलाती हैं उसी प्रकार (सोमस्य पीतये) ज्ञानरस का पान करने के लिये (इन्द)

अपने आत्मा और ऐश्वर्यवान् परमात्मा को (विप्राः) मेधावी लोग प्रेम से (अनूषत) स्तुति करते हैं, उसके सत्यगुणों का स्मरण करके उस को पुकारते हैं ।

(३) (विपश्चित्) ज्ञान और कर्म फल का सञ्चय करने वाला, (मदच्युत्) हर्ष और आनन्द का जनक, (सोमः) शमादि सम्पन्न, विद्वान् पुरुष, (गौरी) वेदमयी वाणी में (अधिश्रितः) आश्रय पाकर (मदच्युत्) ज्ञानी होकर (सादने) अपने आश्रय देने वाले (ऊर्मौ) ऊर्ध्व गति की तरफ़ लेजाने हारे (सिन्धौ) सिन्धु के समान सब को गति देने, सबको बांधने और अपने में आश्रय देने हारे, प्राणों के प्राण और ज्ञान के समुद्र परमात्मा में (इयर्ति) निवास करता है ।

(४) (विचक्षणः) विशेष तत्व का द्रष्टा, (कविः) क्रान्तदर्शी, मेधावी, (सुक्रतुः) उत्तम प्रज्ञावान्, (दिवः) समस्त द्यौलोक को (नाभौ) अपनी शक्ति में बांधने वाले (अप्याः धरे) महान् प्रकृति को भी आवरण करने हारे परमात्मा या प्राण के बने अन्तःकरण में (महीयते) महत्व को प्राप्त करता, यही शक्ति प्राप्त करता है ।

(५) (यः) जो (सोमः) आनन्दमय परमात्मा (कलशेषु) अन्तःप्राप्त देहों में अन्तर्यामी होकर विराजता और (पवित्रे) पवित्र हुए आत्मा के बीच (आहितः) विशेष रूप से प्रकट होता है (तम्) उसको (इन्दुः) ज्ञानी पुरुष, जीव (परि सस्वजे) जा चिपटता है, आश्रय कर लेता है, उसमें प्रविष्ट होता है ।

(६) (इन्दुः) ज्ञानी पुरुष (समुद्रस्य) समस्त आनन्द-रसों के सागर परमेश्वर के (अधिविष्टपि) परम तेज या ज्ञानरूप परमपद में विराजमान होकर (मधुश्चुतम्) परम आनन्दरस को देने हारे, आनन्दमय (कोशं) कोश को (निन्वन्) प्राप्त करता हुआ, मधुमय पुष्प कोश

को प्राप्त भौंरे के समान (वाच) स्तुतिमय वेदवाणी के उत्तम ज्ञान को (इष्यति) प्राप्त करता है ।

(७) (वनस्पति) समस्त लोकों का स्वामी (नित्यस्तोत्र) नित्य स्तुतिकर्त्ता ज्ञानी, (युजा) योग सम्पादन करने हार (मानुषा) मनुष्यों के (अन्त) भीतर (सवदुघाम्) सुख, परमानन्द रस का दोहन करने वाली (धेना) सरस्वती या आनन्द पान कराने वाली ज्ञानमयी चिति शक्ति को (हिन्वान) प्रेरणा करने और उसके बल को बढ़ाने हारा है ।

(८) हे (पवमान) सर्वव्यापक ! हे (इन्दो) तेज स्वरूप ! (सहस्रवर्चसम्) सहस्रों दीप्तियों से युक्त, (स्वाभुवम्) उत्तम सामर्थ्य से सम्पन्न, (रयिं) ऐश्वर्य और बल को (अस्मे) हमें (धारय) धारण करा ।

(९) (कवि) क्रान्तदर्शी, (सुत) ज्ञानसम्पन्न ! विद्वान् (पवित्रे) परम रक्षास्थान, परमात्मा में स्थित होकर (विप्र) मेधावी (धारया) परमात्मा से प्राप्त अपनी धारणा शक्ति या रसधारा से (स) वह (दिव) सूर्य के समान ज्ञान के प्रकाश से उज्ज्वल (प्रिया) अति उत्तम कान्तियुक्त लोकों में (अभि हिन्वे) विहार करता है ।

इति तृतीय खण्ड ।

---

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१२०५] उत्ते शुष्मास ईरत सिन्धोरूर्मेरिव स्वनः ।
३ १ २ ३ २
वाणस्य चोदया पविम् ॥ १ ॥

३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ १
[१२०६] प्रत्वे त उदीरते तिस्रो वाचो मखस्युव ।
१ ३ २ ३ १ २
यदव्य एषि सानवि ॥ २ ॥

१२०५—[१] अत्यो वारे' इति ऋ० ।

२ ३ २ ३ १ २ ३१२ २१ ३ १ २
[१२०७] अव्या वारैः परि प्रियं हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः ।
१ २ ३ १ २
पवमानं मधुश्चुतम् ॥ ३ ॥
१ २ ३ ३ २ १ २
[१२०८] आपवस्व मदिन्तम पवित्र धारया कवे ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
अर्कस्य योनिमासदम् ॥ ४ ॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१२०९] स पवस्व मदिन्तम गोभिरञ्जानो अक्तुभिः ।
१ २ ३१२
पन्द्रस्य जठरे विश ॥ ५ ॥ ५ ॥ अ० ९ । ५० । १ । ५ ॥

भा०—(१) हे सोम ! (सिन्धोः) नदी या समुद्र के (ऊर्मेः) उमड़ने वाले तरङ्ग का (इव) जिस प्रकार (स्वनः) ध्वनि (उत् ईरते) उठता है उसी प्रकार (ते) तेरे (शुष्मासः) बल और शक्तियों के तरङ्ग भी सर्वत्र उठते हैं, प्रकट होते हैं । तू (अस्य) इस संसार या इस शरीर के (पवेः) वाणी या प्रवर्तक शक्ति को (चोदय) प्रेरित कर ।

(२) (ते) तेरे (प्रसवे) प्रकट होने पर (मखस्युवः) तेरी अर्चना के इच्छुक भक्तजन की (तिस्रः वाचः) तीनों प्रकार की वेदवाणियां ज्ञानमय गानमय और कर्ममय, ऋक्, साम, यजुः स्वरूप उस समय (उत् ईरते) उठती हैं, प्रकट होती हैं । जब तू (अग्ने) चितिशक्ति या प्राण के बने (सानौ) उन्नत मस्तक दश या आनन्द प्रकट करने वाले अन्तःकरण में (पवसे) धारणा द्वारा प्रकट होता है ।

(३) विद्वान् लोग (प्रियं) तृप्तिकर, उत्कृष्ट, (हरिं) दुःखों को दूर करने हारे, (पवमानं) हृदय को पवित्र करने वाले, (मधुश्चुतम्) अमृतरस को चुआने वाले उस प्रभु को (अद्रिभिः) योगसाधनों या गुरुओं, ज्ञानियों द्वारा उपदिष्ट साधनों से (अव्याः वारैः) चितिशक्ति की वृत्तियों, धारणा और निदिध्यासनादि व्यापारों द्वारा (हिन्वन्ति) साक्षात् करते हैं, उत्पादन करते हैं ।

(४) हे (मदिन्तम) सबसे अधिक आनन्द प्राप्त करनेहारे आत्मन् ! हे (कवे) मेधाविन् ! विद्वन् ! (अर्कस्य) प्रकाशमान परमात्मा के (योनिं) परम स्थान को (आसद) प्राप्त होने के लिये (धारया) अपनी धारणा शक्ति या वाणी से (पवित्र) स्वच्छ शुद्ध, उस पतितपावन के प्रति (आपवस्व) गति कर, उसका तरफ लौट जा उसकी स्तुति कर।

(५) हे (मदिन्तम) आनन्द प्रदान करने हारे आत्मन् ! (अ वसुभि) ज्ञान-साधनों और (गोभि) आदित्यरश्मियों, वेदवाणियों द्वारा (अञ्जान) अभिव्यक्त और भी प्रकाशमान होकर (स) वह परम रूप होकर (पवस्व) क्षरित हो, गति कर, उद्यम कर और (इन्दस्य) ऐश्वर्यशील परमात्मा के (जठर) भीतर गर्भ में (विश) प्रवेश कर, उसी में रम।

इति चतुर्थ खण्ड ।

३ २ ३१२ १२ ३ १ २ ३ २ ३ २
[१२१०] अया वीती परिस्रव यस्त इन्दो मदेष्वा ।
३ १ २ ३ १२ २
अवाहन्नवतीर्नव ॥ १ ॥
१ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२११] पुर एतो जिती धिये दिवो दासाय शंबरम् ।
२ ३ २ ३ २ ३ १ २
अध त्यं तुर्वशं यदुम् ॥ २ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १२ १२ ३ १ २
[१२१२] परि नो अश्वमश्वविद्गोमदिन्दो हिरण्यवत् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
क्षरा सहस्रिणीरिष ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० । १ । ६१ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१२१५] पृ० २४६ ।

(२) हे सोम ! (इत्था धिये) सत्य प्रज्ञानों से युक्त और सत्यकर्मा (दिवोदासाय) सूर्य के समान ज्ञानमय प्रकाश में निवास करनेहार जीवन्मुक्त पुरुष के लिये (शंबर) सुख, कल्याण के विनाशक उस (तुर्वशं)

हिंसक स्वभाव, क्रोध और (यदुं) नियम करने योग्य काम को (अध) भी (अव अहन्) नाश करता है ।

(३) हे (इन्दो) रसरूप आत्मन् ! (अधविद्) इन्द्रिय और मन को उत्तम रूप से लाभ करने हारा, (गोमत्) ज्ञानेन्द्रियों और (हिरण्यवत्) हरणशील प्राणेन्द्रियों से युक्त (अध) मन को वश करके (न.) हमें (सहस्रिणी) सहस्रों प्रकार से वर्त्तने वाली या बलवती (इष.) कामनाओं को (धर) पूर्ण कर ।

[१२१३] अपघ्नन् पवते मृधोप सोमो अराव्ण ।
गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥१॥

[१२१४] महो नो राय आभर पवमान जहि मृध. ।
रास्वेन्दो वीरवद्यश. ॥२॥

[१२१५] न त्वा शतं चन हुतो पधो दत्सन्तमामिनन् ।
यत् पुनानो मखस्यसे ॥३॥७॥ अ० ९ । ११ । २५-२७ ॥

भा—(१) (सोम) परमात्मा (इन्द्रस्य निष्कृतं गच्छन्) जीव आत्मा के पवित्र अन्तःकरण में प्रकट होता हुआ (अराव्णः मृधः) सुख न देने हारे, दुःखदायी कारणों को (अपघ्नन्) विनाश करता हुआ (पवते) प्रकट होता है ।

(२) हे (पवमान) हे सबको पवित्र करने हारे परमात्मन् ! (नः) हमें (रायः) नाना प्रकार की धन धान्य सम्पदाएं (आ भर) प्राप्त करा । (मृधः) हिंसक शत्रुओं को (जहि) नाश कर । हे (इन्दो) ऐश्वर्यशील हमें (वीरवत्) पुत्र पौत्रों से युक्त (यशः) यश और सम्पत्ति का (रास्व) दान कर ।

(३) हे (सोम) परमात्मन् ! या आचार्य ! उपदेशक ! विद्वन् ! (रयिः) ज्ञानरूप साधनों का ज्ञानोपदेश (दित्सन्तम्) करने की इच्छा

वाल (त्वा) आपका (शत चन) सैकड़ों भी (हुत) कुटिलाचारी हिंसक पुरुष (न अमिनन्) नहीं मार सकत । (यत्) क्योंकि (पुनान) सबका पवित्र करत हुए आप (अक्षरस) सबको ज्ञान का प्रदान करना चाहत हो।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ २
[१२१६] अया पवस्व धारया यया सूर्यमरोचय ।
३ १२ २१ ३ २
हिन्वानो मानुषीरप ॥१॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २१
[१२१७] अयुक्त सूर एतश पवमानो मनावधि ।
३ १ २ ३ १ २
अन्तरिक्षेण यातवे ॥२॥
३ २३ ३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २
[१२१८] उत त्या हरितो रथे सूरा अयुक्त यातवे ।
२ ३ २ ३ १ २ २ २
इन्दुरिन्द्र इति ब्रुवन् ॥३॥८॥ ऋ० ९ ९३ । ७–९ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४९३] पृ० २४६ ।

(२) (पवमान) आत्मा को पवित्र करने हारा (सूर) सूर्य के समान ज्ञानी (मनो) मननशील जिस में (अन्तरिक्षेण) भीतर के हृदयाकाश में या परममुख या मोक्ष मार्ग में (यातवे) जाने के लिये (एतश) अश्व के समान गमन साधन मन को (अयुक्त) योगसमाधि द्वारा ईश्वर से मिला, उसके प्रति जावें ।

(३) (इन्दुः) ईश्वर के प्रति द्रुतगति से जाने हारा (सूर) ज्ञानी योगी (उत) भी (त्या हरित) उन हरणशील प्राणों को (इन्दु) परमेश्वर ही (इन्द्र) परम ऐश्वर्यवान् है' (इति) इस प्रकार (ब्रुवन्) कहता हुआ (रथ) अपने रमण करने योग्य परब्रह्म में ही आपको (अयुक्त) योगसमाधि से जोड़ दे ।

इति पञ्चम खण्ड ।

३२१६—'हरितो दश' इति ऋ० ।

[१२१९] अग्ने यो देवमग्निभिः सजोषा यजिष्ठं दूतमध्वरे कृणुष्वम् । या मर्त्येषु निधुविर्ऋतावा तपुर्मूर्धा घृतान्नः पावकः ॥१॥

[१२२०] प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन् यदा महः संवरणादव्यस्थात् । आदस्य वातो अनुवाति शोचिरध स्म ते व्रजनं कृष्णमस्ति ॥२॥

[१२२१] उद्यस्य ते नवजातस्य वृष्णोऽग्ने चरन्त्यजरा इधानाः । अच्छा द्यामरुषो धूम एषि सं दूतो अग्न ईयसे हि देवान् ॥३॥६॥ अ० ७ । २ । १-३ ॥

भा०—(१) हे विद्वान् गण ! (यः) आप लोग (अग्निभिः) सूर्यादि अग्नियों के समान प्रकाश करने हारे विद्वानों के साथ (सजोषाः) समान रूप से प्रेम करने हारे, निष्पक्षपात, (यजिष्ठ) दानशक्ति पुण्यकर्मा (अग्निम्) तेजस्वी, अग्निसम, विद्वान को (अध्वरे) हिंसारहित धर्म कार्यों और व्यवहारों में (दूत) दूत के समान अपना संदेशहर (कृणुष्वम्) बनाओ (यः) जो (मर्त्येषु) मनुष्यों में (निधुवि) खूब स्थिर निश्चय वाला, धैर्यवान् (ऋतावा) सत्याचारी, सत्यकर्मा, (तपुः) तपस्वी युद्ध सहनशील और राजाओं को तापकारी, (मूर्धा) सब में शिर के समान मुख्य और (घृतान्नः) तेजस्वी, सात्विक भोजन करने हारा (पावकः) पवित्रकारी है । अध्यात्मपक्ष में-शेष अग्नियों, इन्द्रियादि सात उपाद्यार्चियों से युक्त उस अग्नि, ज्ञानवान् आत्मा को अपने जीवन रूप अध्वर=यज्ञ में दूत, उपदेशक, या मार्गदर्शी, प्रेरक बनाओ जो मरणधर्मा पुरुषों में भी आत्मा रूप से अमर सत्यज्ञानी, तपस्वी, मूर्धन्य, तेजस्वी और

हृदय को पवित्र करने हारा है। परमात्म पक्ष में-(अग्निभि सजोषा) सूर्यादि समस्त तेजों में भी व्यापक (घृताक्ष) तेजोयुक्त समस्त हिरण्य गर्भादि लोकों को प्रलय काल में अपने में लीन करने हारा (तपु) सब का तापक, (पावक) सब का शोधक (निधुवि) नित्य ध्रुव (ऋतावा) सत्य स्वरूप, सत्योपदेष्टा है उसका अपने समस्त कार्यों में ज्ञानदाता गुरु समझो।

(२) (प्रोथन्) शब्द करता हुआ (अश्व न) अश्व जिस प्रकार (अविष्यन्) भोजन करने की कामना से (यवसे) घास पर जाता है उसी प्रकार (यदा) जब (मह) महान् श्रेष्ठ (सवरणान्) सवरण निरोधस्थान या वरण योग्य उत्तम ब्रह्मचर्याश्रम, या गुरुगृह से अपने यश और धनादि प्राप्ति और गृहस्थादि भोग्य आश्रमों के लिये (वि अस्थात्) बाहर आता है और (आत्) अनन्तर (अस्य) इसके (शोचि) तेज के (अनु) अनुकूल (वाति) प्राण भी (वाति) गति करता है (अध) तब ही हे विद्वान् ! (ते) तेरा (अजन) मार्ग या गमन करना (कृष्णम्) समस्त लोकों का अपनी ओर आकर्षण करने वाला (अस्ति) होता है। ब्रह्मचर्य करने के बाद गृहस्थ में भी उत्तम सदाचार और स्वस्थता से व्यवहार और जीवन यापन करने वाले विद्वानों के जीवनपथ पर दुनिया भी खिंची चली आती है। मम वर्मानुवर्तन्त मनुष्या पार्थ सर्वश । गीता।

(३) हे अग्ने ! (नवजातस्य) सविता के गर्भ से अभी नव ही बाहर आये नवस्नातक, (कृष्ण) ज्ञानों के वर्षण करने हारे (यस्य ते) जिस तेरे (अजरा) जरारहित होकर बलवान् प्रखर, (इषाना) तेज (उच्चरन्ति) प्रकट होते हैं। और (अरुष) कान्तिमान् (धूम) प्रति पदार्थों में कम्पना उत्पन्न करने हारा होकर (याम्) सूर्य या तेज प्रकाश और ज्ञान को (एषि) प्राप्त करता है वह तू हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! (देवान्) विद्वानों के प्रति (दूत) ज्ञान सदृश ज्ञ जान के लिये दूत या

गुरु के समान उस तक (ईयसे) पहुंचता है। साधक की आत्मा के भीतर जब नया अन्तर्मुखी प्रज्ञा का उदय होता है उस समय विशोका चितिशक्ति या प्रदीप्त आत्मा की जो दशा होती है उसका भी वर्णन इन तीनों मन्त्रों में साथ ही किया है। तीसरे में-अजरा=प्राणगण। धूम=प्राणों को गति देने हारा आत्मा। वृत=गतिशील, प्रेरक आत्मा। देवान्=इन्द्रियों को। ईयसे=प्राप्त होता है वश करता है। शेष स्पष्ट है।

[१२२२] तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे।
स वृषा वृषभो भुवत् ॥१॥

[१२२३] इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठ स मद हितः
द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः ॥२॥

[१२२४] गिरा यज्ञो न सम्भृत. स मदो अनपच्युतः।
वावृधे उग्रो अस्तृतः ॥३॥१०॥ अ० ८। ९३। ७-९ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकल सं० [१११] १०६४

(२) (यः) यह (इन्द्र) इन्द्र परमेश्वर (दामने) समस्त सुख देने में (कृतः) समर्थ, (ओजिष्ठः) सबसे अधिक बलशाली होने के कारण (सः) वह (मदः) वह योग्य, संसार के उत्पत्ति स्थिति प्रलय आदि विशाल कार्य में (हितः) लगा हुआ है। वही (द्युम्नी) यशस्वी, (श्लोकी) वेदमय श्रुतियों से युक्त और (सोम्यः) उत्तम गुणों से सम्पन्न है।

(३) (सः) वह (मदः) बलवान् (अनपच्युतः) कभी अपने कर्तव्य जगत् रचनादि कार्यों से न डिगने वाला (उग्रः) दुष्टों के प्रति

१२२२—'मद वृत्राय' इति ऋ०।

अति उग्रस्वभाव (अस्तृतः) कभी न हिंसित (वज्रः न) विघ्न नाशक आयुध के समान (गिरा) वेदवाणी द्वारा (सम्भृतः) उत्तम रीति से धारण किया गया (वयते) संसार को धारण करता है।

इति षष्ठ खण्ड.।

[१२२५] अध्वर्यो अद्रिभिः सुत सोमं पवित्र आनय।
पुनाहीन्द्राय पातवे ॥१॥

[१२२६] तव त्ये इन्दो अन्धसो देवा मधोर्व्यशत।
पवमानस्य मरुतः ॥२॥

[१२२७] दिव पीयूषमुत्तमं सोममिन्द्राय वज्रिणे।
सुनोता मधुमत्तमम् ॥३॥११ अ० १। ५१। १, ३, २॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४११] पृ० २४८।

(२) हे (इन्दो) सोम! आत्मन्! परमात्मन्! (पवमानस्य) पवित्र करने हारे, या स्वयं पवित्र, (मधो) अमृतरसस्वरूप ते) तेरे (अन्धसः) जीवन धारण करने की शक्ति या उपभोग्य आनन्दरस का (ये) वे (मरुतः) प्राणस्वरूप (देवाः) देव अर्थात् तेजस्वी सूर्य आदि और विद्वान्जन (वि आशत) विविध प्रकार से उपभोग करते हैं।

(३) हे विद्वान् पुरुष! आप लोग (दिव पीयूषम्) आकाश को आनन्द से भर देने वाले, चन्द्रालोक के समान अति आह्लादजनक, ज्ञान-स्वरूप प्रकाश के (पीयूषम्) अमृतरसस्वरूप, (मधुमत्तम्) अति मधुर, आनन्दकारी, (सोमम्) ब्रह्मानन्दरस को (वज्रिणे) ज्ञान और वैराग्य रूप वज्र के धारण करने हारे (इन्द्राय) आत्मा के लिये (सुनोत) उत्पन्न करो।

११२५—१. 'पुनाहीन्द्राय' इति ऋ०।

[१२२८] धर्त्ता दिव॑ पवते कृत्व्यो॒ रसो॑ दक्षो॑ देवानामनुमाद्यो॑
नृभिः । हरिः सृजानो॑ अत्यो॑ न सत्वभिर्वृथा पाजांसि
कृणुषे॑ नदी॑ष्वा ॥१॥

[१२२९] शूरो॑ न धत्त आयुधा गभस्त्यो॑ स्वा३॑ सिषासन् रथिरो॑
गविष्टिषु । इन्द्रस्य॑ शुष्ममीरयन्नपस्युभिरिन्दुर्हिन्वानो॑
अज्यते॑ मनी॑षिभि ॥२॥

[१२३०] इन्द्रस्य॑ सोम पवमान ऊर्मिणा तविष्यमाणो॑ जठरे॑
ष्वाविश । प्रण॑ पिन्व॑ विदुदभ्रव॑ रोदसी धिया नो॑ वाजो॑
उपमाँइ॑ शश्वतः ॥२॥१२॥ ऋ० ९ । ७६ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकल सं० [५२८] पृ० २९ ।

(२) (शूर न) जिस प्रकार शूरवीर योद्धा अपने (गभस्त्योः) दोनों हाथों में (आयुधा) नाना प्रकार के हथियार (धत्ते) धारण करता है उसी प्रकार सोमस्वरूप साधक अपने प्राण और अपान नामक ग्रहण साधनों से नाना ज्ञानसाधनों को, या ईश्वर को प्राप्त करने के सा नों को धारण करे और (रथिरः) रथी, वीर के समान (गविष्टिषु) गौ=इन्द्रियों या वेद मन्त्रों के इष्ट मार्गों में (स्व.) सुख को (सिषासन्) यथावत् प्राप्त करता हुआ (इन्द्रस्य) अपने आत्मा के (शुष्मम्) बल या प्राण को (ईरयन्) प्रेरित काता हुआ (अपस्युभिः) सिद्ध, कर्मयोगी (मनीषिभि) विद्वानों द्वारा (हिन्वान.) अपने योगमार्ग में ज्ञानोपदेश द्वारा प्रेरित होता हुआ (इन्दु.) परमैश्वर्य सम्पन्न होकर (अज्यते) ज्ञान, प्रकाशों द्वारा देदीप्त हो ।

१२२८—कृणुत, १२३०—प्र ण पिन्व इति ऋ० ।

(३) हे (सोम) ब्रह्मानन्द के साधक मुमुक्षो ! हे (पवमान) हृदय को पवित्र करने हारे ! तू (तविष्यमाण) महान् सामर्थ्यवान् होकर (इन्दस्य) परमात्मा के (जठरेषु) बनाये हुए या प्राणियों को उत्पन्न करने हार लोकों में (ऊर्मिणा) ऊर्ध्वगति द्वारा (आविश) प्रविष्ट हो ! (विद्युत् भन्ना इव) जिस प्रकार विद्युत उत्पन्न होकर मेघों का जल वर्षाने के लिये पूर्ण करती है उसी प्रकार तू (रोदसी) प्राण और अपान दोनों को पूर्ण कर और (न) हमारे लिये (शश्वत) बहुत से (वाजान्) बलों और ज्ञानों को (उप मादि) उत्पन्न कर ।

१ २ ३ २उ ३ २ ३ऊ २ऋ ३ २ ३ १ २
[२१३१] यादिन्द्र प्रागपागुदग्न्यग्वा हूयसे नृभि ।
१ ४ ३ १ऋ ४ऋ ३ २ ३ ३ १ २
सिमा पुरूनृषूणा अस्यानवसि प्रशर्द्ध तुर्वशे ॥१॥
२ ३ २ ३ १ ४ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२३२] यद्वा रुम रुशमे श्यावक कृप इन्द्र मादयसे सचा ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ऋ २ऋ ३ १ २
कण्वासस्त्वा स्तोमेभिर्ब्रह्मवाहस इन्द्रा यच्छन्त्यागहि
॥२॥१३ अ० ८ । ४ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२७१] पृ० १३४ ।

(२) हे इन्द्र ! आप (रुमे) रमणीय, (रुशम) हिंसक (श्यावक) ज्ञातिमान और (कृपे) सामर्थ्यवान् पुरुष में (सचा) समान भाव से (मादयसे) आनन्द और हर्ष को प्राप्त कराते हो । (ब्रह्मवाहस) ज्ञान धारण करने हार (कण्वास) मेधावी पुरुष (त्वा) तुमको (स्तोमेभि) अपनी स्तुतियों द्वारा (यच्छन्ति) वांधते हैं वश करते या प्राप्त होते हैं । तू (आगहि) आ दर्शन दे । यहां आत्मा के प्रति सम्बोधन करके कहा गया है । 'रुम,' 'रुशम,' 'श्यावक' और कृप' ये चार शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र चारों प्रकार के स्वभावों को दर्शाते हैं । "जात पांत पूछे नहीं कोई हरिको भजे सो हरिको होई ।"

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ १ २ १
[१२३३] उमं शृणुध्वं न इन्द्रो अर्वागिदं वचः ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ १ २ ३ १ २
सधाच्या मघवान्त्सोमपीतये धिया शविष्ठ आगमत् ॥१॥
२ ३ ३ १ २ ३ १ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २
[१२३४] तं हि स्वराजं वृषभं तमोजसा धिषणे निष्टतक्षतुः ।
३ २ ३ २ ३ १ १ २ १ ३ २ ३ १ २
उतोपमानां प्रथमो निषीदसि सोमकामं हि ते मनः
॥ २ ॥ १४ ॥ ऋ० ८ । ६१ । १, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२६०] पृ० १४८ ।

(२) (हि) क्योंकि (तं) उस (स्वराजं) स्वयं प्रकाशस्वरूप, स्वतः सबके प्रकाशक, (वृषभम्) समस्त सुखों के वर्षक, परमेश्वर को (धिषणे) आकाश और पृथिवी (ओजसा) अपने बल से (निः ससतक्षतुः) धारण करती हैं । हे प्रभो ! तू (उपमानां) ज्ञानयोग्य अथवा अपने बनाये समस्त पदार्थों के भी (प्रथमः) प्रथम ज्ञानोपदेश करने हारा या रचने हारा होकर उनमें (निषीदसि) गुप्तरूप से व्यापक है । (ते) तेरे (मनः) मन, संकल्प या ज्ञान सामर्थ्य सदा (सोमकामं हि) सबको प्रेरणा करने वाला, सबका उत्पादक, इच्छामय कारणरूप संकल्प मात्र है ।

'सोऽकामयत बहु स्या प्रजायेय' इत्यादि प्रकार का सृष्टि रचने का भगवान् का संकल्प समस्त पदार्थों में व्यापक है, जो सर्वत्र अद्भुतरूप से स्थावर, जंगम एवं दिव्य सृष्टियों को बराबर बनाता है और उन सबमें भगवान् स्वतः व्यापक भी है । (तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् निरुक्तं चानिरुक्तं च । इत्यादि (तैत्तिरीय उप० ब्रह्मानन्द वल्ली २। अनु० ६।) आकाश और पृथिवी परमात्मा को अपने भीतर धारण करती हैं। जैसे (मुण्डकोपनि० २ मु० व० १. क० ४) "अग्निर्मूर्धा, चक्षुषी चन्द्र-

१२३३—२, 'ऽमोनसे' इति ऋ० ।

सूर्यौ ।दिशः श्रोत्रे, वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो, हृदयं विश्वमस्य, पद्भ्यां पृथिवी, ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा" । अथवा छान्दोग्य में, वैश्वानर प्रकरण में- "तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो, वस्तिरेव रयिः, पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचनः आस्यमाहवनीयः।" (छा० उप० अ० ५। खं० १७) अथवा स्वयं वेद श्रुति-"यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम् । दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।" (अथर्व०का० १०। सू० ८। म० १)

इति सप्तमः खण्डः ।

[१२३५] पवस्व देव आयुषगिन्द्रं गच्छतु ते मदः ।
वायुमारोह धर्मणा ॥ १ ॥

[१२३६] पवमान नि तोशसे रयिं सोम श्रवाय्यम् ।
इन्दो समुद्रमाविश ॥ २ ॥

[१२३७] अयमन् पवसे मृधः क्रतुर्वित्सोम मत्सरः ।
नुदस्वा दयसु जनम् ॥३॥१५॥ ऋ० ९ । ६३ । २२-२४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४८३] पृ० २४२ ।

(२) हे (पवमान) सोम ! विद्वन् ! आप (श्रवाय्यं) यश और कीर्त्ति के जनक अथवा वेद द्वारा श्रवण करने योग्य (रयिं नितोशसे) आत्मज्ञान रूप ऐश्वर्य का प्रदान करते हो एवं अभ्यास करते हो । अतः हे (इन्दो) ज्ञान-प्रकाशक ! आप (समुद्रम्) समुद्र के समान गम्भीर, अगाध, ज्ञानमय परमेश्वर ज्ञान में (आविश) प्रवेश करें ।

१२३५—'प्रियः समुद्र' इति ऋ० ।

(१) अन्यासु संहितासु 'अयमन् पवसे मृधः०' इत्यादेव ऋक्प्रतीकमुपलभ्यते ॥

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [४१२] पृ० २४५ ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२३८] अभी नो वाजसातमं रयिमर्ष शतग्विनम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

इन्दो सहस्रभर्णसन्तुविद्युम्नं विमासहम् ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १२ २१ ३ १ २ ३ १ २

[१२३९] वयं त अस्य राधसो वसोर्वसो पुरुस्पृहः ।

१ २१ ३ १२ २१ ३ १ २

नि नेदिष्ठतमा इषः स्याम सुम्ने ते अग्निगो ॥ २ ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २

[१२४०] परि स्य स्वानो अक्षरदिन्दुरव्य मदच्युतः ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १२ २१ ३ २

धारा य ऊर्ध्वो अध्वरे भ्राजा न याति गव्ययुः ॥३॥१६॥

ऋ० ९ । ६८ । १, ५, ३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५४६] पृ० २७५ ।

(२) हे (अग्निगो) प्रभु ! सबसे अधिक शक्तिशालिन् ! हे (वसो) सबके अन्तर्यामिन् ! (वयं) हम लोग (ते वसोः) सब को वास देने हारे और सब में बसने हारे तेरे (पुरुस्पृह) सब को प्रेम करने हारे और सब के प्रेमपात्र (अस्य राधसः) इस आराधनीय (इषः) सब के प्रेरक, सब के इच्छा के विषय जीवन और अन्नादिक शक्तिस्वरूप के (नेदिष्ठतमाः) अति निकटवर्ती होकर हम (ते सुम्ने) तेरे सुखमय स्वरूप में (नि स्याम) रहें ।

(३) (यः) जो (इन्दुः) सोम अर्थात् वीर्य, (गव्ययुः) गौ= इन्द्रियों में व्याप्त होने वाला या इन्द्रियों की शक्ति से युक्त (न) जिस प्रकार (भ्राजा) अपनी दीप्ति से, (अध्वरे) हिंसारहित जीवन या

१२३८—अन्यासु सहितासु प्रतीकमात्रम् 'अभी नो वाजसातम०' ।

१२३९—'वयं ते अस्य वृत्रहन् वसो वस्वः पुरुस्पृहः'···'स्याम सुम्नस्याग्निगो' ।

१२४०—'परिष्वानो अक्षरत्' 'भ्राजानेति' इति ऋ० ।

प्राणायाम और योगसमाधि रूप यज्ञ में (धारा) धारण सामर्थ्य वा निष्ठा या शक्तीरूप से (ऊर्ध्वं) ऊर्ध्व प्रदेशों में (याति) गमन करता है। (स्य) वही (स्वान) पुन सूक्ष्म नाड़ीजालों में क्षरित होकर (मदच्युतः) आनन्द-रूप अमृत का स्रवण करता हुआ (इन्दु) कान्तिमान् होकर (अग्ये) प्राणमय कोश में बल से (अक्षरद्) क्षरित होता या प्रकट होता है ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २
[१२४१] पवस्व सोम महान्त्समुद्र पिता देवानां विश्वाभि धाम॥१॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१२४२] शुक्रः पवस्व देवेभ्य सोम दिव पृथिव्यै श च प्रजाभ्य ॥२॥
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१२४३] दिवो धर्त्तासि शुक्र पायूप सत्ये विधर्मन् वाजी पवस्व
॥ ३ ॥ १७ ॥ ऋ० ९ । १०९ । ४–६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अविकल सं० [४२६] पृ० २१६।

(२) हे (सोम) सर्वोत्पादक[1] तू (शुक्र) शुद्धस्वरूप, कान्तिमान् (दिवः) आकाश और दिव्य, जाज्वल्यमान सूर्य में तेज स्वरूप होकर (पृथिव्यै) पृथिवी में जलस्वरूप और अन्नस्वरूप होकर (प्रजाभ्य) समस्त प्रजाओं के लिये अन्न, औषधि और वीर्यरूप होकर (श) कल्याणकारक, शान्तिदायक और आनन्ददायक है ।

(३) हे (सोम) सर्वोत्पादक[1] तू (शुक्र) तेज स्वरूप, शुक्ल, कान्तिमान् (दिव) सूर्य का भी (धर्त्ता) धारण करने हारा, (सत्ये) सत्यस्वरूप (विधर्मन्) विश्व को नाना रूप से धारण करने हार परमेश्वर में (पीयूष) समस्त जीवों द्वारा पान करने, उनको तृप्त कर अनुकूल संवेदन करने योग्य अनन्त आनन्दस्वरूप (वाजी) बलवान्, ऐश्वर्यवान् होकर (पवस्व) प्रकाशित हो ।

इति अष्टम खण्ड ।

१२४१—२ प्रजायै' इति ऋ० ।

[१२४४] प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम् ।
अग्ने रथं न वेद्यम् ॥ १ ॥

[१२४५] कविमिव प्रशंस्यं य देवास इति द्विता ।
नि मर्त्येष्वादधु ॥ २ ॥

[१२४६] त्व यविष्ठ दाशुषो नॄः पाहि शृणुधी गिरः ।
रक्षा तोकमुत त्मना ॥ ३ ॥ १८ ॥ अ० ८ । ८४ । १-३ ॥

(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५] पृ० ३ ।

(२) (देवास.) विद्वान् लोग (प्रशंस्यं) उत्तम रीति से स्तुति करने योग्य, (कविम् इव) क्रान्तदर्शी, मेधावी के समान (इति) इस प्रकार प्रत्यक्षरूप से (यं) जिसको जानकर (द्विता) दो रूपों में (मर्त्येषु) मनुष्यों में (नि-आदधुः) धारण करते हैं ।

विद्वानों की दृष्टि में आत्मा के दो रूप हैं-एक समस्त संसार में व्यापक सर्वमाही परमेश्वर और दूसरा कर्मकर्त्ता और फल भोक्ता जीव दोनों का सामान्य नाम 'आत्मा' है ।

(३) हे (यविष्ठ) सब में व्यापक ! सबसे अधिक शक्ति वाले ! (त्व) तू (दाशुषः) दानशील उदार होकर (नॄन्) मनुष्यों को (पाहि) पालन कर । (गिरः) स्तुति वाणियों को (शृणुधि) श्रवण कर । (उत) और (त्मना) स्वयं अपने सामर्थ्य से (तोकं) बालक या उसके समान कार्य जगत् की (रक्ष) रक्षा कर ।

[१२४७] इन्द्र नो गधि प्रिय सत्राजिद्गोहन् ।
गिरिन् विश्वत पृथु पतिर्दिव ॥ १ ॥

१२४४—२. 'कविमिव प्रचेतस', 'अध द्विता' ३. शृणुधी गिरः' इति ऋ० ।

३ १२ २२ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१२४८] अभि हि सत्य सोमपा उभे बभूथ रोदसी ।
२२ ३ २ ३ १२ २२ ३ २
इन्द्रासि सुन्वतो वृध पतिर्दिव ॥ २ ॥
२ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२
[१२४९] त्वं हि शश्वतीनामिन्द्र दर्ता पुराम्असि ।
३ २ड ३ १ २ ३ २ २२ ३ २
हन्ता दस्योर्मनो वृध पतिर्दिव ॥ ३ ॥ १९ ॥

ऋ० ८ । ९८ । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१९३] पृ० २०२ ।

(२) हे (सत्य) सत्यस्वरूप परमात्मन् ! (इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् ! आप (सोमपा) समस्त संसार के पालन करने वाले, प्रलय काल में सब संसार को स्वयं सूक्ष्म कारण रूप में अपने भीतर पान अर्थात् लीन करने हार हो । आप (उभ) दोनों (रोदसी) लोकों को या उत्पत्ति और विनाशरूप दोनों मर्यादाओं को (बभूथ) वश करने में समर्थ हो । आप (सुन्वत) उत्पन्न होते या अपनी शक्ति से प्रेरणा करते हुए (दिव) सूर्य या प्रकाश को भी (वृध) बड़े भारी, बढ़ानेहारे (पति) मालिक हो ।

(३) हे (इन्द्र) परमात्मन् ! आप (शश्वतीना) अनादिकाल, से चले आये (पुराम्) देहरूप पुरों के (दर्ता) धारण करने हारे, मुक्तिदायक (असि) हो । (दस्यो) नाशकारी अज्ञान के (हन्ता) नाश करने वाले और (मनो) मननशील ज्ञानी आत्मा के (वृध) बढ़ाने वाले और (दिव) सूर्य तथा उसके समान दीप्यमान आदित्य योगी पुरुषों और ज्ञानी और ज्ञान प्रकाश के भी (पति) स्वामी हो ।

१२४७—३ धर्ता पुराम् इति पाठ सायणसम्मत । परमार्थतस्तु सायणोऽपि दारयिता इत्यत्र पर्यायमुल्लिखति । मुम्बई, अजमेरादिमुद्रितो 'धर्ता' इति पाठस्तु माध्यकृद्भिरनादृत । 'पुराम्भिन्दुरित्यादिश्रुत्यन्तरविरोधाच्च ।

[१२५०] पुरा भन्दुर्युवा कविरमतेजा अजायत।
इन्द्रा विश्वस्य कर्मणो धर्त्ता वज्री पुरुष्टुत ॥ १ ॥
[१२५१] त्वं बलस्य गोमतो पावरद्रिवो बिलम्।
त्वा देवा आविभ्युषस्तुज्यमानास आविषु ॥ २ ॥
[१२५२] इन्द्रमीशानमोजसाभिस्तोमा अनूषत।
सहस्र यस्य रातय उत वा सन्ति भूयसी ॥ ३ ॥ २० ॥
ऋ० ६। ११। ४, ५, ८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [३५६] पृ० १८६।

(२) हे (अद्रिव) दीर्ण या विनाश न होने वाले अविनाशी स्वरूप वाले आत्मन्! (त्वं) तू (गोमत) इन्द्रियों से युक्त (बलस्य) प्राण के (बिलम्) प्रवेशस्थान शरीर बन्धन को (अप अव) खोल देता है, (देव) समस्त अग्नि आदि देव (आविभ्युष) तेरी रक्षा में भय न करते हुए (तुज्यमानास) पीड़ित होकर अथवा तुझ से ही शक्ति प्राप्त करते हुए। (त्वा) तेरे पास (आ आविषु) शरण में प्राप्त होते हैं।

जैसा ऐतरेयोपनिषद् में—' ता एता देवता सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतन् ता एनमशनायापिपासाभ्यामभ्यवन् आयतन न प्रजानीहि ** ताभ्य पुरुषमानयत्। ता अब्रुवन् सुकृत बतेति पुरुषो वाव सुकृतम्। ताः अस्मादेव यथायतन प्रविशतति ॥ ३ ॥ अग्निर्वाग् भूत्वा मुख प्राविशद्, वायु प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशद् आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशद्।" इत्यादि समस्त देवताओं का पुरुष शरीर में प्रविष्ट कराकर आत्मा इस रूपरूप स्वरूप मानव द्वार से प्रविष्ट होगया। ' स एतमेव सीमान विदार्य एतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नामद्वास्तदेतन्नान्दनम्।" इत्यादि प्रकरण में इस मन्त्र का रहस्य खोला गया है। (ऐतरेय उप० अ० १। ख० २। ३)

१२५०—२. 'गोमतोऽपाव', ३ 'अभिस्तोमा' इति ऋ०।

(२) हे विद्वानो ! (ओजसा) अपने ओज बल और वीर्य से (ईशानं समस्त संसार को वश करने हारे मालिक (इन्द्रं) परम आत्मा की (स्तोमैः) वेदमन्त्रों द्वारा (अभि अनूषत) स्तुति करो । (यस्य) जिसके (रातयः) दिये हुए दान हजारों और (उत) और भी (भूयसीः) बहुत अधिक (सन्ति) हैं ।

इति नवमः खण्डः ।

इति प्रथमोऽर्धः प्रपाठकः ।

इति नवमोऽध्यायः समाप्तः ।

अथ दशमोऽध्यायः

अथ पञ्चमप्रपाठकस्य (द्वितीयार्धः) प्रपाठकः ।

ऋषि —१ पराशरः । २ शुनःशेपः । ३ असितः काश्यपो देवलो वा । ४, ७ राहूगणः । ५, ६ नृमेधः प्रियमेधश्च । ८ पवित्रो वसिष्ठो वोभौ वा । ९ वसिष्ठः । १० वत्सः काण्वः । ११ शत वैखानसाः । १२ सप्तर्षयः । १३ वसुर्भरद्वाजः । १४ नृमेधः । १५ भर्ग प्रागाथः । १६ भरद्वाजः । १७ मनुराप्सवः । १८ अम्बरीष ऋजिश्वा च । १९ अग्नयो धिष्ण्याः ऐश्वराः । २० अमहीयुः । २१ त्रिशोकः काण्वः । २२ गोतमो राहूगण. । २३ मधुच्छन्दा वैश्वामित्र. ॥ देवता—१—७, ११—१३, १६-२० पवमान सोमः । ८ पावमान्यध्येतृस्तुतिः । ९ अग्निः । १०, १४, १५, २१—२३ इन्द्र ॥ छन्द.—१, ९ त्रिष्टुप् । २—७, १०, ११, १६, २०, २१ गायत्री । ८, १८, २३ अनुष्टुप् । १३ जगती । १४ निचृद्बृहती । १५ प्रागाथः । १७, २२ उष्णिक् । १२, १९ द्विपदा पंक्तिः ॥ स्वरः—१, ९ धैवतः । २—७, १०, ११, १६, २०, २१ षड्जः । ८, १८, २३ गान्धार. । १३ निषादः । १४, १५ मध्यमः । १२, १९ पञ्चमः । १७, २२ ऋषभः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ १ २ ३ १२ २१
[१२५३] अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मन् जनयन् प्रजा भुवनस्य
३ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २१
गोपा । वृषा पवित्र अधि सानो अव्ये बृहत्सामो वावृधे
३ १२ २१
स्वानो अद्रिः ॥ १ ॥
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ १ १
[१२५४] मत्सि वायुमिष्टये राधसे नो मत्सि मित्रावरुणा पूयमानः ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
मत्सि शर्धो मारुत मत्सि देवान् मत्सि द्यावापृथिवी
२
देव सोम ॥ २ ॥
३ १२ २१ ३ १ २ ३ १२ २ २१ ३ २
[१२५५] मदुत्तरो मादयध्यै सखा सुतस्य यद्गर्भोऽजुनीत देवान् ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ १ ३ २ ३ १ २
अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुः
॥ ३ ॥ १ ॥ ऋ० ९ । ६७ । २०-२२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१२६] पृ० २३६ ।

(२) हे आत्मन् ! तू (वायुम) वायु और प्राण को (मत्सि) प्रसन्न और चेतन करता है, (इष्टये) अभीष्ट प्राप्ति और (राधसे) आराधना के कारण (नः) हमको (मत्सि) आनन्दित करता है । (पूयमानः) सर्वत्र प्रकाशित होकर (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण सूर्य और मेघ और प्राण और अपान दोनों को (मत्सि) हर्षित करता है, गति देता है । (शर्धे) बलस्वरूप होकर (मारुत) प्राण और प्रबल वायु को भी मत्सि) हर्षित करता, मानों आनन्द में नचाता है । (मत्सि देवान्) समस्त सूर्य चन्द्रादि देवों एवं इन्द्रियों को (मत्सि) आनन्दित करता, उनको नियम, से गति देता है, और हे (देव सोम) सबके काशक और उत्पादक प्रेरक आत्मन् ! (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, ज्ञानी और अज्ञानी नर और नारी दोनों को (मत्सि) हर्षित करता, एवं तृप्त करता है ।

(३) व्याख्या देखो अवि० सं० [२४२] पृ० २७१ ।

[१२५६] एष देवो अमर्त्यः पर्णवीरिव दीयते ।
अभि द्रोणान्यासदम् ॥ १ ॥
[१२५७] एष विश्वैरभिष्टुतोऽपो दया विगाहते ।
दधद्रत्नानि दाशुषे ॥ २ ॥
[१२५८] एष विश्वानि धार्या शूरो यन्निव सत्यभिः ।
पवमानः सिषासति ॥ ३ ॥
[१२५९] एष देवो रथर्यति पवमानो दिशस्यति ।
आविष्कृणोति वग्वनुम् ॥ ४ ॥
[१२६०] एष देवो विपन्युभिः पवमान ऋतायुभिः ।
हरिर्वाजाय मृज्यते ॥ ५ ॥
[१२६१] एष देवो विपाकृनोऽतिह्वरांसि धावति ।
पवमानो अदाभ्यः ॥ ६ ॥
[१२६२] एष दिवं विधावति तिरो रजांसि धारया ।
पवमानः कनिक्रदत् ॥ ७ ॥
[१२६३] एष दिवं व्यासरत्तिरो रजांस्यस्तृतः ।
पवमानः स्वध्वरः ॥ ८ ॥
[१२६४] एष प्रत्नेन जन्मना देवो देवेभ्यः सुतः ।
हरिः पवित्र अर्षति ॥ ९ ॥
[१२६५] एष उ स्य पुरुव्रतो जज्ञानो जनयन्निषः ।
धारया पवते सुतः ॥१०॥२॥

अ० १।३।१,१४,५,३,२,५-१०॥

भा०—(१) (देव) प्रकाशमान, (अमर्त्य.) मरणरहित, अमृत-स्वरूप जीव (द्रोणकलशानि) द्रोण-कलशों, अर्थात् देहों के (अभि) प्रति (आसदम्) प्रवृत्त होकर उनमें विराजने के लिये (पर्णीः इव) पक्षी या किरणों से युक्त सूर्य के समान या पत्तों से युक्त वृक्ष के समान (दीयते) प्राप्त होता या उनमें विराजता है।

द्रोण अर्थात् गति करने का स्थान और कलश अर्थात् कला या खण्ड २ संचय करके बना हुआ। फलतः यह शरीर द्रोणकलश है। इनमें शुक्रस्वरूप दीप्तिमय चेतनावान् आत्मा 'सोम' है। वह इन शरीरों में निवास करने के लिये पिञ्जरे में पक्षी के समान आता है। इस आत्मा के सोम और इन्द्र विषयक अलंकार का स्पष्टीकरण देखो (यजुर्वेद अ० २० । मं० ८६-९१) यथा-"आन्त्राणि स्थालीपिधु पिन्वमाना गुदाः पात्राणि सुदुघा न धेनुः। श्येनस्य पत्रं न शल्हा शचीभिरासन्दी नाभिरदरं न माता ॥ ८९ ॥ इत्यादि।

(२) (एषः) यह आत्मा (विप्रैः) मेधावी, ज्ञानी पुरुषों द्वारा (अभिस्तुतः) ठीक २ प्रकार से साक्षात् करके वर्णित किया हुआ (देवः) प्रकाशस्वरूप (अपः) समस्त प्रज्ञानों, कर्मों और लोकों को (नि गाहते) प्राप्त करता है। और (दाशुषे) आत्म समर्पण करने हारे साधक के (रत्नानि) नाना रमण योग्य सुखों, पदार्थों, या देहों को (दधत्) पुष्ट करता या धारण करता, या देता है।

(३) (एषः) यह (पवमानः) समस्त शरीर में व्यापक और गतिमान् या उसको पवित्र करता हुआ, या उसमें स्वतः पवित्र होता हुआ, (सप्तभिः) अपने सात्विक बलों से (शूरः इव) वीर योद्धा के समान गति करता हुआ (रिषाणि) समस्त (वार्याणि) वरण करने योग्य आनन्दों, सुखों का (सिषासति) सेवन करता है।

(४) (एष) वह (देव) प्रकाशमान, (पवमान) समस्त शरीर और हृदय को पवित्र करता हुआ (रथर्यति) रथ के समान शरीर में रहता है और (दिशन्यति) उपदेश प्रदान करता और (वाचम्) ज्ञानवाणी या स्तुति को (आवि कृणुते) प्रकट करता है ।

(५) (एष) वह (हरि) दुःख हरण करने हारा (देव) देव (पवमान) व्यापक आत्मा (विपन्युभि) विद्वान् सत्य अर्थों के प्रकाशक (सृतायुभि) सत्य कामना वाले विद्वानों द्वारा (वाजाय) बल की प्राप्ति के लिये (मृज्यते) और भी पवित्र किया जाता है ।

(६) (एष देव) वह सुखों का दाता सर्वप्रकाशक आत्मा (पवमान) पवित्र किया हुआ (विपा) विशेष पालना करने हारी शक्ति से (कृत) सम्पन्न होकर (अदाभ्य) बिना किसी रुकावट के, अदम्य या अविनाशी, अमृत होकर (हरांसि) समस्त कुत्सित विचारों, या पापसंकल्पों, या बंधनों को (अति धावति) पार कर जाता है ।

(७) (एष) वह (पवमान) शुद्ध, पवित्र होकर (रजांसि) समस्त रजोगुण के कर्मों और लोकों को (धारया) अपनी धारणा शक्ति द्वारा (अति) अतिक्रमण करके (कनिक्रदत्) अनाहत नाद या परमेश्वर की स्तुति करता हुआ (दिव) ज्ञानमय, प्रकाशमय मोक्ष को (विधावति) प्राप्त कर, विचरण करता है ।

(८) (एष पवमान) वह मुक्तात्मा सोम (अस्तृत) वासनाओं से बाधित न होकर (सु अध्वर) सुकृत कर्म करके कभी नाश को न प्राप्त होने वाला, होकर (रजांसि) रजोमय विघ्नों को (तिर) एक तरफ हटाकर (दिव) प्रकाशमान मोक्षलोक को (वि आसरत्) विशेष रूप से प्राप्त होजाता है ।

(९) (एष) वह (देव) प्रकाशमान (सुत) सम्यक् मार्ग में निष्ठ होकर (हरि.) सब दुःखों, या बन्धनों का काटने वाला, आत्मा

(देवेभ्य.) विद्वान् पुरुषों के हितार्थ (प्रत्नेन) पुराने परिपक्व (जन्मना) उपार्जित उत्तम जन्म द्वारा (पवित्रे) परम पावन, परमात्मा में (अर्षति) जा लगता है ।

(१०) (एष उ स्य.) और वही यह (पुरुधतः) नाना सत्कर्म अनुष्ठान करने हारा (जज्ञानः) शरीर में आकर (इष) नाना कर्मों, कर्मफलों को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ (सुत) गुरुओं से उपदेशों द्वारा उत्तम मार्गों में प्रेरित और ज्ञान सम्पन्न होकर (धारया) अपनी धारणा शक्ति या वाणी, स्तुति द्वारा (पवते) उत्तम मार्ग में गति करता है ;

इति प्रथम खण्डः ।

—.0 —

३ २ ३ १ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२६६] एष वियायात्यण्या शूरो रथेभिराशुभि. ।

२ ३ १ २ ३ २

गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥ १ ॥

३ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २

[१२६७] एष पुरु वियायते बृहते देवतातये ।

२ ३ १ २ ३ १ २

यथामृताय भोजनम् ॥ २ ॥

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२६८] एत मृजन्ति मर्ज्यमुपद्रवेण्यायव. ।

३ २ ३ १ २

प्र चक्राण महीरिषः ॥ ३ ॥

३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २

[१२६९] एष हिना विनीयतऽन्त. शुन्ध्यावता पथा ।

१ २ ३ २ ३ १ २

यदी तुञ्जन्ति भूर्णय ॥ ४ ॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२७०] एष रुक्मभिरीयते वाजी शुभ्रेभिरंशुभि. ।

२ ३ १ २ ३ १ २

पतिः सिन्धूना भवन् ॥ ५ ॥

१२६६—१, 'आया' ४ 'शुभ्रावता' इति ऋ० ।

[१२७१] ३ १२ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २
एष शृङ्गाणि दोधुवच्छिशीते यूथ्यो३ वृषा।
३ १२ २१ ३ २ २
नृम्णा दधान ओजसा ॥ ६ ॥

[१२७२] ३ १ २१ ३ १२ २१ ३ १२ २१
एष वसूनि पिन्वन परुषा यतिर्न अति।
२ ३ १ २
अप शादिषु गच्छति ॥ ७ ॥

[१२७३] ३ २ ३ २३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
एतमु त्य दश क्षिपो हरिं हिन्वन्ति यातवे।
३ ३ ३ १ २
स्वायुध मदिन्तमम् ॥ ८ ॥ ३ ॥

ऋ० ९। १९। १, २, ७, ३, ५, ४, ६, ८ ॥

भा०—(१) (रथेभि) रथों द्वारा जिस प्रकार (शूर) शूरवीर योद्धा सेनापति के पद पर अभिषिक्त होकर जाता है उसी प्रकार दूर तक व्यापन करने हारे सात्विक साधनों से युक्त होकर (एष) यह शमादि गुणसम्पन्न योगी (आशुभि) शीघ्रगामी, दूरतक शीघ्र फैलने वाले (अदृश्या) सूक्ष्म (धिया) प्रज्ञा, निदिध्यासन, उपासना कर्म या, साधना द्वारा (इन्दवस्य) आत्मा और प्रभु परमात्मा के (निष्कृतम्) परम दिव्य धाम को (गच्छन्) जाता हुआ (याति) परम सुख को प्राप्त करता है।

(२) (एष) यह आत्मा योगी उस (बृहत) बड़े भारी (देवतातये) दिव्यगुण सम्पन्न प्रभु को साक्षात् करने के लिये (पुरु) नाना प्रकार के सत्कर्मों द्वारा (धियायते) ध्यान करता और योग समाधि का अनुष्ठान करता है। अथवा (धिया अयते) ध्यान, ज्ञान और कर्म द्वारा मनसा, वाचा कर्मणा प्राप्त होता है। (यत्र) जहां जिसमें व (अमृतास) अन्य मुक्तात्मागण अमृत स्वरूप होकर (आशत) मोक्षसुख का भोग करते हैं।

(३) (आयव) दीर्घ आयु की कामना करने हारे, या ज्ञानी मनुष्य (एत) इस (सोमम्) शमदमादि साम्यगुणों से सम्पन्न (मर्ज्यं) प्रयत्न से शोधने योग्य, या खोजने योग्य (मही.) बड़ी (इष.) इच्छाओं को

या बल साधनाओं को (प्र चक्राणम्) उत्तमरूप से करते हुए आत्मा को (दोषेषु) द्रुतगति वाले अति वेगयुक्त मानसव्यापारों या कोशों में (मृजन्ति) अत्यन्त परिष्कृत करते हैं।

(४) (यद् ईं) जब (भूर्णय) भरणशील प्राण और अपान को यथास्थान, यथामार्ग में प्राणायाम द्वारा लेजाने वाले ज्ञानी पुरुष (तुञ्जन्ति) प्राण और अपान की आहुतियां प्रदान करते हैं तब (एषः) यह सोम (अन्तः) भीतर (हितः) गुप्तरूप से विद्यमान (शुन्ध्यावता) शुद्धियुक्त (पथा) मार्ग से (विनीयते) प्राप्त कराया जाता है।

(५) (एष) यह सोम (रुशद्भिः) उत्तम कान्ति से सम्पन्न, देदीप्यमान तेज वाले, (शुभ्रेभिः) अति शुद्ध (अशुभिः) किरणों से युक्त (वाजी) बलवान् और ज्ञानवान्, (सिन्धूनां) गतिशील प्रवृत्तियों, प्राणों और प्रजाओं का (पतिः) पालक (भवन्) होता हुआ (ईयते) जाना जाता है।

(६) जिस प्रकार (यूथ्यः वृषा) गोयूथ में विचरण करने हारा महावृषभ (शृङ्गाणि दोधुवत्) अपने सींग हिलाता हुआ (शिशीते) समीप के पदार्थों को भी कंपाता है उसी प्रकार (एषः) यह विद्वान् अपने (शृङ्गाणि) किरणों को या प्रेरक बलों को (दोधुवत्) प्रेरित करता हुआ (ओजसा) अपने बल से (नृम्णा) प्राणों को (दधानः) धारण करता हुआ (शिशीते) सब प्राणों को भी कम्पित करता उनको संचालित करता है।

(७) (एषः) यह ज्ञानी (वसूनि) वास करने हारे प्राणों को (पिन्वन्) पीड़ित या प्रेरित करता हुआ (परुषा) प्रत्येक पर्व या मंजिल को (अति पवित्रान्) पार करता हुआ (शर्दिषु) कठिन तपस्याओं या भूमियों में (अव गच्छति) प्रवेश करता है।

(८) (हरि) दुःखों के हरने वाले मनोहर, सबके प्रेरक, सबके धारक, (त्यपूत) उस इस (सु-आयुधम्) उत्तम साधनाओं से सम्पन्न, (मदिन्तम) अति आनन्द और हर्षयुक्त सामरूप साधक आत्मा को (दश क्षिप) दशों प्राणगण (पातव) प्राप्त करने या आनन्दरस पान कराने के लिये (हिन्वन्ति) प्रेरित करते हैं ।

इति द्वितीय खण्ड ।

---

३ २ ३ २३ ३ २३ ३ १ २
[१२७४] एष उ स्य वृषा रथाऽव्या वारमिरव्यत ।
२ २१ १ २ ३ १ २
गच्छन् वाज सहस्रिणम् ॥ १ ॥
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२७५] एष त्रितस्य योषणा हरिं हिन्वन्त्यद्रिभि ।
२ ३ १ २ ३ १ २
इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥ २ ॥
३ २ २१ ३ २ ३ २३ ३ १ २
[१२७६] एष स्य मानुषीष्वा श्येनो न विक्षु सीदति ।
१ २ ३ २३ ३ १ २
गच्छन्नारो न योषितम् ॥ ३ ॥
१ ३ २ १ २१ ३ १ २ २१
[१२७७] एष स्य मधो रसोऽवचष्टे दिव शिशु ।
४ ३ २ ३ १ १
य इन्दुर्वारमाविशत् ॥ ४ ॥
३ २३ ३ १ २ ३ २ २१ ३ २
[१२७८] एष स्य पीतये सुतो हरिरर्षति धर्णसि ।
२ ३ १ १ ३ २ ३ २
क्रन्दन्योनिमभि प्रियम् ॥ ५ ॥
३ २३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२७९] एष त्य हरितो दश मर्मृज्यन्ते अपस्युव ।
२ ३ १ २ ३ १ २
याभिर्मदाय शुम्भते ॥ ६ ॥ ४ ॥

ऋ० ९ । ३८ । १, २, ४ ५, ६, ३॥

भा०—(१) (स्व प्य) वह वह सोम अर्थात् ज्ञान आदि षट्क सम्पत्ति से युक्त मुमुक्षु जन (वृषा) सुखों का हृदयभूमि में वर्षण करने हारा (रथ) गतिशील रमणस्वभाव, सर्वत्र प्रसन्न होकर विचरने हारा, (सहस्रियम्) बल से युक्त या नाना प्रकार के सुखों के देने वाले (वाज) ज्ञान ऐश्वर्य को (गच्छन्) प्राप्त होता है और वह (अध्वा) क्रियाशक्ति या मुख्य प्राण के (वारे) वरण योग्य साधनों से (अरुषत) मुक्तिमार्ग पर गमन करता है।

(२) (एत) इस (हरिम्) दुःखों के हरने वाले सबके नेता, मुमुक्षु आत्मा को (वितरम्) तीनों प्रकार के दुःखों से परे और मानस, वाचिक, कायिक तीनों बलों से युक्त मुख्य प्राण के साथ (वावशा) प्रेम करने हारी, इसका सेवन करने हारी, इन्द्रिय-वृत्तियां (इन्द्राय) परम आत्मा के (पीतये) आनन्दरस प्राप्त करने के लिये (गृणानाः) प्रेरित करती या उस के बल की वृद्धि करती हैं।

(३) (एष स्य) वह वह योगी (मानुषीषु) मनुष्य (विक्षु) प्रजाओं में (रथना ज) पक्षियों में भगवान् गरुड़ के समान अधिक बल, सामर्थ्य और ज्ञान से सम्पन्न होकर और (योषितम्) स्त्री के प्रति (गच्छन्) गमन करते हुए (जार न) उसके लिये पुरुष के समान गुप्तरूप से परमसुख का अभिलाषी होकर (सीदति) सन्मय भाव से विराजता है।

(४) (य) जो (इन्दु) परम ऐश्वर्यसम्पन्न आत्मा (वरम्) वरण करने योग्य मोक्षमार्ग में (आविशत्) प्रवेश करता है (एष स्य) वह वह (मधु) अतिहर्षयुक्त (रसः) आनन्दमय, रसमय होकर (दिवः) प्रकाशमान उस परम आत्मा की गोद में, माता की गोद में (शिशुः) बालक के समान, या सर्वत्र आकाश में सूर्य के समान रहकर (नाकचक्षे) समस्त भुवनों को देखता है।

(५) (एष स) यह वह सोम मुमुक्षु आत्मा (पीतये) आनन्द-रस पान करने के लिये (सुत) तैयार, निष्पन्न होकर (क्रन्दत्) शब्द करता हुआ, स्तुति करता हुआ, (हरि) सब इन्द्रियों का नेता, (धर्णसि) सब प्राणों को धारण करने हारा होकर (प्रिय) अपने प्रिय, उत्तम (योनिम्) आश्रयरूप शरण परमेश्वर के (अभि अर्षति) प्रति गमन करता है ।

(६) (एष एनं) उस इसको (अपस्युव) कर्म करने की इच्छा करने हारी चेष्टावान् (दश) दस (हरित) हरणशील इन्द्रियां, या प्राणवृत्तियां निरुद्ध होकर (मर्मृज्यन्ते) और अधिक उज्ज्वल होती हैं (याभि) जिनसे वह मुमुक्षु (इन्दस्य) अपने भीतर विराजमान ऐश्वर्य-शील आत्मा के (मदाय) परम आनन्द प्राप्त करने के लिये (शुम्भते) स्वयं प्रकाशित, या सुशोभित, या तैयार होता है ।

इति तृतीयः खण्डः ।

३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२८०] एष गव्युरचिता नृभिर्हितो विश्वविन्मनसस्पतिः ।
२ ३ २ ३ १ २
अव्यो वारे विधावति ॥ १ ॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २
[१२८१] एष पवित्रे अक्षरत्सोमो देवेभ्य सुतः ।
२ ३ १ २ ३ २
विश्वा धामान्या विशन् ॥ २ ॥
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१२८२] एष देव शुभायतेऽधि योनावमर्त्यः ।
३ १ २ ३ १ २
वृत्रहा देववीतमः ॥ ३ ॥

१२८०—१. 'अव्यो वारे', २ ऋग्वायं विनियुक्तः 'एष वां सोमो मरुतः' इति च ऋ० ।

[१२८३] एष वृषा कनिक्रदद्दशभिर्जामिभिर्यतः ।
अभि द्रोणानि धावति ॥ ४ ॥

[१२८४] एष सूर्यमरोचयत्पवमानो अधि द्यवि ।
पवित्रे मत्सरो मदः ॥ ५ ॥

[१२८५] एष सूर्येण हासते सचसानो दिवस्पदे ।
पनिर्वाचो अदाभ्यः ॥ ६ ॥ ५ ॥

"एष वाजी" इत्यारभ्य "एष सूर्यमरोचयत्" इत्यन्तं, अ० १ । २८ । १-४ ॥ पञ्चम्यार्धर्चे प्रथम पाद "पवमान" इत्यारभ्य "हासते" इत्यन्तं वादृग्यं च, अ० २७ । ६ । २५ ॥ "सचसान" इत्यारभ्य "अदाभ्य" इत्यन्त अ० १ । २६ । ४ ॥

भा०—(१) (एष) यह सोम, आत्मा (वाजी) ज्ञानवान्, बलवान् सबका कर्त्ता हर्ता (विश्वविद्) समस्त संसार के सब पदार्थों की व्यवस्था को जानने हारा, सर्वज्ञ (मनसस्पति) सबके मनों और समस्त ज्ञानों का स्वामी, परमात्मा और देह में आत्मा (नृभिः) सब मनुष्यों और देह में प्राणों द्वारा (हित) धारण किया हुआ है ! वही अग्नि, आत्मा या प्राण के (वारं) वरण करने योग्य सीमा को भी (वि धावति) पार कर जाता है, उससे परे है।

(२) (एष) यह (सोमः) सौम्यगुणों से युक्त, सब का प्रेरक, परमात्मा (देवयुः) विद्वान् ज्ञानी पुरुषों के और समस्त दिव्यगुणयुक्त पदार्थों के निमित्त (सुतः) सूक्ष्मरूप से सब में प्रकट हुआ (पवित्रे) शुद्ध कान्तिमय रूपों में (अक्षरत्) प्रकट होता है और (दिवः) समस्त (धामानि) लोकों या तेजों में (आविशन्) व्यापक है ।

(३) (एषः देव) वही प्रकाशमान देव (अमर्त्यः) अमरणधर्मा, अविनाशी, (दूत्यः) सब व्यवहारकारी अग्रणी जनों का नायक, (देवशेवनः)

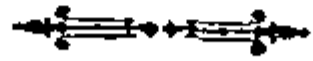
सब दिव्य पदार्थों को अपने भीतर रख लेने में सबसे अधिक सामर्थ्यवान्, सब में व्यापक, सबका प्रकाशक (योनौ अधि) मूलकारण रूप प्रकृति में (शुभायते) भासमान है।

(४) (वृषा) समस्त काम्य सुखों का वर्षण करने हारा, (एषः) यह आत्मा (दशभि.) दश (जामिभिः) भगिनीस्वरूप दश दिशाओं से (यतः) धारण किया गया (दोषाणि) समस्त लोकों में (धावति) व्यापक हो रहा है। आत्मपक्ष में— (दश जामिभिः) वह आत्मा ज्ञान उत्पन्न करने हारी दश इन्द्रियों सहित (दोषाणि धावति) देहरूप कलशों में व्यापक है।

(५) (एषः) वह परमात्मा (पवमानः) सर्वत्र व्यापक (अधि-दिवि) आकाश में सूर्य के समान ज्ञान प्रकाश में स्वयं (मदः) आनन्द स्वरूप (पवित्रे) पवित्र करने हारे आत्मा में (मत्सरः) आनन्दरस का स्रवण करने हारा होकर (सूर्य) सूर्य के समान प्राण को भी (अरोचयत्) प्रकाशित करता है।

(६) (एषः) यह सोम सर्वव्यापक, शक्तिमान् परमात्मा (विवस्वता) दीप्तिमान् (सूर्येण) सबके प्रेरक सूर्य के साथ (संवसानः) समस्त संसार को आवृत करता हुआ (वाच.) समस्त वेदवाणी का *(अद्वय)* अद्वितीय (पतिः) स्वामी होकर (आसते ह) निश्चय से विराजमान है।

इति चतुर्थः खण्डः।



३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१२८६] एष कविरभिष्टुतः पवित्र अधि तोशते।
३ १ २ ३ १ २
पुनानो घ्नन्नपद्विषः ॥ १ ॥

(१२८६—१) 'मत्सरत्विषः' इति ऋ०।

३ १ २१ ३ १ २ ३ १२ २१
[१२८७] एष इन्द्राय वायवे स्वर्जित्परिषिच्यते ।
३ १ २ ३ १ १
पवित्रे दक्षसाधन ॥ २ ॥
३ १ ३ ३ १ १ ३ १ ३ १२ १२ ३ २
[१२८८] एष नृभिर्वि नीयते दिवो मूर्धा वृषा सुत ।
१ ३ १ २ ३ २
सोमो वनेषु विश्ववित् ॥ ३ ॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१२८९] एष गव्युरभिद्युतपवमानो हिरण्ययुः ।
१ २ ३ १२ १२
इन्दुः सत्राजिदस्तृतः ॥ ४ ॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२९०] एष शुष्मयसिष्यदद्दन्तारिक्षे वृषा हरिः ।
३ १ ३ ३ १ ३ २
पुनान इन्दुरिन्द्रयुः ॥ ५ ॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२९१] एष शुष्मयदाभ्यः सोम पुनानो अर्षति ।
३ १ २ ३ १
देवावीरघशंसहा ॥ ६ ॥ ६ ॥

अ० ९ । २७ । १-४, ६ ॥ ९ । २८ । ६ ॥

भा०—(१) (एष) यह (कविः) क्रान्तदर्शी, ज्ञानी, सर्वज्ञ परमात्मा (द्विषः) द्वेष करने हारे दुष्ट पुरुषों को (अपघ्नन्) दूर ही विनाश करता हुआ (पुनानः) सबका पवित्र करने हारा, पतितपावन (अभिष्टुतः) उत्तम रीति से प्रार्थना और स्तुति किया गया (पवित्रे) शुद्ध, पवित्र हृदय-देश में (अधि सानवि) विराजता है ।

(२) (एष) यह सोम, सब का प्रेरक (दक्षसाधनः) समस्त बलों का साधक, उत्पादक (स्वर्जित्) समस्त उत्तम लाभ और आनन्द, मोक्षसुखों का विजय करने हारा, (वायवे) प्राणस्वरूप । इन्द्राय) आत्मा के लिये (पवित्रे) पवित्र हृदयदेश में (परि सिच्यते) सब प्रकार से ध्यानशक्तियों द्वारा प्रवाहित, अभिषावित अर्थात् मनन किया जाता है ।

(३) (एष) यह (दिव मूर्धा) महान आकाश या प्रकाश का मूर्धास्वरूप, मुख्य कन्द सब का प्रेरक, (वृषा) सब सुखों का वर्षक, (सोम) साम (विश्ववित्) सर्वज्ञ । नृभि) विद्वान् नेता लोगों द्वारा (वनपु) सेवन करने योग्य कार्यों देहों और लोकों में (विनीयते) नाना प्रकार से प्राप्त किया जाता, एवं स्मरण किया जाता है ।

(४) (एष) यह (पवमान) सर्वव्यापक, सब को पवित्र करने हारा, (हिरण्ययु) समस्त प्रकाशमान लोकों में व्यापक, (इन्दु) ऐश्वर्यशील, (सम्राजित्) समस्त ससार पर विजय करन हारा (अस्तृत) किसी से भी स्वय हिंसित या विनाश न होन हारा अद्वितीय, (गव्यु) समस्त गतिमान् पिण्डों में भी व्यापक सबका हितकारी, (अचिक्रदत्) वेद द्वारा उपदश करता है ।

(५) (एष) यह साम (हरि) सबका नेता सब दुःखों का हर्त्ता (वृषा) सब सुखों का वर्षक, (शुष्मी) सर्वशक्तिमान् (इन्दु) सर्वैश्वर्यवान्, (इद्र) भीतरी अन्तर आत्मा को (पुनान) पवित्र करता हुआ (अन्तरिक्षे) हृदयदश में (असिष्यदत्) प्रवाहित होता है ।

(६) (एष) यह (अदाभ्य) अमर, हिंसित न होने वाला, स्वतः पीड़ारहित (देवावी) सब इन्द्रियों देवों, पञ्चभूतों और दिव्य लोकों में भी व्यापक और उनका रक्षक (अघशसहा) पापवार्ता कहने हारे का विनाशक (सोम) सोम परमेश्वर (पुनान) सब का पवित्र और प्रकाशित करता हुआ (अर्षति) सर्वत्र व्यापक है ।

इति पञ्चम खण्ड ।

[१२६२] स सुत पीतय वृषा सोम पवित्रे अर्षति ।
विघ्नन्रक्षासि देवयु ॥ १ ॥

[१२९३] स पवित्रे विचक्षणो हरिरर्षति धर्णसिः ।
अभि योनिं कनिक्रदत् ॥ २ ॥

[१२९४] स वाजी रोचने दिवः पवमानो विधावति ।
रक्षोहा वारमव्ययम् ॥३॥

[१२९५] स त्रितस्याधिसानवि पवमानो अरोचयत् ।
जामिभिः सूर्यं सह ॥४॥

[१२९६] स वृत्रहा वृषा सुतो वरिवोविदद्भ्यः ।
सोमो वाजमिवासरत् ॥५॥

[१२९७] स देवः कविनेषितोऽभि द्रोणानि धावति ।
इन्दुरिन्द्राय मंहयन् ॥६॥७॥ ऋ० ९ । ३७ । २-६ ॥

भा०—(१) (सः) वह (वृषा) मेघ के समान आनन्द-रसों और सुखों का वर्षक (सोमः) रसस्वरूप, सब का उत्पादक (देवयुः) विद्वानों और प्राणों की अभिलाषा पूर्ण करने हारा, (पीतये) आनन्द पान कराने के निमित्त (सुतः) निष्पन्न होकर (पवित्रे) पवित्र अन्तःकरण, और अन्तरिक्ष में (अर्षति) व्याप्त होता है ।

(२) (सः) वह (हरिः) शक्तिमान्, सब दुःखों का हर्त्ता, (विचक्षणः) सब का द्रष्टा, (धर्णसिः) समस्त जगत् का धर्त्ता, (कनिक्रदत्) ज्ञानोपदेष्टा आत्मा (पवित्रे) पवित्र, अन्तःकरण में (अर्षति) प्रकट होता है ।

(३) (सः) वह आत्मा (वाजी) बलवान् ज्ञानवान् (दिवः) सूर्य और प्राण का भी (रोचनः) प्रकाशक (पवमानः) सब को पवित्र करने हारा, (रक्षोहा) दुष्टों, दुष्ट भावों और विघ्नों का विनाशक, (अव्ययम्)

अवि अर्थात् प्राणों के बने (वार) स्थूल आवरण को (विधावति) विशेष रूप से पारकर, रसरूप से प्रकट होता है ।

(४) (स) वह (त्रितस्य) प्राण के (अधिसानवि) विशेष-स्थान, त्रिपुटि में (पवमान) परिशुद्ध होकर (जामिभि) अन्य ज्ञानोत्पादक इन्द्रिय वृत्तियों के (सह) साथ मिलकर (सूर्य) सूर्य के समान सब के प्रेरक मुख्य, प्राण को (अरोचयत्) और अधिक दीप्त, प्रकाशित करता है ।

(५) (स) वह (वृत्रहा) सब विघ्नों का विनाशक (सुत.) निष्पन्न (सोम) सब इन्द्रियों और प्रजाओं का प्रेरक आत्मा (अदाभ्य.) किसी से हिंसित या पराजित न होकर (वरिवोविद्) सबसे उत्तम आत्म रूप या आत्मानन्द कोश=खजाने को लाभ कराने हारा (वाजम् इव) युद्ध में शूरवीर के समान परम ज्ञानमय ब्रह्म की ओर (असरत्) गति करता है ।

(६) (स) वह (देव-) देदीप्यमान प्रकाशस्वरूप (कविना) अन्तर्दर्शी मेधावी सबके गुरु आत्मा या परमात्मा द्वारा (ईषित-) प्रेरित होकर उसका प्रेमपात्र होकर (इन्दु) भीतर ही द्रवित होता हुआ (इन्द्राय) इन्द्रियों के स्वामी आत्मा को (मदयन्) आनन्द प्रदान करता हुआ (द्रोणानि) समस्त ज्ञान कलशों, कोशों, देहों और लोकों में (अभि धावति) विचरण करता है ।

इति षष्ठः खण्डः ।

[१२६८] य पावमानीरध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम् ।
सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना ॥ १ ॥

३ २८ ३ ११ २१ ३ १ २ ३ १ २
[१२९९] पावमानीर्योअध्यृषिभिः सम्भृतो रसम् ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २१ ३ २
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् ॥२॥
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३००] पावमानी स्वस्त्ययनी सुदुघा हि घृतश्चुतः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
ऋषिभिः सम्भृतो रसो ब्राह्मणेष्वमृतं हितम् ॥३॥
३ १ २ ३ २ ३ १२ २१ ३ २
[१३०१] पावमानीर्दधन्तु न इमं लोकमथो अमुम् ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
कामा समर्धयन्तु नो देवीर्देवैः समाहिताः ॥४॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३०२] येन देवा पवित्रेणात्मानं पुनते सदा ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
तेन सहस्रधारेण पावमानी पुनन्तु नः ॥५॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१३०३] पावमानीः स्वस्त्ययनीस्ताभिर्गच्छति नान्दनम् ।
१ ३ ३ १ २ ३ १ २
पुण्याश्च भक्षान् भक्षयत्यमृतत्वं च गच्छति ॥६॥८॥

आद्ये द्वे च० १ । ६७ । २१ २२॥ शेषा ऋग्वेदे नोपलभ्यन्ते ।

भा०—(१) जो (ऋषिभिः) मन्त्र का साक्षात् दर्शन करने वाले ऋषियों द्वारा (सम्भृतम्) अच्छी प्रकार धारित, और प्राप्त एवं साक्षात् किये और अन्यों को उपदेश किये हुए (रसं) आत्म ज्ञानस्वरूप मधु विद्यामय, रसरूप (पावमानी) सोम, पवमान सम्बन्धी ऋचाओं को (अध्येति) अध्ययन करता है, उनके तत्वार्थ ज्ञान का लाभ करता है (सः) वह (सर्वं) सब (मातरिश्वना) अन्तरिक्ष में व्यापक परब्रह्म या प्राणस्वरूप जीवनशक्ति द्वारा या (मातरि ज्ञानसाधने इन्द्रिये आत्मनि वा अयति गच्छति इति मातरिश्वा मन) ज्ञानसाधन इन्द्रियगणों या आत्मा में निरन्तर गति करने हारे मन द्वारा (स्वदितं) आस्वादन करने योग्य (पूतं) पवित्र ज्ञान का (अश्नाति) लाभ करता है और उसे भोग करता है । 'मनः पूतं समाचरेत्' इति मनुः ।

(२) (य) जो (ऋषिभिः संभृत रसः मन्त्रद्रष्टा, विद्वान् ऋषियों द्वारा प्राप्त अर्थात् साक्षात् किये गये ज्ञान रसस्वरूप (पावमानी) पवमान सोम सम्बन्धी वेद का ऋचाओं का (अध्येति) अध्ययन करता है (तस्मै) उसके लिये (सरस्वती) वेदवाणी (क्षीर) शुद्ध दुग्ध के समान आत्मज्ञान (सर्पि) घृत के समान स्नेहपूर्ण, उज्ज्वल, ज्योति स्वरूप आत्मदर्शन और (मधु) मधु के समान आनन्ददायक मधुर ब्रह्म, स्वाद और (उदक) जल के समान शीतल, शान्तिरस को (दुहे) दोहन करती है।

(३) (या पावमान्य ऋच) जो पवमान सोमसम्बन्धी ऋचाएं हैं वे (स्वस्त्ययनी) कल्याण और योगक्षेम को प्राप्त कराने हारी, (सुदुघा) सुखरस ही परमानन्द रस को देने वाली, (घृतश्चुत) ज्ञान और सात्विक प्रकाश के उत्पन्न करने वाली हैं। वे तो साक्षात् (ऋषिभिः) ऋषियों द्वारा (संभृत) प्राप्त (रस) परम रसस्वरूप (ब्राह्मणेषु[1]) वेद के विद्वानों के भीतर (हितम्) स्थापित (अमृत) कभी न नाश होने वाली अमृत, अध्यात्म ब्रह्मज्ञान के समान हैं।

(४) (पावमानी) पवमान सोम सम्बन्धी ऋचाएं ही (न) हमें (इम) इस (लोक) लोक (अथा) और (अमु लोक) परलोक को (दधन्तु) धारण करावें। और वे (दैवी) दिव्यगुणप्रकाशक होकर (देवैः) विद्वान् ज्ञानी पुरुषों द्वारा (समाहृता) उपदेशों और व्याख्यानों द्वारा सर्वत्र प्रकाशित होकर (न) हमारे (कामान्) शुभसंकल्पों को (समर्धयन्तु) पूर्ण करें।

(५) (देवा) विद्वान् योगी जन (येन) जिस (पवित्रेण) समस्त संसार को पवित्र करने हारे उपाय से (सदा) नित्य अपने (आत्मान) आत्मा को (पुनत) पवित्र करते हैं (तेन) उस (सहस्रधारेण) सहस्रों

---

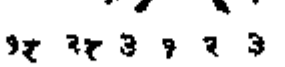
[1] विद्याया विरजोऽविर्द्धयि सा ब्राह्मणो भवति । [बृ० उप० अ० ४ । ४ । २३]

धारणा शक्तियों से सम्पन्न योगसाधन या पतितपावन ईश्वर प्रणिधान से हो यह (पावमानी) पवमान सोम सम्बन्धी ऋचाएं भी (न) हमें (पुनन्तु) पवित्र करें।

(६) (स्वस्त्ययनी) कल्याण और योगक्षेम को प्राप्त कराने हारी, (पावमानी) पावमान सम्बन्धी ऋचाएं हो हैं। (ताभिः) उनसे आत्मा या साधक (नान्दन) परमानन्द अवस्था, मोक्ष को (गच्छति) प्राप्त होता है और (पुण्यान् च) पुण्य, (भक्षान्) सेवन करने योग्य सुख भोगों को (भक्षयति) उपभोग करता है और (अमृतत्वं च) अमृतत्व रूप परमपद को भी (गच्छति) प्राप्त करता है।

'स एतमेव सीमानं विदार्य एतया द्वारा प्रापद्यत एषा विदृतिर्नाम द्वारतदेतन्नान्दनं तस्य त्रय आवसथा । अय स्वप्नः । अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति । स जातो भूतान्यभिव्यैक्षत् किमिहान्य वावदिषद् इति । स एतमेव पुरुष ब्रह्म ततमपश्यत् इदमदर्शमिति तस्मादिदन्द्रो नाम इन्द्र इ्वा ह्यते परोक्षेण । इत्यादि । ऐतरेय० उप० ४ । ४ ।

इति सप्तम खण्ड ।



१ २ ३ १२ २१ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १
[१३०४] अगन्म महा नमसा यविष्ठं यो दीदाय समिद्ध स्वे
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १
दुरोणे । विश्वभानुं रोदसी अन्तरुर्वी स्वाहुतं विश्वतः
३ १ २
प्रत्यञ्चम् ॥१॥
२ ३ १२ ३१ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ २ १
[१३०५] स मह्ना विश्वा दुरितानि साह्वानग्निष्टवे दम आ जात
२ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १ २
वेदा । स नो रक्षिषद् दुरितादघायोरस्मान् गृणान उत नो
३ १ २
मघोनः ॥२॥

१ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २'
[१३०६] त्वं वरुण उत मित्रो अग्न त्वां धर्यन्ति मतिभिर्वसिष्ठा ।
१र २र ३ १ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २
त्वं वसू सुपथानानि सन्तु यूयं पात स्वस्तिभि सदा न ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ७ । १२ । १–३ ॥

भा०—(१) । य) जो (स्वे) अपने (दुरोणे) इस ब्रह्माण्ड रूप अनन्त संसार में (समिद्ध) प्रकाशमान होकर (दीदाय) चमकता है । उस (विश्वत) सर्वत्र (प्रत्यञ्च) व्यापक, (उर्वी) महान् (रोदसी), द्यौ और पृथिवी लोकों के (अन्त) बीच (स्वाहुत) स्वयं सब को वश करने हार, सबके आश्रयरूप (यविष्ठ) सबसे अधिक बलवान् सब में व्यापक, (चित्रभानु) पूजनीय, कांतिमय परमेश्वर का (महानमसा) बड़ी विनय से (अगन्म) हम प्राप्त हों ।

यदार्धिमद् यदणुभ्योऽणु यन्महद्भ्यो निहिता लोकिनश्च । (मुण्डक० २ । २ । २)

(२) (स) वह (महा) अपनी महिमा स (विश्वा दुरितानि) समस्त पापों का (साह्वान्) दूर करने हारा, (अग्नि) अग्निस्वरूप परमात्मा (जातवेदा) समस्त पदार्थों का जानने हारा (न) हमारे हृदयरूप या ब्रह्माण्डरूप गृह में या यज्ञस्थल में (आ स्तव) सर्व प्रकार से स्तुति किया जाता है । (स) वह (न) हमें (अवद्यात्) निन्दनीय (दुरितात्) पापाचरण स (रक्षिषत्) रक्षा करे । और (गृणत) स्तुति करने हार (अस्मान्) हम लोगों को बचावे । (उत) और (मघोन) ज्ञान धन सम्पन्न (न) हमें पापाचरण स बचावें ।

(३) हे अग्ने ! ज्ञानस्वरूप (त्व) तू (वरुण, उत मित्र) सब पापों स निवारण करने और सर्वश्रेष्ठ होने से वरुण' और सबको स्नेह करने हारा और मृत्यु से बचाने वाला होने से मित्र' है । (वसिष्ठा) अपने २ वश में स्थित अथवा परमपद में वास करने हारे ज्ञानी अथवा

अपने स्वरूप में स्थित मुमुक्षु लोग या प्राणगण (मतिभिः) मननशक्तियों द्वारा (त्वा) तुझे या तेरी महिमा को ही (वर्द्धन्ति) बढ़ाते हैं । (ते) तुझ में, तेरी साक्षिता में (वसूनि) समस्त ज्ञान, धन, (सुपथानि) उत्तम २ सुख प्रदान करने वाले अथवा सुख से दान करने योग्य (सन्तु) हों । हे विद्वान् लोगो ! (यूयं) आप लोग भी (न) हमें (सदा) नित्य (स्वस्तिभिः) कल्याणकारी कार्यों, उत्तम उपायों और आशीर्वादों से (पात) रक्षा करो ।

३२३ ~१२ २१ ३१२ ३१२
[१३०७] महां इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव ।
१२३१२
स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे ॥ १ ॥
२ ३ २२ १२ २३ १२३२३ १२
[१३०८] कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम् ।
३१२३१२
जामि ब्रुवत आयुधा ॥ २ ॥
३ २३२ ३१२३ १२ २१ ३१२
[१३०९] प्रजामृतस्य पिप्रत प्रयद्भरन्त वह्नयः ।
१२३२३१२
विप्रा ऋतस्य वाहसा ॥३॥१०॥ अ० ८ । ६ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) (वृष्टिमान्) वृष्टि करने वाला (पर्जन्यः इव) मेघ जिस प्रकार अपने सामर्थ्य से सर्वत्र फैल कर स्वयं वृष्टि करता है उसी प्रकार (यः) जो (इन्दः) इन्द्र (ओजसा) अपने बल से (महान्) बड़ा होकर (वत्सस्य) वत्स के समान अपने आश्रय पर रहने वाले समस्त संसार की (स्तोमैः) स्तुतियों द्वारा (वावृधे) बड़ा कीर्तिमान्, प्रसिद्ध होता है ।

(२) (कण्वाः) ज्ञानी स्तोतागण (स्तोमैः) अपने स्तोत्रों द्वारा (यद्) जब (इन्द्रं) इन्द्र अर्थात् आत्मा ही को (यज्ञस्य) जीवनरूप यज्ञ का (साधनं) साधन (अक्रत) बना लेते हैं तब विद्वान् लोग

(आयुधा) अ व प्राणादि इन्द्रिय-साधनों का या यज्ञ क पात्रादि को (जामि) प्रयाजारहित हा (द्रुवत) कहत हैं । साधक लाग जब अध्यात्म यज्ञ करत हैं तब द्रव्ययज्ञ व्यर्थ जान पड़ता है ।

(३) (यद) जब (पिप्रत) पूर्ण करन हार (वह्नय) अग्नि क समान द प्तिमान् ज्ञान का धारण न करन हार (विप्रा) मधावी ज्ञानी लाग (ऋतस्य) सत्यज्ञान रूप आत्मा का (प्रजा) उत्तम रीति स प्रादुर्भाव हान हारा आत्मशक्ति और सत्यज्ञान या प्रजा शिष्य आदि का (प्र भरन्त) उत्तम राति स धारण करत हैं तभी व (ऋतस्य) ज्ञान और सत्य क (वाहसा) प्रापक बल स ही उसे धारण करत हैं ।

इति अष्टम खण्ड ।

—०—

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३१०] पवमानस्य ।जघ्नतो हरश्च द्रा असृक्षत ।
३ १ २ ३ १ २
जीरा अजिरशोचिष ॥ १ ॥
१ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३११] पवमानो रथीतम शुभ्रमि शुभ्रस्तम ।
१ २ ३ १ २
हारश्चन्द्रा मरुद्गण ॥ २ ॥
१ २ ३ २१ ३ १ ३ ३ १ २
[१३१२] पवमान व्यश्नुहि रश्मिभिर्वाजसातम ।
१ २ ३ २ ३ १
दधत्स्तोत्र सुवीर्यम् ॥३॥११॥ ऋ० ९ । ६६ । २५–२७ ॥

भा०—(१) (पवमानस्य) पवित्र शुद्ध रूप म प्रकट हात हुए, (हर) समस्त दुःखों का हरण करन हारे और (जिघ्नत) समस्त अज्ञान पटलों का बार २ नाश करत हुए साम अर्थात् आत्मा की (चन्द्रा) आह्लादकारिणी (जीरा) और दुःखनाशिनी (अजिरशोचिष) अविनाशशील कान्तियां (असृक्षत) उत्पन्न हाती हैं ।

१३१०—१ जघ्नतो' इति ऋ० ।

(२) वह (पवमानः) परमपावन आत्मा (रथीतमः) इस देहरूप रथ पर गति करने हारा, सब से उत्तम रथी, (चन्दः) आह्लादक, (हरिः) दुःखनाशक (मरुद्गणः) प्राणगण के साथ वर्त्तमान (शुभ्रेभिः) शुभ्र तेजों से (शुभ्रशस्तमः) अति शुभ्रस्वरूप, कान्तिमान्, निर्मल है ।

(३) हे (पवमान) सब को पवित्र करने हारे ! स्वयं पवित्ररूप में प्रकट होता हुआ तू (स्तोत्रे) विद्वान् पुरुष में (सुवीर्यं) यश, बल और पुत्रादि धन को (दधत्) धारण पोषण करता हुआ (रश्मिभिः) अपने किरणों से (वाजसातमः) ज्ञान और बल का प्रदान करने हारा होकर (व्यश्नुहि) विविध ऐश्वर्यों को प्राप्त कर ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २
[१३१३] परीतो षिञ्चता सुतं सोमो य उत्तमं हविः ।
३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
दधन्वा यो नर्यो अप्स्वा३न्तरा सुषाव सोममद्रिभिः ॥१॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३१४] नूनं पुनानो अद्भिः परिस्रवादव्यः सुरभिरन्तरः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
सुते चित्तप्सु मदामो अन्धसा श्रीणन्तो गोभिरुत्तरम् ॥२॥
१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २३ ३ २
[१३१५] परि स्वानश्चक्षसे देवमादन क्रतुरिन्दुर्विचक्षणः ॥३॥१२॥
ऋ० ९ । १०७ । १–३ ॥

भा०—(१) (य. सोम·) जो सोम, शरीर में वीर्य, ब्रह्माण्ड में धारक तेज या सूर्यबल, देवों अर्थात् इन्द्रियों में आत्मा और पृथिवी आदि पिण्डों आकाश का रूप (उत्तम) उत्तम, श्रेष्ठ (हवि) उपादान करने योग्य अन्न और खाद्य और जीवनप्रद आश्रय होता है और (य·) जो नर्यः) नेता, इन्द्रियगण और सूर्यादि लोकों के लिये हितकारी और (अप्सु) समस्त कर्मों, प्रज्ञानों और देह के जलीय रुधिरादि अंशों और लोकों के भीतर विद्यमान रहता हुआ उनको (दधन्वान्) स्वतः धारण कर रहा है, उस (सोमं)

१३१३—१. 'अस्त्वन्तरा' । २. 'अरिस्तान.' इति ऋ० ।

सोम अर्थात् वीर्य को (अद्रिभि) न दीर्ण होने हारे अखण्ड, ब्रह्मचर्यादि साधनों, विद्वानों और सूर्यादि लोकों से (आ सुषाव) उत्पन्न किया जाताहै । अत उस (सुत) उत्पन्न वीर्य और तेज का हे विद्वान् लोगो'(इत.) इस मूल स्थान से ऊपर (परिषिञ्चत) शिर आदि प्रदेशों की ओर प्रेरित करो अर्थात् ऊर्ध्वरेता बनो । व्याख्या देखो [५१२] पृ० ।

(२) हे सोम ! तू (अदब्ध) किसी से हिंसित न होने वाला, सब से अधिक बलशाली (सुरभितर) सब प्राणों से अधिक उत्तम गंध और बल वाला (नून) निश्चय से (अद्रिभि) प्राणों द्वारा (पुनान) अति पवित्र होता हुआ (परि स्रव) समस्त शरीर में गति कर । और (सुतचित्) शरीर में उत्पन्न होने पर (अन्धसा) प्राण जीवन देने वाले अन्न और (गोभि) इन्द्रियों के पुष्टिकारक दुग्धादि रसों द्वारा (श्रीणन्त) तुझे परिपक्व करते हुए (अप्सु) शारीरिक कर्मों और मानसिक विचार क्रियाओं में हम (मदाम) आनन्द लाभ करते हैं ।

(३) (इन्दु) परमैश्वर्यवान् उग्र सोम रूप शुक्र का पालन करने हारा ब्रह्मचारी, (विचक्षण) नाना प्रकार के विज्ञानों का द्रष्टा, (ऋतु) कर्म करने हारा, (देवमादन) अपनी इन्द्रियों और दिव्यगुण युक्त विद्वान् पुरुषों का हृष्ट पुष्ट करने और आनन्द देने हारा, (स्वान) स्वयं निष्पन्न होता हुआ (परिष्टवस) सब के देखने योग्य होजाता है ।

१ २ ३ १ २ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२
[१३१६] असावि सोमो अरुषा वृषा हरी राजेव दस्मो अभि गा

अचिक्रदत् । पुनानो वारमत्यप्यव्यय श्येनो न योनि

घृतवन्तमासदत् ॥ १ ॥

१३१६—'वर पर्येत्यव्यय' 'घृतवन्तमासदम्' ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
[१३१७] पर्जन्यः पिता महिषस्य पर्णिनो नाभा पृथिव्या गिरिषु
१ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २
क्षयं दधे । स्वसार आपो अभि गा उदासरत्सद्मावाभि-
३ १ २ ३ २
र्वसते धीत अध्वरे ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २ २
[१३१८] कविर्वेधस्यापर्योषि माहिनमत्यो न मृष्टो अभि वाजम-
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
र्षसि । अपसेधन् दुरिता सोम ना मृड घृता वसानः
१ २ ३ १ २
परियासि निर्णिजम् ॥ ३ ॥ १३ ॥ऋ० ९ । ८२ । १–३ ॥

भा०—(१) (अरुष) दीप्तिमान्, (वृषा) सुखों का वर्षक, श्रेष्ठ (हरी) सब दुःखों का हर्त्ता, सबका नेता (सोमः) सोम, तेजस्वी विद्वान् पुरुष (अजनि) उत्पन्न होता है । वह (राजा इव) राजा के समान (दस्मः) दुष्टभावों का नाशक एवं दर्शनीय होकर (गाः) जैसे प्रजाओं के प्रति राजा अपनी घोषणाएं करता है उसी प्रकार आत्मरूप सोम इन्द्रियों के प्रति और आचार्य विद्वान्, प्रजारूप शिष्यों के प्रति (अचिक्रदत्) वेद का उपदेश करता है । (पुनानः) स्वयं पवित्र और देदीप्यमान होता हुआ, (अव्ययं) प्राणमय (वारं) आवरण को (अत्यपि) पार करके (श्येनः न) जिस प्रकार बाज़ पक्षी उड़कर अपने निवास घोंसले की तरफ़ चला जाता है उसी प्रकार वेगवान् होकर वह भी (घृतवन्तं) प्रकाशस्वरूप (योनिं) मूलस्वरूप आश्रय को (आसदत्) प्राप्त होता है । यहां प्राणमय कोश से विज्ञानमय कोश पर वश करने हारे योगाभ्यासी का वर्णन है । व्याख्या देखो अविकल सत्या [९६२] पृ० २८३ ।

(२) (पर्णिनः) ज्ञानसम्पन्न, (महिषस्य) महान्, बलवान् सोमरूप आत्मा का (पिता) पालक (पर्जन्यः) मेघ के समान आनन्दरसों का दाता प्रजापति परमात्मा ही है । वह (पृथिव्याः) भूलोक के (नाभौ)

नाना प्रकार के सम्बन्धों में (गिरिषु) विद्वानों में (क्षय) निवास को (दध) धारण करता है । (आप) ज्ञान-वृत्तियां (स्वसार) अपने ही स्वरूप से प्रकट होकर निकलने हारी, (गा अभि) इन्द्रियों के प्रति (उत् आसरन्) ऊर्ध्वगति करती हैं और वह आत्मा (धीते) कान्तिमान् (अध्वरे) ज्ञानयज्ञ में (प्रावभि) विद्वानों के संग (सवसते) निवास करता है ।

(३) हे (सोम) आत्मन् ! तू (कवि) क्रान्तदर्शी, मेधावी होकर (वेधस्य) विशेष विधान करने हारी मति द्वारा (महिनम्) पूजनीय परमात्मा के प्रति (परि-एषि) गति करता है । (मृष्ट) अति शुद्धस्वरूप होकर (अश्व न) वेगवान् घोड़ा जिस प्रकार संग्राम में जाता है उसी प्रकार (अभि वाजम्) ज्ञान को लक्ष्य कर, ज्ञानस्वरूप परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (अभि अर्षसि) मार्गपथ में गति करता है । हे (सोम) विद्वन् ! (दुरिता) दुष्ट चेष्टाओं को (अप सधन्) दूर करता हुआ (न) हमें (मृड) सुखी कर । और तू (घृता) कान्ति या तेजों के भीतर (वसान) आच्छादित होकर ही (निर्णिजम्) शुद्ध स्वरूप को (परि-यासि) प्राप्त कर ।

१ २ ३ १ ३ १ २ २
[१३१९] आयन्त इव सूर्ये विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत ।
१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
वसूनि जाते जनिमान्योजसा प्रतिभागं न दीधिम: ॥१॥
१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१३२०] अलर्षिरासि वसुदामुरुष्यसि भद्रा इन्द्रस्य रातय ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
यो अस्य कामं विधतो न रोषति मना दानाय चोदयन्
॥ २ ॥ १४ ॥ अ० ८ । ११ । १, ५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२९०] पृ० १२६ ।

१३२०—'मार्जयन्त' इति ऋ० ।

(२) हे मनुष्य ! तू (अलर्षि रातिं) निष्पाप सात्विक, दानशील, (वसुदाम्) वास योग्य पदार्थ अन्न आदि का दान करने हारे परमेश्वर की (उप स्तुहि) स्तुति कर । क्योंकि (इन्द्रस्य) उस ऐश्वर्यशील परमात्मा के (रातयः) सब दान (भद्राः) कल्याणकारी हैं । (यः) जो स्वामी के समान (मन) अपने मन अर्थात् ज्ञान को (दानाय) दान करने के लिये (चोदयन्) प्रेरित करता हुआ (अस्य विधतः) इस अपने भक्त, सेवा करने हार स्तोता की (कामं) इच्छा को (न) नहीं (रोषति) नाश करता ।

[१३२१] यत इन्द्र भयामह ततो नो अभयं कृधि ।
मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतये विद्विषो वि मृधो जहि ॥१॥

[१३२२] त्वं हि राधसस्पत इराधसो महः क्षयस्यासि विधर्ता ।
तं त्वा वयं मघवन्निन्द्र गिर्वणः सुतावन्तो हवामहे॥२॥१५॥
अ० ८ । ६१ । ११, १४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकल सं० [२७४] पृ० १४० ।

(२) हे (राधस पते) हे सकल धनों और ऐश्वर्य के स्वामिन् ! (त्वं) तू (हि) निश्चय से (महः) बड़े भारी (क्षयस्य) निवासस्थान और (राधसः) बड़ेभारी धन का (विधर्ता) विशेष रूप से धारण करने हारा स्वामी (असि) है । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! हे (इन्द्र) विघ्नों के नाशक ! हे (गिर्वणः) वाणियों के एकमात्र विषय ! (सुतावन्तः) उत्पन्न समस्त पदार्थों, ज्ञानों और ऐश्वर्यों के स्वामी होकर हम ज्ञानी पुरुष (त्वां) तुझ को ही (हवामहे) आह्वान करते हैं, तेरा स्मरण करते हैं ।

इति दशमः खण्डः ।

१३२१—'त्व हि राधसस्पत', विश्व.' इति ऋ० ।

[१३२३] त्वं सोमासि धारयुर्मन्द्र ओजिष्ठो अध्वरे ।
पवस्व मंहयद्रयि ॥१॥

[१३२४] त्वं सुतो मदिन्तमो दधन्वान्मत्सरिन्तमः ।
इन्दु सत्राजिदस्तृत ॥२॥

[१३२५] त्वं सुष्वाणो अद्रिभिरभ्यर्ष कनिक्रदत् ।
द्युमन्तं शुष्ममाभर ॥ ३ ॥ १६ ॥ ऋ० ९ । ६७ । १–३ ॥

भा०—(१) हे (सोम) परमेश्वर ! (त्व) तू (धारयु) धारणायुक्त अथवा धारा या वेदवाणी का स्वामी, (मन्द) अति आनन्दपूर्ण (ओजिष्ठ) अति बलवान्, (महयद् रयि) ऐश्वर्य का प्रापक होकर (अध्वरे) उपासनामय यज्ञ में (पवस्व) प्रकाशित हो ।

(२) (त्व) तू (सुत.) निष्पन्न होकर (मदिन्तम) अति हर्षजनक, (मत्सरिन्तम.) अन्य समस्त इन्द्रियों एवं प्रजाजनों और देहों में हर्ष का प्रसारक (इन्दु) कान्तिसम्पन्न (अस्तृत.) किसी से भी पराजित न होकर (सत्राजित्) सब से अधिक उत्कृष्ट, सब पर विजयशील होकर सबको (दधन्वान्) धारण करता है ।

(३) (त्व) तू (अद्रिभि.) विदीर्ण न होने वाले, अभेद्य, दृढ़, तपों या अप्रमत्त तपस्वियों द्वारा (सुष्वाण) निष्पादित किया हुआ परिपक्व या अभ्यास किया हुआ (कनिक्रदत्) उत्तम ज्ञान का उपदेश देने हारा होकर (अभि अर्ष) प्रकट हो हमें प्राप्त हो । और (द्युमन्त) यशोजनक (शुष्मं) बल को (आ भर) प्राप्त करा ।

[१३२६] पवस्व देव धीतय इन्दो धाराभिरोजसा ।
आ कलशं मधुमान्त्सोम नः सद ॥ १ ॥

१३२४–'त्व सुता नृमादन.', 'इन्द्राय हरिन्वसो'। १३२५–'शुष्ममुत्तमम्' इति ऋ०।

[१३२७] तव द्रप्सा उदप्रुत इन्द्रमन्दाय वावृधुः ।
त्वां देवासो अमृताय कं पपुः ॥ २ ॥

[१३२८] आ नः सुतास इन्दव पुनाना धावता रयिम् ।
वृष्टिद्यावो रीत्यापः स्वर्विदः ॥३॥१७॥अ० २।१०।६।७-६॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५७१] पृ०

(२) हे (सोम) सबके उत्पादक ! आनन्दरसस्वरूप ! (तव) तेरे (उदप्रुतः) रस को प्रवाहित करने हारे (द्रप्साः) द्रुतगति से बहने वाले आनन्दरस (इन्दवः) आत्मा को (मदाय) अति आनन्द प्राप्त कराके निमित्त (वावृधुः) बढ़ाते हैं, उसे और अधिक शक्तिशाली बनाते हैं । (देवासः) विद्वान् योगीजन (कं) आनन्दस्वरूप (त्वा) तुझको (अमृताय) अमृत-स्वरूप परम आनन्द प्राप्ति के लिये (पपुः) पान करते हैं ।

(३) हे (इन्दवः) आत्मा के भीतर प्रवाहित होने हारे, कान्ति-युक्त ! (सुतासः) ज्ञानानन्द रसो ! या ज्ञानी पुरुषो ! तुम निष्पन्न होकर (पुनानाः) स्वतः पवित्र (रीत्यापः) सब रसों के पाचक (वृष्टिद्यावः) ज्ञान कान्ति के वर्षक, (स्वर्विदः) सुखों के प्राप्त कराने हारे, आप (रयिम्) अति रमणीयरूप आत्मा के प्रति (आ धावत) गति करो और आत्मा को सुख शान्ति प्राप्त कराओ ।

[१३२९] परि त्यं हर्यतं हरिं बभ्रुं पुनन्ति वारेण ।
यो देवान्विश्वान्इत्परि मदेन सह गच्छति ॥ १ ॥

[१३३०] द्रियं पच मनयश्च सखायो अद्रिमंहनम् ।
प्रियमिन्द्रस्य काम्यं प्रस्नापयन्त ऊर्मयः ॥ २ ॥

१३३०—'स्नापयन्त स्नवार.' 'प्रलापयन्त्यूर्मिणम्' ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २
[१३३१] इन्द्राय सोमपातये वृत्रघ्ने परिषिच्यसे ।
१,२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १,२
नरे च दक्षिणावते वीराय सदनासद् ॥ ३ ॥ १८ ॥
ऋ० ९ । ६८ । ७, ६, १० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधि० सं० [५५२] पृ० २७७ ।

(२) (य) जिस सुखप्रद प्राणरूप, सबके प्रेरक, सोम को (द्वि पञ्च) दोगुना पाच अर्थात् दश (सप्तथ) समान नाम वाले इन्द्रिय नामक प्राण (ऊर्मय) ऊर्ध्वगति होकर (स्वयशस) अपने कीर्तिस्वरूप (अद्रिसहसम्) पर्वत के समान अभेद्य बल से युक्त (इन्दवस्य) अन्तरात्मा के प्रति कामना योग्य (प्रियम्) अपने प्यारे को (प्रधापयन्त) उत्तम रीति से प्राप्त कराते हैं सुखरूप जलों से मानो उसका अभिषेक करते हैं उसका साक्षात् ज्ञान करो ।

(३) हे ! सोम) सबके प्रेरक बल ! आनन्दमय ! (पातवे) तेरे पान या पालन करने हारे, (वृत्रघ्ने) अज्ञान रूप विघ्न के विनाशक (दक्षिणावते) क्रिया शक्ति से सम्पन्न (सदनासद) प्रत्येक आश्रयस्थान, जीवनरूप यज्ञ के गृह अर्थात् शरीर में स्थिर रूप से वर्त्तमान (वीराय) शक्तिशाली (नरे) सबके नेता प्रणेता (इन्द्राय) आत्मा के निमित्त तू (परि-षिच्यसे) प्रवाहित किया जाता है ।

१ २ ३,४ ३ १ ३ २ ३ २ ३ १ २ २
[१३३२] पवस्व सोम मदे दधायाश्वा न निक्तो वाजी धनाय ॥१॥
१ २ ३ १ ३ १ १ २ ३ २ ३ १ १ ३ २ ३ १ २
[१३३३] प्र ते सोतारो रस मदाय पुनन्ति सोम महे द्युम्नाय ॥२॥
१ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ १ ३ २ ३ १ १
[१३३४] शिशु जज्ञान हरिमृजयन्ति पवित्रे सोम दक्षेभ्य इन्दुम्
॥ ३ ॥ १९ ॥ ऋ० ९ । १०१ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिक्रम सं० [४३०] पृ० २१६ ।

१३३१— दक्षाय सदनासद' इति च ऋ० ।

(२) (ते) व (सोतार) निष्पादक साधक योगीजन (रस) रसस्वरूप उस (सोम) सबके प्रेरक आनन्दरस सोम का (मह) बड़े भारी (युम्नाय) यश और ज्ञान और (मदाय) आनन्द प्राप्ति के लिये (प्र पुनन्ति) उत्तम रीति से परिशोधित करते हैं।

(३) (शिशु) इस शरीर में शयन करने हार (हरिं) दुःखों के हर्त्ता और इन्द्रियों के नेता रूप में (जज्ञान) प्रादुर्भाव होने हार मुख्य प्राणरूप (इन्दुम्) दर्शनीयमान सोम सामरूप आनन्दरस का (देवेभ्य) देवों इन्द्रियों और विद्वानों के लिये (पवित्र) पवित्र हृदय या परमपावन ईश्वर के ध्यान में (सृजन्ति) परिशुद्ध करते हैं उसका साक्षात् करते हैं।

[१३३५] उपा पु जातमप्तुर गोभिर्भंग परिष्कृतम् ।
इन्दुं देवा अयासिषु ॥ १ ॥

[१३३६] तमिद्वर्धन्तु नो गिरो वत्सं स शिश्वरीरिव ।
य इन्द्रस्य हृदं सनि ॥ २ ॥

[१३३७] अर्षा न सोम शं गवे धुक्षस्व पप्युषीमिषम् ।
वर्धा समुद्रमुक्थ्य ॥ ३ ॥२०॥ अ० २ । ६१ । १३-१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४८७] पृ० २४३ ।

(२) (शिश्वरी) माताएं जिस प्रकार (वत्सं इव) बालक को अपने दुग्धरसों से बढ़ाती हैं उसी प्रकार (नः) हमारी (गिरः) ज्ञान कथाएं (तमिद्) उस आत्मा के आनन्द को ही (वर्धन्तु) वृद्धि करें। उसके बल को बढ़ावें (यः) जो (इन्द्रस्य) अन्तरात्मा रूप इन्द्र के (हृदसनि) हृदय में व्यापक रहता है।

(३) हे सोम ! तू (नः) हमारे (गवे) गोरूप वाणी के लिये (शं) शान्तिदायक कल्याणकारी सुख को (अर्ष) प्रेरित कर और

(विप्सुती) निरन्तर सामर्थ्य बढ़ाने वाली (इषं) इच्छा शक्ति और अन्न के समान पोषक बल को (धुक्ष्व) प्राप्त करा और हे (उक्थ्य) प्रशंसनीय ! (समुद्रं) रसों के सागर रूप आत्मा को (वर्धय) बढ़ा ।

इति एकादशः खण्डः ।

---

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१३३८] आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक् ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २

येषामिन्द्रो युवा सखा ॥१॥

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[१३३९] बृहद्दिवेदिष्म एषां भूरि शस्तं पृथु स्वरुः ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २

येषामिन्द्रो युवा सखा ॥२॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१३४०] आयुद्ध इद्युधा वृतं शूर आजति सत्वभिः ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २

येषामिन्द्रो युवा सखा ॥३॥२१॥ ऋ० ७ । ३५ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१३३] पृ० ७२ ।

(२) (युवा) बलवान् (इन्द्रः) परमेश्वर या आत्मा (येषां) जिनका (सखा) मित्र है (एषां) इनका (इद्मः) तेज (बृहत् इत्) बहुत ही बड़ा है और (शस्तं) उनकी स्तुति, महिमा गान करने वाली वाणी भी (भूरि) बहुत है और (स्वरुः) उनका स्वर या प्राण बल या तेज भी (पृथुः) बड़ा है ।

(३) (येषाम् इन्द्रः युवा सखा) बलवान् परमात्मा जिनका मित्र है उनमें से (अयुद्ध इत्) युद्ध न करने वाला भी अकेला (शूरः) शूर-वीर के समान (युधावृतः) योधागण से घिरे प्रतिपक्षी शत्रु पर (सत्वभिः) अपने बलों द्वारा (आजति) चढ़ाई करता है, और उसे उखाड़ फेंकता है ।

१३३८—२. 'भूरिशस्त' इति ऋ० ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३४१] य एक इद्विदयते वसु मर्ताय दाशुषे ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥१॥
२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३४२] यश्चिद्धि त्वा बहुभ्य आ सुतावाँ आविवासति ।
३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
उग्र तत्पत्यते शव इन्द्रो अङ्ग ॥२॥
३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[१३४३] कदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत् ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
कदा न शुश्रवद्गिर इन्द्रो अङ्ग ॥ ३ ॥ २२ ॥

ऋ० १ । ८४ । ७, १, ८।

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३८६] पृ० २०० ।

(२) (बहुभ्य.) बहुत से पुरुषों में से (य चित् हि) जो कोई भी (सुतावान्) ज्ञान योग से प्राप्त ब्रह्मानन्द रस के निष्पादक इस परमात्मा का स्वरूप (आविवासति) साक्षात देख लेता है (अङ्ग) हे नर ! (इन्द्र) परमेश्वर उसको शीघ्र ही (तत्) वह (उग्र शवः) उग्र, वीर्य सम्पन्न बल (पत्यते) प्रदान करता है ।

(३) (अङ्ग) हे पुरुषो ! (इन्द्र) वह परमेश्वर तो (न. गिर·) हमारी वाणियों को (कदा) जब कभी भी (शुश्रवद्) सुन लेता है और (अराधस) आराधना न करने हारे, तुच्छ नास्तिक को (पदा) पाद पिंड मात्र से नष्ट होजाने वाले (क्षुम्पम् इव) साप की छतरी, खुम्ब या पदखेरे के नन्हे पौदे के समान (पदा) अपने सामर्थ्य से (कदा) कभी भी (स्फुरत्) विनाश कर देता है ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१३४४] गायन्त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमार्किणः ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥१॥

२अ ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २
[१३४५] यत्सानो सान्वारुहो भूर्यस्पष्ट कर्वम् ।
२अ ३ १ २ ४ १ २ ३ १ २
तादिन्द्रो अर्थं चेतति यूथेन वृष्णिरेजति ।
२ २अ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१३४६] युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा ॥२॥
१ २ ३ १र २र
अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर ॥ ३ ॥ २३ ॥
अ० १ । १० । १ ३७ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३४२] पृ० १७७ ।

(२) (यत्) जब (साना सानु) ऊंची से ऊंची चित्तभूमि में साधक (आरुहः) चढ़ जाता है और (भूरि) बहुत कुछ मन संकल्प (कर्वं) पूर्ण करने के लिये (अस्पष्ट) साधन करता है । (तदा) तब (इन्द्र) परमेश्वर (अर्थं) उसके इष्ट प्रयोजन को (चेतति) जान लेता है और तब (वृष्णि) सुखों की वर्षा करने हारा वह आत्मा (एजति) सेनापति के समान आगे बढ़ता है ।

(३) हे (सोमपा) सोमरूप आनन्दरस का पान करने हारे (इन्द्र) आत्मन् ! (अथा) अब (नः) हमारे (गिराम्) वाणियों की (उपश्रुतिम्) ध्वनि का (चर) श्रवण कर । और (केशिना) ज्ञान, साधना से सम्पन्न (वृषणा) सुखों के वर्षक (कक्ष्यप्रा) कक्षा वालों को पूर्ण करने हारे प्राण और अपान दोनों को (युक्ष्व हि) साधना में नियुक्त कर ।

इति द्वादशः खण्डः ।

इति द्वितीयोऽर्धः प्रपाठकः पञ्चमश्च प्रपाठकः समाप्तः ।

इति दशमोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथ एकादशोऽध्यायः

अथ षष्ठ प्रपाठक (प्रथमाऽर्ध)

ऋषि—१ ६ मेधातिथि काण्व । १० वसिष्ठ । ३ प्रगाथ काण्व । ४ पराशर । ५ प्रगाथो घौर काण्वो वा । ७ त्र्यरुणस्त्रसदस्यू । ८ अग्नयो धिष्ण्या एवरा । ९ हिरण्यस्तूप । ११ सापराक्षी ॥ देवता—१ इध्म समिद्धो वाग्नि तनूनपात् नराशस इन्द्रश्च क्रमण २ आदित्या । ३ ५, ६ इन्द्र । ४ ७–९ पवमान सोम । १० अग्नि ११ सापराक्षी ॥ छन्द ४–३ ११ गायत्री । ४ त्रिष्टुप । ५ बृहती । ६ प्रागाथ ७ अनुष्टुप् ८ द्विपदा पंक्ति । ९ जगती । १० विराट् जगती । स्वर —१–३ ११ षड्ज । ४ धैवत । ५, ६ मध्यम । ७ गान्धार । ८ पञ्चम । ९ १० निषाद ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३४७] सु समिद्धो न आवह देवाँ अग्ने हविष्मते ।
१ २ ३ १ २
होता पावक यक्षि च ॥१॥
१ २ ३ २ ३ १ २
[१३४८] मधुमन्न तनूनपाद्यज्ञं देवेषु नः कवे ।
३ १ २ ३ १ २
अद्या कृणुहि वीतये ॥२॥
२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ २
[१३४९] नराशंसमिह प्रियमस्मिन्यज्ञ उपह्वये ।
१ २ ३ १ २
मधुजिह्वं हविष्कृतम् ॥३॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[१३५०] अग्ने सुखतम रथं दवो देवाँ अजस्र आवह ।
२ ३ २ ३ १ २
असि होता मनुर्हितः ॥४॥१॥ ऋ० १ । १४ । १–४ ॥

भा०—(१) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप परमात्मन् (सुसमिद्ध) उत्तम रूप से हमारे हृदय में प्रकाशित होकर आप (नः) हमें (देवान्)

१३४८— कृणुहि वीतये' इति ऋ० ।

दिव्यगुणयुक्त, ज्ञानवान् पुरुषों और दिव्य उत्तम पदार्थों को (आवह) प्राप्त कराइये । हे (होत) सब पदार्थों के दाता ! हे (पावक) सब के अन्त करणों के पवित्र करने हारे ! आप (हविष्मते) अन्तरात्मा में ज्ञानरूप हवि को धारण करने हार ज्ञानी पुरुष को (च) भी (यविष्ठ) आप प्रेम करते और उसको प्राप्त होते और अभिलषित पदार्थ को देते हैं ।

(२) (कवे) मेधाविन् ! हे (तनूनपात्) शरीर के छोटे से छोटे भागों की रक्षा करने हारे ! या देह को न गिरने देने वाले प्राणस्वरूप ! (नः) हमारे (यज्ञं) जीवनमय राष्ट्रमय और दान आदि सत्कर्मरूप यज्ञ को (अद्य) आज के समान सदा, (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के निमित्त (देवेषु) विद्वान् पुरुषों इन्द्रियगण और दश प्राणों में (कृणुहि) सम्पादित करें ।

(३) (नराशस) समस्त विद्वान् नेता पुरुषों द्वारा स्तुति किये गये, (प्रियम्) उत्कृष्ट, अत्यधिक प्रिय (मधुनिह्वं) मधुरूप ब्रह्मविज्ञान को अपने भीतर आदान करने और वेदवाणी द्वारा उपदेश करने हार हविष्कृत) ब्रह्मज्ञान रूप हवि को सम्पादन करने हार अन्तरात्मा और उस प्रभु का भी इस (इह अस्मिन् यज्ञे) यहां इस उपासना कार्य में या संसार में (उपह्वये) ध्यान करूं ।

(४) हे (अग्ने !) प्रकाशस्वरूप ! (सुक्षतम) अति अधिक सुख कारक (रये) रमण करने के साधन इस देह में (इडित) समाधि द्वारा अर्चित और परिशोधित होकर (दधान्) इन इन्द्रियों और दिव्यगुणों को (आवह) प्राप्त करा । तू ही (मनु हित) इस हृदयगुहा में मनन शील होकर या समाधि द्वारा धारण किया गया है । तू ही (होता) इन प्राणों को अपने भीतर आदान करने और सुखों के देने हारा (असि) है ।

[१३५१] यदद्य सूर उदितेऽनागा मित्रो अर्यमा ।
सुवाति सविता भग ॥१॥

[१३५२] सुप्रावीरस्तु सक्षय प्रनु यामन्त्सुदानव ।
य नो अहोऽतिपिप्रति ॥२॥

[१३५३] उत स्वराजो अदितिरदब्धस्य व्रतस्य ये ।
महो राजान ईशते ॥३॥२॥ ऋ० १ । ६६ । ४-६ ॥

भा०—(१) (यद्) जो (अद्य) इस समय आज या इस कल्प में (भग) सेवन करने योग्य है, (सूर) सूर्य आत्मा के (उदिते) उदित हो जाने पर (अनागा) सब अपराधों और दोषों से वियुक्त, पाप रहित, (मित्र) सब का स्नेही, (अर्यमा) न्यायकारी, सब को समान रूप से स्वामी या शत्रुओं का नियन्ता, (सविता) सब संसार का उत्पादक परमात्मा (सुवाति) हमें सुख प्रदान करें ।

(२) (य.) जो (अह) पाप को (अति पिप्रति) पार कर लेते हैं वे (यामनि) प्रति दिन (सुदानव प्र) उत्तम कल्याणकारी उपदेश और उत्तम ऐश्वर्य दान करने हार हों । और (सक्षय) निवास सहित हमारा (सुप्रावी) उत्तम रक्षा का प्रबन्ध भी (अस्तु) हो ।

(३) (उत्) और (य) जो (अदिति) अखण्डित चरित्र वाले (अदब्धस्य) अविनाशी, सुसम्पादित (व्रतस्य) व्रत, कर्त्तव्य कर्म के कारण (स्वराज) स्वतः अपने अन्तरात्मा के बल से प्रकाशित होने वाले हैं । वे ही (महो राजान) बड़े ऐश्वर्यशील होकर (ईशते) सब पर शासन करते हैं ।

व्रत का पालक सदाचारी दृढ़ पुरुष ही महान् वशी हो जाता है ।

[१३५४] उ ष्या मदन्तु सोमा कृणुष्व राधो अद्रिव· ।
अव ब्रह्मद्विषो जहि ॥१॥

[१३५५] पदा पणीनराधसो नि बाधस्व महाँ असि ।
न हि त्वा कश्चन प्रति ॥२॥

दिव्यगुणयुक्त, ज्ञानवान् पुरुषों और दिव्य उत्तम पदार्थों को (आवह) प्राप्त कराइये । हे (होत) सब पदार्थों के दाता ! हे (पावक) सब के अन्त करणों को पवित्र करने हारे ! आप (हविष्मते) अन्तरात्मा में ज्ञानरूप हवि को धारण करने हारे ज्ञानी पुरुष को (च) भी (यक्षि) आप प्राप्त करते और उसको प्राप्त होते और अभिलषित पदार्थों को देते हैं ।

(२) (कवे) मेधाविन् ! हे (तनूनपात्) शरीर के छोटे से छोटे भागों की रक्षा करने हारे ! या देह को न गिरने देने वाले प्राणस्वरूप ! (नः) हमारे (यज्ञं) जीवनमय राष्ट्रमय और दान आदि सत्कर्मरूप यज्ञ को (अद्य) आज के समान सदा, (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के निमित्त (देवेषु) विद्वान् पुरुषों इन्द्रियगण और दश प्राणों में (कृणुहि) सम्पादित करें ।

(३) (नराशंस) समस्त विद्वान् नेता पुरुषों द्वारा स्तुति किये गये, (प्रियम्) उत्कृष्ट, अत्यधिक प्रिय (मधुजिह्व) मधुरूप ब्रह्मविज्ञान को अपने भीतर आदान करने और वेदवाणी द्वारा उपदेश करने हारे (हविष्कृत) ब्रह्मज्ञान रूप हवि को सम्पादन करने हारे अन्तरात्मा और उस प्रभु को भी इस (इह अध्वरे यज्ञे) यहां इस उपासना कार्य में या संसार में (उपह्वये) ध्यान करूं ।

(४) हे (अग्ने !) प्रकाशस्वरूप ! (सुक्षतम) अति अधिक सुख कारक (रयिं) रमण करने के साधन इस देह में (ईडित) समाधि द्वारा अर्चित और परिशोधित होकर (दक्षान्) इन इन्द्रियों और दिव्यगुणों को (आवह) प्राप्त करा । तू ही (मनु हित) इस हृदयगुहा में मनन शील होकर या समाधि द्वारा धारण किया गया है । तू ही (होता) इन प्राणों को अपने भीतर आदान करने और सुखों के देने हारा (असि) है ।

[१२५१] यदद्य सूर उदितेऽनागा मित्रो अर्यमा ।
सुवाति सविता भग ॥१॥

[१३५२] सुप्रावीरस्तु मघवन्प्रजुयामन्त्सुदानव ।
य नो अहोऽतिपिप्रति ॥२॥
[१३५३] उत स्वराजो अदितिरदब्धस्य व्रतस्य ये ।
महो राजान ईशते ॥३॥२॥ ऋ० १ । ६६ । ४-६ ॥

भा०—(१) (यद्) जो (अद्य) इस समय आज या इस कल्प में (भग) सेवन करने योग्य है, (सूरे) सूर्य आत्मा के (उदिते) उदित हो जाने पर (अनागा) सब अपराधों और दोषों से वियुक्त, पाप रहित, (मित्र) सब का स्नेही, (अर्यमा) न्यायकारी, सब को समान रूप से स्वामी या शत्रुओं का नियन्ता, (सविता) सब संसार का उत्पादक परमात्मा (सुवाति) हमें सुख प्रदान करें ।

(२) (य) जो (अह) पाप को (अति पिप्रति) पार कर देते हैं वे (यामनि) प्रति दिन (सुदानव प्र) उत्तम कल्याणकारी उपदेश और उत्तम ऐश्वर्य दान करने हारे हों । और (नः) निवास सहित हमारा (सुप्रावी) उत्तम रक्षा का प्रबन्ध भी (अस्तु) हो ।

(३) (उत्) और (य) जो (अदिति) अखण्डित चरित्र वाले (अदब्धस्य) अविनाशी, सुसम्पादित (व्रतस्य) व्रत, कर्त्तव्य कर्म के कारण (स्वराज) स्वतः अपने अन्तरात्मा के बल से प्रकाशित होने वाले हैं । वे ही (महः राजान) बड़े ऐश्वर्यशील होकर (ईशते) सब पर शासन करते हैं ।

व्रत का पालक सदाचारी दृढ़ पुरुष ही महान् यशी हो जाता है ।

[१३५४] उ त्या मदन्तु सोमा कृणुष्व राधो अद्रिव ।
अथ ब्रह्मद्विषो जहि ॥१॥
[१३५५] पदा पणीनराधसो नि बाधस्व महाँ असि ।
न हि त्वा कश्चन प्रति ॥२॥

[१२५६] त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम्।
त्वं राजा जनानाम् ॥३॥३॥ ऋ० ८। ६४। १-३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१६४] पृ० १०३।

(२) हे (इन्द) ज्ञानवन्! (पणीन्) केवल अदले बदले के व्यवहार को करने हारे, धन लोभी (अराधसः) यज्ञादि द्वारा आराधना न करने हारे मूर्ख पुरुषों को अपने (पदा) ज्ञान से (नि बाधस्व) पूर्ण रूप से पीड़ित कर अर्थात् उनकी लाभवृत्ति का नाश करदे। तू (महान्) सबसे बड़ा (असि) है। (त्वा प्रति) तेरे मुकाबले में (क चन) कोई भी (नहि) नहीं है।

(३) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (त्वं) आप (सुतानां) उत्पन्न, शिक्षित और (असुतानां) अनुत्पन्न और अशिक्षित, जो कालान्तर में उत्पन्न या शिक्षित होंगे उन सब पर (ईशिषे) सामर्थ्यवान् है क्योंकि (त्वं) तू (जनानां) सब मनुष्यों, और उत्पन्न होने हारे प्राणियों का (राजा) अधिपति राजा है।

इन्द्र=परमात्मा, आचार्य और राजा हैं। वे क्रम से योगी और शिष्यों का और प्रजाओं को निरन्तर शिक्षा दें और उनकी व्यवस्था करें।

इति प्रथम खण्ड।

—०—

[१२५७] आ जागृविर्विप्र ऋत मतीना सोम पुनानो असदच्चमू
पु। सपन्ति य मिथुसानो निकामा अध्वर्यवो रथिरा
स सुहस्ता ॥ १ ॥

१२५७—१ 'ऋता मतीना'। २ सह नधातोभ', 'वि गाव', 'सतूषन'
२ 'मदिष्णून्' इति ऋ०।

[१३५८] स पुनान उपसूरे दधान ओभ अप्रा रोदसी वी प
आवः । प्रियाचिद्यस्य प्रियसास ऊता सतो धनं कारिणे
न प्रयसत् ॥ २ ॥

[१३५९] स वर्द्धिता वर्द्धनः पूयमानः सोमा मीढ्वां अभि नो
ज्योतिषा वीत् । यत्र नः पूर्वे पितरः पदज्ञा स्वर्विदो
अभिगा अद्रिमिष्णन् ॥ ३ ॥ ४ ॥ ऋ० ९ । ९७ । ३७–३९ ॥

भा०—(१) (जागृवि०) जागरणशील, कभी आलस्य न करने हारा, सर्वदा सचेत, (मतीना) मनन करनेहारी बुद्धियों या मनन करने योग्य वेदवाणियों के (ऋत) सारभूत सत्यज्ञान को (पुनान०) प्रकाशित करता हुआ (विप्र०) मेधाबुद्धि से सम्पन्न विद्वान् (सोम०) शम, दम आदि साधनों से सम्पन्न होकर (चमूषु) प्रजाओं में (असदत्) विराजता है । (यं) जिसके पास (निकामः) नाना प्रकार की कामनाओं से युक्त (मिथुनासः) गृहस्थ नर नारी (अध्वर्यव०) अपने यज्ञादि कर्मकाण्ड में लगे हुए विद्वान् (रथिरासः) देहधारी, (सुहस्ता०) उत्तम कर्म करने में कुशल पुरुष भी (सपन्ति) ज्ञान और सत्संग प्राप्त करने के लिये आते हैं ।

(२) (सः) वह विद्वान् (पुनान०) अपने स्वरूप में स्वतः और अधिक शुद्ध पवित्र होता हुआ अपने को (सूरे) सबके उत्पादक और प्रेरक परमेश्वर में (उपदधान०) ईश्वर प्रणिधान द्वारा लगाता हुआ (उभे) दोनों (रोदसी) प्राण और अपान या इहलोक और परलोक, सूर्य और पृथिवी के समान ज्ञानी और अज्ञानी, दोनों को ज्ञान तेज से (आ अप्राः) पूर्ण करता है, (स०) और वह (वि आवः) विविध प्रकार का ज्ञान प्रकट करता है । और (सत०) अपने उद्देश्य तक पहुंचे हुए (यस्य)

जिसकी (प्रिया) श्रेष्ठ, और (प्रियसास) कल्याणदायिनी कामनायें (ऊती) रक्षण करने, भयों और विघ्नों से बचाने के लिये होती हैं । वह (न) हमें (धन) आत्मज्ञान रूप उत्तम धन को (कारिणे न) अपने चाकर के समान समझ कर (प्र यसत्) प्रदान करे ।

(३) (स) वह (वर्धिता) सब की वृद्धि करने हारा और (वर्धन) स्वयं भी आगे बढ़ाने हारा, या सबके संशयों को काटने हारा और बन्धनों का भी मूलोच्छेद करने हारा (पूयमान) शुद्ध पवित्र ज्ञानवान् होकर । (सोम) शमदमादि षट्क सम्पत्ति से युक्त विद्वान् (मीढवान्) आनन्द और सुखों का वर्षक, धर्ममेघ समाधि से सिद्ध, (ज्योतिषा) आत्मज्ञानमय ज्योति से (न) हमें (अभि आवीत्) उस स्थान पर ले जावे (यत्र) जहां (न) हमारे (पदज्ञा) परम पद प्राप्त ब्रह्म के ज्ञाता (स्वर्विद.) मुक्ति सुख का लाभ करने हारे (गा) वेदवाणियों को (अभि) साक्षात् करके (पूर्वे पितर) पूर्व पिता पितामह गुरु आदि पुरुषा एव आचार्य लोग (अदिम्) उस अखण्ड ब्रह्म का (इत्नन्) प्राप्त होते हैं ।

१ २ ३ १ २१ ३ १ २ ३ १ ३

[१३६०] मा च्चिदन्यद्वशमत सखायो मा रिषण्यत ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २१ ० १ २

इन्द्रमित्स्तोता वृषण सचा सुत मुहुरुक्था च शंसत ॥१॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २१ ३ १ २

[१३६१] अयक्ष्मासस्त्वे वृषभ यथा जुर गा न चर्षणीसहम् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २१ ३ १ २

त्रिद्वेषण सधननमुभयङ्कर महिष्टमुभयाविनम् ॥ २ ॥ ५ ॥

ऋ० ८ । १ । १–२ ॥

भा०—(१) हे (सखाय) मित्रो ! समान रूप से प्रवचन करने हारे विद्वान् लोगो ! (अन्यद्) ईश्वर की स्तुति से अतिरिक्त व्यर्थवाद

१३६०—२. 'वृषभ यथा जुर', 'सखायामघवन्' इति ऋ० ।

(मा खिन्) कभी मत (वि शसत) उच्चारण किया करो । आप कभी (मा रिषण्यत) बलेश को प्राप्त न होओ । (च) और (सुते) ज्ञान उत्पन्न होजाने पर (सचा) एकत्र होकर एक साथ (वृषणं) आनन्द-सुखों की वर्षा करनेहारे (इन्द्रम् इत्) परमेश्वर को ही लक्ष्य करके (उक्था) वेद-मन्त्रों को (मुहुः) बार २ (शसत) उच्चारण और उनका उपदेश किया करो ।

(२) और हे विद्वानो ! आप लोग (जुव) वेगवान्, शक्तिशाली, (अवकक्षिणं) सबको अपनी ओर खींचने हारे (वृषभं) बलवान् श्रेष्ठ (गां न) बैल के समान बलवान्, (वृषभं) समस्त सुखों के वर्षक (वर्षणीसहम्) समस्त संसार के मानवों के अपराधों को सहन करने हारे, उन पर क्षमा-शील, उनके व्यवस्थापक, (विद्वेषण) दुष्टों को दण्ड देने के कारण उनकी अप्रीति का पात्र और (सवनन) श्रेष्ठ पुरुषों के शरण करने योग्य (उभयंकरं) अनुग्रह और दण्ड, पालन और संहार दोनों के करने हारे अतएव (मंहिष्ठं) सबसे बड़े दाता, (उभयाविनं) सज्जन और दुर्जन, ज्ञानी और अज्ञानी, दोनों के जीवनों की समान भाव से रक्षा करने हारे (इन्द्रम् इत् स्तोत) उस परमेश्वर की ही स्तुति करो ।

इन्द्रियों को आत्मा और विद्वानों को परमात्मा के प्रति इस भाव से रहना चाहिये। इन्द्रियों के पक्षमें–आत्मा (विद्वेषणं संवननं) द्वेष और राग से मुक्त, ईर्ष्या और जिहासा का पाने और त्यागने की इच्छा द्वारा दोनों कार्यों को करनेहारा और सुखकर और दुःखकर दोनों प्रकारोंके मार्गों पर जानेहारा है ।

[१३६२] उदु त्यं मधुमत्तमा गिरः स्तोमास ईरते ।
सप्राजितो धनसा अधिग्लोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥१॥

[१३६३] कण्वा इव भृगव सूर्या इव विश्वमिदात्मशत ।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्थरन् ॥ २ ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । ३ । १२, १६ ॥

१३६२—'विश्वमिदीयमानशु.' इति ऋ० ।

भा०—(१) (रथा इव) रमणसाधन, रथ जिस प्रकार (वाजयन्तः) संग्राम में गमन करते हुए (अश्वितोतयः) अपने रथ के साधनों को निरन्तर स्थिर रखने हारे (सन्त्रातितः) समस्त शत्रुओं का विजय करके (धनसा) धन, लक्ष्मी को प्राप्त कराते हैं और राजा के प्रति ही आते, उसे प्राप्त होते हैं उसी प्रकार (त्ये) वे (मधुमत्तमाः) अति ज्ञान, और आनन्दरूप मधु से पूर्ण (गिरः) वेदवाणीस्वरूप (स्तोमासः) वेद के स्तुति सूक्त, हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (उत् ईरते) भक्तजनों और विद्वानों के हृदयों और कण्ठों से तुझ परमेश्वर के प्रति उठते हैं ।

(२) (भृगवः) पाप को भून डालने हारे, तपस्वी, (कण्वाः) विद्वान् पुरुष (सूर्या इव) सूर्य की किरणों के समान (विश्वम् इत्) इस समस्त संसार को । धीतम्) ज्ञान योग और ध्यान योग से प्राप्त कर के (आशत) भोग करते हैं । और वे (प्रियमेधासः) सूक्ष्म तत्त्वदर्शिनी, धारणावती बुद्धियों और ज्ञानधाराओं के प्रेमी (आयवः) मनुष्य (स्तोमेभिः) नाना प्रकार के स्तुति-वचनों से (इन्दं) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर की (मदयन्तः) अर्चना करते हुए (अस्वरन्) वेद की स्तुतियों का गान करते हैं ।

[१३६४] पर्यू षु प्रधन्व वाजसातय परि वृत्राणि सक्षणिः ।
द्विषस्तरध्या ऋणया न ईरसे ॥ १ ॥

[१३६५] अजीजनो हि पवमान सूर्यं विधारे शक्मना पयः ।
गोजीरया रंहमाणः पुरन्ध्या ॥ २ ॥

[१३६६] अनु हि त्वा सुत सोम मदामसि महे समर्यराज्ये ।
वाजाँ अभि पवमान प्रगाहसे ॥ ३ ॥ ७ ॥ क० ९ । ११० । १, ३, २ ॥

१३६६—तृतीयस्या ऋचः प्रायः सामसंहितासु 'मदामसीत्यन्तं' प्रतीकमुपलभ्यते ।

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४२८] पृ० २१८ ।

(२) हे (पवमान) सब के प्रकाशक प्रेरक और उत्पादक ! आप (गोजीरया) गति के वेग से युक्त (पुरन्ध्या) ब्रह्माण्ड को धारण करने हारी शक्ति से (रंहमाण·) सबको गति देनेहारे होकर अपने ही (शवसा) शक्ति से (पयः) सबके पुष्टिकारक जल को (विधारे) विशेष रूप से ऊपर किरणों द्वारा धारण कर लेने के लिये (सूर्यं) सूर्य को (अजीजनः) उत्पन्न करते हो। अथवा–(पयः सूर्यं विधारे अजीजन·) सबके पोषक सूर्य को भी निरालम्ब आकाश में उत्पन्न करते हो ।

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [४३२] पृ० २२० ।

२ ३ १ ३
[१३६७] परिप्रधन्व० ॥१॥
३ १र २र ३ १र २र ३ २ २ १ २ ३ २ ३ १ २
[१३६८] एवामृताय महे क्षयाय स शुक्रो अर्ष दिव्य· पीयूष·॥२॥
२ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[१३६९] इन्द्रस्ते सोमसुतस्य पेयात् क्रत्वे दक्षाय विश्वे च देवा·
॥ ३ ॥ ८ ॥ ऋ० ९ । १०६ । १, २, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४२७] पृ० २१८ ।

(२) हे प्रभो ! तू (दिव्यः) दिव्य (पीयूषः) सबको पुष्ट करने वाला, पान करने योग्य आनन्दरसरूप, (अमृताय) अमृत, परम ब्रह्मसुख या मुक्ति प्रदान करने के लिये और (महे) बड़े भारी (क्षयाय) शरण प्राप्त कराने के लिये (एव) ही है । हे सबके उत्पादक (स·) वह आप (शुक्रः) शुद्ध कान्तिस्वरूप होकर हम पर (अर्ष) अपनी ज्ञान और

१३६७—१. 'पेयाः' इति ऋ० । एच, एच, 'स्टीवन्सनसम्पादिते' इन्दनमुद्रिते ग्रन्थे आर्षे हे ऋचावेकीकृत्य मुद्रिते 'परिप्रधन्वा एवामृतायेत्यादि, तत्र प्रामादिकम् । अजमेरमुद्रिते तु पूर्णो मन्त्रपाठः ।

आनन्द धारा को प्रेरित करो और हमारे हृदय में प्रकाशित होओ। तं विद्यात् शुक्रममृतम्। कठ० उप०।

(२) हे (सोम) सबके उत्पादक परमात्मन्! (सुतस्य) हृदय में प्रकट हुए (ते) आनन्दस्वरूप आपके रस का (इन्द) यह आत्मा (च) और (विश्व दवा) समस्त दिव्यगुणवान् यह इन्द्रियगण अथवा विद्वान् गण भी (ऋत्वे) ज्ञानप्राप्ति और (दक्षाय) बल प्राप्ति के लिये (पेयात्) पान करें।

इति द्वितीय खण्ड।

— ० —

[१३७०] सूर्यस्येव रश्मयो द्रावयित्नवो मत्सरास प्रसुत साक-
मीरते। तन्तु तत परिसर्गास आशवो नेन्द्राहते पवते
धाम किञ्चन ॥१॥

[१३७१] उपो मति. पृच्यते सिच्यते मधु,मन्द्राजनी चादने अन्त-
रासनि। पवमान सन्तनि सुन्वतामिव मधुमा द्रप्स
परिष्कारमर्षनि ॥२॥

[१३७२] उक्षा मिमेति प्रतियन्ति धेनवो देवस्य देवीरुपयन्ति
निष्कृतम्। अत्यक्रमीदर्जुनं वारमव्ययमत्क न निक्त परि
सोमो अव्यत ॥३॥६॥ ऋ० ९। ६०। ६ २, ४॥

भा०—(१) (सूर्यस्य) सबके प्रेरक प्रकाशस्वरूप सूर्य की (रश्मय इव) किरणों के समान (द्रावयित्नव) द्रुतगति से जाने हारे (प्र-

१३७०—१. प्रसुव १, २, 'सन्तनि' ३ 'उप। मिमेति' इति ऋ०।

सुत) उत्तम रीति से उत्पन्न प्रकट या प्रेरित होकर (मत्सरास) निरपेक्ष गति करते हुए स्वयं प्रेरित (आशव) शीघ्रगामी (सर्गास) समस्त लोक (तत) विस्तृत विशाल (तन्तु) सर्ग, स्थिति, प्रलय के अनादि तन्तु ब्रह्म को आश्रयण करके (साक) एक ही काल में (परि ईरते) अपनी २ कक्षा में परिक्रमा करते हैं, वास्तव में (किञ्चन) कुछ भी (धाम) शक्ति और तेज (इन्द्रात् ऋते) बिना उस परमेश्वर के कहीं से भी (न) नहीं (पवते) प्रकट होता । यहां तेजस्वी लोकों को 'सोमा' 'मत्सरास' शब्दों से कहा गया है । अध्यात्मपक्ष में ये प्राण हैं और इन्द्र=आत्मा ।

(२) (मति) मननशक्ति बुद्धि उस परमेश्वर इन्द्र में समाधि द्वारा (उप शृच्यते) लग जाती है तब (मधु) आनन्द रस (सिच्यते) अन्तःकरण में प्रवाहित होने लगता है । (मन्दाजनी) अति आनन्ददायक रसधारा (आसनि) मुख के भीतर या मुखस्थान शिरोभाग में (अन्त) भीतर (चादते) प्रेरित होती है । (सन्तनि) सर्वत्र समान भाव से विस्तृत होने हारा (पवमान) प्रकट होता हुआ, कान्तिस्वरूप (दक्ष) वीर्य और रसस्वरूप आनन्दरस (मधुमान्) ज्ञान और आनन्ददायक होकर (धारम्) भृकुटियों के मध्यभाग त्रिपुटीस्थल में या धारणीय प्रदेश में (परि अर्षति) प्रकट होता है ।

इसमें ब्रह्माण्डगत सोम के अतिरिक्त शरीरगत सोम का स्वरूप भी दर्शाया गया है ।

(३) जैसे (उक्षा) वीर्य सेचन में समर्थ साढ (मिमेति) शब्द करता है और (धनव) गौएं (त) उसकी तरफ (प्रति यन्ति) चलती हैं । इसी प्रकार (देवी) दिव्यगुण वाली शक्तियां या बुद्धियां (देवस्य) दिव्यगुण युक्त अन्तरात्मा के (निष्कृत) गुप्त स्थान या विशुद्ध स्वरूप को भी (इ

पयन्ति) पहुचती हैं । (सोम) शुक्रस्वरूप सर्वप्रेरक शक्ति (अर्जुनम्[१]) शुक्र या देह के उपचय अपचय करने में समर्थ (अन्धसम्) प्राणमय (वारम्) आवरणकारी कोष को (अति अक्रमीत्) अतिक्रमण करता है और (निक्रम्) शुद्ध (अत्क) कवच के समान रक्षण करने हारे शरण योग्य पद को (आप्त) प्राप्त होता है ।

३ २द ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१३७३] अग्निं नरो दीधितिभिररण्यादहस्तच्युतं जनयत प्रशस्तम् ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २
दूरेदृशं गृहपतिमथ्युम् ॥१॥
२ ३ द ३ १ २ ३द २द ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३७४] तमग्निमस्ने वसवो न्यृण्वन्त्सुप्रतिचक्षमवसे कुतश्चित् ।
३ २ ३ २द ३ २ ३ १ २
दक्षाय्या यो दम आस नित्य ॥२॥
१ ९ ३ १द २र ३ २द
[१३७५] प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ ।
११ २९ ३ १ २ ३ ३ १ २
त्वा शश्वन्त उपयन्ति वाजा. ॥ ३ ॥ १० ॥

ऋ० ७ । १ । १–३ ॥

भा० —(१) व्याख्या देखो आविकल म० [७२] पृ० ३७ ।

(२) (सुप्रतिचक्षस) उत्तम रूप से दर्शन करने योग्य, (तम्) उस वरण करने योग्य (अग्निम्) अग्निरूप ज्ञानवान् तेजस्वी आत्मा को (वसव) आवास के साधन या देह में वास करने हारे देव, इन्द्रियगण या विद्वान् जाग (कुतश्चित्) सब ओर से (अवसे) रक्षा प्राप्त करने के

---

१ ऋज गतिस्थानोपार्जनयु । ऋजी मृजी भजने । अर्ज वर्ज भजने, इति स्वाम्य । अज प्रतियत्ने इति चुरादि । इत्यो दृढ़मुग । अर्जुन=गतिमान्, स्थिर, उपार्जनशील, भजनशील प्रतियत्नवान् इत्यर्थ ।

क्षिये (अस्ते) अपने गृह देह, या हृदयगुहा में (निऋण्वन्) योग समाधि द्वारा खोजते हैं जो (दक्षाय्य) बल को प्राप्त कराने में चतुर (नित्य) अव्यय अविनाशी, (दम) दमन करने योग्य शरीररूप गृह में (आस) विद्यमान रहता है ।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशक आत्मन् ! (शविष्ठ) हे बलशालिन् ! अति युवतम ! अजर अमर ! (प्रेद्ध) योग साधनों से प्रदीप्त प्रज्वलित होकर (अजस्रया) निरन्तर प्रकाशमान (सूर्या) ज्वाला, ज्ञानमय ज्योति से (दीदिहि) प्रकाशित हो । (शश्वन्त) अनादिकाल से बड़े तपस्वी (याजा) ज्ञानी पुरुष (स्वा) तुझको (उपयन्ति) प्राप्त होते हैं ।

२१ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१३७६] आय गौ पृश्निरक्रमादसदन्मातर पुर ।
३ १ २ ३ १ २
पितर च प्रयन्त्स्व ॥१॥
३ १ २ ३ २ब ३ १ २ ३ २
[१३७७] अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती ।
१२ २१ ३ १२ २१
व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥२॥
३ २ब ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३७८] त्रिशद्धाम विराजति वाक्पतङ्गाय धीयते ।
१ ३ २ ३ २ ३ १ २
प्रति वस्तोरह द्युभि ॥३॥११॥ अ० १० । १८९ । १-३॥

भा०—(१) (२) (३) व्याख्या देखो अविकल सं० क्रम से [६३०, ६३१ और ६३२] पृ० ३१८, ३१९ ।

इति तृतीय खण्ड ।

इति षष्ठस्यप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धं

इत्येकादशोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

अथ षष्ठप्रपाठकस्य द्वितीयार्धं ।

ऋषि —१ गोतमो राहूगण वसिष्ठस्तृतीयस्या । २, ७ वीतहव्यो भरद्वाजो वा बार्हस्पत्य । ३ प्रजापतिः । ४, १३ मेधातिथिर्मेध्या तिथी काण्वौ । ६ ऋणिर्वोध्वसमा च क्रमण । ८, ११ वसिष्ठ । ९ तिरश्ची । १० सुतम्भर आत्रेय । १२ १६ नमधपुरुमधौ । १४ शुन शेप आजीगर्ति । १५ नोधा । १७ मध्यातिथिमेधातिथिर्वा काण्व । १७ रेणुर्वैश्वामित्र । १८ कुत्स । २० अगस्त्य ॥ देवता—१ २ ८ १० १३, १४ अग्नि । ३, ६ ८, ११, १५, १७ १८ पवमान सोम । ४ ५, ९, १२, १६, १९, २० इन्द्र ॥ छन्द —१ २, ७, १०, १४ गायत्री । ३ ९ अनुष्टुप् । ४ १२, १३ १६ प्रागाथ । ५ बृहती । ६ ककुप् सतोबृहती च क्रमण । ८, ११, १५, १० त्रिष्टुप् । १७ जगती । १९ अनुष्टुभौ बृहती च क्रमण । २१ बृहती अनुष्टुभौ क्रमण ॥ स्वर —१ २, ७ १० १४ षड्ज । ३ ९, १० गान्धार । ४–६ १२, १३, १६ २० मध्यम । ८, ११ १५, १८ धैवत । १७ निषाद ।

[१३७९] उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये ।
आरे अस्मे च शृण्वते ॥ १ ॥

[१३८०] य ऊर्जाहो न दीदिवाँ आसा दुरोणे अमृतः ।
अरक्षद्दाशुषे गयम् ॥ २ ॥

[१३८१] स नो यदो अमात्यमग्नी रक्षतु शन्तमः ।
उतास्मान्पात्यंहसः ॥ ३ ॥

१३८१—'अग्नी रक्षतु विश्वतः' इति ऋ० ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३८२] उत ध्रुवन्तु जन्तव उदग्निर्वृत्रहाजनि।
३ १२ २२
धनञ्जयो रणेरणे ॥ ४ ॥ १ ॥

[१, २, ४] ऋ० १। ७४। १–३ [३] ऋ० ७। १५। ३।

भा०—(१) (अध्वरं) हिंसा आदि रहित पर-उपकार आदि पवित्र कर्मों को (उप प्रयन्त·) अनुष्ठान करते हुए हम लोग (आरे) दूर देश में (च) भी (अस्मे) हमारी स्तुति को (शृण्वते) सुनने वाले (अग्नये) प्रकाशस्वरूप, ज्ञान के दाता परमात्मा की स्तुति के लिये (मन्त्रं) मनन करने योग्य वेदमन्त्र का (वोचेम) उच्चारण करें।

(२) (यः) जो (सजग्मानासु) समान भाव से संग करने हारी और (स्वीहितिषु) परस्पर स्नेह करने हारी, या परस्पर लड़ने हारी (कृष्टिषु) प्रजाओं में (पूर्व्यः) सब से प्रथम विद्यमान, या मुख्य पद पर विराजमान, आदरणीय, पूर्ण स्वभाव, निरपेक्ष, निष्पक्ष, न्यायशील ज्ञानी पुरुष है वही (दाशुषे) दान करने हारे त्यागी पुरुषों के (गयं) प्राण और धन की (अरक्षत्) रक्षा करे।

(३) (स) वह (शंतम·) अत्यन्त शान्तिदायक, शम आदि युक्त, निष्ठ, निष्पक्षपात, ज्ञानी पुरुष, (नः) हमारे (अमात्यं) सहायक-पुत्र आदि और (वेदः) ज्ञान और धन की (रक्षतु) रक्षा करे। (उत) और (अस्मान्) हमको (अंहसः) पापों से (पातु) बचावे।

(४) और इसी प्रकार (जन्तव) सब लोग (ध्रुवन्तु) उसका वर्णन करें और जानें कि (वृत्रहा) आवरणकारी अज्ञान और अंधकार का नाश करने हारा (अग्नि·) अग्नि के समान तेजस्वी, ज्ञानवान्, पथ-दर्शक और प्रकाशस्वरूप आचार्य और राजा (रणे रणे) रमणीय २ प्रदेशों और संग्रामों में (धनंजय·) ज्ञान और धन का विजय करने हारा हो।

[१३८३] अग्ने युक्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधव ।
अर वहन्त्याशव ॥ १ ॥

[१३८४] अच्छा नो याह्यावहाभिप्रयासि वीतये ।
आ देवान्त्सोमपीतये ॥ २ ॥

[१३८५] उदग्ने भारत द्युमदजस्रेण दविद्युतत् ।
शोचा वि भाह्यजर ॥ ३ ॥ २ ॥ अ० ६ । १६ । ४३-४५ ॥

भा०—(१) हे (देव) प्रकाशमान आत्मन् ! (ये) जो (साधव) ज्ञानसाधन और कर्मसाधन में कुशल (तव) तेरे (आशव) शीघ्रगामी (अश्वास) विषय ग्रहण करने हारे, (अर) पर्याप्त ज्ञान और फलराशि को । वहन्ति । प्राप्त करते हैं उन इन्द्रिय आदि साधनों और विद्वानों को (युक्ष्व हि) निश्चय पूर्वक कार्य में नियुक्त कर । व्याख्या देखिए अविकल सं० [२५] पृ० ११ ।

(२) हे (अग्ने) परमपुरुष परमेश्वर ! (नः) हमारे (अच्छ) सन्मुख (याहि) प्राप्त हो, हमें दर्शन दो और । वीतये) तत्व साक्षात्कार करने और (सोमपीतये) ऐश्वर्य आनन्दरस को पान करने के लिये (देवान्) इन्द्रियगणों या विद्वान्जनों को नित्य (प्रयासि) ज्ञान (अभि आ वह) प्राप्त कराओ ।

(३) हे (भारत) समस्त संसार के भरण पोषण करने हारे ! हे (अजर) जरामरणरहित ! (अग्ने) प्रकाशस्वरूप परम आत्मन् ! (दवि द्युतत्) निरन्तर प्रकाशमान होता हुआ तू (अजस्रेण) निरन्तर वर्त्तमान, (द्युमत्) प्रकाशमान तेज से (शोच) स्वयं प्रकाशित हो और (उद् वि भाहि) उत्तम रीति से समस्त जगत् को भी प्रकाशित कर ।

१३८३—१ 'अर वहन्ति मन्यव' ।

[१३८६] प्रसुन्वानस्यान्धसो मत्तो न वष्ट तद्वचः ।
अप ध्वानमरायसं हता मखस्य भृगव ॥ १ ॥
[१३८७] आ जामिरत्क अव्यत भुजे न पुत्र आयोः ।
सरज्जारो न योषणां वरो न योनिमासदम् ॥ २ ॥
[१३८८] स धीरो दक्षसाधना दिवि यस्तस्तम्भ रोदसी ।
हरिः पवित्रे अव्यत वेधा न योनिमासदम् ॥ ३ ॥ ३ ॥

ऋ० ९ । १०१ । १३–१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० स० [५५३ तथा ७७४] पृ० २१८ और ५५३ ।

(२) (जामिः) आनन्द को उत्पन्न करने हारा, निष्पाप शुद्ध अन्तःकरण वाला साधक सोम (अत्के) अपने आच्छादक, आनन्दमय कोष में (आयोः) माँ बाप के (भुजे) गोद में (पुत्रः न) पुत्र के समान और (योषणां) कामिनी स्त्री के प्रति (जारः न) उस में आसक्त पुरुष के समान और (योनिं) कन्यागृह के प्रति (वरः न) वरण करने योग्य पुरुष के समान (सरत्) गमन करता हुआ (योनिं) अपने आश्रय आत्मा में (आसदं) स्थिर, आनन्दरूप स्थिति प्राप्त करने के लिये (अव्यत) पहुंच जाता है ।

(३) (दक्षसाधनः) अपने बलोपार्जन का साधक (यः) जो (रोदसी) प्राण और अपान के वेगों को (तस्तम्भ) रोक लेता या वश कर लेता है (सः) वह (हरिः) इन्द्रियों का विजय करने हारा (वेधाः) ज्ञानी गृहस्थ (योनिं न) जैसे अपने घर में आता है उसी प्रकार वह भी (वेधाः) मेधावी, ज्ञानवान् साधक (योनिम्) आश्रयस्थान, परम

१३८६—१. 'प्रसुन्वानस्यान्धसो', 'मत्तो न वष्ट' इति ऋ० ।

शरणरूप मार्ग का प्राप्त करने के लिये (पवित्र) परम पावन परम सखा में (अव्यत) विचरता है ।

इति प्रथम खण्ड ।

—०—

३ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २

[१३८९] अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि ।

३ १ २ ३ १ २

युधेदापित्वमिच्छस ॥ १ ॥

१ २ ३१ २ ३ १२ ३ १ २ ३ २र

[१३९०] नकी रेवन्त सख्याय विन्दस पीयन्ति ते सुराश्व ।

३ २ ३ १२ ३ १ २र३ २ ३ १ २

यदा कृणोषि नदनु समूहस्यादित्पितेव हूयसे ॥ २ ॥ ४ ॥

ऋ० ८ । २१ । १३, १४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३९६] पृ० २०४ ।

(२) हे प्रभो ! आप (रवन्त) केवल धनसम्पन्न धनाभिमानी पुरुष को (सख्याय) अपना मित्रता के लिये (नकि) कभी नहीं (विन्दस) प्राप्त करते । क्योंकि (सुराश्व[1]) शराब पीकर या राज्य लक्ष्मी के मद से फूल हुए (ते) वे लोग हिंसावियों तक को (पीयन्ति) मारते हैं । और जब (नदनु) सत्य गुणों के उपदेश करने हारे पुरुष को आप अपना मित्र (कृणोषि) बना लेते हो और (सम् ऊहसि) उसको उत्तम रीति से उन्नति के मार्ग पर लेजाते हो । (आत् इत्) तब ही हे परमेश्वर ! आप (पिता इव) पिता के समान (हूयसे) याद किये जाते हो ।

१ २ ३२ ३ २ ३ २ ३ १ २र३ १ २

[१३९१] आ त्वा सहस्रमाशत युक्ता रथे हिरण्यये ।

३ २ ३ १२ ३ २ ३ १२ १ २

ब्रह्मयुजा हरय इन्द्र केशिना वहन्तु सोम पीतये ॥ १ ॥

१३८९—१ 'दुष स्त्रि गतिवृद्धया [स्व०]

१ सुरया शुना इति सुराश्व ।

२ ३ १ २ ३ २३ १ २ ३ १ २ १
[१३९२] आ त्वा रथं हिरण्यये हरी मयूरशेप्या ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
शितिपृष्ठा वहता मध्वो अन्धसो विवक्षणस्य पीतये ॥२॥
२ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३९३] पिबा त्वाऽस्य गिर्वण सुतस्य पूर्वपा इव ।
१ २ ३ १ २ ३, २ ३ २ ३ १ २
परिष्कृतस्य रसिन इषमाशुतिश्चार्वेदाय पत्यसे ॥३॥५॥
ऋ० ८ । १ । २५–२६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२७५] पृ० १२५।

(२) हे इन्द्र ! (हिरण्यय) हरणशील (रथ) रमण साधन, भोगायतन इस देह में (मयूरशप्या) मयूर के पंखों के समान वर्ण वाले, (शितिपृष्ठा) श्वेत या नील कान्ति का स्पर्श करने हारे, (हरी) दुःखहारी या हरणशील, अश्वरूप प्राण और अपान (त्वा) तुझ आत्मा के (विवक्षणस्य) अत्यन्त प्रशंसनीय या प्राप्त करने योग्य महान् (मध्व) मधुर अमृतरस रूप (अन्धः) जीवनशक्तिमय सोमरस के (पीतये) पान करने के लिये (वहताम्) प्राप्त करावें। विशुद्ध चितिशक्ति के योगसिद्ध अनुभवों को लक्ष्य करके प्राणापान के साधकों के निमित्त प्राण और अपान दोनों का वर्णन भी इसी प्रकार किया गया है। जैसे—

" काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वा । मुण्डक ॥

जो इन मन्त्रों का सूर्यपरक लगाया जाता है वह आदित्य भी साधक द्वारा अन्तर्दृष्ट आदित्य प्रभु का एक दृष्टान्तमात्र है।

(३) हे (गिर्वण) वाणियों के एकमात्र पात्र ! (अस्य) इस (सुतस्य) समाधि द्वारा निष्पादित सोम को (नु) शीघ्र ही (पूषा इव) प्राण वायु के समान (पिब) पान कर। क्योंकि (परिष्कृतस्य) योग साधन एवं प्राणायाम आदि अंगों द्वारा परिशोधित (रसिन) रसवान्

ब्रह्मास्वाद रस की (रसम्) यह (आसुतिः) निष्कर्ष या प्राप्ति (मदाय) परम हर्ष के प्राप्त करने के लिये (चारु) सर्वोत्तम (पायते) जानी और प्राप्त की जाती है।

[१३६४] आसोता परिषिंचताश्व न स्तोममसुर रजस्तुरम्।
धनप्रक्तमुदप्रुतम् ॥ १ ॥

[१३६५] सहस्रधारं वृषभं पयोदुहं प्रियं देवाय जन्मने।
ऋतेन य ऋतजातो वि वावृधे राजा देव ऋतं बृहत्
॥ २ ॥ ६ ॥ ऋ० ९। १०८। ७, ८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१८०] पृ० २१२।

(२) (सहस्रधारं) सहस्रों धारणकारिणी शक्तियों या आनन्द धाराओं, या नाना स्तुति वाणियों से युक्त (वृषभं) सुखों के वर्षक (पयोदुहं) पुष्टिकारक आनन्द का दोहन करने हारे (प्रियं) आत्मा के समान सब से अधिक प्रीति के विषय (देवाय) परम इष्टदेव के । जन्मने) अन्तरात्मा में प्रादुर्भाव करने के निमित्त साक्षात्कार करो। जो आत्मारूप सोम (राजा) ज्ञान से प्रकाशित इस देहेन्द्रिय संघात का प्रकाशक राजा (ऋतजातः) तप से परिष्कृत होकर (ऋतेन) सत्य ज्ञान से (वि वावृधे) अधिक शक्तिशाली होता है और जो स्वयं (देव) दिव्यगुण होकर (ऋतं) सत्य स्वरूप और (बृहत्) सबसे बड़ा, या सबका वर्धक है।

इति द्वितीयः खण्डः।

[१३६६] अग्निवृत्राणि जङ्घनद्द्रविणस्युर्विपन्यया।
समिद्ध शुक्र आहुतः ॥ १ ॥

१३६५—२. 'वृषभं पयोदुघं' इति ऋ०।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१३९७] गर्भे मातु पितुष्पिता विदिद्युतानो अक्षर ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ २
सीदन्नृतस्य योनिमा ॥ २ ॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३९८] ब्रह्म प्रजावदाभर जातवेदो विचर्षणे ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ २
अग्ने यद्दीदयद्दिवि ॥ ३ ॥ ७ ॥ अ० ६ । १६ । ३४,-३६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४] पृ० ३ ।

(२) (पितु पिता) सब पालकों का पालक, पिता का भी पिता, (अग्नि) ज्ञानवान् परमात्मा (अक्षरे) अविच्युत, स्थिर (मातु) प्रमाता आत्मा के (गर्भे) अन्त करण में (विदिद्युतान) प्रकाश करता हुआ (ऋतस्य) सत्य ज्ञान के (योनिं) मूल आश्रय ईश्वरीय ज्ञान, वेद को (आसीदन्) स्थापना करता हुआ समस्त आवरणरूप अज्ञानान्धकारों का नाश करता है । अथवा सूर्य आदि पालकों का उत्पादक ज्ञानी एव सबका अग्रणी, अनादि सिद्ध परमेश्वर (मातु गर्भे) जगत् को रचने वाली प्रकृति के गर्भ में, उसके बीच (विदिद्युतान) अपने प्रकाश को स्थापित करता हुआ (ऋतस्य योनिम्) अव्यक्त जगत् के मूल कारण रूप तत्व को (आसीदन्) अपने वश करता है ।

(३) हे (जातवद) समस्त ससार के उत्पन्न पदार्थों को जानने हारे ! (विचर्षणे) सबके द्रष्टा ! आप हमें (प्रजावत्) पुत्र आदि सहित (ब्रह्म) ऐसे अन्न और ज्ञान का (आ भर) प्राप्त कराइये (यत्) जो (दिवि) *दिव्यगुण से युक्त ज्ञानमय उत्कृष्ट लोक में भी* (दीदयत्) प्रकाशित रहे । अर्थात् ऐसा अन्न और ज्ञान प्राप्त कराओ जिसका परलोक और विद्वानों में भी आदर हो ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३९९] अस्य प्रेषा हेमना पूयमाना देवो दवेभि समपृक्त रसम्।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सुत पवित्र पर्येति रेभन् मितव सञ्ज पशुमन्ति होता ॥ १ ॥

३ १ २२ ३ २ १ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३
[१४००] भद्रा वस्त्रा समन्याऽवसानो महान् कविर्निवचनानि
१ २ १ २ ८ ३ १ ४ ३ १ २२
शंसन् । आवच्यस्व चम्वो पूयमानो विचक्षणो जागृवि-
३ १ २
र्देववीतौ ॥ २ ॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१४०१] समु प्रियो मृज्यते सानो अव्ये यशस्तरो यशसा क्षैतो
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३
अस्मे । अभि स्वर धन्वा पूयमानो यूय पात स्वस्तिभिः
१ २
सदा नः ॥ ३ ॥ ८ ॥ ऋ० ९ । ९७ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [५२६] पृ० २६१ ।

(२) हे सोम ! महायोगिन् विद्वन् ! (भद्रा) कल्याणकारी (समन्या) परस्पर प्रेम पूर्वक सम्मिलन करने योग्य, या संग्राम योग्य, केसरिया, तेजस्वी या कषाय (वस्त्रा) वस्त्र (वसानः) धारण करता हुआ (महान्) बड़ा (कविः) मेधावी पुरुष होकर (निवचनानि) निरन्तर उपदेश करने योग्य वचनों को (शंसन्) उपदेश करता हुआ (विचक्षणः) भले बुरे, सत् असत् का विवेक करता हुआ (देववीतौ) परमेश्वर के प्राप्ति के मार्ग में (पूयमानः) अपने अन्तःकरण से पवित्र होकर (चम्वोः) द्यौलोक और पृथिवी ज्ञानवान् और अज्ञानी दोनों प्रकार के जनों में (आवच्यस्व) विचरण कर ।

(३) (यशसा) यशस्वियों के बीच, (यशस्तरः) अति अधिक यशस्वी, (क्षैतः) इस पृथिवी में उत्पन्न होकर (उ) भी (अव्ये) प्राणायाम और (सानौ) उच्चतम अध्यात्म तप की कोटि में स्थित एवं (प्रियः) अतिप्रिय होकर (अस्मे) हमारे लिये विद्या आदि सद्गुणों से (सम् मृज्यते) उत्तम रीति से परिष्कार को प्राप्त होता, या भूषित होता है । अतः (पूयमानः) पवित्र होकर (धन्वा) गमनशील, परिव्राट् होकर

(अभि स्वर) उत्तम २ उपदेश कर । अध्यात्मपक्ष में—आनन्द भूमि को प्राप्त साधक अपने आत्मा से कह रहा है । हे इसी प्रकार के विद्वान् गुरुवो ! (यूयं) आप लोग भी (नः) हमारी (स्वस्तिभिः) कल्याणकारी उपदेशों और उपायों से (पात) रक्षा करो ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ १ १ २
[१४०२] एतोन्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २
शुद्धैरुक्थैर्वावृध्यास शुद्धैराशीर्वान्ममत्तु ॥ १ ॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
[१४०३] इन्द्र शुद्धो न आगहि शुद्धः शुद्धाभिरूतिभिः ।
३ २ ३ १र २र ३ १ २
शुद्धो रयिन्नि धारय शुद्धो ममद्धि सोम्य ॥२॥
१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १र २र ३ १ २
[१४०४] इन्द्र शुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे ।
३ २ ३ १ २ ३ १र २र
शुद्धो वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धो वाजं सिषासलि ॥३॥६॥

ऋ० ८ । ६५ । ७–६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अविकल सं० [३५०] पृ० १८१ ।

(२) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (शुद्धः) शुद्धस्वरूप आप (नः) हमें (आगहि) सन्मुख साक्षात् दर्शन दें । और (शुद्धाभि) शुद्ध पवित्र (ऊतिभिः) महत् रूप या प्राणात्मक शक्तियों सहित आप (शुद्धः) शुद्धस्वरूप ही हैं । अतः (शुद्धः) शुद्धरूप ही आप (रयिं) धारण करने योग्य ऐश्वर्य को (नि धारय) पूर्णरूप से धारण करें और हे (सोम्य) परमानन्द के पात्र शक्तिमय ! आप (शुद्धः) शुद्ध रूप ही (ममद्धि) नित्य आनन्द प्राप्त करावें ।

(३) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (शुद्धः) शुद्धस्वरूप आप (नः) हमें (रयिं) समस्त ऐश्वर्य, जीवन, प्राण और जगत् के समस्त पदार्थ (सिषासलि) प्रदान करते हैं । क्योंकि (दाशुषे) दाता आत्म समर्पक को आप

(शुद्ध-) निरपेक्ष शुद्धभाव से ही (रत्नानि) समस्त सुखकारी पदार्थ देते हो । (शुद्ध-) स्वयं शुद्ध होकर ही (वृत्राणि) आवरक अन्धकारों और विघ्नों एवं दुष्ट पुरुषों का विनाश करते हो । और (शुद्ध) शुद्धस्वरूप होकर ही आप समस्त संसार को (वाज) ज्ञान, धन और बल (सिषाससि) प्रदान करते हो ।

इति तृतीयः खण्डः ।

[१४०५] अग्ने स्तोमं मनामहे सिद्धमद्य दिविस्पृशम् ।
देवस्य द्रविणस्यव ॥१॥

[१४०६] अग्निर्जुषत नो गिरो होता यो मानुषेष्वा ।
स यक्षद्दैव्यं जनम् ॥२॥

[१४०७] त्वमग्ने सप्रथा असि जुष्टो होता वरेण्यः ।
त्वया यज्ञं वितन्वते ॥३॥१०॥ अ० ५ । १२ । ६ ४ ॥

भा०—(१) (द्रविणस्यवः) धन और द्रुत गति से प्राप्त करने योग्य इष्टदेव को प्राप्त करने की कामना वाले या ऐश्वर्यवान् होकर हम (अद्य) आज, सदा (देवस्य) प्रकाशस्वरूप (अग्नेः) सबके अग्रणी ज्ञानदाता, नायक परमेश्वर के (सिद्धम्) नित्य (स्तोम) स्तुति, सत्यगुण वर्णन रूप वेद का (मनामहे) मनन करते हैं ।

(२) (यः) जो (अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वर (होता) समस्त संसार का आदान और विसर्ग, प्रलय और सर्ग करने हारा (मानुषेषु) समस्त मननशील पुरुषों के हृदयों में (आ) साक्षात् रूप से विद्यमान

१४०५—१ 'अग्नेः स्तोम मनामहे सिश्रवत्' शत० ब्र० ।
'सिश्रमिति पाठो जीवानन्दीयः', सिद्धमिति सायणसम्मतः ।

होकर (नः) हमारी (गिरः) समस्त वाणियों को (जुषते) श्रवण करता है (सः) वही (दैव्यम्) दिव्यगुणयुक्त, ज्ञानप्रकाश वाले (जनं) दिव्य पदार्थ और मोक्षस्थ आत्मा को (यक्षत्) आनन्द सुख प्रदान करता है।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! आप ही (वरेण्यः) सबके वरण करने योग्य, (होता) सब संसार के दाता, प्रतिगृहीता, समस्त यज्ञों के कर्ता, (जुष्टः) सबके प्रेमपात्र, सबके सेवन योग्य और (सप्रथाः) सब से महान् (असि) हो। (त्वया) आप ही के निमित्त से सब लोग अपने (यज्ञं) इष्ट साधन रूप धर्म-कार्यों और पूजा आदि को (वितन्वते) सम्पादन करते हैं।

३ १ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१४०८] अभि त्रिपृष्ठं वृषणं वयोधामङ्गोषिणमवावशन्त वाणीः।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २

वना वसानो वरुणो न सिन्धूर्धि रत्नधा दयत वार्याणि॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१४०९] शूरग्रामः सर्ववीरः सहावाजेता पवस्व सनिता धनानि।

३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ १२ २१ ३

तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समत्स्वसाढः साह्वान् पृतनासु

१ २

शत्रून् ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ १ २

[१४१०] उरुगव्यूतिरभयानि कृण्वन्त्समीचीने आ पवस्वा पुरन्धीः।

३ १२ २१ ३ २ ३ १२ २१ ३ २ ३ २ ३

अप सिषासन्नुषसः स्वा३२ऽर्गा संचिक्रदो महो अस्मभ्यं

१ २

वाजान् ॥३॥११॥ अ० ६। ६०। २-४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५२८] पृ० २०२।

१४०८—१, 'अङ्गूषाणामवावशन्त' 'वरुणो न सिन्धून्' इति ऋ०। 'वार्याणिः' इति पाठस्तु अजमेरमुद्रितः प्रामादिकः।

(२) हे (सोम) प्राणरूप आत्मन् ! तू (शूरग्राम.) गति में वेगवान् इन्द्रियसंघ का स्वामी, (सर्ववीरः) सबसे अधिक सामर्थ्यवान्, (सहावान्) सहनशील, गर्मी सर्दी और सुख दुःख आदि द्वन्द्वों को सहन करने हारा, (जेता) सबको पराजय करने हारा या (जेता) काम क्रोध आदि और इन्द्रिय के वेगों पर विजयशील (धनानि) समस्त रमणीय विषय भोगों को (सनिता) प्रति इन्द्रिय विभाग करने हारा (तिग्मायुध) तीक्ष्ण साधना रूप आयुधों से सम्पन्न, (क्षिप्रधन्वा) अतिशीघ्र गति देने हारा या स्वयं सबसे अधिक वेगवान् (समत्सु) परस्पर स्पर्द्धा के स्थलों में (अषाढ) किसी से न दबने हारा (पृतनासु) प्रजारूप इन्द्रिय वृत्तियों में (साढ्वान्) सबको अपने वश करने हारा होकर (आपवस्व) प्रकट हो । और हमारे शरीर और अन्तःकरण को भी पवित्र कर ।

(३) (सोम) हे आत्मन् ! हे विद्वन् ! (उरु गव्यूति) स्वयं समस्त गौ अर्थात् वाणियों और इन्द्रियों के लिये रक्षा या शरण होकर सर्वत्र (अभयानि) अभय (कृण्वन्) करते हुए (पुरन्धी) इस देहरूप पुर को धारण करने हारे प्राण और अपान दोनों को (समाधीने) समुचित प्रकार से (आपवस्व) गति दो और पवित्र करो । और (अप.) समस्त कर्मों और प्रजाओं को (विषासन्) यथाकाल और यथास्थान विभाग करते हुए (स्व) सुख आनन्ददायक (गा.) वेदवाणियों को (अस्मभ्यम्) हम लोगों को (महः) बड़े २ (वाजान्) ज्ञानतत्वों के देने के लिये (सचिकदत्) उच्चारण करो, उपदेश करो ।

१ २ ३ १ २ ३ १ १ २ ३ १ २

[१४११] त्वमिन्द्र यशा अस्यृजीषी शवसस्पति. ।

१ २ ३ १ २ ३ ४ ५ १ २ ३ १ २ ३ १ २

त्वं वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक इत्पुरुष्टनुस्तथ्यर्णोतृनिः ॥१॥

१४११—'शवसस्पते' 'इत्पुरुष्टुतो-येक इत्पुरुष्टुता चर्षणीधृते' ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४१२] तमु त्वा नूनमसुरप्रचेतस राधो भागमिवेमहे।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
महीव कृत्ति शरणा त इन्द्र प्र ते सुम्ना नो अश्नुवन्
॥२॥१२॥ अ० ८। ९०। ५, ६ ॥

भा०—(१) हे इन्द्र! (त्व) तू (यशा) यशस्वी (शवस स्पति) शक्ति और बल का मालिक, (ऋजीषी) सब को ऋजु, सरल, उत्तम धर्ममार्ग में प्रेरणा करने हारा (पुरु-अनुत्त) बहुतों से भी प्रेरित या सचालित न होकर, स्वतन्त्र ही (चर्षणीधृति) साक्षिरूप से द्रष्टा होकर सबको धारण करने हारा है। (त्व) तू (अप्रतीनि) जिनका मुकाबला न किया जा सके ऐसे दुर्घट (वृत्राणि) विघ्नों और दुःसाध्य असुर, अधर्मी पुरुषों को (एक इत्) अकेला ही (हंसि) विनाश करता है। अवि० सं० [२४८]

(२) हे (असुर) प्राणों में रमण करने हारे आत्मन्! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् (त) पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त पूर्वप्रसिद्ध (प्रचेतस) श्रेष्ठ उत्तम ज्ञानवान् (त्वा उ) तुझ से ही हम (राध) आराधना करने योग्य ज्ञान को (भागम् इव) अन्न के समान (ईमहे) याचना करते हैं। हे (इन्द्र) आत्मन्! (ते) तेरी (कृत्ति) कीर्ति ही (मही) बड़ी भारी (शरणा इव) शरण रक्षा के समान है (ते) तेरे से (सुम्नानि) प्राप्त होने योग्य समस्त सुखसाधन (न) हमें (अश्नुवन्) प्राप्त हों।

१४१२—"सुम्नानो अश्नवन्" इति च ऋ०। 'पूर्वनुत्त' इति अजमेरमुद्रित ग्रामान्तिक. पाठ।

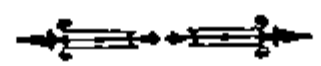
[१४१३] यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवत्रा होतारममर्त्यम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥१॥
[१४१४] अपान्नपातं सुभगं सुदीतिमग्निमु श्रेष्ठशोचिषम् । स नो
मित्रस्य वरुणस्य सो अपामा सुम्न यच्छते दिवि
॥२॥१३॥ ऋ० ८ । १९ । ३, ४ ॥

भा०—(१) (देवता) विद्वान् पुरुषों के भी (देवं) उपासनीय देव, (होतारं) सब यज्ञों के सम्पादक (अमर्त्यम्) मरणरहित, अमृत-स्वरूप (अस्य) इस (यज्ञस्य) समस्त विश्वका संचालन, उत्पादन और प्रलय रूप यज्ञ के (सुक्रतुम्) उत्तम रूप से रचने हारे अतएव (यजिष्ठं) सब यज्ञ कर्त्ताओं में श्रेष्ठ (त्वा) आपको (ववृमहे) वरण करते हैं । व्याख्या देखो [११२]

(२) (अपां नपातं) लोकों, कर्मों और प्रजाओं के पतन, विनाश या लोप न होने देने हारे, (सुभगं) ऐश्वर्यसंपन्न, (सुदीतिं) उत्तमकान्ति से युक्त (श्रेष्ठशोचिषम्) सबसे श्रेष्ठ, प्रशंसनीय तेज से सम्पन्न (अग्निम्) अग्नि स्वरूप, सर्वप्रकाशक आत्मा को वरण करो क्योंकि (सः) वह जीवरूप अग्नि (मित्रस्य) समस्त जीव को स्नेह से देखने हारे और (वरुणस्य) सब दुःखों का वारण करने हारे परमेश्वर के (अपां) समस्त प्रज्ञाओं, कर्मों और समस्त लोकों के (सुम्नं) सुख को दिवि) ज्ञान प्रकाशमान मुक्तदशा में भी (नः) हमें (यच्छते) प्राप्त कराता है ।

अग्नि का आत्मस्वरूप देखो नाचिकेतोपाख्यान काठक उपनिषद् और मुण्डक उपनिषद् में ।

इति चतुर्थः खण्डः ।



१४१३—२. 'ऊर्जोनपात' इति ऋ० । 'ऊर्जो नपात' इत्येव सायणसम्मतश्च पाठः ।

[१४१५] यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यञ्जुना ।
स यन्ता शश्वतीरिष ॥ १ ॥

[१४१६] न किरस्य सहन्त्य पर्येता कयस्य चित् ।
वाजो अस्ति श्रवाय्य ॥२॥

[१४१७] स वाज विश्वचर्षणिरर्वद्भिरस्तु तरुता ।
विप्रेभिरस्तु सनिता ॥३॥ *४ ॥ ऋ० १ । २७ । ७–९ ॥

भा०—(१) हे (अग्ने) परमेश्वर ! (य) जिस (मर्त्यं) मरण धर्मा पुरुष को आप (अवा) मृत्यु से बचा लेते हैं और (य) जिसको (वाजेषु) ज्ञान और श्रेष्ठ कर्मों में (जुना) प्रेरित करते, चला देते हो (स) वह आपकी (शश्वती) नित्य अनादि काल से चली आई (इष) प्रेरणाओं और अनादि शक्तियों को (यन्ता) वश कर लेता है ।

(२) हे (सहन्त्य) सब विघ्नों के विनाशक ! (अस्य) इस आपके (कयस्य चित्) किसी भी उपासक साधक को (पर्येता) कष्ट देने हारा या उस पर आक्रमण करने हारा (नकि) कोई भी नहीं । प्रत्युत उसके पास (श्रवाय्य) श्रवण करने योग्य उत्तम (वाज) ज्ञान या बल (अस्ति) प्राप्त होता है ।

(३) (स) वह (विश्वचर्षणि) समस्त मनुष्यों का स्वामी (अर्वद्भि) ज्ञानी पुरुषों या इन्द्रियगणों से ही (वाज) ज्ञान को, बल को या जीवन संग्राम को (तरुता) पार करने हारा (अस्तु) हो और वही अग्नि (विप्रेभि) विद्वान् मेधावी पुरुषों द्वारा (सनिता) इष्टफल का दाता (अस्तु) हो ।

[१४१८] साकमुक्षा मर्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य धीतयो
धनुत्री । हरि पर्यद्रवज्जा सूर्यस्य द्रोणमनक्षत् अत्यो न
वाजी ॥१॥

२ ३ २ ३ २र ३ १र २र ३ १ २
[१४१९] स मातृभिर्न शिशुर्वावशानो वृषा दधन्वे पुरुवारो
३ २ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
अद्रिं । मर्यो न योषामभि निष्कृतं यन् त्सगच्छते कलशं
३ १ २
उक्षियाभि ॥२॥
३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१४२०] उत प्रपित्व ऊधरुन्याया इन्दुर्धाराभिः सचते
३ १ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३
सुमेधा । मूर्धान गाव पयसा चमूष्वभिश्रीणन्ति
१ २ ३ २ ३ ४
वसुभिर्न निक्तं ॥ ३ ॥१५॥ ऋ० ९ । ११ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२३८] पृ० २६८ ।

(२) जिस प्रकार (मातृभि न) माताओं द्वारा (शिशु) उनकी गोद में सोन हारा बालक शिशु (दधन्वे) पालित पोषित होता है उसी प्रकार (अद्रि) विषयों तक प्राप्त होने हारी (मातृभि) ज्ञान कराने हारी इन्द्रियों द्वारा बालक के समान उनकी गोद में या भीतर प्रसुप्त रूप से शिशु के समान सोने हारा और उनका (वावशान) निरन्तर चाहने हारा (सोम) शुक्रस्वरूप, या आनन्दमय ब्रह्मरस (दधन्वे) पालित पोषित होता या धारण किया जाता है। और जिस प्रकार (मर्य) पुरुष (योषां न) स्त्री के पास अपने गृह में जाता और उससे आनन्द लाभ करता है उसी प्रकार वह सोम आत्मा (निष्कृतम् अभि) अपने मूल आश्रय मस्तकदेह में (यन्) जाता हुआ (कलश) नाना कलारूप चिति शक्ति की नाना वृत्तियों से युक्त सहस्रदल कमल, मूर्धा भाग या देह में (उक्षियाभि) ऊर्ध्वसर्पण करने हारी इन्द्रिय शक्तियों से (सगच्छते) मिलकर एक हो जाता है ।

(३) (उत) और जब वह सोम, शुक्रस्वरूप योगी के तालुभाग में लगी इन्द्रयोनि से टपकने हारा रस (अप्न्याया) कभी न विलुप्त

होने हारे सदा चेतन चितिशक्तिरूप गौ के (ऊधः) रस के भण्डार रूप ऊर्ध्वस्थान मस्तक भाग को (प्र पिप्ये) भर देता है, पूर्ण कर देता है जब (सुमेधाः) उत्तम ज्ञानधारण में समर्थ धारणावती मेधा बुद्धि से युक्त, (इन्दुः) ज्ञान और तप से प्रकाशमान योगी (धाराभिः) अपने धारणा के अभ्यासों या स्तुति वाणियों से (सचते) सोम का रस प्राप्त करने एवं आत्मा के स्वरूप तक पहुंचने में समर्थ होता है तब ही (गाव) गमनशील सूक्ष्म इन्द्रियों की सवित् शक्तियां या वाणियां (चमूषु) अपने२ स्थानों में स्थित होकर (पयसा) अपने २ विषयग्रहण के रस से (मूर्धानं) मूर्धास्थल अर्थात् शिरोदेश के सहस्रदल कमल में स्थित सोम आत्मानन्द को (अभि॰ श्रीणन्ति) ऐसे घेर लेती हैं, आच्छादित कर लेती हैं जैसे (निर्णिजः) स्वच्छ सुन्दर (वसुभिः) वस्त्रों से माताएं अपने बालकों को या शुद्ध २ (वसुभिः) ज्ञानरूप उपहार धनों से प्रजाएं अपने राजा को आच्छादित कर देती और भर देती हैं।

यहां सम्प्रज्ञात समाधि का वर्णन किया है, ऊर्ध्वरेता योगी के ध्यान करने और ब्रह्मरसास्वादन करने के रहस्य को खोला गया है।

१ २ ३, २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४२१] पिशा सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमतः।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २
आपिर्नो बोधि सधमाद्ये वृधेऽ३ऽस्मां अवन्तु ते धियः ॥१॥
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४२२] भूयाम ते सुमतौ वाजिनो वयं मा नस्तरभिमातये।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अस्मां चित्राभिरवताद्भिष्टिभिरा नः सुम्नेषु यामय॥२॥१६॥
अ० ८। ३। १-२॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२३६] पृ०१२२।

(२) (वयं) हम (ते) तेरी (सुमतौ) उत्तम मति, प्रज्ञा वेदरूप ज्ञान के अधीन रहकर (वाजिनः) ज्ञानवान् पुरुष (स्याम) होवें।

(अभिमातये[1]) अभित =चारों ओर से नाना प्रकार के माति अर्थात् हिंसाकारी विषयभोग रूप शत्रु की बढ़ती के लिये (न) हमें (मा स्त[2]) मत ढक अर्थात् उसमें मत फँसा । (चित्राभि) ज्ञानमय नाना प्रकार की सग्रह करने योग्य (अभिष्टिभि) अपनी प्रेरणाओं से (अस्मान्) हमें (अवतात्) रक्षा कर । और (न) हमें (सुम्नेषु) सुखमार्गों में (आ यामय) व्यवस्थित रख, चला ।

[१४२३] त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रिरे सत्यामाशिरं परम व्यो-
मनि । चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यद्
तैरवर्धत ॥ १ ॥

[१४२४] स मज्मानो अमृतस्य चारुण उभे द्यावा काव्येना
विशश्चथे । तेजिष्ठा अपो मंहना परिव्यत यदी देवस्य
श्रवसा सदो विदु ॥ २ ॥

[१४२५] ते अस्य मन्तु कतवोऽमत्यवोऽदाभ्यासो जनुषी उभ
अनु । यमिर्नृम्णा च देव्या च पुनत आदिद्राजानं मनना
अगृभ्णत ॥ ३ ॥ १७ ॥ ऋ० ९ । ७० । १-३ ॥

---

१ स्तृञ् आच्छादने क्रयादि. । हिंसार्थस्य स्तृणातेरिति सायण ।

२ अभिमन्यते इति अभिमाति शत्रुरिति सायण । रोग इति माधव ।

१४२३—१ 'दुदुह्रे' 'पूर्व्ये व्योमनि', ३. 'स भिक्षमाणो' इति ऋ० ।
'भिक्ष्यमाण', 'भक्ष्यमाण' इति पाठौ सायणसम्मतौ, जीवानन्दीये मक्ष्य-
माण' इति च सर्वे प्रामादिका. पाठ निर्णयसागरीये ऋक्सायणभाष्ये,
अन्यासु सामसहितासु लन्दन कालिकातामुद्रितासु च तथाऽनुपलम्भात् ।

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१६०] पृ० २८२।

(२) (यदि) जिस दशा में विद्वान् लोग (देवस्य) उस उपास्य-देव के (सदः) आश्रयस्थान हृदय देश को (श्रवसा) गुरूपदेश द्वारा[1] (विदुः) ज्ञान कर लेते हैं तब (सः) वह पवमान सोमसाधक (चारुण.) अति उत्तमरूप, उपभोग करने योग्य (अमृतस्य) अमृत या अमरत्व का (भक्षमाणः) सेवन करता हुआ (काव्येन) अपने ज्ञान-सामर्थ्य से (उभे द्यावा[1]) दिव्यगुणयुक्त आत्मा और परमात्मा दोनों को (विशश्चथे[2]) प्राप्त करता है और (महना) अपने तपोमहत्व से (तेजिष्ठाः) अति तेज से सम्पन्न (अपः) लोकों या प्राणों में (परि व्यत) विचरता है। ऋग्वेद में 'भिक्षमाणः' पाठ है। इसलिये उस पक्ष में (सः) वह साधक (चारुणः, अमृतस्य) उत्तम अमरत्व की (भिक्षमाणः) याचना करता हुआ (उभे द्यावा विशश्चथे) दोनों तेजोमय आत्माओं को प्राप्त करता है, इत्यादि पूर्ववत्। अथवा (उभे द्यावा) दिव्यगुणयुक्त प्राण और अपान दोनों को (विशश्चथे) शिथिल या वश कर लेता है। दोनों के बन्धनों को ढीला कर देता है। दोनों को वश करके विदेह मुक्त होजाता है।

(३) (अस्य) इस सोमरूप योगी आत्मा के (उभे जनुषी अनु) दोनों जन्म अर्थात् इह और पर दोनों लोकों में (अमृत्यवः) अमर, अविनाशी, (अदाभ्यासः) अखण्डित, अमिट (ते) वह २ (केतवः) ज्ञान और रश्मियां, विभूतियां (सन्तु) उत्पन्न हो जाती हैं (याभिः) जिन के बल से वह (नृमणा) मनुष्यों के अभिलाषा योग्य और (देव्या)

१. द्यावापृथिव्यौ प्राणापानौ, (शत०)

२. 'अथ हिंसार्थः' क्र्यादिः, अथ प्रयत्ने प्रस्थाने च, चुरादिः, अथ मोक्षणे, चुरादिः, अधि दौर्बल्ये, चुरादिः, अधि शैथिल्ये, भ्वादिः, अन्थ विमोचनप्रतिहर्षयोः, क्र्यादिः।

देवों, विद्वानों के प्राप्त करने योग्य लोक लोकान्तरों को भी (पुनते) प्राप्त करता है। (आत् इत्) और उस विभूति के प्राप्त कर लेने के अनन्तर (राजानम्) सर्वत प्रकाशमान्, सर्वता वशी राजास्वरूप उस आत्मा को (मनना) मनन करने से प्राप्त मानसिक सकल्प ही (अगृभ्णत) धारण किये रहते हैं, अर्थात् उस दशा में उसके समस्त संकल्प ही उस आत्मा को लोक लोकान्तरों तक पहुचाते हैं।

इति पञ्चम खण्ड ।

३ २ १ २ ३ ६ १ ४ ३ २ २ ३ १ ४ २ ३ १ २

[१४२६] आभ वायु वीत्यर्षा गृणानोऽभि मित्रावरुणा पूयमान ।

३ १ ४ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २

अभी नरं धीजवनं रथेष्ठामभीन्द्र वृषण वज्रबाहुम् ॥ १ ॥

३ १ २ ४ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ १ २

[१४२७] अभि वस्त्रा सुवसनान्यर्षाभिधेनू सुदुघा पूयमान. ।

३ २ ३ १ ४ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अभि चन्द्रा भर्त्तवे ना हिरण्याभ्यश्वान्रथिनो देवसोम ॥२॥

३ १ २ ३ १ ४ २ ३ २ ६ ३ १ २ ३ १ २

[१४२८] अभी नो अर्ष दिव्या वसून्यभि विश्वा पार्थिवा पूयमान. ।

३ २ ६ ३ १ २ ३ १ २ ३ ६ २ ४ ३ , ३ ३ १ २

अभि येन द्रविणमश्नवामाभ्यार्षेय जमदग्निवन्न ॥३॥१८॥

ऋ० ९ । ६७ । ४९-५१ ॥

भा०—(१) हे (सोम) विद्वन् ! (वायु) कोष्ठगत वायुरूप प्राण को (वीति) सर्व शरीर में व्याप्त होने के लिये (अभि अर्ष) प्रेरित कर। और (मित्रावरुणा) प्राण और अपान दोनों को (पूयमानः) पावन करता हुआ उत्तम रूप से गति देता हुआ (अभि) उनको भी प्रेरित कर। (रथेष्ठाम्) इस देहरूप रथ पर सारथि बनकर स्थित (धीजवन) ध्यान, सकल्पमात्र के वेग से जाने वाले, (नरं) इन्द्रियगणों के नेता

१४२७—'अभिनरं' इति ऋ० ।

मन को (अभि) उत्तम रीति से प्रेरित कर, और इस प्रकार प्राणायाम द्वारा जितेन्द्रिय और जितचित्त होकर हे सोम ! विद्वन् ! तब (वज्रबाहुम्) अज्ञान का नाश करने हारे ज्ञानरूप वज्र को हाथ में लिये ऋतम्भरावस्था में प्रज्ञाऽऽलोक के खुल जाने पर (वृषणं) सब सुखों के वर्षक (इन्द्रं) उस आत्मा को (अभि अर्ष) साक्षात् कर ।

(२) हे सोम ! विद्वन् ! (पूयमान) पवित्र होकर या निरन्तर उन्नति की साधना करता हुआ तू (सुवसनानि) उत्तम रूप से आच्छादन करने हारे (वस्त्रा) चमचमाते विभूति, सिद्धियों अर्थात् सात्विक आवरणों या पञ्चकोषों को (अभि-अर्ष) वश कर । और (सुदुघा) उत्तम रूप से ज्ञानरस या आनन्दरस का दोहन करने हारी (धेनू) भीतरी व आनन्दवाहिनी सुषुम्णा आदि नाड़ियों पर, या इन्द्रिय शक्तियों पर (अभि) वश कर और (नः) हमें (चन्द्रा) आह्लादकारी (हिरण्या) ज्ञानरूप ऐश्वर्य (भर्त्तवे) भरण, पोषण करने या आत्मतृप्ति करने के लिये (अभि अर्ष) प्रदान कर । हे (देव) ज्ञानद्रष्टः ! शमादिसाधनों से युक्त योगिन् ! (रथिन) देहरूप रथों के स्वामी, जितेन्द्रिय (अशान्) ज्ञानी पुरुषों को (अभि अर्ष) हमें प्राप्त करा ।

(३) हे (सोम) विद्वन् ! आप हमें (दिव्या वसूनि) दिव्यगुण युक्त जीवन के वास हेतु पदार्थों का प्रदान करें और (पूयमानः) सर्वत्र प्रकाशमान्, शुद्ध पवित्र चित्त होकर (विश्वा पार्थिवा) समस्त पृथिवी पर होने वाले ऐहिक पदार्थों का (अभि) उपदेश करें । और आप हमें ऐसे (अभि) सामर्थ्य दें कि (येन) जिससे हम (द्रविणम्) ज्ञान, धन और अन्नादि पदार्थों को (अश्नवाम) प्राप्त करें और उपभोग भी करें । और हे सोम ! आप (नः) हमें (जमदग्निवत्) समस्त अग्निरूप सूर्यादि पदार्थों को दमन करने हारे परमात्मा के समान (आप्यं) ऋषियों द्वारा प्राप्त करने योग्य वेदज्ञान का (अभि) उपदेश करें ।

(तत्) उस समय ही तू हे परमात्मन्! (विश्वम्) यह समस्त जगत् (यत् जातं) जो कुछ उत्पन्न हुआ (यत् च) और जो (जन्वम्) आगे उत्पन्न होता उस सब में (अभिभूः) सब ओर और सब प्रकारों से व्याप्त होकर सबका मूल उत्पत्ति कारण तू ही (असि) है।

(३) हे परमेश्वर! तू ही (आमासु) न पके, अपक्व, कच्चे, स्थावर और जंगम पदार्थों में (पक्वं) परिपक्व भाव को (ऐरय) प्राप्त कराता है। और इस निमित्त तू ही (सूर्यं) सबके प्रेरक सूर्य को (दिवि) इस महान् आकाश में (आरोहयः) इतनी उच्चता पर स्थापित करता है। हे विद्वान् लोगो! (सामन्) सामवेद द्वारा (घर्मं न) जिस प्रकार आप धर्मयोग या प्रवर्ग्येष्टि को (तपत) प्रतप्त करते हो उसी प्रकार आप लोग (सुवृक्तिभिः) उत्तम ज्ञानस्तुतियों या ज्ञान वर्धाओं द्वारा (गिर्वणसे) समस्त वेदवाणियों के एकमात्र वर्णनीय उस इन्द्र के विषय में (जुष्टं) अतिप्रिय, रुचिकर (बृहत्) महान् या बृहत् साम द्वारा ज्ञान प्राप्त करो।

सत्यमिति सत्यवचा रथीतर। तप इति तपो नित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्य। तद्धि स्वतपस्तद्धि तप। (तैत्ति० उप० शिक्षावल्ली अनु० ९) अर्थात् ज्ञानप्राप्ति ही तप है। प्रवर्ग्येष्टि में संसार की रचना का ज्ञान दर्शाया जाता है। (देखो शतपथ में प्रवर्ग्येष्टि प्रकरण)

[१४२२] मत्स्यपाषि ते मदः पात्रस्येव हरिवो मत्सरो मदः।
वृषा ते वृष्ण इन्दुर्योजी सहस्रसातमः ॥१॥

[१४२३] आ नस्ते गन्तु मत्सरो वृषा मदो वरेण्यः।
सहावाँ इन्द्र सानसिः पृतनाषाळमर्त्यः ॥२॥

यहां योगी का साधक आत्मा के प्रति, भक्त का ईश्वर के प्रति, प्रजागण का राजा के प्रति समानरूप से वचन है।

(३) हे (इन्द्र) परमेश्वर! (त्वं) आप ही (शूर) सबमें गति देने हारे, (सनिता) समस्त पदार्थों के दाता होकर (मनुषः) मननशील जीव के (रथं) इस रमण स्थान देह या समस्त विश्व का (जाइय) प्राप्त कर रहे हो। आप (दस्युम्) नाश करने हारे, दुष्ट (अव्रतम्) नियम रहित, निकाम नियम का न पालन हारे पुरुष का (सहावान्) शक्तिशाली या सहायसम्पन्न होकर (शाचिष्ठा) अपने तेज से (आप) पेल दो तपाते हो जैसे (शाचिष्ठा) अग्नि के ताप से हम लोग (पात्रं न) हांडी का तपाया करते हैं।

इति षष्ठः खण्डः।

इति षष्ठस्य द्वितीयोऽर्ध प्रपाठकः। इति द्वादशोऽध्यायः।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

अथ षष्ठप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः।

(२) हे (सोम) परमेश्वर वा योगिन् ! (तया) उस (धारया) धारा से या धारणा शक्ति से (पवस्व) प्रेरित कर (यया) जिससे (गावः) दीप्त-रश्मियां, कान्तियां एवं ज्ञानवाणियां (इह) इस हमारे अन्त करण, एवं गृह में (आगमन्) प्राप्त हों । और (जन्यास) जन, मनुष्य एवं प्राणियों के हितकारक पदार्थ भी (न) हमारे (गृहम) देह और गेह को (उप) प्राप्त हों ।

(३) अपनी (धारया) धारणा, पालन पोषण करने हारी शक्ति से (पवित्रे) नाना प्रकार के यज्ञों में (देववीतये) दिव्य गुणयुक्त पदार्थों को प्राप्त होकर (अस्मभ्यं) हमको (घृत) कान्तिस्वरूप प्रदीप्त, प्रकाशयुक्त, ज्ञान, कर्मोपदेश को (पवस्व) प्राप्त करा । और (अस्मभ्य) हमें (वृष्टिं) अन्त आनन्द-सुखों की वृष्टि को भी (आपव) प्रदान कर ।

(४) हे सोम ! (सः) वह तू (न) हमारे (ऊर्जे) बल सम्पादन के निमित्त (धारया) अपनी धारण पोषण करने हारी शक्ति से (अव्ययं) सूर्य, प्राण, आत्मारूप (पवित्रं) पवन करने हारे वायु, अन्त करण या धारणा देश के प्रति (विधाव) विशेष रूप से गति कर । (देवासः) समस्त विद्वान् और दिव्य जल, अग्नि आदि तत्व पदार्थ और इन्द्रियां (कम्) आनन्दकारी तेरी ध्वनि को (शृण्वन्) श्रवण करते हैं ।

(५) (पवमान) अति शुद्धकान्तिरूप से देदीप्यमान सोमरूप अन्तरात्मा का ब्रह्मानन्द रस (अभिष्यदन्) जब द्रवित होता है तब (अनवत्) पूर्व के अपने पुरातन (रूप) कान्तियों को (रोचयन्) चमकाता हुआ (रक्षांसि) समस्त पाप, कुवासना, दुःसकल्पों को अनायास (अप जघनत्) दूर मार भगाता है ।

इस सूक्त में सूर्य, आत्मा, राजा, प्राण, इन्द्र आदि समस्त प्रेरक शक्तियों को सोमधारा के दृष्टान्त से वर्णित किया गया है। मधु, घृत आदि

शब्द वेद में ज्ञान के वाचक भी हैं । जैसे शतपथ में पञ्चमहायज्ञ प्रकरण में—पय आहुति=ऋग्वेद की ऋचाओं का स्वाध्याय, आज्याहुति=यजुर्वेद का स्वाध्याय, सोमाहुति=सामवेद का स्वाध्याय, मेदाहुति=अथर्ववेद के मन्त्रों का स्वाध्याय और मधु आहुति=अन्य शेष विद्या जैसे वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी इत्यादि का स्वाध्याय कहा जाता है । (शत० कां० १२ । ४ । ६ । ३ । ८)

इत्यादि रूप से यह सोम का सवन ज्ञानपरक समझना चाहिये । इसी प्रकार अन्यत्र भी स्वाध्याय प्रशंसा प्रकरण में 'मधु ह वा ऋचः ।' घृत ह सामानि 'अमृत यजूंषि' यद् ह वा अयं वाकोवाक्यमधीते क्षीरौदनमासोदनौ भवतः । (शत० का० ११ । ५ । ७ । ५)

[१४४०] प्रत्यस्मै पिपीषते विश्वानि विदुषे भर ।
अरङ्गमाय जग्मयेऽपश्चादघ्न्याय नः ॥ १ ॥

[१४४१] एमेनं प्रत्यृतय सोमेभिः सोमपातमम् ।
अग्नेभिर्ऋक्वभिर्विप्रमिन्द्रं सुतेभिरिन्दुभिः ॥ २ ॥

[१४४२] यदी सुतेभिरिन्दुभिः सोमेभिः प्रातरिष्टये ।
उदा विश्वस्य माधरो घृतस्य तामदस्पते ॥ ३ ॥

[१४४३] अस्मा अस्मा इदन्धसोऽध्वर्यो प्रभरा सुतम् ।
कुविदस्य जनुषं शच्या अवो गम्भीरवेपसम् ॥४॥२॥
य० ६ । ४२ । १–४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो ऋ० म० [३५२] पृ० १८२ ।

(२) हे विद्वान् पुरुष ! (एनं) इस (सोमपातमं) सोमरस का पान करने हारों में से सबसे श्रेष्ठ ज्ञान के पात्र आगार, परमेश्वर को

१४४३—'ऽभिगन्तरवस्यवः' इति ऋ० ।

(सोमेभि) ज्ञानों और ज्ञानियों द्वारा (आ प्रति एतन) प्राप्त या साक्षात् करने का प्रयत्न करो । (मनस्रेभि) धारण करने वाले धारणा बुद्धि के संकल्पों द्वारा (ऋजीषिण) ऋजु मार्गों पर प्रेरणा करने हारे, सन्मार्गदर्शी, सत्संगतिकारी परमेश्वर को (सुतभि) सुप्रसिद्ध, सम्यक् रूप से प्रेरित (इन्दुभि.) आह्लादकारी विद्वानों द्वारा उनके उपदेश पाकर (प्रयेतन) उसका सत्यज्ञान प्राप्त करो, उसका पहिचानो ।

(३) हे विद्वान् पुरुषो ! (यदि) जब (सुतेभिः) सिद्ध, निष्पन्न (इन्दुभि) प्रकाशमान, ज्ञानज्योतियों से युक्त (सोमेभि) पूर्वोक्त सोमों द्वारा (इन्द्रं) अपने आत्मा या अपने उपास्य इष्टदेव को (प्रतिभूषथ) अलंकृत करो तो वह (मेधिर) मेधाबुद्धि से युक्त (एषन्) सब पर यत्न करने हारा ईश्वर (विश्वस्य) सब कुछ (यर) जान लेता है और (तं तं) उस २ संकल्प को भी (एषते) पूर्ण करता है ।

(४) हे (अध्वर्यो) यज्ञ करनेहारे विद्वन् ! (अस्मै अस्मै इत्) इस ही इन्द्र के लिये (अन्धस) जीवन धारण करने हारे मूलतत्व के (सुतम्) निष्पादित आनन्द रस को (प्रभर) समर्पित कर । क्योंकि (समस्य) समस्त (जन्यस्य) वश करने योग्य (शर्धत.) ऊपर उठते हुए (अभिशस्ते.) अभिमानी, घातक काम क्रोधादि शत्रुरूप से (कुवित्) बहुत बार (अवस्वत्[२]) बचा लेता है ।

इति प्रथम खण्डः ।

—.o.—

३ २ ३ १ २ २ २ ३ , २ ३ १ २
[१४३४] यध्वर्ये नु स्यतवसे रणाय दिविस्पृशे ।
१ २ ३ १ २
सोमाय गाथमर्चत ॥ १ ॥

१४३१—१. स्वर्लिंगव्यत्ययो, निष्पन्नो । इतरत्र यथादर्शनम् ।

[१४४५] हस्तच्युतेभिरद्रिभि सुत सोम पुनीतन।
मधाव्धावता मधु ॥ २ ॥

[१४४६] नममेदुपमीदत दध्ने दधिश्राणीतन।
इन्दुमिन्द्रे दधातन ॥ ३ ॥

[१४४७] अमित्रहा विचर्षणि पवस्व सोम शं गवे।
देवेभ्यो अनुकामकृत् ॥ ४ ॥

[१४४८] इन्द्राय सोम पातवे मदाय परिषिच्यसे।
मनश्चिन्मनसस्पति ॥ ५ ॥

[१४४९] पवमान सुवीर्यं रयिं सोम रिरीहि णः।
इन्दविन्द्रेण नो युजा ॥ ६ ॥ ३ ॥ ऋ० ९ । ११ । ४ ॥

भा०—(१) हे विद्वान् पुरुष ! (वज्रव) सब का भरण पोषण करने हारे (स्वतवस) दूसरे की विना अपेक्षा किये स्वयं बलशाली, (दिविस्पृशे) इस देह में मूर्धास्थान और ब्रह्माण्ड में महान् आकाश में भी व्याप्त एवं समस्त कान्तिमान् सात्विक दिव्यगुण वाले लोकों और पदार्थों के भीतर विद्यमान (सोमाय) प्रेरकस्वरूप, शक्ति प्राणात्मा, परमात्मा एवं राजा आदि की (गाथम्) वास्तविक सत्य गुण कथा का (अर्चत) वर्णन करो।

(२) हे विद्वान् पुरुषो ! (हस्तच्युतेभि) हाथों के समान प्रेरक साधनों से प्रेरित, (अद्रिभि) पर्वत एवं शिलाओं के समान स्थिर, सदाचारी विद्वानों द्वारा निष्पादित तैयार किये गये (सोम) ज्ञानराशि को (पुनीतन) बराबर उद्यत करो उसका सम्पादन करो और यज्ञों और उसका नि संशय करके पवित्र बनाओ। और (मधो) अत्यन्त आनन्द करने हारे अमृतस्वरूप अपने आत्मा में उस (मधु) परम आत्मज्ञानरूप अमृत का (आधावत) प्राप्त करो।

(३) हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग उस सोम, सबके प्रेरक अन्तर्यामी, शक्तिमान् परमेश्वर एवं इस शरीर के स्वामी प्राणात्मा के (नमसा इत्) नमस्कार, श्रद्धा भक्ति द्वारा (उप सीदत) समीप पहुंचो, उसकी उपासना करो। (दक्षा) ध्यान और धारणा-बल से (अभि श्रीणीतन) साक्षात् उसको अपने भीतर परिपक्व करो । और उस (इन्दुम्) ऐश्वर्य-सम्पन्न सोमरूप जीव को (इन्दे) परमेश्वर में (दधातन) स्थापित करो। अथवा ऐश्वर्यवान् परमेश्वर को अपने आत्मा में धारण करो।

(४) हे (सोम) सर्वोत्पादक परमेश्वर ! (अमित्रहा) द्वेष करने तथा स्नेह न करने हारे दुर्वासनायुक्त पुरुषों का नाश करने हारा, (विचर्षणिः) विविध पदार्थों का विशेष रूप से द्रष्टा होकर, (देवेभ्यः) दिव्य-गुण युक्त पदार्थों, विद्वानों एवं इन्द्रिय शक्तियों के (अनुकामकृत्) कामनानुकूल कार्य करने हारा होकर (गवे) ज्ञानशील आत्मा के लिये (शं) कल्याण सुख को (पवस्व) प्रवाहित कर।

(५) हे (सोम) सबके प्रेरक ! ज्ञान आनन्द रस स्वरूप ! (इन्दाय) अन्तरात्मा के (पातवे) पान करने और (मदाय) हर्षोत्पादन के लिये (परिषिच्यसे) तू ही सब प्रकार से हृदय में और सर्वत्र आनन्द-ग्राहक स्थलों में विचारधारा से प्रवाहित किया जाता है, क्योंकि तू ही (मनः चित्) मननशील मन को भी जानने हारा एवं (मनसस्पतिः) मन स्वरूप आत्मा का परिपालक है।

(६) हे पवमान ! सर्वत्र प्रकाशमान, सर्वव्यापक सबके प्रेरक सबके प्रकाशक ! सोम ! तू (नः) हमें (सुवीर्यं) उत्तम सामर्थ्य युक्त (रयिं) प्राणबल (रिरीहि) प्रदान कर। और हे (इन्दो) योगिन् ! गुरो ! (इन्देव) परमात्मा या आत्मारूप (युजा) सहायक से (नः रिरीहि) हमें वह बल प्राप्त करा।

२३ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २ १
[१४५०] उद्वेदभिश्रुतामघ वृषभन्नर्याप्सम् ।
१ २
अस्तारमेषि सूर्य ॥ १ ॥
२ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ १ २ ३क २१
[१४५१] नव या नवतिं पुरो बिभेद बाह्वोजसा ।
१ २ ३ १ २
अहिं च वृत्रहावधीत् ॥ २ ॥
२ ३ १ २ ३ १२ २१ २ ३ १ २
[१४५२] स न इन्द्र शिव सखाश्वावद्गोमद्यवमत् ।
३ १ २
उरुधारेव दोहते ॥ ३ ॥ ४ ॥ ऋ० ६ । ६३ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१२५] पृ० ६७ ।

(२ ३) (य) जो इन्द (बाह्वोजसा) बाहुओं विघ्नकारी बाधाओं को दूर करने हारे साधनों के सामर्थ्य या बल से (नव नवतिं) ९९ निन्यानवें (पुर) पुरों, देहों या देह पर गुजरने हारे उसके परिपोषक एवं तर्पक वर्षों का (विभेद) तोड़ डालता है विनाश करता है और (वृत्रहा) आवरणकारी अज्ञान-अन्धकार का नाश करने हारा वह आत्मा (अहिं) सर्प के समान हृदय-मन्दिर में आ घुसने वाले अज्ञान और उससे पैदा होने वाले काम आदि विकार, आत्मा के प्रकाश के ऊपर आजाने वाले आवरण को (अवधीत्) विनाश करता है (स) वह (इन्द) वशी आत्मा या ऐश्वर्यवान् परमात्मा (शिव) कल्याणमय, (सखा) सब का मित्ररूप हमारे लिये (उरुधारा इव) दूध की बड़ी धार बहाने वाली कामधेनु के समान, (अश्वावत्) इन्द्रियों की शक्ति से सम्पन्न बल और (गोमत्) वेदवाणियों से युक्त ज्ञान और (यवमत्) जव आदि धान्यों से युक्त उत्तम पुष्टिकारक अन्न को एवं समष्टि रूप से अश्वों, गौओं और सस्यादियुक्त ऐश्वर्यों का (दोहते) प्रदान करता है ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

[१४५३] विभ्राड् बृहत्पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविंहतम्।
वातजूतो यो अभिरक्षति त्मना प्रजाः पिपर्त्ति बहुधा
विराजति ॥ १ ॥

[१४५४] विभ्राड् बृहत्सुभृतं वाजसातमं धर्म दिवो धरुणे सत्य-
मर्पितम् । अमित्रहा वृत्रहा दस्युहन्तमं ज्योतिर्जज्ञे
असुरहा सपत्नहा ॥ २ ॥

[१४५५] इदं श्रेष्ठं ज्यानिषां ज्योतिरुत्तमं विश्वजिद्धनजिदुच्यते
बृहत् । विश्वभ्राड् भ्राजा महि सूर्यो दृशं उरु पप्रथे सह
ओजो अच्युतम् ॥ ३ ॥ ५ ॥ अ० १० । १७० । १–३ ॥

भा०—(१) सूर्य के दृष्टान्त से ईश्वर, आदित्य ब्रह्मचारी, योगी और उत्तम राजा का वर्णन किया है । (विभ्राट्) विशेष रूप से चमकने हारा, आदित्य ब्रह्मचारी, योगी (यज्ञपतौ) समस्त ब्रह्माण्ड के उत्पत्ति और ब्रह्मरूप दान आदानमय यज्ञ के स्वामी परमात्मा और प्राणापानाहुतिमय यज्ञ के स्वामी आत्मा में (अविंहतम्) सदा शुद्ध एवं नित्य आपूर्ण, नित्य चलन, अमर (आयुः) जीवन को (दधत्) धारण करता हुआ (बृहत्) बड़े भारी (सोम्य) सोम स्वरूप प्रेरक व शासन शक्ति के साक्षात् करण से प्राप्त (मधु) अमृत ब्रह्मानन्द रस का (पिबतु) पान करे । (यः) जो (वातजूतः) प्राणवायु द्वारा प्रेरित प्रथम (त्मना) स्वयं अपने आप को (अभिरक्षति) रक्षा करता और निरोग होकर (प्रजाः) अपनी इन्द्रियों और प्रजाओं को भी पालन पोषण करता है और (विराजति) विशेष रूप से प्रकाशित होता है ।

१४५४—१ 'प्रजा पुत्रान् पुरुषान् विराजति' इति ऋ० ।

(२) (विश्वभ्राट) विशेष रूप से तेज से प्रकाशमान (बृहत्) विशाल बड़ा भारी (सुभृत) उत्तम रूप से (पलित) पोषित एवं धारित (वाजसातम) ज्ञान और बल प्रदान करने वालों में उत्तम है (धर्म) धारण करने वाला साक्षात् आनन्द का प्रदर्शक आत्मरूप (दिव) समस्त सूर्य एवं द्यौलोक और विद्वानों के (धरुण) आश्रय स्वरूप धारण करने वाले परम आश्रय परब्रह्म में (अर्पितम्) प्रतिष्ठापित (सत्य) सत्य स्वरूप (अमित्रहा) विपरीत ज्ञान वाले शत्रुरूप काम क्रोधादि अन्तः शत्रु और बहिः शत्रुओं का भी नाश करने वाला (वृत्रहा) आत्मा के आवरक अज्ञान और योगसमाधि के विघातक आभ्यन्तर और बाह्य विघातक व्युत्थान वृत्तियों का नाशक (हरिवहत्तम) शरीर आत्मा के उत्तम सम्पदाओं के विनाशक कारणों का नाश करने वाला (असुरहा) प्राणों में रमण करने वाले आसुरी स्वभाव के व्यक्तियों का वश करने वाला (सपत्नहा) प्रतिस्पर्द्धियों का विनाशक (द्युमत्तमः) तेज स्वरूप अर्थात् तेज का धारण करने वाला आदित्य के समान सूर्यव्रतचारी आदित्य योगी (जज्ञे) उत्पन्न होता है ।

(३) वह आदित्ययोगी (इदं) यह (श्रेष्ठं) सर्वोत्कृष्ट (ज्योतिः) तेज (ज्योतिषां) समस्त प्रकाशमान पदार्थों में (उत्तमं) उत्कृष्ट कोटि का (विश्वजित्) सब के विजेता और (धनजित्) सब विभूतियों से भी उत्तम (बृहत्) विशाल (उच्यते) कहा जाता है । वह (विश्वभ्राट) समस्त संसार का प्रकाशक (भ्राट्) सब पापों और पापी पुरुषों का संताप देने वाला स्वयंप्रकाश (महि) बड़ा भारी (सूर्यं) सूर्य के समान सब का प्रेरक सब को प्रकाश देने वाला होकर (अच्युत) अविनाशी (सहः) सहनशील सब के अभिभावक तेज (भ्राट्) और बल को (उरु) बहुत अधिक (पप्रथ) विस्तीर्ण होता है फैलाता है ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१४५६] इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
१ २ ३ १ ३ ३ १ २ ३ १ २ १ २
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥

२ ३ १ २ ३ १ १ ३ २ १ २ ३ १ २
[१४५७] मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्यो मा शिवासोऽवक्रमु ।
१ २ ३२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
त्वया वयं प्रवतः शश्वतीरपोऽति शूर तरामसि ॥२॥६॥

ऋ० ७ । ३२ । २६ २७ ॥

भा०—(१) हे इन्द्ररूप योगिन् आदित्य ! अथवा परमेश्वर (यथा) जिस प्रकार (पुत्रेभ्य) अपने पुत्रों के लिये (पिता) उनका पालक समस्त आवश्यक भोजन वस्त्रादि पदार्थ लाता और उनको शिक्षा देता है उसी प्रकार आप भी (नः) हमें (ऋतु) ज्ञान बल और कर्म को (आ हर) उपदेश करके प्राप्त कराइये और (अस्मिन्) इस जीवनमय ऋतुरूप यज्ञ में हे (पुरुहूत) बहुतसी प्रजाओं से याद किये गये सर्व स्मरणीय, परमात्मन् ! (नः शिक्ष) हमें शिक्षा दो । हम (जीवाः) जीवगण (यामनि) तेरी सिखाई ज्ञान प्रकाशमय व्यवस्था में रह कर (ज्योतिः) जीवन प्राण और ज्ञानमय ज्योति का (अशीमहि) भोग करें देखो अविकल सं० [२५६] भी ।

(२) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! हे गुरो ! (अज्ञाता) बिना ज्ञान पहिचान लुक छिपे चोर (वृजना) पापी (दुराध्यः) दुष्ट, कूट षड्यन्त्र करने हारे कुटिलाचारी (अशिवासः) अमङ्गलकारक, नीच पुरुष और दुष्ट भाव (नः) हमें (मा अवक्रमुः) कभी न दबा सकें । हे (शूर) शूरवीर ! शत्रुओं को दमन करने में बड़े बलवन् प्रभो ! (त्वया) तुझ सहायक को पाकर (वयं) हमें (प्रवतः) अति विनयशील होकर भी (शश्वतीः) बहुत से (अपः) कार्यों को (अतितरामसि) निर्विघ्न समाप्त करें ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४५८] अद्याद्या श्व श्व इन्द्र स्तोम्य परे च न ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
विश्वा च नो जरितृन्त्सत्पते महो दिवो नक्तं च रक्षिषः ॥३॥

३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[१४५६] प्र भङ्ग्दि शूरो मघवा तुवीमघ सम्मिश्लो वीर्याय कम् ।
३ १ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १ २
उभा ते बाहू वृषणा शतक्रतो नि या वज्रं मिमिक्षतुः ॥२॥७॥
ऋ० ८ । ६१ । १७, १८ ॥

भा०—(१) हे इन्द्र ! परमात्मन् ! (नः) हमें (अद्य अद्य) सब आज अर्थात् वर्तमान में और (श्व श्वः) सब कल अर्थात् आगामी दिनों में (परे च) सब परसों के दिनों में (अस्य) रक्षा कर । हे (सत्पते) सज्जन प्रतिपालक प्रभो ! आप ही (विश्वा च अहा) सभी दिनों और (दिवा नक्तं च) दिन और रात भी हमारी (रक्षिषः) रक्षा किया करते हो ।

(२) (मघवा) समस्त धनों का मालिक (तुवीमघः) ऐश्वर्यवान् (संमिश्लः) सब को मिला देने हारा, सबमें समान भाव से व्यापक, (प्रभंगी) बड़े वेग से शत्रुओं और दुष्ट विचारों को तोड़ फोड़ देने हारा, शूर, परमेश्वर विक्रमशील होने से ही (वीर्याय कम्) बल वर्धन करने के लिये समर्थ होता है । हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रज्ञाओं से युक्त (ते) तेरी (उभा बाहू) वीर पुरुषों की दोनों बाहुओं के समान विघ्नों को बचाने वाली ज्ञान और कर्म दोनों शक्तियां (वृषणा) नाना सुखों को वर्षाने हारी हैं (या) जो (वज्रं) वज्र को (मिमिक्षतुः) धारण करती हैं ।

परमात्मा के पक्ष में बाहू=ज्ञान और कर्म, वज्र=कर्म, बंधन को काटने हारी विद्यारूप असि । जीव के पक्ष में बाहू=प्राण और अपान । वज्र=ज्ञानासि या चितिशक्ति या वैराग्य । राजा के पक्ष में वज्र=तलवार, शस्त्रास्त्र ।

इति तृतीयः खण्डः ।

---

३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २
[१४६०] जनीयन्तो न्वग्रवः पुत्रीयन्त सुदानवः ।
१ २
सरस्वन्तं हवामहे ॥ १ ॥ ८ ॥ ऋ० ७ । ९६ । ४ ॥

भा०—(१) (जनीयन्त) पुत्रोत्पादन के निमित्त भार्याओं की कामना करते हुए और (पुत्रीयन्त) उनमें पुत्रों की कामना करने हारे होकर भी (अग्रुवः) उन्नतिशील और (सुदानव) उत्तम दानी होकर हम लोग (सरस्वन्तं) समस्त आनन्दरस के सागररूप तुझ परमात्मा को (हवामहे) नित्य स्मरण करते हैं।

[१४६१] उत नः प्रिया प्रियासु सप्त स्वसा सुजुष्टा।
सरस्वती स्तोम्याभूत् ॥ ६ ॥ ६ ॥ अ० ६ । ६१ । १० ॥

भा०—(१) (उत) और (नः प्रियासु) हमारी प्रेमपात्री, प्यारियों के बीच में (प्रिया) सबसे अधिक प्रिय (सरस्वती) स्वतः सरण करने हारी अथवा ब्रह्मानन्द रस से भरी पूरी (सप्त-स्वसा) २ आंख, २ नाक, २ कान, १ रसना, इन सात स्वतः सरण करने हारी सात ज्ञान-धाराओं के बीच एकमात्र आठवीं भगिनी के समान बहने वाली वाणीरूप सरस्वती (नः) हमारी (स्तोम्या) स्तुति करने योग्य (अभूत्) है। अथवा (सप्तस्वसा=सप्त छन्दांसि) सात छन्दों वाली वेदवाणी स्तुति करने हारी है।

[१४६२] तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ १ ॥ अ० ३ । ६२ । १० ॥

[१४६३] सोमानां स्वरणं कृणुहि० ॥ २ ॥ अ० १ । १८ । १ ॥

[१४६४] अग्न आयूंषि पवसे० ॥ ३ ॥ १० ॥ अ० ६ । ६६ । १६ ॥

भा०—यही मन्त्र ब्रह्मगायत्री, गुरुमन्त्र, वेदमाता सावित्री आदि नामों से कहा जाता है। (तत्) उस (सवितुः) सर्व जगत के प्रेरक, उत्पादक (देवस्य) स्वतः प्रकाशमान सूर्य के प्रकाशक सुखसुरों के दाता परमेश्वर के

१४६३—क्वचित् पुस्तकेषु द्वितीयतृतीययोरृचोः पूर्णः पाठो दृश्यते। ऋग्वेदे तु संहितायां प्रतीकमात्रमुपलभ्यते इति तदेवात्रापि लिखितं शिष्टाचारात्।

(वरेण्य) सर्वोत्कृष्ट, वरण करने योग्य अनुपम, (भर्ग) अविद्या, अज्ञान, काम क्रोध लोभ, मोह आदि अन्धकार से पैदा होने वाले तामस अकुरों को अग्नि और सूर्य के प्रखर तेज के समान भस्म कर डालने वाले तेज का हम (धीमहि[1]) ध्यान करें, धारण करें (य) जो परमेश्वर (न) हमारी (धिय) बुद्धियों और कर्मवृत्तियों को (प्रचोदयात्) उत्तम सन्मार्ग में प्रेरित करता है ।

गोपथ ब्राह्मण में गायत्री मन्त्र एक मनन करने योग्य व्याख्या इस प्रकार की है ।

' यदारब्धं दासि सवितुर्वरेण्य भगो देवस्य कवयोऽन्नमाहु ।
कर्माणि धियस्तदु त ब्रवीमि प्रचोदयात् सविता याभिरेति ॥"

उस उत्पादक परमात्म देव का परम वरणीय भर्गरूप तेज 'वेद' 'छन्द' है जिसको कवि विद्वान् लोग अन्न' कहते हैं । और धिय ' का तात्पर्य कर्म' है हे शिष्य ! यही मैं तुझको उपदेश करता हूं कि उन कर्मों द्वारा ही परमात्मा सबको प्रेरित करता है । *

(२) व्याख्या देखो अविकल सं० १२६] पृ० ७६ ।

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [६२७] पृ० ३१६ ।

---

१ धीमहि ध्यायेम धारयेम इति सायण । आत्म रूप ध्यायेत परम चिन्तयेदिति आचार्य । धन्य प्रवचन

* इस गायत्र मन्त्र का पं० हरिशरण जी का किया निम्नलिखित अनुवाद उद्धरण का है—

हम (तत्) उस (वरेण्य भर्ग) श्रेष्ठ सविता परमात्मा के (भर्ग) तेज का (धीमहि) ध्यान करते हैं जो (देव) सब को प्रकाशित करता है जो (सविता) सब को उत्पन्न करता है और जिससे सब उत्पन्न होते हैं, और जिसमें (भर्ग) सब लीन होजाते हैं जो (न धिय) हमारी बुद्धियों को (योग्य) परमात्म के प्राप्त करने के लिये (प्रचोदयात्) प्रेरणा करता रहता है ।

१ २ ३ १ २
[१४६५] ता न शक्त पार्थिवस्य० ॥ १ ॥
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २
[१४६६] ऋतमृतेन सपन्तेषिरन्दक्षमाशाते ।
३ १ २ ३ १ २
अद्रुहा देवौ वर्द्धेत ॥ २ ॥
३ १ २ क २ ३ २ ३ १ २
[१४६७] वृष्टिद्यावा रीत्यापस्पती दानुमत्या ।
१ २ ३ १ २
वृहन्त गर्तमाशात ॥ ३ ॥ ११ ॥ अ० ५ । ६८ । ३-५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [११४३] पृ० ५६७ ।

(२) राजा मन्त्री जीवात्मा मन, परमात्मा जीवात्मा, प्राणापान, सूर्यवायु, यजमान, अध्वर्यु सूर्य, पृथिवी, गुरु शिष्य आदि का वर्णन है । वे दोनों मित्र और वरुण (अद्रुहौ) परस्पर द्रोह न करते हुए (देवौ) प्रकाशमान ज्ञान से स्वयं प्रकाशित होते, एवं दूसरे का भी प्रकाशित करने हारे या परस्पर एक दूसरे के आकांक्षी (ऋत) सत्यज्ञान को (ऋतेन) वेद ज्ञान से (सपन्ता) प्राप्त करते हुए (इषिर) सबके प्रेरक (दक्ष) बल को (आशात) प्राप्त कर लेते हैं । अध्यात्म पक्ष में—' (ऋत) सत्य ज्ञान को (ऋतेन) ब्रह्म से " प्राणापान पक्ष में—(ऋत) आत्मा को (ऋतेन) तप से इत्यादि पूर्ववत् ।

(३) द्यौ मित्र और वरुण (वृष्टिद्यावा) वर्षण और प्रकाश से युक्त (रीत्यापा) गति या ज्ञान द्वारा ही इष्ट का प्राप्त करने हारे अथवा जलों के समान कर्म और ज्ञानों का बहाने हारे (दानुमत्या) दान देने योग्य (इष) चेतनादायक अन्न के (पती) स्वामी होकर (वृहन्त) विशाल (गर्त्तम्[1]) उत्तम दृढ़रूप या ब्रह्माष्ट रथ में (आशाते) व्याप्त रहते हैं । राजा, मन्त्री पक्ष में (गर्त्त) उत्तम राष्ट्र या विजयरथ ।

१४६६—रथोऽपि गर्त उच्यते गृह्यते स्तुतिकर्मण स्तुततम यास्कः (नि० ३ । ५)

३ १ २ ३ १२३१ २१ ३ १ २ ३ १ २
[१४६८] युञ्जन्ति ब्रध्नमरुष चरन्तं परितस्थुषः ।
१ २ ३ २ ३ २
रोचन्ते रोचना दिवि ॥ १ ॥
३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४६९] युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे ।
१ २ ३ २ ३ १ २
शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ २ ॥
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४७०] केतुं कृण्वन्नकर्दवे पेशो मर्या अपेशसे ।
२ ३ १ २
समुषद्भिरजायथा ॥ ३ ॥ १२ ॥ अ० २ । ६ । १–३ ॥

भा०—(१) जो विद्वान् साधक योगी लोग (तस्थुष) स्थिर आसन होकर (परिचरन्तं) समस्त देह में गति करने हारे, (अरुष) सब मर्मस्थानों में विराजमान, उनका नाश न करने हारे (ब्रध्नं) विशाल सब इन्द्रियगण को अपने वश से बांधने और उनको चलाने हारे मुख्य प्राण को (युञ्जन्ति) योगाभ्यास द्वारा प्राप्त करते हैं वे (रोचना) कान्तिमय पद होकर (दिवि) सात्विक ऊर्ध्व स्थान, ज्ञान-प्रकाशमय मोक्ष में (राजन्ते) विराजते और शोभा पाते हैं या (दिवि) मूर्धास्थान में विशेष तेज से प्रकाशमान होते हैं । अथवा—जो विद्वान् योगी तस्थुष परिचरन्त) समस्त स्थावर और जंगम पदार्थों में व्यापक (अरुष) सब के प्रति चाहवान् ब्रध्न) सर्वाश्रय सबसे महान्, ब्रह्मस्वरूप परमेश्वर को (युञ्जन्ति) योग समाधि द्वारा प्राप्त करते हैं वे (दिवि) प्रकाशमान मोक्ष स्थान में (रोचना) तेजोमय होकर (राजन्ते) विराजमान होते हैं ।

अथवा, जो शिल्पविद्या की सिद्धि के लिये (ब्रध्न) सूर्य को, (अरुषं) अग्नि को, (चरन्त) वायु को सम्यक् रीति से कार्य में नियुक्त करते हैं वे प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं और आनन्द लाभ करते हैं ।

महर्षि दयानन्द प्रदर्शित दिशा से ये तीनों अर्थ स्पष्ट हैं।

(२) (अस्य) जिसको पूर्व मन्त्र में 'अध्न' कहा है जो सूर्य आदि शब्दों से भी सम्बोधित होता है उस मुख्य प्राणात्मा रूप इन्द्र के (रथे[1]) रमण करने के साधक इस देह रूप रथ में (काम्या) कान्तिसम्पादक व कमनीय, रुचिकर, प्रिय, (हरी) हरणशील (विपक्षसा[2]) नाना प्रकार से शरीर को धारण करने हारे अथवा विविध पार्श्वों में गति करने हारे (शोणा) स्वत· गतिशील, (धृष्णू) शरीर को धारण करने हारे, दृढ़, (नृवाहसा) *नेतास्वरूप आत्मा के वाहनरूप प्राण और अपान दोनों को* जो योगाभ्यास द्वारा (युञ्जन्ति) लगाते हैं, वश कर लेते हैं वे प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं। सूर्यपक्ष में—(हरी) हरणशील आकर्षण और वेगगुण। राजा पक्ष में—(रथे) युद्धोपकरण रथ परमात्मापक्ष में—(हरी) सूर्य और वायु। सभी सम्प्रदायवादियों ने अपने सर्व·व्यापक इष्टदेव के ब्रह्माण्डमय विशाल रथ की कल्पना की है। जिसमें जगन्नाथ का रथ और विष्णु का रथ दर्शनीय हैं।

(३) हे (मर्या) मनुष्य लोगो ! मरणशील मनुष्यो ! या जन्तुगण ! जिस प्रकार (उषसि) अपनी दाहक रश्मियों से (अकतवे) निद्रा में अचेत प्राणी के लिये (केतु) प्रात चेतना करता हुआ और (अपेशसे) अरूप अर्थात् प्रकाश के अभाव में अदृश्य पदार्थों को (पेश) रूपवान् अर्थात् दृश्यमान करता हुआ उदित होता है उसी प्रकार यह आत्मा भी (अकेतवे) ज्ञान रहित इस देहादि सघात के निमित्त (केतुं) ज्ञान, चेतना प्रकट करता हुआ और (अपेशसे) रूप रहित अपने लिये (पेश)

---

१. रथो रहतेर्वागति कर्मण, स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिन्निति वा रतेर्वा रसतेर्वा। (निरु० ९। ११)

२. विपक्षसा—पक्ष परिग्रहे (भ्वादि·)

इस देह को रूपवान् (कृणवत्) करता हुआ (समुपद्भि.) संताप देने हारे कर्म विपाकों द्वारा पुनः (अजायथा.) उत्पन्न होता है। अथवा—हे जीवो ! आत्मा अचेतन देह को चेतन और अरूप अपने आपको सरूप करता हुआ कर्मफलों से पुनः उत्पन्न होता है।

इति चतुर्थः खण्डः ।

---

३१२ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४७१] अयं सोम इन्द्र तुभ्यं सुन्वे तुभ्यं पवते त्वमस्य पाहि ।
२ ३१ २ ०११ २ ३१२ ३ १ २३ १ २ ३ १ २
त्वं हर्यं चकृषे त्वं वसूय इन्दुं मदाय युज्याय सोमम् ॥१॥
२ ३ २ ० १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २
[१४७२] स ईं रथो न भुरिषाडयोजि महः पुरूणि सातये वसूनि ।
२ ३ १ २ ०८ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आदीं विश्वा नहुष्याणि जाता स्वर्षाता वन ऊर्ध्वा नवन्त ॥२॥
३ २१ ३ १२ २१ ३ १ २ ३ २ ३
[१४७३] शुभ्रो न शर्धो मारुतं पवस्वानभिशस्ता दिव्या यथा
२ २ ३ २ ३ १ २३ १ २ ३ १ २ ३
विट् । आपो न मक्षू सुमतिर्भवा नः सहस्राप्साः पृतना-
२१ ३ २
षाड् न यज्ञ ॥ ३ ॥ १३ ॥ ऋ० ९ । ८८ । १, २, ७ ॥

भा०—(१) हे इन्द्र ! आत्मन् ! परमात्मन् ! (अयं सोमः) यह सोम, आनन्दादि सम्पन्न योगी (तुभ्यं) तेरे लिये (सुन्वे) साधना करके निष्पन्न होता है। (तुभ्यं पवते) तेरी प्राप्ति के लिये यत्न करता है। (यं) जिसको (त्वं) तू (चकृषे) बनाता है और (त्वं वसूयसे) तू ही आनन्द देता है या वरण करता है उस (इन्दुम्) ऐश्वर्य और तप से युक्त (सोमम्) आनन्दादि साधन सम्पत्ति से युक्त पुरुष को। (मदाय) आनन्दप्राप्ति, मोदलाभ और (युज्याय) अपने संग रखने अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये (त्वं) तू (अस्य पाहि) उसको विघ्नों से बचाता है।

१४७२—'न नभन्त मह.' इति ऋ० ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥
(कठोपनि० १ । १२ । २२)

(२) (स.) वह सोमरूप योगी (वसूनि) इस में वास करने हारे (पुरूणि) इन्द्रियों को (रथ. न) स्थिर, स्थाणु के समान (भूरिपाट्) अति अधिक सहनशील होकर (महः सातये) तेज को प्राप्त करने के लिये (अयोजि) योग साधन में लग जाता है । (आत् ईम्) और अनन्तर (वने) अभिलाषा के योग्य (स्वर्वती) इस परम सुख की प्राप्ति के कार्य में (मनुष्याणि) मनुष्यों को प्राप्त होने योग्य (विश्वा) समस्त (ऊर्ध्वा) उत्कृष्ट (जाता) पदार्थ आपसे आप उसको (नवन्त) प्राप्त हो जाते हैं । यद्वा-(स भूरिपाड् महः पुरूणि वसूनि सातये रथ इव अयोजि) जब वह अति सहनशील विशाल-आत्मा वाला योगी बहुत विभूति, ऋद्धि, सिद्धि की प्राप्ति के लिये संग्रामरथ के समान योगसमाधि में लग जाता है । (आत् ईं विश्वा मनुष्याणि ऊर्ध्वा जाता नवन्त) तब ही समस्त मानुष उत्कृष्ट भोग्य ऐश्वर्य स्वतः उसके आगे आ झुकते हैं । इसका स्पष्टीकरण देखो । (छान्दोग्य उप० अ० ८ । ख० १२)

(३) हे सोम ! आत्मन् ! आत्मयोगिन् ! आप (मारुतं) प्राणों के (शर्धः न) प्राणबल के समान (पवस्व) इस देह को गति देते और (यथा) जिस प्रकार (दिव्या) दिव्यगुण युक्त (विट्) प्रजारूप प्राणेन्द्रिय गण (अनभिशस्ता) अनिन्दित और अखण्डित है उसी प्रकार आप भी अखण्डित और अनिन्दित हैं । आप (आप न) जलों के समान (मदू) शीघ्रगामी, मनोवेग से इन्द्रिय प्रणालिकाओं में बहते हो, अतः आप (सहस्रापसः[1]) अनेकों रूप होकर (पृतनाषाट् न) युद्ध

१. अप्स इति रूप नाम (निघ० ३ । ७ । ६)

विजयी सेनापति के समान इस देहरूप वेदी में होने वाले यज्ञ में यज्ञमानस्वरूप (यज्ञ [२]) आत्मा होकर आप (न) हमारे लिये (सुमति) शुभ सङ्कल्प युक्त (भव) रहो ।

[१४७४] त्वमग्ने यज्ञाना होता विश्वया हित ।
देवेभिर्मानुषे जने ॥ १ ॥

[१४७५] स नो मन्द्राभिरध्वरे जिह्वाभिर्यजा महः ।
आ देवान्वक्षि यक्षि च ॥ २ ॥

[१४७६] वेरथा हि वेधा अजस्रा पथश्च देवाञ्जसा ।
अग्ने यज्ञेषु सुक्रतो ॥ ३ ॥ १४ ॥ ऋ० ६ । १६ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२] पृ० २ ।

(२) हे परमेश्वर ! आत्मन् ! (स) वह आप (मन्द्राभि) स्तुति के योग्य हर्षजनक, उपादेय प्रशंसनीय (जिह्वाभि) जिह्वाओं वाणियों से या आदान प्रतिदान करनेहारी इन्द्रियों एवं पञ्चभूतमय शक्तियों से (महः) महान् होकर (अध्वरे) हिंसारहित व्यवहार एवं एक दूसरे की सत्तानाश न करनेहारी व्यवस्था में (यज) इस ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थों को सङ्गत करते और परस्पर मिलाते हो । और (देवान्) पञ्चभूतों, विद्वानों और इन्द्रियगण को (आयक्षि) आप अपनी शरण में लेकर उन्नति

---

२ यज्ञ इति आत्मना महता भूतेन गच्छन्ति परिषदित यज्ञ आत्मा भवति यज्ञेन तन्वते" (नि० पार० ब्रा० २ । ११)

१४७६—१ जिह्वाभिर्ज्वालाभिरिति सायण । कालयादिभिरस्पि क्वचित् क्वचित् । कली करालीं च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा । स्फुलिङ्गिनी विश्वरुचीति सप्त जिह्वा अग्नेरुदानिषन्तु प्रसिद्धा । लक्ष्मी दृष्टमी चित्तरक्षते । आध्यात्मिक चित्तेरेव इन्द्रियवर्तिन्यो वृत्तयो भवन्ति ।

क मार्ग में ख़ज़ात और (यक्षि च) सगत करत तथा उनका उनकी अभीष्ट वस्तु प्रदान करत हा ।

(३) हे (अग्न) विद्वन् ! और परमात्मन् ! ह (सुक्रतो) शुभज्ञान और जगत् रचन आदि नाना कर्मों स सम्पन्न ! ह (देव) प्रकाशक ! ह (वध) समस्त ससार क विधाता ! आप (यज्ञेषु) समस्त प्रकार क यज्ञों और आत्माओं में (अरवन) समस्त बड़ मार्गों और (पथ) लघु मार्गों को भी (अञ्जसा) उत्तम रीति स (च य) जानन हार हा हमें भी उनका ज्ञान कराआ ।

१ २ ३१४ २२ ३३ २ ३ १ २
[१४७७] होता दवो अमर्त्य पुरस्तादेति मायया ।
३ १ २ ३ १ २
विदथानि प्रचोदयन् ॥ १ ॥
४ १२ २ ३ २ ३ १ २
[१४७८] वाजी वाजेषु धीयतेऽधवरेषु प्रणीयते ।
१ २ ३ २ ३ १ २
विप्रा यज्ञस्य साधन ॥ २ ॥
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१४७९] त्रिया चक्र उरुणयो भूनाना गर्भमादध ।
१ २ ३ २ ३ १ २
दक्षस्य पितर तना ॥ ३ ॥ १५ ॥ अ० १ । २७ । ७-९ ॥

भा०—(१) (अमर्त्य) मरणरहित अमर (दव) सबका प्रकाशक परमात्मा (विदथानि[1]) ज्ञान करन याग्य उत्तम कर्मों और आत्मतत्वों का (प्रचोदयन्) हृदय में प्रेरित करता हुआ (मायया[2]) विशेष ज्ञानशक्ति या बुद्धि स (पुरस्ताद्) साक्षात् (एति) प्रत्यक्ष होता है ।

(२) (वाजी) बलवान् और ज्ञानवान् पुरुष (वाजेषु) बल क कार्यों में (धीयते) नियुक्त किया जाता है और उसी प्रकार का ज्ञानवान्

१ विदथानि वेदितव्यानि इति सायण ।

२ मायया, कर्मविषयाभिज्ञानेन इति सायण ।

बलशाली पुरुष (अध्वरेषु) परस्पर की हिंसादि से रहित व्यवस्थापन आदि कार्यों में (प्रणीयते) विशेष रूप से नियुक्त किया जाता है, क्योंकि (यज्ञस्य) दान, यज्ञ, तप, स्वाध्याय एवं संगतिकरण आदि सत्कार्यों को (साधनः) साधन करने हारा (विप्रः) ज्ञानवान् विपश्चित् पुरुष होता है ।

(३) पूर्व मन्त्र में विप्र, वाजी आदि शब्द से कहा गया विद्वान् ही (धिया) अपने धारण ज्ञानशक्ति और कर्म सामर्थ्य के कारण (वरेण्यः) सबसे वरण करने योग्य, सबसे श्रेष्ठ होकर (चक्रे) काम करे । वही (भूतानां) सब पदार्थों और प्राणियों को (गर्भं) अपने वश में (आदधे) धारण करता है । और उसको (दक्षस्य) सर्वशक्तिमान् परमात्मा की (तना) उत्पादित प्रजा, उस (पितरं) अपने पालक को पिता के समान (आदधे) धारण करती जानती और मानती है ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

२ ३ १ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४८०] आ सुते सिञ्चत श्रियं रोदस्योरभिश्रियम् ।
३ १ २ ३ २
रसा दधीत वृषभम् ॥ १ ॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ २
[१४८१] नू जानत स्वमोक्या३सं वत्सासो न मातृभिः ।
३ १ २ ३ १ २
मिथो नसन्त जामिभि ॥ २ ॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१४८२] उप स्वराजेषु वप्सनः कृण्वते धरुणं दिवि ।
१ २ ३ २ ३ २
इन्द्रे अग्ना नमः स्वः ॥ ३ ॥ १८ ॥ ऋ० ८ । ७२ । १३-१५ ॥

भा०—(१) (सुते) उत्पन्न, या उत्पादित अर्थात् माता पिता और आचार्य से शिक्षित पुत्र में अभिषेक योग्य राजा के समान (रोदस्योः)

मा बाप के (अभि) आश्रित (श्रिय) सम्पत् साधनों को (आसिञ्चत) प्राप्त कराओ और (रसा) रसमय सारिष्ट पदार्थों में जिस प्रकार अग्नि को नीचे रखकर उनको परिपक्व किया जाता है उसी प्रकार सारयुक्त स्थलों में उस (वृषभ) सुखों के वर्षक बलवान् पुरुष को आश्रयरूप से ही (आदधीत) नियुक्त करो। अध्यात्म पक्ष में—(रोदस्योरभिश्रिय सुते आसिञ्चत) प्राण और अपान में आश्रित बल को साधित चित्त में धारण करो और (वृषभं रसा आदधीत) अग्निस्वरूप आत्मा को आनन्द रस में प्राप्त कराओ।

सायण ने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है (सुतं श्रियं आसिञ्चत) गौ के दुग्ध में बड़ी बकरी का गरम दूध डालो जो (रोदस्योरभिश्रियम्) खूब उफान खाकर हो और फिर मिले दूध में आच दो। आश्चर्य !

(२) (वत्सासः) जिस प्रकार बछड़े (जामिभिः) अपनी २ पैदा करने हारी (मातृभिः) माताओं से (मिथः) परस्पर (नसन्त) मिल जाते हैं उसी प्रकार वे पुत्रादि भी अपने बन्धुओं से स्नेहवश मिले रहते हैं और (स्वे) अपने (ओक्ये) एक ही प्रदेश में रहने वाले बन्धुवर्ग को (सं जानते) भली प्रकार जान लेते हैं और उनके साथ ही मिल जाते हैं। अध्यात्म में—(ते) वे प्राण प्रमातृरूप इन्द्रियों से इसी प्रकार मिल कर रहते हैं जैसे बछड़े अपनी उत्पादक माताओं से। और उन इन्द्रियों को वे दशों प्राण अपने स्थान के नित्यवासी जान कर उनसे एक हो रहते हैं।

(३) (स्रक्वेषु) सर्जन स्थानों में या इन्द्रिय प्रदेशों में या काली आदि ज्वालाओं में (वप्सतः) भक्षण करते हुए ग्रहण या प्रलय करते हुए उस अग्निरूप महान् आत्मा को विद्वान् पुरुष (दिवि) ज्ञान-प्रकाश में सूर्य के समान (धरुणं) उसको धारक बल या आश्रय रूप से (उप क्षयन्ते) स्वीकार करते हैं। उस (अग्निं) अग्निस्वरूप, पाप दहन करने

हारे, ज्ञानवान् परमेश्वर को (इन्द्रे) इन्द्ररूप आत्मा में भी (नम) बल और (स्व) सुख और आनन्दरस (उप कृण्वते) उपासना करते हैं।

सामाजिक पक्ष में—(स्वपु) आमोद प्रमोद स्थलों में विहार करते हुए उस नवयुवक रूप अग्नि को विद्वान् उच्च प्रतिष्ठा देते हैं और तभी वह पालन पोषण के भार का अपने में धारण करके बल और पारिवारिक सुख को प्राप्त करता है।

इस प्रकार इन मन्त्रों में सामाजिक एवं आध्यात्मिक परिवार का उत्तम वर्णन किया गया है।

[१४८३] तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः ।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यं विश्वे मदन्त्यूमाः ॥१॥

[१४८४] वावृधान शवसा भूर्योजा शत्रुर्दासाय भियसं दधाति।
अयमनश्च व्यनश्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु ॥ २ ॥

[१४८५] त्वे क्रतुमपि वृञ्जन्ति विश्वे द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः ।
स्वादो स्वादीय स्वादुना सृजा समदं सुमधु मधुना
पितो पीं ॥ ३ ॥ १६ ॥ अ० १० । १२ । ४, २ ॥

भा०—(१) (तत्) वह परम आत्मा (इत्) ही (भुवनेषु) इन समस्त लोकों में (ज्येष्ठ) सब से अधिक प्रशस्त, उत्कृष्ट, वर्णनीय (आस) है, (यत) जिससे (स्वपनृम्ण) कान्ति दीप्ति से युक्त बल शाली (उग्रः) तेजस्वी, विशाल शक्तिशाली सूर्य और उसके समान तेजस्वी पुरुष (जज्ञ) उत्पन्न होता है। (सद्य जज्ञान) उत्पन्न होकर ही वह (शत्रून्) शत्रुओं और पापों को (निरिणाति) दूर करता है (य अनु) जिसका देखकर (विश्व) समस्त (ऊमा) जीव प्रजागण (मदन्ति) हर्षित होते हैं।

(२) वह परमात्मा (शवसा) अपने महान् सामर्थ्य, बल से विक्रमशील, प्रतापी होकर (शत्रु) विघ्नों का शातन करनेहारा (दासाय) विनाश करनेहार पापी जन के लिये (भियसं) भीति, डर (दधाति) उत्पन्न करता है और (अन्यनत्) स्थावर पदार्थ जो विशेष रूप से प्राण नहीं लेते और (व्यनत् च) चेतन प्राणी जो नाना प्रकार से प्राण लेते हैं उन को (सासि) पवित्र करता है निहलाता है अर्थात् उनमें भी स्वत नाना गुणों द्वारा व्यापक होता और उनको पवित्र करता है। हे इन्द्र ! (ते) ये सब (प्रभूता) उत्तम रूप से तेरे द्वारा धारण, पालन पोषण किये गये स्थावर और जगम सब पदार्थ (मदयु) हर्ष में मग्न होकर (ते) तेरे आगे (नशन्त) झुकते और तेरी महिमा गाते हैं।

(३) (त्वे) तुझमें (अपि) ही (विश्वे एते जनाः) समस्त ये भूत, प्राणिगण (यद्) जब (द्वि) एक से दो और (त्रि) दो से तीन होजाते हैं तब भी वे (क्रतु) अपन उत्तम प्रज्ञान को (वृञ्जन्ति) तुझ पर ही व्यय कर देते हैं अर्थात् समस्त पृथिव्यादि भूत और सब प्राणियों के चित्त और सब यज्ञ क्रतु तुझ पर ही समाप्त होजाते हैं। हे इन्द्र ! (स्वादोः) आनन्द देने वाले प्रिय धनादि से भी (स्वादीयः) बहुत अधिक आनन्ददायक, प्रिय पदार्थ, पुत्र आदि को (स्वादुना) आनन्ददायी पति के प्रति पत्नी और पत्नी के प्रति पति के द्वारा (सृज) उत्पन्न कर। और (अद) उस (मधु) अति आनन्ददायी सन्तान को भी (सुमधुना) उत्तम प्रिय पदार्थ पुत्रवधू एवं पौत्र आदि से (आभिषोषी) आनन्द प्रसन्न कर। जैसा ब्राह्मण ग्रन्थों में आया है त्वयि इमानि सर्वाणि भूतानि मनांसि सर्व यज्ञक्रतव एवं वृञ्जन्ति।" तुझ में ही समस्त भूत सब मन और सब यज्ञ आदि समाप्त होजाते हैं। पुरुष ही स्त्रीरूप में भी रहता है क्योंकि विवाह के पश्चात् स्त्री भी उसका आधा अङ्ग होजाती है। श्रुति भी है "अर्धो वा एष आत्मनो यत् पत्नी" (शत०) और पुत्र भी उस पुरुष का ही सीमा रूप

है जैसे वेद में—"आत्मा वै पुत्रनामासि" (शत०) दो से तीन होजाते हैं जैसे—"द्वौ द्वौ सन्तौ मिथुनौ प्रजायेते प्रजापत्या" । "पुत्रो ह स्वादु" पत्नी के प्रति पति और पति के प्रति पत्नी ही स्वादु है जैसे-"मिथुन वै स्वादु, प्रजा स्वादु" इत्यादि (शत०) । अध्यात्म पक्ष में—स्वादु=देहादि संघात से प्राप्तव्य सुखोपभाग । उससे भी अति आनन्ददायक स्वादीयः= ब्रह्मानन्दरस को स्वादुना=प्रिय रूप आत्मा से (स सृज) संगत कर । (अद सुमधु) अति मधुर इस अमृत आत्मा को (मधुना) उस परम अमृत, आत्मा या परमेश्वरदर्शन या साक्ष से मिला, आनन्दित कर ।

[१४८६] त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृपत्सोममपिबद्विष्णुना सुत यथावशम् । स ईं ममाद महिकर्म कर्त्तवे महामुरुं सैनं सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दु सत्यमिन्द्रम् ॥ १ ॥

[१४८७] साकं जात क्रतुना साकमोजसा साकं वृद्धो वीर्यैः साकमायवे साकं वृद्धा सासहिमृधा विचर्षणि । दाता राधः स्तुवते काम्यं वसु प्रचेतन सैनं सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम् ॥ २ ॥

[१४८८] अध त्विषीमाँ अभ्योजसा क्रविं युधाभवदा रोदसी अपृणद्यस्य मज्मना प्रवावृधे । अधत्तान्यं जठरे प्रमरि च्यत प्रचतय सैनं सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम् ॥ ३ ॥ २० ॥ ऋ० २ । २२ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४१७] पृ० २२८ ।

१४८७—'यथावशम्' इति ऋ० ।

१४८८—क्रविं इति । तिसृषु ऋक्षु "सत्यमिन्द सत्यमिन्दुः" इति विपर्यस्त. ऋ० ।

इस देहमन्थन में (हरय) गतिशील (अरुषी) रक्त वर्ण की धारायें इस भूलोक में जल धाराओं के समान (ससृज्रिरे) नदियों के समान गति कर रही हैं और उस पर (अधि) अधिकार कर रही हैं (यत्र) जिस देह में रह कर हम इन्द्रियगण तथा विद्वान्जन (अभिसनवामहे) उस आत्मरूप इन्द्र की साक्षात् महिमा का अनुभव करते और गान करते हैं अर्थात् जिस देह में हम उस इन्द्र के साक्षात् अधीन रहते हैं ।

ईश्वर पक्ष में-बर्हि =यह संसार, अरुषी=कान्तिमान्, हरय =सूर्यसदृश गतिमान् पिण्ड ।

(३) (गाव) ये सब गतिमान् रक्तधारायें तथा इन्द्रियगण (इन्द्राय) इस इन्द्ररूप आत्मा के लिये (आशिरम्) उसके जीवन के आधाररूप (मधु) हर्ष कर उस शुक्र या ज्ञान को (दुदुह्रे) उत्पन्न करती हैं, (यत्) जिसको वह इन्द्र (उपह्वरे) भीतरी हृदय काश में (सीम्) सब ओर से (विदत्) प्राप्त करता है ।

ईश्वर पक्ष में—ये गतिमान् तेजस्वी पिण्ड (आशिर) समस्त ब्रह्माण्ड के आधाररूप (मधु) शक्ति को उत्पन्न करते हैं जिसको वह इस ब्रह्माण्ड में धारण किये हैं ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४९२] आ नो विश्वासु हव्यमिन्द्र समत्सु भूषत ।
२ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहन् परमज्या ऋचीषम ॥१॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१४९३] त्य दाना प्रथमा राधसामस्यसि सत्य ईशानकृत् ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
तुविद्युम्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शवसो महः ॥२॥२

ऋ० ८ । ६० । १-२

भा०—(१) हे विद्वान् पुरुषो ! (नः) हमारे (हव्य) स्मरण करने स्तुति करने, और पुकारने, आश्रय करने योग्य (इन्द्रम्) उस परमेश्वर

को (विश्वासु समसु) समस्त आनन्द और दरबारों में तथा परस्पर मेल मिलाप करने के अवसरों पर (आभूषत) नाना वचनालङ्कारों से सुभूषित करो। हे (वृत्रहन्) विघ्नों के निवारक ! हे (परम) सबसे उत्कृष्ट विद्यापण्डित, हे (ऋचीषम) ऋचाओं द्वारा मनन करने योग्य परमात्मन् ! आप (नः) हमारे (सवनेषु) यज्ञों और (ब्रह्मसु) वेद स्वाध्यायों एवं व्रतादि के अवसरों पर (उप) सदा समीप हृदय देश में विराजें। देखो अवि० सं० [२६६] पृ० १३७ ।

(२) हे परमेश्वर ! (त्व) आप (एषसां) समस्त पदार्थों और ज्ञानों के (प्रथम) सबसे पहले (दाता) देने हारे (असि) हो और (सत्यः) सत्यस्वरूप सखे, (ईशानकृत्) सामर्थ्य और प्रभुत्व के देने हारे हो। (शवसः) बलस्वरूप (पुत्रस्य) पुरुषों की विघ्नों से रक्षा करने हारे (महः) महान् (तुविद्युम्नस्य) बहुत धनैश्वर्यसम्पन्न आपके (युज्याः) सत्संगति को समाधि द्वारा हम (आवृणीमहे) प्राप्त करें।

३ २ १ २ ३ १२ ३८ २१ ३ २ ३ २ ३ १ २ १२
[१४१४] प्रत्न पीयूष पूर्व्य यदुक्थ्यमहो गाद्दादिव आ निरधुक्षत।
१ २ ३ १२ २ ३ १ २
इन्द्रमभि जायमान समस्वरन् ॥१॥

२ ३ २ ३ १ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३८ १२
[१४१५] आदीं केनिप्रयमानास आप्य घसु रुचा दिव्या अस्य
३ १२ २१ ३ १ २
नूषत्। दिवा न वार सविता व्यूर्णुते ॥२॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[१४१६] अव यदिम पवमान रोदसी इषा च विश्वा भुवनानि
३ १ २ २ १८ ३ १ २ ३ १२ २१
मज्मना। यूथ न नि ष्टा वृषभो विराजसि ॥३॥३॥

ऋ० ९।११०। ८, ६, ९, ॥

१४१४—'दिवः पीयूष', १४१५—'वार न दक्ष' १४१६—'दिवा भुवनेषु वि-विष्टपे' इति ऋ०।

भा०—(१) विद्वान् लोग (यत्) जब (अग्नं) सनातन अति उत्तम (पूर्व्यं) पूर्व पुरुषाओं से सेवित, अति पुरातन (उक्थ्यं) अति प्रशंसनीय (पीयूषं) अमृतस्वरूप ब्रह्मानन्द रस को (महतः) बड़े (गाहात्) अति गम्भीर (दिवः) द्यौलोक, मूर्धा स्थल या सहस्रदलकमल से (आ निरधुक्षत) साक्षात्कार द्वारा प्राप्त करते हैं तब वे (जायमानं) प्रकट होते हुए, साक्षात् ज्ञान का विषय होते हुए (इन्द्रं) आत्मा और परमात्मा की (सम् अस्वरन्) उत्तम रीति से स्तुति करते हैं।

(२) जब (दिवः) प्रकाशस्वरूप आत्मा के (वारं) आवरण को (सविता न) सूर्य के समान समस्त जगत् का प्रेरक परमात्मा (वि ऊर्णुते) खोलता या हटा देता है (अत्) तब ही (कंचित् दिव्या) प्रकाश में वर्त्तमान होकर भी कुछ एक (वसुरुचः) आत्मा के साधक या इन्द्रियादि उपकरणों के चमत्कारों को प्रेम करने हारे साधक (आप्यं) अपने प्राप्त करने योग्य बन्धुरूप (ईम्) इस प्रभु को या समाधि से उत्पन्न आनन्द को ही (परयमानासः) देखते हुए उसकी (अभि अनूषत) स्तुति करते हैं।

(३) (यूथेन) जिस प्रकार गौओं के गोल में (वृषभः) सांड खड़ा रहता और शोभा देता है उसी प्रकार (यद्) जब आप हे (पवमान) सबके प्रेरक ! प्रभो ! (इमे) इन (रोदसी) दो और पृथिवी आप और अपान दोनों को और (इमा) इन (विश्वा) समस्त (भुवना) लोकों या इन्द्रियगण शेष प्राणों के (मज्मना) बलपूर्वक (वि रथ) भीतर व्याप्त होते हो तब (वि-राजसि) आप विशेष रूप से शोभा को प्राप्त होते हो।

३ २ ३ १४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १८ २१
[१४९७] इममू षु त्वमस्माकं सनिं गायत्रं नव्यांसम्।
१ ८ ३ २ ३ १ २
अग्ने देवेषु प्र वोचः ॥१५

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१४९८] विभक्तासि चित्रभानो सिन्धोरूर्मा उपाक आ ।
३ २ ३ १ २
सद्यो दाशुषे क्षरसि ॥२॥

१ ३ १र २र ३ १ २
[१४९९] आ नो भज परमेष्वा वाजेषु मध्यमेषु ।
२ ३ २ ३ १ २
शिक्षा वस्वो अन्तमस्य ॥३॥४॥ ऋ० १ । २७ । ४,६,५॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२८] पृ० १२ ।

(२) हे (चित्रभानो) उपास्य ! कान्तिसम्पन्न ! विचित्र रश्मियों से युक्त ! नाना प्रकार के सूर्यों के स्वामिन् ! प्रभो ! जिस प्रकार (सिन्धोः) विशाल नदी के (उपाके) समीप से (ऊर्मा) छोटी २ नहरें काट ली जाती हैं, उसी प्रकार आप अपने विशाल विभूतिप्रवाह में से (दाशुषे) अपने आत्मसमर्पण करने हार भक्त के प्रति (विभक्तासि) विविध प्रकार से नाना विभूतियां बांट देते हैं और (सद्यः) शीघ्र ही (क्षरसि) अभिमत आनन्दरस बहा देते हैं ।

(३) हे अग्ने ! (परमेषु) उत्कृष्ट (वाजेषु) ज्ञान और बलयुक्त पदार्थों में से (नः आ भज) हमें प्राप्त करा और (मध्यमेषु) मध्य कोटि के पदार्थों में से भी हमें प्राप्त करा और (अन्तमस्य) समीपतम (वस्वः) धाम योग्य पदार्थों को भी (शिक्ष) प्रदान कर ।

३ ४ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५००] अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ ।
३ १ २ १ २
अहं सूर्य इवाजनि ॥ १ ॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१५०१] अहं प्रत्नेन जन्मना गिर. शुम्भामि कण्ववत् ।
१ ४ ३ २ ३ २ ३ २
येनेन्द्रः शुष्ममिद्दधे ॥ २ ॥

१५०१—'अभम्' । १५०२—प्रत्नेन मन्मना इति ऋ० ।

[१५०२] य स्त्रोतार इन्द्र न तुष्टुवुरृषयो ये च तुष्टुवु ।
ममद्वर्धस्व सुष्टुत ॥ ३ ॥ ५ ॥ अ० ८ । ६ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सख्या [१५२] पृ० ८५ ।

(२) ऋषि का आत्मरूप से दर्शन है । मैं जीव (कश्यवत्) मेधावी विद्वान् पुरुष के समान (प्रत्नन अपने पूर्व के सनातन (जन्मना) जन्म अर्थात् अपने स्वाभाविक रूप से ही (गिर) नाना वेदस्तुति वाणियों का (शुम्भामि) प्रकट करता हूं । (यत) जिससे (इन्द्र) मेरा आत्मा (शुष्म) आत्मिक बल का (इत्) ही (दध) धारण करता है ।

(२) हे आ मन् ! (ये) जो अज्ञानी लोग (त्वां) तुझको (न) नहीं (तुष्टुवु) स्तुति करते और (य च) जो (ऋषय) आत्मसाक्षात्कार करने वाले मन्त्रद्रष्टा, ऋषिगण तथा गुरु शिष्य तथा ज्ञानी जिज्ञासु जन (त्वा तुष्टुवु) तेरा यथार्थ वर्णन करते हैं उनसे (सु स्तुत) उत्तम रूप से स्तुतियों द्वारा अलङ्कृत होकर (मम इत्) मेरी ही स्तुतियों द्वारा मुझे (वर्धस्व) वृद्धि को प्राप्त करा ।

अर्थात् प्रत्येक जीव अपनी ही की हुई उपासना और प्रार्थना से बलवान् होता है । दूसरे की की, प्रार्थनोपासना उसके लिये निष्फल है ।

इति प्रथम खण्ड ।

— ० —

[१५०३] अग्ने विश्वभिरग्निभिर्जोषि ब्रह्म सहस्कृत ।
येष्वन्ना य आयुषु तभिर्नो महया गिर ॥ १ ॥ ऋग्वे नास्ति ।

१५०३—ऋग्वे (३ । २४ । ४) समानाक्षरमन्त्रोऽयमृग् उपलभ्यते ।
" अग्ने विश्वभिरग्निभिरेभिर्महया गिर । इषुध्ये उ चादव ॥ "

१२ २३ ३ १ २ ३ १२ २३ ३ १ २
[१५०४] प्र स विश्वेभिरग्निभिरग्निः स यस्य वाजिनः ।
१ २ ३२ ३ २३ ३ २३ ३ १ २
तनये तोके अस्मदा सम्यङ् वाजैः परीवृतः ॥२॥ ऋग्वरनास्ति ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५०५] त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय ।
१ २ ३ १ २ ३ १२ १२
त्वं नो देवतातये रायो दानाय चोदय ॥ ३ ॥ ॥ ६ ॥
अ० १० । १४१ । ६ ॥

भा०—(१) हे (सहस्कृत) बलपूर्वक, बड़ी तपस्या, ब्रह्मचर्य और समाधि बल से साक्षात्कृत (अग्ने) ज्ञानवन्! तेजस्विन्! परमात्मन्! तू (विश्वेभिः) अन्य समस्त (अग्निभि.) अग्निरूप सूर्यादि पदार्थों और ज्ञानी योगियों द्वारा (ब्रह्म) वेद ज्ञान का (जाषि) सब का सेवन कराता है । इसलिये हे देव! जो विद्वान् ज्ञानी पुरुष (देवत्रा) दिव्य गुणयुक्त, विद्वानों और जीवनयुक्त प्राणों के भीतर और (य आयुषु) जो कर्मपरायण ज्ञानवान् मनुष्यों के भीतर हैं (तेभि.) उन द्वारा (न) हमें (गिर.) वेदवाणियों का (मह्य) उपदेश प्रदान कर ।

(२) (यस्य) जिस (वाजिन·) ज्ञान और बल से सम्पन्न परमेश्वर की (विश्वेभि) समस्त (अग्निभि.) अग्नि के समान तेजस्वी सूर्य आदि लोकों तथा विद्वानों से (प्र) प्रतिष्ठा होती है । (स. अग्निः) वह ही ज्ञानवान् होने से परम अग्नि है । और वही (सम्यङ्) उत्तम रीति से सर्वत्र पूजनीय होकर (वाजै) ज्ञान और कर्म सामर्थ्यों और ऐश्वर्यों से (परिवृतः) युक्त हुआ (अस्मत्) हमारे (तनये) पुत्र और (तोके) पौत्रों में भी (आ) पूजा को प्राप्त हो ।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! तू अन्य (अग्निभि) विद्वान्, तेजस्वी सूर्यादि लोकों और पुरुषों द्वारा (न.) हमारे (ब्रह्म) वेदज्ञान और (यज्ञ च) यज्ञ आदि श्रेष्ठ कर्मों और जीवन की (वर्धय) वृद्धि कर और

(नः) हमें (देवतातये) विद्वानों के प्रति दान, मान, सत्कार आदि पुण्य कार्य करने और (रायः दानाय) धन,-ऐश्वर्य आदि पदार्थ दान करने के लिये (चोदय) प्रेरणा कर ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५०६] त्वं सोम प्रथमा वृत्रहर्हिषो महे वाजाय श्रवसे धियं दधुः ।
१ २ ३ २
स त्व नो वीर वीर्याय चोदय ॥ १ ॥
३ २ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १ २
[१५०७] अभ्यमि हि श्रवसा ततर्दिथोत्स न कञ्चिज्जनपानमक्षितम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
शयोभिर्न भरमाणो गभस्त्योः ॥ २ ॥
१ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५०८] अजीजनो अमृत मर्त्याय कमृतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
सदा सरो वाजमच्छा सनिष्यदत् ॥ ३ ॥ ७ ॥
ऋ० ९ । ११० । ७, ५, ४ ॥

भा०—(१) हे सोम ! सब के प्रेरक परमात्मन् ! (प्रथमाः) उत्कृष्ट, प्रथम श्रेणी के (वृत्रहर्हिषः) देहबन्धन को काटने हारे, मुक्त पुरुष वे हैं जो (महे) बड़े (वाजाय) ज्ञानस्वरूप (श्रवसे) यशस्वरूप महा-महिम तुझ प्राप्त करने के लिये (धियं) अपनी धारणावती बुद्धि, चित्तवृत्ति को (दधुः) स्थापित या स्थिर करते हैं । हे (वीर) सर्वशक्तिमन् ! (स त्वं) वह तू (नः) हमें भी (वीर्याय) बल, सामर्थ्य, शक्ति प्राप्त करने के लिये (चोदय) प्रेरित कर, मार्ग दर्शा ।

(२) जिस प्रकार कोई बुद्धिमान् पुरुष (कञ्चित्) किसी (अक्षितम्) अक्षय (जनपानम्) मनुष्यों के जलपान-गृह का (भरमाणः न) पूर्ण करने की चेष्टा करता हुआ (गभस्त्योः) बाहुओं की (शयोभिः) अंगुलियों से (उत्सं न) जल के निरन्तर निकलते स्रोत को काट लेता है उसी प्रकार हे (सोम) विद्वन् ! आप अपने (श्रवसा) ज्ञान बल से

१५०६—३ "अमृत मर्त्येभ्यो अमृतस्य" इति पाठभेदः ऋ० ।

अक्षय (जलपान) समस्तजनों का जलभण्डार के समान आनन्दरस-सागर का (भरमाण) पूर्ण करते हुए, मेघ को वायु के समान (उत्स) मूल निकास रूप ब्रह्म तत्व का (धवसा) गुरूपदेश, ज्ञान, योग्याभ्यास से (ततर्दिथ) उद्भव कर देते हो, तब उसे अध्यात्म रस प्राप्त होने लगता है ।

(३) हे (साम) विद्वन् ! (मर्त्याय) मरणधर्मा इस जीव के लिये आप (अमृत) मोक्षस्वरूप, अविनाशी (कम्) सुख का (अभाजन.) उपदेश करते हो और (अमृतस्य) अविनाशी (चारुण) प्राप्त करने योग्य, उत्तम (ऋतस्य) सत्यज्ञानरूप वेद के उपदेश किये हुए (धर्मम्) धर्ममार्ग में (वाज) ज्ञान और बल का (सनिष्यदत्) प्रदान करते हुए (सदा) नित्य (अच्छ) भली प्रकार (सा) प्रकट होते हो ।

[१५०९] प दुमिन्द्राय भिञ्चत गिराति सोम्य मधु ।
प्र राधांसि चोदयते महित्वना ॥१॥

[१५१०] उरो हरीणां पतिं राध पृञ्चन्तमऋवम् ।
नून श्रुधि स्तुवतो अश्वयस्य ॥ २ ॥

[१५११] न ह्याऽऽऽग पुरा च न जज्ञ वीरतरत्वत् ।
न की रायो नेवथा न भन्दना ॥ ३ ॥ ८ ॥

ऋ० ८ । २४ । १३–१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [३८६] पृ० ।

(२) (राध) आराधना या ज्ञान या अभिलषित ऐश्वर्य को (पृञ्चन्त) प्रदान करते हुए, उद्देश्य तक प्राप्त कराते हुए (हरीणां पतिम्) हरणशील इन्द्रिय आदि सूर्यों और विद्वानों के पालक परम आत्मा के

१५१०—२ 'उरो हरीणा पति दध' स्तुवतो अश्वयस्य' ३ नृम्ण धत्त ऋ० ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५१३] देवा वो द्रविणोदाः पूर्णां विष्ट्वा सिचम् ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
उद्वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्वमादिद्वो देव ओहते ॥१॥
२ १ २ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५१४] त होतारमध्वरस्य प्रचेतसं वह्निं देवा अकृण्वत ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
दधाति रत्नं विधते सुवीर्यमग्निर्जनाय दाशुषे ॥२॥१०॥

ऋ० ७ । १६ । ११-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५२] पृ० २६ ।

(२) जो (अग्निः) ज्ञानवान् आचार्य, परमेश्वर (दाशुषे) दानशील, आत्मसमर्पक (विधते) परिचर्या करते हुए, शिष्य के समान उपासक का (सुवीर्यम्) उत्तम सामर्थ्ययुक्त (रत्न) रमणयोग्य, ज्ञान और ऐश्वर्य का (दधाति) धारण कराता है (तं) उस (प्रचेतसं) उत्तम ज्ञानवान् परम पुरुष को (देवा) विद्वान् पुरुष (अध्वरस्य) हिंसारहित ज्ञानयज्ञ का (होतारं) सम्पादक और (वन्हिम्) कार्यनिर्वाहक (अकृण्वत) नियत करते जानते, और मानते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१५१५] अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन् व्रतान्यादधुः ।
२ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
उपो षु जातमार्यस्य वर्धनमग्निं यज्ञन्तु नो गिर ॥१॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१५१६] यस्मा द्रेजन्त कृष्टयश्चर्कृत्यानि कृण्वत ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
सहस्रसा मेधसातावपस्यत धनार्ग्नि धीभिर्नमस्यत ॥२॥
१ २ २ ३ २
[१५१७] प्र दैवोदासो अग्नि० ॥३॥११॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अविकल सं० [४७] पृ० ।

१५१५—३, प्रतीकमात्रमिदम् । ऋचि पूर्णाऽपि ऋक् पठ्यते ।

(२) (चक्रुषे) समस्त जगत् के कर्तव्य कर्म (कृण्वते) करानेहार (यस्मात्) जिससे (कृष्टय) मनुष्य (रजन्त) कांपते हैं भय अनुभव करते हैं (सहस्रसा) सहस्रों का दान देनेहारे उस (अग्निम्) परमेश्वर का (मधसातौ) ज्ञानबल और मधा का प्राप्त करने के लिये (धामभि) अपनी ध्यानधारणावाली बुद्धियों और कर्मों से (रमना) अपने आत्मा द्वारा (नमस्यत) उपासना करो ।

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [२१] पृ० २३ ।

[१५१८] अग्न आयूंषि पवस० ॥१॥

[१५१९] अग्निर्ऋषिः पवमान पाञ्चजन्य पुरोहितः ।
तमीमहे महागयम् ॥२॥

[१५२०] अग्न पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम् ।
दधद्रयिं मयि पोषम् ॥३॥१२॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१८७] पृ० ३१६ ।

(२) (अग्निः) ज्ञानदाता, प्रकाशस्वरूप परमात्मा (ऋषिः) स्वयं सब मन्त्रों का द्रष्टा, प्रकाशक, सर्वव्यापक और समस्त संसार का द्रष्टा है, वही (पवमानः) सबका पवित्रकारक ज्योतिष्मान् और सबका प्रेरक होने से (पाञ्चजन्य) पांचों जन—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र और निषाद या देव मनुष्य, गन्धर्व अप्सरा सर्प और पितर या ५ इन्द्रियों का समानरूप से हितकारी (पुरोहितः) समस्त कार्यों के पूर्व, हृदय में और समस्त विश्व सृष्टि के पूर्व जगत् में साक्षी रूप से स्थित है, (तं) उस (महागय) महान् प्राणों के प्राण अथवा बड़े २ दानादि से भी स्तुति किये गये महान् ज्ञानवान् परम उपदेष्टा, विशाल कीर्ति वाले परमात्मा से हम (ईमहे) याचना करें ।

१५१८— प्रतीकमात्रम् । क्वचित् पूर्णापि ऋक् पठ्यते ।

(२) हे अग्ने ! (स्वपाः) शोभन प्रज्ञा और कर्म से सम्पन्न रमात्मन् ! आप (अस्मे) हमें (वर्चः) तेज (पवस्व) प्राप्त कराओ और (मयि) मुझ में (रयिम्) प्राण, बल और (पोषं) पुष्टि (दधत्) धारण कराओ ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५२१] अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया ।
२ ३ १ २ ३ १ २
आ देवान्वक्षि यक्षि च ॥१॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५२२] तं त्वा घृतस्नवीमहे चित्रभानो स्वर्दृशम् ।
३ २ ३ १ २
देवाँ आ वीतये वह ॥२॥
३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१५२३] घीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि ।
१ २ ३ १ २ ३ २
अग्ने बृहन्तमध्वरे ॥३॥१३॥ ऋ० ५ । २६ । १–३॥

भा०—(१) हे अग्ने ! (पावक) सबको पवित्र करने हारे ! हे (देव) सब के प्रकाशक ! और स्वयंप्रकाश, देव ! परमेश्वर ! (रोचिषा) अपनी दीप्तिस्वरूप (मन्द्रया) आनन्ददायक (जिह्वया) दान प्रतिदान करने की शक्ति से (देवान्) दिव्य पदार्थ, जल आदि पंचभूतों को और ज्ञानमय दीप्ति से विद्वानों को और आकर्षण से समस्त ब्रह्माण्ड के सूर्यादि लोकों को (आवक्षि) आवहन करते, उनका धारण करते (यक्षि च) सगत करते, और व्यवस्थित रखते हो ।

(२) हे (चित्रभानो) नाना विध कान्तियुक्त परमात्मन् ! हे (घृतस्नो) समस्त प्रकाशमान पदार्थों के प्रेरक ! (तं) उस महान् आत्मा (स्वर्दृशं) सबके द्रष्टा, या स्वः अर्थात् प्रकाशमय और सुखकारक चक्षु से सम्पन्न, या मोक्षमार्ग को दर्शाने हारे आपको (ईमहे) प्रार्थना करते हैं कि (देवान्) हमारे दिव्य गुणयुक्त इन्द्रियों को और उसी प्रकार ज्ञान कराने हारे विद्वान्

पुरुषों और उपकारक दिव्य पदार्थों को (वीतये) उत्तम ज्ञान, तेज, और सुख प्राप्ति के लिये (आ वह) प्राप्त कराओ।

(३) हे (कवे) समस्त संसार के पदार्थों के मर्म तक को देखने हारे अन्तर्यामिन् ! हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! (वीतिहोत्र) यज्ञों में व्यापक (दुमन्त) प्रकाशमान (बृहन्त त्वा) सब से महान् आपको ही हम (अध्वरे) हिंसा रहित ज्ञान और कर्ममय यज्ञ में (समिधीमहि) प्रदीप्त करते हैं।

इति तृतीय खण्ड।

—०—

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१५२४] अया नो अग्ने ऊतिभिर्गायत्रस्य प्रमर्मणि।
१ २ ३ १ २
विश्वासु धीषु वन्द्य ॥१॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१५२५] आ नो अग्ने रयिं भर सत्रासाहं वरेण्यम्।
१ २ ३ २ ३ १ २
विश्वासु पृत्सु दुष्टरम् ॥२॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१५२६] आ नो अग्ने सुचेतुना रयिं विश्वायुपोषसम्।
३ १ २ ३ १ २
मार्डीकं धेहि जीवसे ॥३॥१४॥ अ० १। ७६। ७-९॥

भा०—(१) हे (अग्ने) परमात्मन् ! हे (वन्द्य) वन्दना करने योग्य परमात्मन् ! आप (गायत्रस्य) प्राणों के त्राण करने के साधन शरीर में, (प्रमर्मणि) उत्तम रीति से भरण पोषण करने के कार्य में (ऊतिभिः) अपने रक्षा साधनों से (नः) हमारी (विश्वासु) समस्त (धीषु) कार्यों से (अव) रक्षा करें।

१५२५—पृतनासहस्य पृत्सुषाहः। परमा० ऋति [अ० ६। १। ६१] सूत्रे मास पृत्सूनामुपसख्यानमिति वार्तिकम्। पृतनेति मनुष्यनाम [नि० २। ३] सप्रामनाम च [नि० २। १७]

(२) हे (अग्ने) ज्ञानवन्[1] आप (न) हमारे लिये (वोधय) सब से श्रेष्ठ (सत्रासाह) सब विपत्तियों को दूर करने हारे (रयिं) बल और अन्न (आभर) प्राप्त करावें जो (विश्वासु) सब (पृत्सु) मनुष्यों में या सग्रामों में (दुस्तर) दुस्तर अर्थात् जिसका कोई मुकाबला न कर सके और न समाप्त कर सके ऐसे हो ।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! आप (न) हमें (जीवसे) जीवन के निमित्त (विश्वायुपोषस) समस्त मनुष्यों के पालन पोषण में समर्थ (साधीक) सुख आरोग्य करने हारे (सुचेतुना) उत्तम ज्ञान सहित (रयिं) अन्न और प्राणबल (धेहि) दें ।

[१५२७] अग्निं हिन्वन्तु नो धिय सप्तिमाशुमभाजिषु ।
तेन जेष्म धनं धनम् ॥ १ ॥

[१५२८] यया गा आकरामहै सेनयाग्ने तवोत्या ।
ता नो हिन्व मघत्तये ॥ २ ॥

[१५२९] आग्ने स्थूरं रयिं भर पृथुं गोमन्तमश्विनम् ।
अश्वावन्तं सहस्रिणम् ॥ ३ ॥

[१५३०] अग्न नक्षत्रमजरमा सूर्यं रोहयो दिवि ।
दधज्ज्योतिर्जनेभ्य ॥ ४ ॥

[१५३१] अग्ने क्रतुप्रशासि प्रह्वः धीषु उपस्थसत् ।
यया स्तोत्रे वयो दधत् ॥५॥१५॥ ऋ० १०।१५६। १-५

१५२९—स वंशा पत्सि ऋ० । [1] 'सवत्सा' पाठे अवनरुद्धिः प्रायादिक पाठः ।

भा०—(१) (नः) हमारी (धियः) बुद्धियां, कर्म और स्तुतियां (अग्निं) ज्ञानवान् पुरुष, या आत्मा या परमात्मा को (वाजिषु) संग्रामों में (आशुं सप्तिम् इव) शीघ्रगामी, अश्व के समान (हिन्वन्तु) प्रेरणा करें (तेन) उससे हम (धनं धनं) बहुत सा धन (जेष्म) विजय करें, प्राप्त करें।

(२) हे (अग्ने) प्रभो ! (यया) जिस (तव) तेरी (ऊत्या) रक्षा ज्ञान और (सेवया) सेवा से (गा.) वाणियों, रश्मियों और गौओं को (आकरामहै) साक्षात् प्राप्त करें (तां) उस अपनी शक्ति को (नः) हमें (मघत्तये) धन ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये (हिन्व) प्रेरित कर।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! तू हमारे पास (पृथु) खूब विस्तृत (गोमन्तं) गौओं और (अश्विनं) अश्वों से युक्त तथा ज्ञान और कर्मेन्द्रिय से सम्पन्न (रयिं) स्थिर (रयिं) प्राण और धन को (आभर) प्राप्त करा। (खं[1]) सुख को (अभिष्ठ) हमारे लिये प्रकाशित कर और (पविम्[2]) पापनाशक पावकरूप वज्र, ज्ञानवज्र या ज्ञानप्रवर्तक वाणी को (वर्तय) उपदेश कर, उसका प्रयोग कर।

[1] खं [1]–खदेव खं खदेव कं खदेव कं खदेव खम्, छान्दोग्य उप० पठितिति वाग्वज्रपक्षादिनाममु पठितः

(४) हे (अग्ने) परमात्मन् ! आप (नक्षत्रम्) सदा गतिशील, या कभी अपने मार्ग से च्युत न होने वाले, नक्षत्रस्वरूप (सूर्यं) सूर्य को (दिवि) द्यौलोक में (आ रोहयः) स्थापित करते हैं कि वह (जनेभ्यः) सब जगत् होने हारे लोकों और प्राणियों को (ज्योतिः) प्रकाश (दधत्) प्रदान करे।

(५) (अग्ने) परमात्मन् (विशां) समस्त प्राणियों को आप (केतुः) ज्ञान देने हारे, (शेषः) सब से अधिक प्रिय, और सब से (पिष्ट.) उत्तम होकर (उपस्थसत्) सब के समीपतम हृदयदेश में विराजमान हो।

आप ही (स्तोत्रे) स्तुति करने हारे विद्वान् पुरुष को (बोध) ज्ञान देते हैं और आप ही (वयः) अन्न और जीवन दोनों का (दधत्) धारण कराते हैं ।

[१५३२] अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् ।
अपां रेतांसि जिन्वति ॥ १ ॥

[१५३३] इशिषे वार्यस्य हि दात्रस्याग्ने स्वः पतिः ।
स्तोता स्यां तव शर्मणि ॥ २ ॥

[१५३४] उद्अग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते ।
तव ज्योतींष्यर्चय ॥३॥१६॥ ऋ० ८ । ४२ । २६, २८, २७ ॥

भा०—(१) (अग्नि) सब का आगे ले जाने वाला, सब का ज्ञानदाता ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप, परमात्मा (मूर्धा) सब का मूर्धास्थान, सब देवों में शिरोमणि, (दिवः) द्यौलोक या सूर्य आदि दिव्य पदार्थों का भी (ककुत्) श्रेष्ठ, उनसे भी ऊंचा, (पृथिव्या) पृथिवी का भी (पतिः) पालक है । वही (अपां) सब लोकों के (रेतांसि) बीज रूप कारण सत्ताओं को (जिन्वति) शरीर आदि में प्रेरित कर उनको यथासमय जीवन प्रदान करता है ।

(२) हे (अग्ने) परमात्मन् ! आप (स्वः पतिः) समस्त मोक्ष के पालक हैं । आप ही (दात्रस्य) दान देने योग्य और (वार्यस्य) वरण करने योग्य विभूति के भी (इशिषे) प्रभु हैं, अतः (तव) तेरी (शर्मणि) शरण में रहकर मैं (तव) तेरा (स्तोता) सत्य गुणों का वर्णन करने हारा (स्याम्) रहूं ।

(३) हे अग्ने ! (तव) तेरी (शुक्राः) कान्तिमान् (शुचयः) दीप्तियें (भ्राजन्तः) सब को प्रकाशित करती हुई स्वयं (उद् ईरते) उठ

रही हैं और (अर्चयः) ये सब कान्तियां भी (तव) तेरी ही (ज्योतींषि) जगमगाहट ज्योतियां हैं।

इति चतुर्थः खण्डः।

इति सप्तमप्रपाठकस्य प्रथमोर्धं समाप्तं ॥

इति चतुर्दशोऽध्यायः ॥

अथ पंचदशोऽध्याय ।

अथ सप्तम प्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धं ।

ऋषि —१, ११ गोपवनो राहूगणः। २, ६ विश्वामित्र । ३ विरूप आङ्गिरस । ४, ६ भर्गः प्रागाथः । ५ त्रितः। ७ उशना काव्य । ८ सुदीतिपुरुमीळ्हौ तयोर्वान्यतरः । १० सोभरि काण्वः । १२ गोपवन आत्रेय १३ भरद्वाजो बार्हस्पत्यो गौतमश्च वा। १४ प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको वा बार्हस्पत्य, अथवाग्नी गृहपत्य वसिष्ठौ मैत्रावरुणी तयोर्वान्यतरः ॥ अग्निर्वा । छन्द —१ बार्हतः । ११ त्रिष्टुप् । १२ अनुष्टुप प्रथमस्य गायत्री चरमस्य । १३ जगती ॥ स्वर —१–३, ६ ६, १५ षड्ज । ४, ७, ८, १० मध्यम । ५ धैवत । ११ ऋषभः । १२ गान्धार प्रथमस्य, षड्जश्चरमस्य । १३ निषाद ४ ।

[१५३५] कस्त उषो व्युषि मर्तभोजनं मन्यमान आचरे ।
पप्रुषीमग्ने अक्षभिर्न वीळय स्तेषामिळानामसि प्रियः ॥१॥

[१५३६] त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः ।
सखा सखिभ्य ईड्यः ॥२॥

[१५३७] यजा नो मित्रावरुणा यजा देवाँ ऋतं बृहत् ।
अग्ने यक्षि स्वं दमम् ॥३॥१॥ अ० १। अ० ७। १–३ ॥

भा०—(१) हे अग्ने ! (जनाना) मनुष्यों में से (तं) तेरा (कः) कौन (जामि) बन्धु है ? अर्थात् कोई नहीं । तेरे लिये (कः) कौन (दाश्वध्वर) दानशील, अहिंसा रहित यज्ञ करता है ? (कः ह) हे हे अग्ने ! तुम कौन हो, (कस्मिन्) और तुम किस में (श्रितः) आश्रय लिये (असि) हो ? अर्थात् तुम्हारा सब कुछ अज्ञेय है ।

(२) (त्व) आप (जनाना) सब उत्पन्न होने हारे प्राणियों के (जामि.) उत्पादक और बन्धु हो और (प्रियः) प्रिय (मित्र) स्नेही सुहृद् (असि) हो । (सख्यि.) समान आख्यान अर्थात् नाम वाले भक्त प्रेमी, जीवगण के लिये (सखा) उनके सुहृद् होकर भी उनके लिये (ईड्य.) उपासना और स्तुति करने योग्य हो।

(३) हे (अग्न) प्रभो ! तू (नः) हमारे (मित्रावरुणौ) जैसे मित्र जन और पापनिवारक गुरु उपदेष्टा तथा प्राण और अपान दोनों को (यज) बल और ज्ञान प्रदान कर । और हमारे (देवान्) इन्द्रियों और विद्वानों को (बृहत्) बड़ा भारी (ऋतं) सत्य ज्ञान (यज) प्रदान कर । और हे (अग्न) ज्ञानस्वरूप (त्व) अपने (दमं) दमन करने योग्य समस्त संसाररूप गृह को अथवा (दम=मद) अपना परम आनन्द और (यसि) देता है ।

[१४३८] ईड्यो नमस्यास्तिरस्तमांसि दर्शत. ।
समग्निरिध्यते वृषा ॥१॥

[१४३९] वृषा अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहन. ।
त हाविष्मन्त ईडते ॥२॥

[१४४०] वृषणं त्वा वय वृषन् वृषणः समिधीमहि ।
अग्ने दीदयत बृहत् ॥३॥२॥ ऋ० ३ । २७ । १३-१५ ॥

भा०—(१) जिस प्रकार लौकिक अग्नि अन्धकारों को दूर हटा कर स्वयं दिखलाई देता है और अन्धकार में राहगीर उसी की ओर झुके चले आते हैं एवं अन्धेरे में भटकते लोग उसी को सराहते हैं उसी प्रकार (अग्निः) प्रकाश और ज्ञान से युक्त (तमांसि) समस्त अज्ञानरूप अन्धकारों को (तिरः) दूर करने हारा परमात्मा और आचार्य (दर्शतः) अवश्य नित्य दर्शन करने योग्य, और सब मार्गों का दर्शाने वाला (ईड्यः) स्तुति उपासना करने योग्य और (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है। (अग्निः) वही ज्ञानस्वरूप (वृषा) सब सुखों का वर्षक, परमात्मा तथा आचार्य श्रेष्ठ होने के कारण (इध्यते) हृदय में ज्ञानरूप से प्रकाशित होता है।

(२) (वृषः) सब सुखों के देने वाला, आत्मरूप (अग्निः) अग्नि, (देववाहनः) इन्द्रियों को वहन करने हारा (अश्वोः न) अश्व अर्थात् भोक्ता स्वामी के समान जाना जाकर (समिध्यते) युद्धमें विजिगीषु के अश्व के समान योगाङ्गों द्वारा और भी तेजस्वी, तथा प्रज्वलित किया जाता है। (हविष्मन्तः) स्तुति उपासना करने हारे अथवा चरु आदि से युक्त याज्ञिक लोग भी (त) उसकी ही (ईडते) स्तुति करते हैं।

(३) हे (वृषन्) सब सुखों और ज्ञानों के वर्षक (त्वा) तुझ (वृषणं) सब से बलवान् (दीप्तं) चेतनरूप से और तेज स्वरूप सकल ब्रह्माण्ड को प्रकाशमान करने हारे (बृहत्) महान् आत्मा परमेश्वर को (वयं) हम (समिधीमहि) अपने हृदय में उत्तम रीति से प्रज्वलित करें।

[१५४१] उक्षं बृहन्तमश्वयः समिधानस्य शोदिवः।
अग्ने शुक्रास ईरते ॥१॥

[१५४२] उप त्वा जुह्वाऽ३ वम घृताचीर्यन्तु हर्यत।
अग्ने हव्या जुषस्व नः ॥ २ ॥

[१५४३] मन्द्रं होतारमृत्विज चित्रभानुं विभावसुम् ।
आग्निमीडे स उ श्रवत् ॥३॥३। ऋ० ७। ४४। ४-६ ॥

भा०—हे अग्ने [1] (समिधानस्य) उत्तम रीति से प्रज्वलित, प्रदीप्त (ते) तेरी (शुक्रास) कान्तिमान् तेजोमय, (बृहन्त) बड़ी २ (अर्चय) सूर्य आदि ज्वालाएं (उद् ईरत) उठ रही हैं ऊर्ध्व आकाश में गति कर रही हैं।

(२) हे (हर्यत) सब को अपने में ही आहरण कर लेने हारे, सबके प्रलयकारक परमेश्वर [1] (मम) मेरी (घृताची) घृत, अर्थात् कान्ति या तेज का धारण करने हारी (जुह्व) दान प्रतिदान करने वाली चमसरूप इन्द्रियां (त्वा) तेरे प्रति ही (उप यन्तु) गति करें। हे (अग्ने) प्रकाशक (न) हमारी (इव्या) स्तुतियों और प्रदान करने योग्य समस्त स्वरूप पदार्थों को आप ही (उपरत) स्वीकार करो।

(३) मैं (मन्द्र) आनन्दस्वरूप (होतार) समस्त ब्रह्माण्ड यज्ञ के होता सम्पादक (ऋत्विजम्) ऋतुओं प्राणों तथा सत्य ज्ञानियों द्वारा उपासना करने योग्य (चित्रभानुम्) नाना प्रकार के चित्र विचित्र कान्तिमान् सूर्यों से अलंकृत (विभावसुम्) कान्तिरूप धन से सम्पन्न विशेष दीप्ति से समस्त जीवों और लोकों का वास देने हारे उस परमेश्वर रूप (अग्निम्) ज्ञान प्रकाशक की (ईडे) स्तुति करता हूं। (स उ) वही सब स्तुतियों का (श्रवत्) श्रवण करता है।

[१५४४] पाहि नो अग्न एकया पाह्यु३उ३त द्वितीयया ।
पाहि गोमतिरूभिरूजाम्पते पाहि चतसृभिरूसो ॥१॥
[१५४५] पाहि विश्वस्माद्रक्षसो अराव्ण प्र स्म राजेषु नोऽग्न ।
रक्षामिद्धे नादेषु देवताग्य आपे नक्षामहे धुभ ॥२॥४॥
ऋ० ८। ६०। ६-१० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३६] पृ० १६ ।

(२) हे (अग्ने) तेजस्विन् ! आप (विश्वस्मात्) सब प्रकार के (अरावण:) जीवन, धन, स्वत्व, अधिकार और सुख आदि न देने हारे कंजूस, परत्वापहारी (राक्षस) दुष्ट स्वभाव राक्षस पुरुष से (पाहि) रक्षा कर । और (न) हमारी (वाजेषु) संग्रामों में भी (प्र अव सम) उत्तम रीति से रक्षा कर (हि) क्योंकि (त्वाम् इत्) तुझको ही (देवजातये) विद्वानों की और अपनी (वृधे) वृद्धि के लिये (नेदिष्ठ) सबसे समीपतम (आप्तिम्) अपना बन्धु जानकर (नशामहे) तेरे शरण आते हैं, तुझे प्राप्त होते हैं ।

इति प्रथम खण्ड ।

— o —

३ १ २ ३ ४ २४ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५४६] इनो राजन्नरति समिद्धो रौद्रो दक्षाय सुषुमाँ अदर्शि ।

३ १४ २४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

चिकित्विभाति भामा बृहन्ना सिक्रीमेति रुशतीमपाजन् ॥१॥

३ १४ २४ ३ १४ २४ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

[१५४७] कृष्णा यदेनीमभिवर्पसाभूज्जनयन्योषा बृहत पितुर्जाम् ।

३ २ ३ १४ २३ ३ २ २ १४ २४ ३ १४ २४

ऊर्ध्वम्भानु सूर्य्यस्य स्तभायन् दिवो वसुभिररतिर्विभात २॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ७क २४

[१५४८] भद्रो भद्रया सचमान आगात् स्वसारं जारो अभ्येति

३ २ ३ ५४ ४३ ३ २ ३ २ ३ ११ २ ३ १ २ ३ २ ३ १

पश्चात् । सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्नुशद्भिर्वर्णमभिराम

मस्थात् ॥ ३ ॥ ५ ॥ ऋ० १० ३ । १-३ ॥

भा०—(१) हे (राजन्) सुप्रकाशमान परमात्मन् ! आप (इन) सब के स्वामी (अरति) सब के भीतर व्यापक हैं । आप ही (समिद्ध) खूब प्रकाशमान होकर (रौद्र) दुष्टों का रुलाने हार, पापों के भयकर दण्डविधाता होकर भी (दक्षाय) जीव के लिये (सुषुमान्) उत्तम

५४६—१. सुष्ठु सूयत इति सुषुः सोमस्तद्वान् । ओषध्यात्मना स्थितोऽग्निरिह सायण. ।

आनन्द रस के उत्पादक और उत्तम जन्म देने हारे, सौम्य (अदर्शि) दिखाई देते हैं । वह आप परमेश्वर (चिकित्) सर्वज्ञ होकर (बृहता) बड़े भारी (भासा) ज्ञानमय प्रकाश और भौतिक तेजसे सर्वत्र प्रकाशमान् हो रहे हैं । वही आप (रुशतीम्) रुचिर कान्तिवाली उषारूप कान्ति का (अपव्रजन्) दूर कर पुन (असिक्नीम्[3]) कृष्णवर्णा रात्रि को को (एति) प्राप्त कराते हैं । अर्थात् जिस प्रकार अग्नि की शिखा दिन को छोड़ कर रात्रि में प्रकाश करती है उसी प्रकार आप भी ज्ञानमय स्थानों के अतिरिक्त अज्ञानमय दशा में भी प्रकाश करते हैं और या (रुशतीं) कान्तिमय संसार की जाग्रत् अवस्था को दूर कर (असिक्नीम्) रात्रिरूप प्रलय दशा में बदल देते हैं । और इसी प्रकार रात्रि या प्रलय दशा को आप ही पुन उषा अर्थात् सर्गदशा में बदलते हैं ।

(२) पूर्वार्द्ध मन्त्र में कहा वह अग्निस्वरूप परमेश्वर (अरति) सर्वथा एक (यद्) जब । कृष्णा) कृष्णवर्ण या सब को कर्षण करने हारी प्रलय करने हारी (एनीं[3]) गमनशीला कालगति को (वर्पसा) अपने रूप से (अभिभूत्) वश कर लेता है, व्याप लेता है और (बृहत) बड़े भारी (पितु) पालन करने हारे पिता परमात्मा की (जां) प्रजननशील (मायो) कुटुम्ब बसानेहारी स्त्री के समान समस्त पञ्चभूतों का परिपाक करके नाना प्रकार से उनका मिलाप हारी संगकारिणी शक्ति को (जनयत्) उत्पन्न करता हुआ अथवा (यापां[4]) हिंसाकारक प्रलय

---

२ असिक्नी अनुदात्ता असिता (नि० १ । २६) । रात्रिनाम च (निघ०)

३ एनीमिति नदीनाम् । इण् गतौ (अदादि) इत्यत औणादिको नि (उ० ४ ४८) । नदीवचनोऽन्तोदात्तोऽत्रानुदात्त इति माधव । अत्र अनुदात्त इति नात्र नदीग्रहणम् ।

४ यापा—यूप हिंसायाम् जुप च (स्वादि) । यौतेर्वा [ ] मिश्रणार्थस्य । अपि वा सामान्या याता स्त्री, जुगुप्साया यावयते (चुरा०) ।

कारिणी शक्ति को भी (पितु जां जनयन्) पालक की उत्पादिका शक्ति में बदलता हुआ (दिव) इस द्यौलोक ब्रह्माण्ड के (वसुभि) वास देने हारे लोकों के सहित (सूर्यस्य) सब के प्रेरक सूर्य के (भानु) दीप्तिमय पिंड को (ऊर्ध्वम्) ऊपर आकाश में (स्तभायन्) स्थापित करता हुआ (वि भाति) आप सब से अधिक प्रकाशमान होता है।

(३) जिस प्रकार रात्रि और उषा के दृष्टान्त से प्रलय और सर्ग का वर्णन किया है उसी प्रकार इस मन्त्र से सूर्य और उषा के दृष्टान्त से पुन सर्गशक्ति और परमात्मा के सम्बन्ध का दर्शाते हैं। (भद्रः) कल्याण और सुख का देनेहारा सब के भजन करने योग्य परमात्मा (भद्रया) समस्त ससार का मोद और भोग द्वारा सुख के सम्पादन करनेहारी प्रकृति से (सचमान) युक्त होकर (आगात्) प्रकट हुआ। जिस प्रकार (जार) समस्त ससार को जरण करने हारा, ब्रह्मा की समस्त आयु को नाश करने हारा, रुद्ररूप वही परमात्मा (पश्चात्) पुन. (स्वसार) स्वय सरण करने हारी, स्वत सृष्टिरूप में विकार को प्राप्त होने हारी प्रकृति को (अभि एति) पूर्णरूप से व्याप लेता है वह (अग्नि) प्रकाशमान देदीप्यमान परमात्मा (सुप्रकेतै) उत्तम विज्ञान मय (द्युभि) नियमों से (वितिष्ठन्) नाना रूप से व्याप्त होकर (उशद्भि) मनोहर (वर्णै) रूपों से (राम) रमण करने योग्य इस जगत् को (अभि अस्थात्) प्रकट करता है, चलाता है, व्यवस्थित करता है।

[१५४९] वया ते अग्ने अङ्गिर ऊर्जो नपादुपस्तुतिम्।
वराय दद्म मरुते ॥ १ ॥
[१५५०] दाशेम कस्य मनसा यज्ञस्य सहसो यहो।
कदुषाच इदं नमः ॥ २ ॥

[१५५१] अथा त्व हि नस्करा विश्वा असभ्य सुक्षितीः ।
वाजद्रविणसो गिरः ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । ८४ । ४-६ ॥

भा०—(१) हे (अंगिरः[1]) सर्वव्यापक ! सर्वप्रकाशक, तेजस्विन् सब में बल, प्राण और रसरूप में विद्यमान ! (अग्ने) ज्ञान और प्रकाशमान्[1] हे (ऊर्जोनपात्) बल के भण्डार ! हे देव ! (वराय) सबसे श्रेष्ठ एवं वरण करने योग्य (मन्यवे) ज्ञानस्वरूप एवं मन्युस्वरूप, सब के मनन करने योग्य (त) तेरी (कया) किस वाणी से हम उपस्तुतिं दाशेम) स्तुति करें ।

(२) हे (सहस. यहो[2]) बल और सहनशीलता से प्राप्त करने और स्मरण करने योग्य परमात्मन् ! (कस्य) किस (यज्ञस्य) आत्मा को (मनसा) मन या अन्तःकरण से (दाशम) आपके समर्पण करें । (इदं) यह (नम.) नमस्कार (कत्) किस विध या किस २ समय (वोच) उच्चारण करें, अर्थात् मन से इस आत्मा को तो दे ही रक्खा है और क्या २ दें । और सदा ही तो आपका स्मरण करते हैं, और हम कब २ करें ।

(३) (अथ) और हे परमात्मन् ! (हि) निश्चय से (नः) हमारे लिये (त्वं) आपने (न.) हमारी । सुक्षिती) उत्तम २ निवासभूमियों और (वाजद्रविणस.) ज्ञान को बढ़ाने हारी, ज्ञानसम्पन्न (गिर.) इन वेदमयी वाणियों का (असभ्यं हि) हमारे ही लिये (कर.) बनाते, प्रकट करते, उपदेश करते हो ।

२०४८ १ अंगिरा.—अंगारश्चांगिरा (अंगारा अंगना अञ्चनाः) । (नि० ३ । ३ । ५) अंगाना क्षेत्र रस., इति माहेयम् ।

२ यद्वृत्तिरत्यत्यनामसु पठितः । यद्वर्तिहर्वयतेश्चौरादिकात्कुप्रत्यये मृगय्वादिरान्निगमनम् । यद्वाऽऽहूतश्चेति माधवः ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१५५२] अग्ने आयाह्यग्निभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।
१२ ४२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
आ त्वामनक्तु प्रयता हविष्मता यजिष्ठं बर्हिरासदे ॥१॥
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१५५३] अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अङ्गिरः स्रुचश्चरन्त्यध्वरे ।
३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
ऊर्जो नपात घृतकेशमीमहेऽग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम् ॥२॥ ७ ॥

ऋ० ८ । ५८ । १, २ ॥

भा० —(१) हे अग्ने ! परमात्मन् ! और हे आत्मन् ! तू (अग्निभिः) प्रकाशक विद्वानों और प्राणों के साथ (आयाहि) प्राप्त हो । इस ब्रह्माण्ड और पिण्ड में अपनी शक्ति का दान-आदान करने हारे (त्वां) तुझ को हम (होतारं) अपना होतृस्वरूप शक्ति और सुख का दाता (वृणीमहे) वरण करते हैं । (यजिष्ठं) सबसे श्रेष्ठ यज्ञ और दान करने हारे (त्वा) तुझ को ज्योतिष्मती प्रज्ञा से (बर्हिषि) इस हृदयकाश में (आसदे) प्राप्त करके (अनक्तु[1]) ज्ञान करें तुझे पहिचानें और अधिक प्रकाश हो या तुझ में व्याप्त हो जायं ।

(२) हे (सहसः सूनो) बल, तपस्या द्वारा अभिसवन निष्पादन अर्थात् उपासना और ज्ञान करने योग्य ! हे (अङ्गिरः) सबके प्रकाशक और स्वयंप्रकाश परमात्मन् ! अथवा अङ्गों २ में रसरूप होकर विराजमान आत्मन् ! (त्वा) तुझको (अच्छ) प्राप्त करने के लिये (हि) ही (अध्वरे) यज्ञ में जिस प्रकार (स्रुचः) यज्ञ के चमसाकार पात्र अग्नि के प्रति जाते हैं उसी प्रकार (अध्वरे) हिंसा रहित जीवनयज्ञ सर्ग-प्रतिसर्ग स्वरूप ब्रह्माण्ड में (स्रुचः[2]) स्रवण अर्थात् गति करने हारे पञ्चभूत और देह

१५५२—१. अनक्तु, अञ्जूव्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु [रुधादि]

२. सु० क, चिस्रुचः । स्रुवः स्रक् इत्येते स्रुवार्थो रूढे । स्रुगञ्चौ भ्वादि ।

में प्राण और इन्द्रियगण (चरन्ति) विचरण करते हैं (यज्ञेषु) सब दान परोपकार और यज्ञ आदि श्रेष्ठ कार्यों में या सब आत्माओं में (पूर्वम्) सबसे श्रेष्ठ सबसे पूर्व विद्यमान एवं पूर्णस्वरूप (ऊतये नवमे) रस या बल से आत्मा का पालन करने हेतु (घृतश्चुतम्) दीप्तिरूप किरणों से युक्त आप (अग्निम्) ज्ञानरूप परमेश्वर का (हवामहे) हम याचना करते और आपकी शरण आते हैं।

[१५५४] अच्छा न॑ शीरशोचिषं॒ गिरो॑ यन्तु दर्शतम्।
अच्छा यशासो नमसा पुरुवसुं पुरुप्रशस्तमूतये ॥ १ ॥

[१५५५] अग्निं॒ सूनुं॑ सहस॒ जातवे॑दसं॒ दानाय॑ वार्याणाम्।
हिता॑ यो॒ भूदमृ॑ता॒ मर्त्ये॑ष्वा॒ होता॑ म॒न्द्रत॑मो॒ विशि॑॥२।८॥
ऋ० ७। ७१। १० ११॥

भा०—(१) (नः) हमारी (गिरः) उच्चारण की हुई वेदवाणियां स्तुतियां (दर्शतम्) ज्ञानदृष्टि से दर्शनीय (शोशोचिषं) अग्नि के समान देदीप्यमान कान्तियुक्त (पुरुवसुं) समस्त प्रजाओं और इन्द्रियों को वास देने हारे उनमें बसे या बहुत ऐश्वर्यों के स्वामी (पुरुप्रशस्तं) सबसे श्रेष्ठ या प्रजाओं द्वारा कीर्तित उस उत्तमश्लोक परमात्मास्वरूप अग्नि को (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (यन्तु) प्राप्त हों। (यशासः) हमारे आत्मा भी (नमसा) आदर और श्रद्धा सहित उसको ही (अच्छ) भली प्रकार प्राप्त हों।

(२) (सहसः सूनुं) बल द्वारा ज्ञान करने और प्राप्त करने योग्य और समस्त बलों के प्रेरक (जातवेदसम्) व्यापक सर्वज्ञ सर्वैश्वर्यवान् उस (अग्निं) तेजोमय आत्मा को (वार्याणाम्) वरण करने योग्य पदार्थों के (दानाय) प्राप्त करने के लिये (अच्छ) प्राप्त हुआ। (यः) जो (अमृत)

अमृतस्वरूप होकर भी (द्विता) दो स्वरूपों में विद्यमान है। एक तो (मर्त्येषु) समस्त मरणधर्मा प्राणियों में (आ हाता) आत्मारूप जीव अथवा सब प्राणियों को सुखों और जीवनों का दाता और (विशि) समस्त प्रजाओं में (मन्द्रतम) परम आनन्तदाता ईश्वर है।

इति द्वितीय खण्ड ।

---

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २

[१५५६] अदाभ्य पुर एता विशामग्निर्मानुषीणाम्।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २

तूर्णीरिथ सदा नव ॥१॥

३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५५७] अभि प्रयांसि वाहसा दाश्वा अश्नोति मर्त्य ।

१ २ ३ १ २

तव पावकशाचिष ।२॥

३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[१५५८] साह्वान्विश्वा अभियुज क्रतुर्देवानामसृक्ष ।

३ २ ३ १ २

अग्निस्तुविश्रवस्तम ॥३॥६॥ अ० ३। ११। ५, ७ ६॥

भा०—(१) (मानुषीणां) मननशील (विशां) प्रजाओं का (तूर्णी) अति शीघ्रगामी (रथ) रथ के समान दहादिपसघात या कर्मवासनाओं को साथ ही लेकर चलने हारा या रमणशील (सदा) निरन्तर (नव) नूतन, अजर (अग्नि) आत्मरूप यह अग्नि (अदाभ्य) देह के नाश हो जाने पर भी न मरने हारा, (पुरः एता) प्राप्य या पालन करने योग्य देहों में प्राप्त हो जाता है।

(२) (दाश्वान्) दानशील अपने को उस आत्मा के प्रति समर्पित करने हारा साधक (मर्त्य) मरणधर्मा पुरुष (वहिषा) शरीर को रथ के समान धारण करने हारे उस आत्मरूप अग्नि से ही (प्रयांसि) समस्त सुख और भोग्य पदार्थ (अभि अश्नोति) भोग करता है और अपने आप

को (पावकशोचिष) पावन करन हार तेज क (स्व) निवास स्थान परमेश्वर को भी प्राप्त करता है। अर्थात् आत्मा स ही आत्मज्ञान और मोक्ष का भी लाभ करता है।

(३) वह अग्नि (सुविश्रवस्तम) बहुत अन्नादि भोग्य साधनों स सम्पन्न, (विशा) समस्त (अभियुज) आक्रमण करने हारों को (साह्वान्) वश करने हारा, (दवाना) विद्वानों का एकमात्र । ऋतु) कार्यसम्पादक, साक्षात कर्त्ता, अथवा (देवाना) इन्द्रियों के ज्ञान और कर्म का (ऋतु) कर्त्ता (अमृत) अविनाशी और अजन्मा है।

३ १ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २

[१५५९] भद्रो ना अग्निराहुतो भद्रा राति सुभग भद्रो अध्वर ।

१ २ ३ १२ २२

भद्रा उत प्रशस्तय ॥ १ ॥

३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१५६०] भद्र मन कृणुष्व वृत्रतूर्ये यन समत्सु सासहि ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २

अव स्थिरा तनुहि भूरि शर्धता वनेमा ते अभिष्टये॥२॥१०॥

अ० ८ । १६ । १६, २० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० स० [१११] पृ० ५६ ।

(२) हे अग्न परमात्मन् ! (वृत्रतूर्य) विघ्नकारी अज्ञान और शत्रुओं को नाश करन के कार्य में (यन) जिस सकल्पशक्ति स आप (समत्सु) सग्रामों में (सासहि) विघ्नों का नाश करत हैं उस (मन) हमारे मन का भी (भद्र) कल्याणकारी (कृणुष्व) कर । (शर्धता) प्रबल होने हारे शत्रुओं क (स्थिराणि) बलों का (अव तनुहि) नाच दबा द । हम (अभिष्टय) अभीष्ट प्राप्ति क लिय (ते) तरी शरण को (वनम) प्राप्त होत हैं।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५६१] अग्ने वाजस्य गोमत ईशान सहसो यहो ।

३ २ ३ ३ २ ३ १ २

अस्मे देहि जातवेदो महिश्रव ॥ १ ॥

[१५६२] स इधानो वसु. कविरग्निरीड्यो गिरा ।
रेवदस्मभ्य पुर्वणीक दीदिहि ॥ २ ॥
[१५६३] क्षपो राजन्नुत त्मनाग्ने वस्तोरुतोषस. ।
स निग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति ॥ ३ ॥ ११ ॥

अ० १ । ७६ । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [६६] पृ० ५३ ।

(२) (स) वह (वसु) सबको वास देने और सबमें बसने हारा (कविः) क्रान्तदर्शी, मेधावी (गिरा) वाणी द्वारा (ईड्यः) सबके स्तुति करने योग्य है। हे (पुरु अनीक) पुरु=बहुत भारी अनीक अर्थात् शक्ति से सम्पन्न या अनन्त सुख, आनन्द से परिपूर्ण परमात्मन् ! तू (अस्मभ्य) हमारे (रेवत्) ज्ञानवान् आत्मा के भीतर (दीदिहि) प्रकाशमान् हो ।

(३) (उत) और हे (राजन्) समस्त प्रजा का अनुरजन करने हारे प्रकाशमान परमात्मन् ! (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप आप (त्मना) स्वय आत्मा के बल से वीर तेजस्वी राजा के समान (रक्षस) राक्षसी, दुष्टभावों और पुरुषों का (वस्तोः) दिन (उत) और (उषस) रात्रि के समाप्तिकाल उषाओं अर्थात् नित्य ज्ञानोदय कालों में (क्षप) दूर भगा दो। हे (निग्मजम्भ) तीक्ष्णमुख ! अग्नि के समान तेज से अन्धकारों को नाश करन हार ! आप राक्षसी भावों या राक्षसों का (प्रति दह) भस्म करा, निर्मूल करो । जिससे वे निर्बीज होकर पुन. जन्म मरण के बधन का कारण न हों ।

इति तृतीय खण्ड ।

[१५६४] विशो विशो वो अतिथिं वाजयन्त पुरुप्रियम् ।
अग्निं वो दुर्यं वच स्तुषे शूषस्य मन्मभि ॥ १ ॥

१र २र ३ १ २ ३।१र ३ १ २
[१५६५] यज्ञनासो हविष्मन्तो मित्र न सर्पिरासुतिम् ।
२ ३ २ ३ १ २
प्रशंसन्ति प्रशस्तिभि ॥ २ ॥
१ २ ३।१ २ ३ २ ३२ ३ १ २
[१५६६] पन्यांसञ्जातवेदस यो देवतात्युद्यता ।
३ १र २र ३ २
हव्यान्यैरयद्दिवि ॥ ३ ॥ १२ ॥ ऋ० ८ । ७४ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [८७] पृ० ४६ ।

(२) (हविष्मन्त) ज्ञानवान् (जनास.) पुरुष (य) जिस (सर्पि आसुतिं) सर्पणशील इन्द्रिय और मन को प्रेरणा करने हारे, अथवा तेज को देने हारे अथवा घृत की आहुति के समान सर्पणशील प्राणरूप इन्द्रिय और मन को अपने भीतर आहुत अर्थात् लीन करने हारे अग्नि को (मित्र न) मित्र के समान (प्रशस्तिभि) उत्तम स्तुतियों द्वारा (प्र शंसन्ति) वर्णन करते हैं ।

(३) (पन्यांस) अति स्तुति करने योग्य, या व्यवहार में अति कुशल समस्त जगत् व्यवहार को चलाने हारे (जातवेदस) सर्वज्ञ, सर्वैश्वर्यवान्, सब पदार्थों के ज्ञाता उस प्रभु की स्तुति करो (य) जो (देवताति) देवों के हितकारी यज्ञस्थान में (उद्यता) उद्यत, प्रस्तुत (हव्यानि) हव्य आदि उत्तम अन्नमय पदार्थों को जिस प्रकार अग्नि अपने तेज से आकाश में फैला देता है उसी प्रकार जो प्रभु समस्त पदार्थों को (दिवि) सूर्य के प्रकाश और ज्ञान के आश्रय पर (ऐरयद्) प्रेरित करता है । अथवा (य) जो (देवताति) इस महान् देवगण पृथिवी, जल आदि के हितकर (दिवि) आकाश में (उद्यता हव्यानि) ऊर्ध्व दिशा में नियम से बद्ध सूर्यादि लोकों को (ऐरयत्) प्रेरित करता है ।

१२ ३२ ३१ २३१२३१२ ३२३१२३२
[१५६७] समिद्धमग्निं समिधा गिरा गृणे शुचिं पावकं पुरो अध्वरे
३२ २३ १२ ३१२३२ ३२३१२
ध्रुवम्। विप्रं होतारं पुरुवारमद्रुहं कविं सुम्नैरीमहे
३१२
जातवेदसम् ॥ १ ॥
२३१२ ३१२३१२ ३१२ २१२ २२
[१५६८] त्वा दूतमग्ने अमृत युगे युगे हव्यवाहं दधिरे पायुमीड्यम्
३११३ १२ १२ ३२३२३१२३१२
देवासश्च मर्तासश्च जागृविं विभुं विश्पतिं नमसा निषेदिरे
३१२ ३२ ३१२३२३२३२३१२३१२
[१५६९] विभूषन्नग्न उभयाँ अनुव्रता दूतो देवानां रजसी समीयसे।
१२ ३१ २३२ ३१२ २१ ३१२ ३१
यक्षि धीतिं सुमतिमावृणीमहेऽध सा नस्त्विवरुथः शिवो
२
भव ॥ ३ ॥ १३ ॥ ऋ० ६। १५। ७-९ ॥

भा०—(१) (समिद्ध) उत्तम रीति से सर्वत्र प्रकाशमय, (शुचिं) शुद्ध कान्तिमय, (पावकं) सब को पवित्र करने हारे (अध्वरे) हिंसारहित, अविनाशी, जीवनप्रद, संसार रूप यज्ञ में (पुरः) सब से पूर्व (ध्रुवम्) नित्य, अविनाशी उस (अग्निं) तेज स्वरूप परमेश्वर को (समिधा) ज्ञानमयी (गिरा) वाणी से (गृणे) वर्णन करता हूं। उसी (विप्रं) ज्ञानवान् मेधावी (होतारं) सर्वप्रद, (पुरुवारं) प्रजाओं के रक्षक, (अद्रुह) सब से प्रेम करने हारे एवं द्वेषरहित, सब के प्रिय (कविं) अन्तर्यामी, अन्तर्दर्शी (जातवेदस) सर्वज्ञ उस परमात्मा की (सुम्नैः) उत्तम मनन निदिध्यासनों द्वारा या सुखकारी स्तुतियों द्वारा (ईमहे) प्रार्थना उपासना करें।

(२) हे (अग्ने) परमेश्वर ! (अमृत) अमृतस्वरूप, (हव्यवाहं) सब स्तुतियों को स्वीकार करने हारे, (पायुं) जगत के पालक, (ईड्यम्) सब के वन्दनीय, (त्वा) तुझको (युगे-युगे) प्रत्येक युग में विद्वान्

लोगों ने अपना (दूत[1]) सदा उपास्य, भजन सेवन करने योग्य एवं ज्ञानों का प्रकाशक (दधिरे) स्वीकार किया, धारण किया। और (देवास) दिव्य ज्ञानवान् और (मर्त्यास) मरणधर्मा कर्मबद्ध सामान्य जीव दोनों तुझको ही (जागृविं) सदा जागरणशील (विभुं) सर्वव्यापक और विशेष रूप से सब का उत्पादक (विश्पतिं) समस्त प्रजाओं का पालन करने हारा जानकर (नमसा) भक्ति योग से विनय पूर्वक (नि षेदिरे) तेरे ही चरणों में आ बैठते हैं और तेरे गुरु चरणों में बैठकर उपनिषदों द्वारा ज्ञान लाभ करते और उपासना करते हैं।

(३) हे (अग्न) प्रभो ! (उभयान्) बद्ध और मुक्त दोनों प्रकार के जीवों को (विभूषन्) अपनी विभूतियों से सुशोभित करता हुआ तू (अनु क्रतो) समस्त यज्ञों में (देवान्) देवगण, दिव्य पदार्थों, एवं मुक्त जीवों को (दूत.) साक्षात् प्राप्त और उन के प्रति नाना ज्ञानप्रकाशक होकर (रजसी) समस्त द्यौ और पृथिवी लोकों में (समीयस) व्यापक रहता है। (यत्) क्योंकि हम (ते) तेरी ही (सुमतिं) उत्तम स्तुति और (प्रीतिं) ध्यान (आवृणीमहे) करते हैं (अध) और तू (त्रिवरूथ:) उत्पादक, पालक और संहारक तीन रूप का हो कर (शिव.) हमारा कल्याणकारी (भव सम) हो।

[१५७०] उप त्वा जामयो गिरो देदिशतीर्हविष्कृत ।
वायोरनीके अस्थिरन् ॥ १ ॥

[१५७१] यस्य त्रिधातवृतमह्नि तस्थावसन्दिनम् ।
आपश्चिन्मदधा पदम् ॥ २ ॥

[१५७२] पद देवस्य मीळुषो नाधृष्टाभिरुतिभि ।
भद्रा सूर्य इवोपदृक् ॥३॥१४॥ ऋ० ६ । ६१ । १३, १५ ॥

---

१. दुद्रुवुर्वा (स्वादि.) ।

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१३] पृ० ६ ।

(२) (यस्य) जिस आत्मा का (त्रिधातु) वात, पित्त, कफ तीन धारणसमर्थ धातुओं का बना (अवृत) अनावृत, नाशयुक्त अथवा मासादि घृणाजनक पदार्थों का बना हान स न वरण करने वाग्य (असन्दिनम्) अबद्ध अर्थात् आत्मा स सर्वथा पृथक् और कभी स्थिर स्थिति न प्राप्त करने हारा, (बर्हि) वृद्धिशील और बन्धन होन से ज्ञानरूप शस्त्र स काटन याग्य देहबन्धन तस्थौ) स्थिर है उस अग्निरूप आत्मा में (आप) समस्त कर्म और प्राणगण (पद) स्थान (निदधा) प्राप्त करते हैं अथवा सब (आप) प्राण और ज्ञानवृत्तियां (पद) अपना आश्रय (निदधा) धारण कराती हैं ।

परमात्मा पक्ष में-(त्रिधातु) सत्व रजस, तमस् से बना (अवृत) प्रत्यक्ष रूप (बर्हि) महान् ब्रह्माण्ड रूप देह (असन्दिन) गतिमान् (तस्थौ) स्थिर है । जिसमें (आप) समस्त लोक (पद निदधा) स्थान पाते हैं ।

(३) (मीढुष) समस्त कामनाओं को पूर्ण करने हारे (देवस्य) प्रकाशमान देव का (पद) परम पद, परम रूप (अनाधृष्टाभि) अद्वितीय, अबाधित, (ऊतिभि) सुखों से युक्त है । और उसका (उपदृक्) साक्षाद् दर्शन (सूर्य इव) सूर्य के समान सदा (भदा) कल्याणकारी है ।

इति चतुर्थ खण्ड ।

इति सप्तमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः ॥ ३

इति पञ्चदशोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथ षोडशोऽध्यायः ।

अथ सप्तम प्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धं ।



ऋषि —१, ८, १८ मध्यातिथि काण्व । २ विश्वामित्र । ३, ४ भर्ग प्रागाथ । ५ सोभरि काण्व । ६, १५ शुन शेप आजीगर्ति । ७ सुकक्ष । ८ विश्वकर्मा भौवन । १० अनानत । पारुच्छेपि । ११ भरद्वाजो बार्हस्पत्य १२ गातमो राहूगण । १३ सुजिघ्र । १४ वामदेव । १६ १७ हयत प्रागाथ हैवातिथि काण्व । १६ पुष्टिगु काण्वः । २० पर्वतनारदौ । २१ अत्रि ॥ देवता—१, ३, ४, ७, ८, १५—१९ इन्द्र । २ इन्द्राग्नी । ५ अग्नि । ६ वरुण । ९ विश्वकर्मा । १०, २० २१ पवमान सोम । ११ पूषा । १२ मरुत । १३ विश्वेदेवा १४ द्यावापृथिव्यौ ॥ छन्द —१, ३ ४ ८, १७ १९ प्रागाथम् । २, ६, ७, ११, १६ गायत्री । ५ बृहती । ९ त्रिष्टुप् । १० अत्यष्टि । २० उष्णिक् । २१ । जगती ॥ स्वर —१ ३ ४, ५,८, १७ १९ मध्यम । २, ६ ७ ११—१६ षड्ज । ९ धैवत १० । गान्धार । २० ऋषभ । २१ निषाद ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५७३] अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्रस्तोमेभिरायव ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

समीचीनास ऋभव समस्वरन् रुद्रा गृणन्त पूर्यम् ॥१॥

३ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[१५७४] अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्णय शवा मदे सुतस्य विष्णवि ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २

अद्या तमस्य महिमानमायवोऽनुष्टुवन्ति पूर्वथा ॥२॥१॥

ऋ० ८ । ३ । ७, ८ ॥

भा०—(२) व्याख्या देखो अविकल सं० [२५६] पृ० ।

(२) (इन्द) इद (अस्य इत) इस ही (सुतस्य) उत्पादित सोमरूप आत्मानन्द क (विष्णवि) व्यापक (मदे) आनन्द, हर्ष में (वृष्ण्य) सुखों क वर्षक (शव) बल को (वावृध) बढ़ा लता है। (आयव) मनुष्य आयु में बद्ध जीवगण और ज्ञानवान् पुरुष (पूर्वथा) पूर्व क समान (अद्य) आज भी (अस्य) इस आत्मा क (त) उस (महिमान) महान् सामर्थ्य का (अनुष्टुवन्ति) वणन करत हैं।

[१५७५] प्र वामर्चन्त्युक्थिनो नीथाविदा जरितार ।
इन्द्राग्नी इष आवृणे ॥ १ ॥

[१५७६] इन्द्राग्नी नवतिम्पुरो दासपत्नीरधूनुतम् ।
साकमेकेन कर्मणा ॥२॥

[१५७७] इन्द्राग्नी अपसस्पर्युपप्रयन्ति धीतय ।
ऋतस्य पथ्याऽ३अनु ॥३॥

[१५७८] इन्द्राग्नी तविषाणि वां सधस्थानि प्रयांसि च ।
युवोरप्तूर्यं हितम् ॥४।२॥ अ० ३ । १२ । ५-८ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र ! परमेश्वर और अग्निरूप जीव ! (वाम्) आप दानों का (नीथविद) सामगान या ब्रह्ममार्ग क जानने हार (जरितार) स्तुतिकर्त्ता विद्वान् पुरुष और (उक्थिन) वेदज्ञानी विद्वान् (प्र अर्चन्ति) उत्तम रूप स उपासना करत हैं। मै भी (इष) बल प्राप्त करने क लिय उन दाना (इन्द्राग्नी) आत्मा और परमात्मा को (आवृणे) वरण करता हू उपासना करता हू।

(२) हे (इन्द्राग्नी) ब्रह्म और जीव ! जो दानों आप (दासपत्नी) विना शक भावों स परिपालित (नवतिम्) नव (पुर) कामनाओं को (एकेन कर्मणा) एक कर्म अर्थात् याग स ही (साक) एक साथ (अधूनुतम्) कम्पा

देत हो उन आप दानों को हम स्मरण करत हैं । इन्द्रिय भद स १०, सत्व रजस् तमस भद स ३० प्रकार हुए अन्नमय प्राणमय और मनोमय भेद से तीनों कोशों में ३० पुर होत हैं । एकादश इन्द्रिया मान कर ३३ पुर भी कह जाते हैं ।

(३) इ (इन्द्राग्नी) पूर्वोक्त इन्द्र और अग्न ! (धीतय) ध्यान करन हारे विद्वान्जन (ऋतस्य) ब्रह्मज्ञान क (पथ्या) मार्गों का (अनु) अनुगमन करत हुए (अपस) कर्मों का (परि दव प्रयान्ति) पार कर के आपक समाप तक पहुच जात हैं ।

(३) इ (इन्द्राग्नी) जीव और ब्रह्म (वां) आपके (तविषाणि) बल और (प्रयासि) ज्ञान (सधस्थानि) साथ ही रहत हैं और (युवा) आप दानों में (अप्तूर्य) कर्मों और लाकों प्राणों तथा प्राणमय सूक्ष्म और स्थूल शरीरों का प्राप्ति करन वाला बल भी समानभाव से (हितम्) स्थापित है ।

३ २ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
[१५७९] शग्ध्यू३षू शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभि ।
२ ३ १२ २१ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
भग नहि वा यशस वसुविदमनु शूर चरामसि ॥१॥
३ २ २ ३ १२ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५८०] पारो अश्वस्य पुरुकृद्गवामस्यु सा देव हिरण्यय ।
२ ३ १२ २१ ३ १ २ २३ ३ १२ २१
नकिर्हि दा । परि मर्ध्दिषत्त यद्यामि तदाभर ॥२॥ ३ ॥
अ० ८ । ६१ । ६, ६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखा अवि० स० [२४३] पृ० १२६ ।

(२) इ दव ! परमात्मन् ! आप (अश्वस्य पार) आत्मा जीव क पूर्ण एव पालन करन हार और (गवा) इन्द्रियों क भी (पुरुकृत्) पूर्ण करन हार हैं । अर्थात् आपन आत्मा जीव का भाग साधन देकर पूर्ण किया है और इन्द्रियों को रूपादि भाग्य विषय देकर पूर्ण किया है और (हिरण्यय)

मन हरण करने हारे सुवर्ण के समान तेजों से बने हितकारी और रमणीक (उत्सः) कूप के समान सब आनन्दरसों के आश्रय अथवा तेजोमय पदार्थों का उत्पादन करने हारे उनके कारणरूप हैं। आपके लिये आत्मा और इन्द्रियों के भोग्य सुखजनक पदार्थ उत्पन्न करना क्या बड़ी बात है। हे परमात्मन्! (ते) आपके दिये (दानं) दान को (नकिः परिमर्धिषत्) कोई भी नाश नहीं कर सकता। आपसे मैं (यद् यद्) जो २ (यामि) याचना करता हूं वह २ (आभर) प्राप्त कराइये।

२अ ३ १ २ ३ २अ ३ १ २
[१५८१] त्वं ह्येहि चेरवे विदा भगं वसुत्तये।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
उद्वावृषस्व मघवन् गविष्टये उदिन्द्राश्वमिष्टये ॥१॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१५८२] त्वम्पुरू सहस्राणि शतानि च यूथा पानाय मंहसे।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
आ पुरन्दरं चकृम विप्रवचस इन्द्रायन्तोऽवसे ॥२॥४॥
ऋ० ८ । ६१ । ७ । ८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकल संं० [२४०] पृ० १२२।

(२) हे इन्द्र (त्वं) आप (पुरू) बहुतसे (सहस्राणि) हजारों और (शतानि च) सैंकड़ों (यूथा) यूथ (दानाय) दानशील पुरुष को (मंहसे) देते हैं। हम (विप्रवचसः) मेधावी ज्ञानी, पुरुषों के समान वचन बोलने हारे और विविध विद्याओं का प्रवचन करने हारे विद्वान् होकर (अवसे) ज्ञान और रक्षा की प्राप्ति के लिये (गायन्तः) स्तुति करते हुए (इन्द्रं) आत्मा और परमात्मा को ही (पुरन्दरं) इस देहरूप पुर को तोड़ने हारा (आचकृम) स्वीकार करते हैं। अथवा—हे आत्मन्! तू सैकड़ों हजारों (पुरू) पालन एवं तृप्त करने हारे पदार्थ केवल (दानाय) दान या त्याग करने के लिये ही हमें प्रदान करता है अतः उनको वैराग्य द्वारा त्याग कर विद्वान् ज्ञानी होकर इस देह का अन्त कर, मुक्ति देने हारे इन्द्र,

ईश्वर की स्तुति करते हुए, हम (अवसे) अपनी रक्षा और ज्ञान के लिये (चकृम) साधना करें ।

<८७ ३ १ २ ३ २ ३ ३२ ३ १२ २२
[१५८३] यो विश्वा दयते वसु होता मन्द्रो जनानाम् ।
२ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
मधोर्न पात्रा प्रथमा न्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्वग्नये ॥१॥
२ ३ २ ३ २ ३८ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५८४] अश्वं न गीर्भी रथ्यं सुदानवो मर्मृज्यन्ते देवयवः ।
३ २ ३ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
उभे तोके तनये दस्म विश्पते पार्षि राये मघोनाम् ॥२॥५

ऋ० २०३ । ६, ७ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल्प सं० [४४] पृ० १६ ।

(२) हे (दस्म) दर्शनीय, कमनीयरूप ! हे (विश्पते) समस्त प्रजा के पालक ! (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! (देवयव) देव परमात्मा की चाह करने वाले (सुदानव) अपने को उत्तम रूप से समर्पण करने हारे, भक्त (गीर्भि) अपनी वाणियों और आपकी स्तुतियों से भी (रथ्य) इस देहरूप रथ के योग्य (अश्व न) अश्व के समान आत्मा को ही (मर्मृज्यन्ते) शोधन किया करते हैं । उसको बराबर तपस्याओं से शुद्ध पवित्र किया करते हैं आप ही (मघोनाम्) मघ=मख=ज्ञान के धनी पुरुषों के (ताके) पुत्र और (तनये) पौत्र (उभे) दोनों में (राधः) आराधनीय विवेक का (पार्षि) दान करते हैं ।

नास्य अब्रह्मवित् कुल भवति (बृहदारण्यकोपनिषद्)

इति प्रथम खण्ड ।



३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५८५] इममे वरुण श्रुधि हवमद्या च मृळय ।
१ २ १२ ८२
त्वामवस्युराचके ॥१॥६॥ ऋ० १ । २५ । १ ॥

भा०—(१) हे (वरुण) सबसे श्रेष्ठ, वरण करने योग्य एवं सब पापों के निवारक परमेश्वर ! (मे) मेरे (इमे) इस (हवम्) पुकार को (श्रुधि) श्रवण कर । (अद्य च) और वर्तमान में हमें (मृडय) सुखी कर । मैं (अवस्यु) अपनी रक्षा तथा आपको शरण और ज्ञान चाहता हुआ (त्वा) आपसे (आचके) प्रार्थना करता हूं।

२ ३ १ २ ३ १र २र
[१५८६] कया त्वं न ऊत्याभिप्रमन्दसे वृषन् ।
१ २ ३ २ ३ १ २
कया स्तोतृभ्य आभर ॥१॥७॥ ऋ० ८ । ६३ । १९ ॥

भा०—(१) हे इन्द्र ! हे (वृषन्) सुखों के वर्षाने हारे श्रेष्ठ परमात्मन् ! (कया ऊत्या) किस अद्भुत रक्षा और ज्ञान से (त्व) आप (न) हमें (प्रमन्दसे) खूब आनन्दित, सुखी, प्रसन्न करते हैं और (कया) किस उत्तमता से (स्तोतृभ्य.) विद्वान् पुरुषों को (आभर) सब पदार्थ प्राप्त कराते हैं ?

२ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ऋ १र ३ २
[१५८७] इन्द्रमिद्देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे ।
१ २३ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ॥२॥
१ २ ३ १र २र ३ २ ३ २ ३ १ २
[१५८८] इन्द्रो महा रोदसी पप्रथच्छव इन्द्र सूर्यमरोचयत् ।
१ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्रह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे स्वानास इन्दव २।८
ऋ० ८ । ४ । ५, ६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२४६] पृ० १२७ ।

(२) (इन्द्र) परमेश्वर (शव) अपने बलकी (महा) महिमा से (रोदसी) आकाश और पृथिवी दोनों लोकों को (पप्रथत्) विस्तृत करता है, बनाता है । (इन्द्र) ऐश्वर्यशील परमात्मा (सूर्यम्) सूर्य को (अरोचयत्) प्रकाशित करता है । (इन्द्र) परमेश्वर (विश्वा) समस्त (भुवनानि) भुवनों का (येमिर) व्यवस्थित करता है । (इन्द्रे)

परमेश्वर ही (इन्दव) योगी लोग मुक्त पुरुष (स्वानास) आनन्द रस का लाभ करते हैं और उसी में निमग्न होजाते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १
[१५८६] विश्वकर्मन् हविषा वावृधान स्वयं यजस्व तन्वा३३स्वा
१ १ २ ३ २ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
हिते । मुह्यन्त्वन्ये अभि तो जनास इहास्माकम्मघवा
३ १ २
सूरिरस्तु । ॥१५६॥ ऋ० १० ८१ । ६ ॥

भा०—(१) हे (विश्वकर्मन्) समस्त संसार के स्रष्टा परमेश्वर ! (हविषा) ज्ञान से और सामर्थ्य से (वावृधान) सबसे सदा महान् (स्वाहित) उत्तम रीति से आधान किये गये इस विश्व ब्रह्माण्ड में (तन्वा) विस्तार शील, द्यौ और पृथिवीरूप शरीर में (स्वयं) अपने आप तू (यजस्व) एक का दूसरे का उपकारक बनाता है[1] (अन्ये) और तेरे से भिन्न अल्पज्ञ (जनासः) जन जीवगण (अभित) इसको साक्षात् देखकर भी (मुह्यन्तु) मोह को प्राप्त होते हैं (इह) इस विशाल ब्रह्माण्ड यज्ञ के विवरण करने में (मघवा) ज्ञानसम्पादक परम ज्ञानी परमेश्वर ही (अस्माकं) हमारा (सूरिः) ज्ञानोपदेष्टा (अस्तु) हो ।

'तत्रैतिहासमाचक्षते विश्वकर्मा भौवन सर्वमेध सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार । तदभिवादिनी एषा ऋग् भवति । ' (निरु०) । विश्वकर्मा भौवन ने सर्वमेध यज्ञ में समस्त भूतों का हवन कर दिया और अन्त में अपने आपका भी स्वाहा कर दिया । यह आत्मिक यज्ञ का भी वर्णन है । और विशालरूप में यही यज्ञ ब्रह्माण्डमय विराट् शरीर में भी हो रहा है । परमात्मा समस्त–पृथिवी आदि पांचों भूतों का मिश्रण करके संसार रचता है और आप भी उसका व्यापक व्यवस्थापक होकर, उसी में लीन रहता है । तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ।

१५८८— यजस्व पृथिवीमुतद्याम् ' इति ऋ० ।

(छान्दोग्य उप०) इसी प्रकार आत्मा देह में पञ्चभूतों के पाचों शब्दादि विषयों को ग्रहण करता और उनसे ज्ञान सम्पादन करता, पुनः स्वप्न और समाधि दशा में अपने में भी मग्न रहता है ।

अध्यात्मपक्ष में—हे विश्वकर्मन् ! सर्व कर्मों के कर्ता जीवात्मन् ! (हविषा) ज्ञान से (वावृधान.) बढ़ता हुआ (स्वाहित) अपने ही कर्मों से प्राप्त इस (तन्वा) देह में तू (स्वय यजस्व) अपने आप प्राणों द्वारा यज्ञ कर रहा है । और (अन्ये जना मुह्यन्ति) दूसर मूर्ख, अनात्मज्ञ लोग मोह को प्राप्त हो जाते हैं और (मघवा) परमात्मा या आत्मज्ञानी आचार्य ही इस आभ्यन्तर योगयज्ञ के सम्पादन में (अस्माक सूरिः अस्तु) हमारा ज्ञानोपदेष्टा हो ।

१–तनू =अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिश. श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

परमात्मा का स्वयं यज्ञ का रूप—तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात् पर्जन्या ओषधयः पृथिव्याम् । पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूता. ॥ मुण्डक २ । १ । ५ ॥

गीता के यज्ञचक्र और छान्दोग्य उप० में पञ्चाग्नितिकरण भी देखने योग्य हैं ।

३ २ ३ १२ १२ ३ २१२ ३ १ १ ३ १
[१५९०] अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि तरति स्यु-
२ ३ २ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १
धभि. सूरो न सयुग्भिः । धारा पृष्ठस्य रोचते पुनाना
२ ३ १२ १२ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ १२ ३ १ २ ३
अरुषो हरिः विश्वा यदूपा परियास्यृक्वभिः सतास्येभि
१ २
र्ऋक्वभिः ॥ १ ॥

[१५६१] प्राचीमनु प्रदिशं याति चेकितत्स रश्मिभिर्यतते दर्शता रथो दैव्यो दर्शतो रथः । अग्मन्नुक्थानि पौंस्येन्द्र जैत्राय हर्षयन् वज्रञ्च यद्धवथो अनपच्युता समत्स्वनपच्युता ॥ २ ॥

[१५६२] त्वं ह त्यत्पणीनां विदो वसु सम्मातृभिर्मर्जयासि स्व आ दम ऋतस्य धीतिभिर्हविष्मता न साम तद्यन्नारण्यन्ति धीतय त्रिधातुभिररुषीभिर्वयो दधे रोचमानो वयो दधे ॥ ३ ॥ १० ॥ ऋ० ९ । १११ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) (पृषस्य) सबके साथ स्पर्श करने हारे, सबके पोषक प्राण की (धारा) धारण शक्ति या वाणी द्वारा वह सोमस्वरूप, आनन्दस्वरूप योगी आत्मा (पुनान) और भी पवित्र, शुद्धरूप होकर (यत्) जब (विश्वा) समस्त (रूपा) पदार्थों को (सक्षास्यै) सर्पणशील आस्य अर्थात् इन्द्रियों में विराजमान (अक्षभि) गतिशील, प्राप्यप्राही, (अक्षभि) उत्तम, प्राणरूप इन्द्रियों से (परियासि) प्राप्त करता है तब (सयुग्वभि.) अपने सहयोगी किरणों द्वारा (सूर न) जिस प्रकार प्रेरक सूर्य या राजा (द्वेषासि तरति) अपने शत्रुओं को पार कर लेता या पराजित कर देता है उसी प्रकार (अरुष) कान्तिमान् तेजस्वी (हरि.) हरणशील या ईश्वर के प्रति गमन करने हारा योगी (अया) इस तरह (हरिण्या) दुःखों को मिटाने और ज्ञान को प्राप्त करने वाली (रुचा) विशेष दीप्ति से (पुनान) प्रकाशमान होकर (सयुग्वभि) अपने योगबल द्वारा वशीकृत अङ्गों या इन्द्रियों और मन के द्वारा (विश्वा) समस्त (द्वेषासि) द्वेष करने हार प्राणियों और योग के शत्रुरूप अन्तर्विघ्न काम, क्रोध आदि रिपुओं को (तरति) पार कर जाता है, उन पर वश कर लेता है ।

(२) (यद्) जब जीव और परमात्मा (समसु) एकत्र आनन्द प्राप्त करके समाधि के अवसरों पर (अनपच्युता) अविचलित राजा और मन्त्री के समान (अनपच्युता) काम क्रोधादि शत्रुओं से कभी विचलित नहीं होते हैं तब (चकितत्) ज्ञानवान् योगी (प्राचीं) प्रकृष्ट, उत्तमरूप से उपासना करने योग्य, सुप्राप्य, (प्रदिश) उत्तमरूप से जानने योग्य दिशा-मार्ग के प्रकाश को (याति) प्राप्त कर लेता है और (दर्शत) दर्शनीय (रथ.) सूर्य्य के समान योगी का वह (दर्शत) दर्शनीय (रथ) रमण करने हारा आत्मा (रश्मिभि) ईश्वरप्रदत्त ज्ञानरश्मियों से और भी (यतत) आगे की ओर मुक्तिमार्ग पर बढ़ता है । तब ही (जैत्राय) अपनी इस मुक्ति मार्ग की विजय के लिये (इन्द्र) आत्मा को (हर्षयन्) धन्यवाद और साधुवाद देता हुआ, उसे और अधिक हर्षित और प्रबल करता हुआ (पौंस्या) बलशाली या बलप्रद (उक्थानि) स्तुतियों का (अग्मन्) उच्चारण करता है और सब विघ्नों के नाशक (वज्र च) अपवर्ग रूप वज्र को भी प्राप्त करता है ।

(३) हे सोम ! योगिन् ! (त्वं) तू (पत्नीना) व्यवहार में गति करने हारे या स्तुति करने हारे विद्वानों के (त्यत्) उस (वसु) जीवन या वास कराने हारे आत्मधन को (विद) जानता है और उसका (ऋतस्य) सत्य ज्ञान के (धीतिभि) धारण करने हारी (मातृभि) प्रमा अर्थात् यथार्थ अनुभव के साधक ऋतभरा प्रज्ञाओं द्वारा (दमे) इन्द्रियों और मन को दमन करने वाले (स्वे) अपने (दम) आश्रयरूप आत्मा में (समजैयसि) खोजता या परिशोध लगाता है, और भी परिष्कृत करता है । (तत्) वह परम आश्रयरूप आत्मा (परावत) दूर देश से सुनाई देने हारे (साम न) गान के समान मनोहर है । (यत्र) जिसमें (धीतय) ध्यान करने हारे योगी आश्रय लेकर (रण्वन्ति) रमण करते हैं । वह आत्मज्ञानी योगी (त्रिधातुभि) तीन प्रकार की धारणा करने वाली इन्द्रियों से सम्पन्न (अरुषाभि) कान्तियों या दासियों या किरणों से हो (वय.) जीवन और

प्राण को (दधे) धारण करता है और फिर (रोचमान) सूर्य के समान प्रकाशमान होकर (वय दधे) चिरस्थायी जीवन और बल को धारण कर लेता है।

त्रिधातु=मन, वाक्, काय। अथवा शरीर के धारक धातु, वायु, अग्नि और जल के सारभूत, वात, पित्त और कफ।

इति द्वितीय खण्डः।

३ १ २ ३१ ३ १ २ ३ १ २३ २३२
[१५९३] उत नो गोषणिं धियमश्वसां वाजसामुत।
३१२ ३१२
नृवत्कृणुह्यूतये ॥ ११ ॥ ऋ० ६। ५३। १० ॥

भा०—(१) हे परमात्मन्! आप (न) हमें (गोषणिं) ज्ञानेन्द्रियों के प्रेरक, (अश्वसां) प्राणेन्द्रियों के प्रेरक (वाजसा) ज्ञान और ऐश्वर्य के देने हारी (उत) और (नृवत्) नेतास्वरूप आत्मा को अपनाने हारे (धियम्) धारणावती बुद्धि और क्रिया शक्ति को (ऊतये) रक्षा के लिये (कृणुहि) प्रदान करो।

३ १ २ ३ १ २
[१५९४] शशमानस्य वा नर स्वेदस्य सत्यशवसः।
३१२ २२ ३ १२
विदा कामस्य वेनतः ॥ १२ ॥ ऋ० १। ८६। ८ ॥

भा०—(१) हे (सत्यशवस) विद्यमान रह कर सबके प्रेरक सत्यबल से सम्पन्न (नर) शरीर और इन्द्रियों को वहन करने हारे नेतास्वरूप विद्वानो! और प्राणो! (शशमानस्य) शमादि गुणों का अभ्यास करने वाले (स्वेदस्य) प्राणायाम के अवसर पर समस्त गात्र में स्वेद धारण करने वाले, उद्योगी (वनतः) विद्वान् योगी के (कामस्य) मन संकल्प को प्राप्त कराओ।

१५९२—'कृणुहि बीतये' इति, ऋ०।

[१५६५] उप नः सूनवो गिरः शृण्वन्त्वमृतस्य ये ।
सुमृडीका भवन्तु नः ॥ १३ ॥ ऋ० ६ । ५२ । ६ ॥

भा०—(१) (ये) जो (नः) हमारे (सूनवः) ज्ञान के उपदेश करने हारे विद्वान् या पुत्र हैं वे (अमृतस्य) मरणरहित, अजन्मा परमेश्वर के विषय में (गिरः) वाणियों को (उप शृण्वन्तु) प्रेम से श्रवण करें, करावें और (नः) हमारे लिये (सुमृडीकाः) उत्तम रूप से सुखकारी आनन्दप्रद हों । अथवा—वे विद्वान् गण (नः गिरः, उपशृण्वन्तु) हमें अपनी शुभ वेदोपदेशमय वाणियां श्रवण करावें ।

[१५६६] प्र वाम्महि द्यवी अभ्युपस्तुतिम्भरामहे ।
शुची उपप्रशस्तये ॥ १ ॥

[१५६७] पुनाने तन्वा मिथः स्वेन दक्षेण राजथः ।
उह्याथे सनादृतम् ॥२॥

[१५६८] मही मित्रस्य साधथस्तरन्ती पिप्रती ऋतम् ।
परि यज्ञमियेदथुः ॥३॥१४॥ ऋ० ४१ । ५६ । ५–७ ॥

भा०—(१) हे (द्यवी) प्रकाशमान् सूर्य और पृथिवी के समान प्राण और अपान (वां) आप दोनों को (अभि) साक्षात् करके आपके (महि) बड़ी (उपस्तुतिं) गुणवर्णन (प्रभरामहे) करते हैं । आप दोनों (उपप्रशस्तये) उत्तम कीर्ति के कारण (शुची) शुद्ध स्वरूप हैं । अथवा द्यौ और पृथिवी के समान हे गुरु और शिष्य या परमात्मन् और मुक्तजीव ! आप दोनों (महि द्यवी उपप्रशस्तये शुची) स्तुति करने के लिये आप प्रकाशमान् और शुद्धरूप हो, आपका (अभि) साक्षात् कर हम (स्तुतिं उप प्र भरामहे) आपके गुणों का सदैव वर्णन करते हैं ।

(२) हे जीव और परमात्मन् ! या शिष्य और गुरो ! (स्वेन) अपने (तन्वा) शरीर अर्थात् स्वरूप और (दक्षस) ज्ञान बल, और कर्म सामर्थ्य से (मिथ) परस्पर (पुनाने) एक दूसरे को पवित्र करते हुए (राजथ) प्रकाशित होते हो और (सनाद्) सदा काल से (ऋत) सत्य ज्ञान को (उद्यथे) धारण करते हो ।

(३) सूर्य और पृथिवी जिस प्रकार परस्पर एक दूसरे को जल और प्रकाशक का वितरण करते हैं और परस्पर पूर्ण करते हैं उसी प्रकार हे गुरु और शिष्य ! आप दोनों (मही) बड़ी महिमा वाले (ऋत) सत्यज्ञान को (तरन्ती) वितरण करते हुए और सत्य धर्म को (पिप्रती) पूर्णरूप से पालन करते हुए (मित्रस्य) मित्रस्वरूप परमात्मा की (साधथः) साधना करते हो और (यज्ञ) यज्ञ, परस्पर विद्या स्वाध्यायरूप यज्ञ के लिये (परिनिषेदथु) यज्ञ कार्यों से निवृत्त होकर एकान्त में बैठते हो ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१५९९] अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम् ।
१ २ १ २
वचस्ताचश्न ओहसे ॥१॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६००] स्तोत्र राधाना पते गिर्वाहा वीर यस्य ते ।
१ २ ३ १ २
विभूतिरस्तु सूनृता ॥२॥
३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ १
[१६०१] ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतयस्मिन्वाजे शतक्रतो ।
२ ३ १ २
समन्येषु ब्रवावहै ॥ ३ ॥ १५ ॥ ऋ० १ । ३० । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१८३] पृ० ।

(२) हे (राधानां पते) समस्त आराधनाओं और ज्ञानों के एकमात्र स्वामिन् ! और समस्त विभूतियों के स्वामिन् ! हे (वीर) सर्वशक्तिमन् ! हे (गिर्वाहः) वाणियों द्वारा उपदेश करने हारे प्रभो गुरो ! (यस्य) जिसके

(स्तोत्रं) समस्त सत्य उपदेश हैं उस (ते) तेरी ही (सूनृता) वेदवाणी (विभूतिः) विशेष सत्ता का प्रमाण या सम्पत्ति (अस्तु) हो ।

(३) हे (शतक्रतो) शत प्रज्ञानों से युक्त या सैकड़ों कर्म करने हारे (इन्द्र) आचार्य ! (अस्मिन्) इस (वाजे) यज्ञ में (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये आप (ऊर्ध्वः) हमारे ऊपर सदा (तिष्ठ) विराजमान रहें (अन्येषु) हम अन्य अवसरों पर भी (स व्रतावद्) परस्पर सत्संग कर ज्ञान लिया और दिया करें ।

यहां इन्द्र अर्थात् आत्मा का गुरु परमात्मा है । "कस्य ब्रह्मचार्यसि; भवतः", 'इन्दस्य ब्रह्मचार्यसि" इत्यादि विधानों से इन्द्र ही गुरुस्थानीय है ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ १ ३ १ २
[१६०२] गाव उपवदाशते मही यज्ञस्य रप्सुदा ।
३ १ २ २ ३ १ २
उभा कर्णा हिरण्यया ॥ १ ॥
३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६०३] अभ्यारमिदद्रयो निषिक्त पुष्करे मधु ।
३ १ २ ३ १ २
अवटस्य विसर्जने ॥ २ ॥
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६०४] सिञ्चन्ति नमसावटमुद्वाचक्रं परिज्मानम् ।
३ १ २ ३ १ २
नीचीनबारमाशितम् ॥ ३ ॥ १६ ॥
ऋ० ८ । ७२ । १२, ११, १० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [११७] पृ० ६३ ।

(२) (अद्रयः[1]) आदर करने योग्य विद्वान् पुरुष (अवटस्य) रक्षण करने हारे देहबन्धन के (विसर्जने) परित्याग के अवसर पर (पुष्करे[2]) उस

१६०३—(२) "अवतस्य विसर्जने", (३) "अवतञ्चा चक्रं" इति, ऋ० ।

१ आद्रय आद्रियमाणाः इति सायणः । २. पुष्करे प्रशस्ते इति सायणः ।

को पुष्ट करने हारे, उसमें बल के प्रदाता स्वतः आत्मा में (निधिकं) पूर्ण-रूप से विद्यमान या बरसते हुए (मधु) ज्ञानानन्द अमृत को (अभि आरम् हत्) साक्षात् किया करते हैं ।

(३) हे विद्वान् आत्मज्ञानी गण ! (नीचीनबारं) निर्बल इन्द्रिय आदि नव द्वारों वाले (अर्षितं) अशीर्ण (परिज्मानं) परिणाम या वृद्धता को प्राप्त होने वाले, (उच्चाचक्रं) उच्च प्राणचक्र वाले (अवटं) इस देह को (नमसा) अन्न द्वारा (सिंचन्ति) सबल बनाये रहते हैं अर्थात् जब तक देह बना रहता है तब तक उसकी अन्न से रक्षा करते हैं ।

इति तृतीयः खण्डः ।

—०—

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
[१६०५] मा भेम मा श्रमिष्माप्रस्य सख्ये तव ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
महत्ते वृष्णो अभिचक्ष्यं कृत पश्येम तुर्वशं यदुम् ॥१॥
३ १र २र ३ २र ३ २ ३ २ ३ १ २
[१६०६] सव्यामनुस्फिग्य वावसे वृषा न दानो अस्य रोषति ।
२ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
मध्वा सम्पृक्ता. सारघेण धेनवस्तूयमोह द्रवा पिब
॥ २ ॥ १७ ॥ अ० ८ । ४ । ७, ८ ।

भा०—(१) हे परमात्मन् ! (तव सख्ये) आपके मित्र भाव में रहते हुए हम (मा भेम) कभी भय न करें । (मा श्रमिष्म) कभी श्रम से पीड़ित न हों, कभी न भटकें । (वृष्णः) सब सुखों की वर्षा करने हारे (ते) तेरा (कृतं) बनाया हुआ यह संसार (अभिचक्ष्य) साक्षात् स्तुति योग्य, दर्शनीय एवं (महत्) बहुत बड़ा है । हम इसमें (तुर्वश [1])

१६०६—[1]. तुर्वश—तुर्वी हिंसायाम् (स्वादिः) क्यतो बाहुलक औणादिक-हिंसिश्च हिंस्यते वा क्याप्यादिभिरिति तुर्वशः । यथा, तुर-

हिंसाशील जन्म जरा मरण और रोगों से परिपीड़ित या बेसहारा होकर भाग करने हारे या काम से पीड़ित, धर्म, अर्थ काम, मोक्ष आदि पर-वश करने हारे इस जीव का (यदु) परमेश्वर के नियम में स्थित या यम नियमादि के अभ्यासी होकर विषयों से उपरत हुआ (परयम) दूर हो।

(२) (वृषा) वर्षण करने हारा वीर्य का सेचक पुरुष (दानः) समस्त प्राणियों का जीवन दान करते हुए मेघ के समान वीर्य दान करता हुआ (सन्यां) उत्पादनशील भूमि के समान (स्त्रियां) स्त्रीप्रदेश में स्थित गर्भधानी में (अनुवावस) जीव के रूप में स्वयं वास करता है। आत्मा वै जायते पुत्रः। वह (अस्य) इस गर्भगत जीव के प्रति (न रोषति) कभी कोप नहीं करता, वहां (सारघम्) प्रसरणशील, सारवान् (मध्वः) अमृत जीव (Sprm) से (सम्पृक्ताः) संसक्त हुई (धनवः) शुक्र-धाराएं (protoplasm) हैं। हे जीव ! तू (तूयम्) शीघ्र ही (एहि) आ और (द्रव) शीघ्र आ और (पिब) उस पावक रस का पान कर।

(वृषा सन्य वावस) जलों का वर्षक इन्द्र वीर्य के रूप में सब प्राणियों का दाता है (दाना न अस्य रोषति) वह दानशील यज्ञ भाग इन्द्र पर रोष नहीं करता (सारघम् मध्वः सम्पृक्ताः) मधुमक्खी के शहद के समान रसीले दूध आदि से मिलित (धनवः) धनु=हमारे पान करने योग्य सोम है। (तूयम् एहि द्रव पिब) हे इन्द्र तुम शीघ्र २ आओ पान करो। यह अर्थ सायणकृत है।

स्वरण हिंसनयो (दिवादि) ऽस्मात् तूणमश्नुते इति पृषोदरादित्वात् वर्णव्यत्ययश्चोपजन, तूवश असन्तुष्ट। यद्वा तूवश कामो यस्य स। गद्वा वश कान्तौ (दिवादि। ऽस्मात् अप। चतुर्षु धर्मादिषु वशोऽन्वेति, चकारलोपेन तुवश।

यहां वस्तुत गर्भ में बीज के आने, जमने, जीव के प्रवेश और पालन का वर्णन है। यज्ञकाण्ड के अनुसार इन्द्र का उत्तरवेदि स्थान में बुलाया जाता है वहां ही साम तय्यार करके रक्खे जाते हैं। और उत्तर वेदि योषा और योनि का प्रतिनिधि है। योषा वै उत्तरवेदि (शत०)। इस यज्ञार्थ पर विचार करने से सब रहस्य स्पष्ट होते हैं। पुरुष का वीर्य प्रोटाप्लाज्म और स्पर्म अर्थात् जीव का भोज्य पदार्थ और बीज कीट से बना होता है। गर्भ में आहित होकर वह वहां उसी के आधार पर जाकर गर्भवती या छत्रक या कमल (प्लेन्टा) नामक स्थान जिसको वास्तविक योनि कहना चाहिये, उस पर जमता है और वहां ही पुष्टि को प्राप्त होकर १०वें मास में बाहर आता है, यह जीवन-उत्पत्ति का रहस्य है।

३ १ २ ३ १ २ ३ १र ३र
[१६०७] इमा उ त्वा पुरुवसो गिरो वर्द्धन्तु या मम।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभिस्तोमेरनूषत ॥ १ ॥
३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१६०८] अय सहस्रमृषिभि सहस्कृत समुद्र इव पप्रथे।
३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सत्य सो अस्य माहिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये
॥ २ ॥ १८ ॥ अ० ८ । ३ । ३, ४ ॥

भा०—(१) हे (पुरुवसो) समस्त प्रजाओं में वास करने हारे और प्रचुर धन के स्वामी ! इन्द्रियों में वास करने और नाना जीवों को बसाने हारे (इन्द्र) आत्मन् ! परमात्मन् ! (मम) मेरी (इमा) ये (गिर) वेदवाणियां (त्वा उ) तुझको (वर्धन्तु) बढ़ावें, तेरी बलवृद्धि करें। तुझको ही (पावकवर्णाः) अग्नि के समान कान्ति वाले, तेजस्वी, अथवा पालन करने हारे स्वरूप वाले शुद्ध, उदार, धर्मात्मा (शुचय) स्वयं तेजस्वी, शुद्धहृदय, (विपश्चित) तपस्वी, ज्ञानवान् विद्वान् गण

(स्तामै) उत्तम वदमन्त्रों द्वारा (अभि अनूषत) साक्षात् ज्ञान करके तेरा गुणगान करते हैं। (अवि० स० २५०) २० १२८।

(२) (अय) यह आत्मा और परमात्मा (सहस्र) हजारों (ऋषिभिः) मन्त्रार्थ देने, तत्वज्ञानियों और अतीन्द्रिय अर्थ के दर्शन करने हारे परम योगियों द्वारा (सहस्कृत) बल से युक्त बलवान्, तथा सब दुःखों पर विजयी किया जाकर (समुद्र इव) रसधाराओं, आनन्दतरंगों का ऊपर उमड़ाने वाले समुद्र के समान (पप्रथे) विस्तार को प्राप्त हो जाता है अर्थात् आनन्द सागर के समान उमड़ पड़ता है। (अस्य) इस आत्मा का (स) वह (महिमा) महिमा (सत्य) सत्य है और (विश्राज्ये) मेधावी विद्वानों के राज्य, अधिकार शासन, शिक्षण में और (यज्ञेषु) धर्म कर्मों में (अस्य) इस आत्मा के ही (शव) बलकी (गृण) महिमा का वर्णन करूं।

२ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[१६०९] यस्याय विश्व आर्यो दास शेवधिपा अरि ।
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २
तिरश्चिद्यें रुशम पवीरवि तुभ्यत्सो अज्यते रावि ॥१॥
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६१०] तुरण्यवो मधुमन्तं घृतश्चुतं विप्रासो अकमानूषु ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
अस्मे रयिं पप्रथे वृष्ण शर्माऽसे स्यानास इन्दव
॥ २ ॥ १६ ॥ ऋ० ८ ५१ । ९, १० ॥

भा०—(१) (यस्य) जिस परमात्मा का (अय) यह (विश्व) समस्त (आय) श्रेष्ठ (अरि) मनुष्य (शवधिपा) उसके दिव्य धन ज्ञान की रक्षा करने हारा (दास) भृत्य के समान है और उस यज्ञरूप (अर्य) स्वामी (रुशम) सबके नित्य ग्रा (पवारवि [1]) पाप

१६११—१ पवि शल्या भवति । यद् विपुनाति वाय । तद्वत् पवीरम् युध तद्वान् पवीरवान् (नि० । दै० ऋ० २१ । ख० ३०)

निवारक राजदण्ड के समान परम तपस्वरूप वज्र को धारण करने हारे परमात्मा में (तिरश्चित्) यह सब विद्यमान है । हे प्रभो ! (तुभ्य इत्) स्थूल सृष्टि में तेरे गुणों के दर्शन के लिये ही (स) वह (रयि) प्राण और देह, पृथिवी आदि सब मूर्त पदार्थ (अजयते) प्रकट होते हैं । तू ही उन का स्वामी सञ्चालक, कर्त्ता धर्ता है ।

(२) (तुरण्यव) क्रियाकारी, अभ्यासी कार्यकुशल, (विप्रास) विद्वान् लोग (घृतस्नुतम्) तेज के दान हार (मधुमन्तम्) आनन्दप्रद, ज्ञानमय (अर्कं) पूजनीय इन्द्र आत्मा को (आनृचु) उपासना करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि (अस्म) हम में (रयिम्) प्राणबल और ज्ञान का प्रकाश (पप्रथ) बढ़े और (अस्म) हम में (वृष्ण्य , वीर्यवान् (शव) बल बढ़े और (स्वानास) प्रेरणा करने हारे (इन्दव) शुक्रों की वृद्धि हो । बल वीर्य और शुक्र की कामना से विद्वान् लोग आत्मज्ञान करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करें ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६११] गामश्व इन्दो अश्ववत्सुत सुदत्त धनिव ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
शुचिश्च वर्णमधि गासु धारय ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६१२] स नो हरीणामुपन इन्द्रो दक्षस्तम ।
१ २३ २ ३ १ २ ३ १ २
सखेव सख्ये नर्यो रुचे भज ॥ २ ॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६१३] सनेम त्वमसदा अदेवयुञ्छिवत्रिणम् ।
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
साह्वा इन्दो परि वाधो अपह्नुवम् ॥ ३ ॥ २० ॥

ऋ० ९ । १०५ । ४६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५७४] पृ० २६० ।

(२) हे (इन्दो) योगिन् ! हे (हरीणाम् पते) इन्द्रियों के पालक जितेन्द्रिय ! (देव) विद्वन् ! (प्सर तम) सबसे अधिक तेज वा दीप्ति से युक्त होकर (सः) वह आप (नर्यः) सब मनुष्यों के हितकारक (सख्ये) मित्र के लिये (सप्ता इव) मित्र के समान (नः) हमारे (रुचे) यश तेज को बढ़ाने के लिये (भव) हो। (२) परमात्मा के पक्ष में—हे परमात्मन् ! समस्त लोकों के स्वामिन् ! (इन्दो) ऐश्वर्यशील ! आप (प्सरस्तम) सबसे बड़े दीप्तिमान् हो, आप हमें मित्र के समान होकर तेज प्रदान करें।

(३) हे (इन्दो) ऐश्वर्यशील राजन् विद्वन्, परमात्मन् ! (त्व) आप (अस्मत्) हमारे प्रति (सनेमि) अनादिकाल से चले आये मित्रभाव कृपाभाव को (आ) प्रकट करो। आप (साह्वान्) सब विघ्नों को पराजय करने हारे (अदेवम्) देव, परमेश्वर से रहित (अव्रिणं) केवल भोग करने हारे विषयलोलुप, (कंचित्) किसी भी भोगमय देहबन्धन को (परिबाधः) विनाश करो और (द्वयु) दो दो, द्वन्द्व, सुख दुःख, शीत उष्ण, जन्म मरण, इहलोक परलोक आदिके चाहने हारे इस अन्त करण को भी (अप) दूर करो।

[१६१४] अश्रेन् व्यञ्जन समञ्जन ऋतु रिहन्ति मध्वाभ्यञ्जत।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावा पशुमप्सु गृभ्णते ॥ १ ॥

[१६१५] विपश्चिते पवमानाय गायत महीं न धारामवसायपीपयुः।
अहिं जूर्णामतिसर्पति त्वचमत्यो न क्रीडन्नसरद्रुषा हरिः ॥ २ ॥

[१६१६] अग्रेगा राजाप्यस्तविष्यते विमानो अह्नां भुवनेष्वर्पितः।
हरिर्घृतस्नु सुदृशीको अर्णवो ज्योतीरथः पवते राय ओक्यः ॥ ३ ॥ २१ ॥ ऋ० ९। ८६। ४३-४५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५६४] पृ० २८४ ।

(२) हे विद्वान् पुरुषो ! (विपश्चिते) ज्ञानशील ब्रह्मज्ञानी, (पवमानाय) मुक्ति के मार्ग में गति करने हारे आत्मा के (गायत) गुण वर्णन करो । वह (अन्ध) देह को प्राण-धारण कराने हारा सोम आत्मा (महीं) बड़ी (धारा न) जलधारा के समान (अति अर्षति) अपने तटों रूप देहबन्धनों को भी तोड़कर पार चला जाता है । (जूर्णाम्) जीर्ण हुई (त्वचम्) त्वचा को (अहिं न) जिस प्रकार साप छोड़कर चला जाता है उसी प्रकार जो अपने जीर्ण कलेवर को छोड़कर (अतिसर्पति) निकल भागता है और जो (हरि-) हरणशील, गतिशील, (वृषा) बलवान् आत्मा रूप (क्रीडन्) देहों में रमण करता हुआ भी (अत्य न) अश्व के समान (असरत्) एक लोक से दूसरे लोक या दशा में भाग जाता है ।

(३) यह सोमरूप योगी आत्मा, चन्द्र के समान भी वर्णन किया जाता है । वह (अप्रगा-) इन्द्रियों का नेता, और संसार-बन्धनों को काटकर सब भोगों को त्याग कर, आगे श्रेष्ठ पद की ओर जाने हारा, (राजा) प्रकाशमान्, तेजस्वी (आप्य-) कर्म और प्रज्ञानों या प्राणों में श्रेष्ठ (अद्भा) अपनी घटती और बढ़ती कलाओं द्वारा दिनों के (विधान) रचने हारे चन्द्र के समान अपनी षोडश कलाओं से अपनी ज्योतियों का बनाने हारा (भुवनेषु) लोकों के समान प्राणों में (अर्पित) स्थापित है । जो (हरि) गतिशील आत्मा (घृतस्नु) कान्ति और तेज से देदीप्यमान होकर या ज्ञान से स्नान करके (सुदृशीक-) सम्यक् तत्व, परमपद का दर्शन करने हारा, (अर्णव-) ज्ञानवान्, (ज्योतीरथ-) ज्योतिष्मान् स्वरूप होकर (राय) परम धन का अधिकारी (आवयः) परमपद के योग्य होकर (पवते) विचरण करता है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

इति सप्तमप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः । सप्तमः प्रपाठकश्च समाप्तः ॥

इति षोडशोऽध्यायः ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः ।

अथाष्टमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः ॥

॥ २ ॥ ऋषिः—१, ७ शुनःशेप आजीगर्तिः । २ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । ३ शयुर्बार्हस्पत्यः । ४ वसिष्ठः । ५ वामदेवः । ६ रेभसूनू काश्यपौ । ८ नृमेधः । ९, ११ गोपूत्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ । १० श्रुतकक्षः सुकक्षो वा । १२ विरूपः । १३ वत्सः काण्वः । १४ एतत्साम ॥ देवता—१, ३, ७, १२ अग्निः । २, ८–११, १३ इन्द्रः । ४ विष्णुः । ५ इन्द्रवायुः । ६ पवमानः सोमः । १४ एतत्साम ॥ छन्दः—१, २, ७, ९, १०, ११, १३, गायत्री । ३ बृहती । ४ त्रिष्टुप् । ५, ६ अनुष्टुप् । ८ प्रागाथम् । १२ अष्टिः । १४ एतत्साम ॥ स्वरः—१, २, ७, ९, १०, १२, १३, षड्जः । ३, ९ मध्यमः, ४ धैवतः । ५, ६ गान्धारः । ११ ऋषभः १४ एतत्साम ॥

१ २ ३ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २
[१६१७] विश्वेभिरग्ने अग्निभिरिमं यज्ञमिदं वचः ।
१ २
चनो धाः सहसो यहो ॥ १ ॥
२ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६१८] यद्धिन्द्र शश्वता तना देवन्देवं यजामहे ।
१ २ २ ३ २
त्व इद्धूयते हविः ॥२॥
३ १ २ ३ २ ३ १ १ ३ १ २ २
[१६१९] त्रिधो नो अस्तु विश्वसिद्धौता मन्द्रो वरेण्यः ।
३ २ ३ १ २ ३ २
त्रिधातवः स्वस्तयो वयम् ॥३॥१॥ ऋ० १ । २६ । १०, ६, ७ ॥

भा०—(१) हे (सहस. यहो) बल से ग्रहण करने योग्य अग्ने ! प्रभो ! (विश्वेभिः) समस्त (अग्निभिः) ज्ञानवान् नेताओं और विद्वानों सहित

(इद) इस (वच) वाणी हमारी प्रार्थना का और (इम) इस (यज्ञ) स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ का प्राप्त होकर हमें (चन) परिपक्व या उपदेश योग्य ज्ञान (धा) धारण कराओ ।

(२) (यत् चित् हि) यद्यपि (शश्वता) नित्य (तना) आत्मा रूप यज्ञ द्वारा (देव देव) वरुण, इन्द्र आदि नानारूप से उपास्यदेव का (यज महे) हम उपासना करते हैं तो भी वह सब (हविषे) प्रस्तुत करने योग्य उपासनामय स्तुति वचन और चरु आदि हाम (त्वे इत्) तुझको ही लक्ष्य करके (हूयते) दिया जाता है ।

(३) (विशपति) समस्त प्रजाओं का पालक (मन्द) हर्षकारी ज्ञान दायक (वरेण्य) वरण करने योग्य परमात्मा (न) हमारा (प्रिय) प्रिय (अस्तु) हो । (स्वग्नय) उत्तम ज्ञानाग्नि से युक्त होकर उसके भी (वयम्) हम (प्रिया) प्रिय हों ।

१ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २
[१६२०] इ द्र वो विश्वतस्परि हवामह जनेभ्य ।
३ ३ २
अस्माकमस्तु केवल ॥१॥
१ २ ३ ३ २ २ ३ १ २
[१८२१] स ना वृषन्नमुञ्चरु सत्रादावन्नपावृधि ।
३ २ ३ २
अस्मभ्यमप्रतिष्कुत ॥२॥
१ २ १ २ ३ २ ३ २ १ ३ १ २
[१८२२] वृषा यूथा वसग कृष्टीरियर्त्योजसा ।
१ २ ३ १ २
ईशाना अप्रतिष्कुत ॥३॥२॥ ऋ० १ । ७ । १०, ६ ८ ।

भा० —(१) हे विद्वान् पुरुषो ! (व जनेभ्य) आप लोगों के हित लिये (विश्वत) सबसे (परि) ऊपर विराजमान (इन्द्रम्) परमेश्वर इन्द्र की (हवामहे) उपासना करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि वह (केवल) अद्वितीय परमेश्वर (अस्माक) हमारा सहायक (अस्तु) हो ।

(२) हे (सत्रादावन्) समस्त पदार्थों के एक साथ देने हारे (वृषन्) सबसे श्रेष्ठ, सुखों के वर्षक ! परमात्मन् ! (सः) वह आप (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (अप्रतिष्कुत·) अद्वितीय, अपराजित, शक्तिमान् कभी सम्मलित न होने वाले, कभी भूलचूक न करने हारे होकर (चरु) अन्नादि पदार्थों के भोगने हारे अविनाशी देह बन्धन को (अप वृधि) दूर करो।

(३) (वृषा) सब कामनाओं को पूर्ण करने हारा (वंसगः) सुन्दर गति वाला बैल (यूथा इव) जिस प्रकार गौओं के गोलों में चला जाता है उसी प्रकार (ओजसा) अपने बल से (ईशानः) सर्व शक्तिमान्, ऐश्वर्यवान् (अप्रतिष्कुतः) अद्वितीय परमेश्वर (कृष्टीः) मनुष्यों को (इयर्ति) प्राप्त होता है।

[१६२३] त्वं नश्चित्र ऊत्या वसो राधांसि चोदय।
अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधन्तुचे तुन.॥१॥

[१६२४] पर्षि तोकन्तनयं पर्तृभिष्ट्वमदब्धैरप्रयुत्वभिः।
अग्ने हेडांसि दैव्या युयोध्यि नोऽदेवानि हरांसि च॥२॥ ३॥

ऋ० ४। ४६। ६, १०॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [४१] पृ० १२।

(२) हे अग्ने ! परमेश्वर (त्वं) तू (अप्रयुत्वभिः) सदा साथ रहने वाले (अदब्धैः) अहिंसक, एवं अहिंसित, सुरक्षित (पर्तृभि) पालकों द्वारा (तोकं) पुत्र, बालक और (तनय) पौत्र को (पर्षि) पालन करता है। तू (नः) हमारे (दैव्या) आधिदैविक (हेडांसि) विपत्तियों और ज्ञान और सुखों के देने वाले गुरुजनों के प्रति तिरस्कार आदि के बाणों को (अदेवानि च) आधिभौतिक और आध्यात्मिक, मानुष,

असात्विक तामस (दुरासि) कुटिल सकर्यों और कुटिल आचरणों का (वधाधि) दूर कर।

[१६२५] किमित्त विष्णो परिचक्षि नामप्रयद्वयचो शिपिविष्टो
आस्मि। मा वर्पो अस्मदपगूह एतद्यदन्यरूप समिथे
बभूथ ॥ १ ॥

[१६२६] प्रतत्त अद्य शिपिविष्ट ह्व्यमर्यं शसामि वयुनानि
विद्वान्। तत्वा गृणामि तवसमतव्यान् क्षयन्तमस्य
रजस पराक ॥ २ ॥

[१६२७] वपन् तविष्णवास आकृणोमि तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट
ह्व्यम्। वर्द्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूय पात स्व
स्तिभि सदा न ॥३॥४। ऋ० ७। १००। ६ । ५ । ७ ॥

भा०—(१) ह (विष्णो) सर्वव्यापक ! परमात्मन् ! (यद्) जब आप स्वय अपने को (शिपिविष्ट) रश्मियों से आवृत तेजोमय पिण्डों में प्रविष्ट (अस्मि हु इस प्रकार अपनी शक्ति को (वयच) बतला रहे हैं तब (त) आपका (किं इत् नाम) क्या नाम या स्वरूप (परिचक्षि) कहा जाय। हे भगवन् ! (तत्) क्योंकि (समिथे) समाधि के अवसर पर आप (अन्यरूप) दूसरे ही रूप में (बभूथ) प्रकट होते हैं। आप (एतत्,

१६२५—१ किमित्त अद परिचक्ष्य भूरिमद्वयच', २, प्रतीके अथशिपिविष्टेना माय' इति ऋ०।

वह (वर्पः) तेजोमय रूप (अस्मद्) हम से (मा अपगूह) मत छिपाइये ।

(२) हे (शिपिविष्ट) रश्मियों से आविष्ट, अथवा तेजोमय लोकों में व्यापक परमात्मन् ! मैं (अर्पः) अपनी इन्द्रियों का स्वामी जितेन्द्रिय होकर (वयुनानि) तेरे समस्त सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि महान् कार्यों को (जानन्) जानता हुआ (तत्) वह अति प्राचीन (हव्यं) पुकारने, नित्य ग्रहण और शरण करने योग्य नाम (शंसामि) कहता हूं और (अस्य) इस (रजसः) प्राकृत लोकों के भी (पराके) दूर, परे मोक्ष में भी (वसन्तं) निवास करने हारे (तवसं) महान् (त त्वा) उस सनातन तेरी में (अतक्ष्यान्) तुच्छ व्यक्ति (गृणामि) स्तुति करता हूं ।

(३) हे विष्णो ! सर्वव्यापक ! (ते) आपको मैं (आसः) अपने मुख से (वषट्) सर्व कामनाओं का पूरक (आकृणोमि) साक्षात् स्वीकार करता हूं । हे (शिपिविष्ट) तेजोमय ! (मे) मेरा (तत्) वह (हव्यम्) ग्रहण योग्य हुआ स्तुति वचन (जुषस्व) स्वीकार कर (मे) मेरी (सुस्तुतयः) उत्तम स्तुतिरूप (गिरः) वेदवाणियां (त्वा) तुझको (वर्धन्तु) बढ़ावें, अर्थात् तेरी महिमा को बढ़ावें । हे विद्वान् पुरुषो ! (यूयं) आप लोग (नः) हम लोगों की (सदा) नित्य (स्वस्तिभिः) कल्याणकारी साधनों से (पात) रक्षा करो ।

इति प्रथमः खण्डः ।

—:o:—

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१६२८] वाशो शुको अयामि ते मघो अग्न्दिविष्टिषु ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आयाहि सोमपीतये स्पार्हो देव नियुत्वता ॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६२९] इन्द्र श्च वायवेषां सोमानाम्पीतिमर्हथः ।
३ १र २र ३ २ड ३ २ ३ २
युवां हि यन्तीन्दवो निम्नमापो न सध्र्यक् ॥२॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६३०] वायविन्द्रश्च शुष्मिणा सरथं शवसस्पती ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
नियुत्वन्ता न ऊतय आयात सोमपीतये ॥३॥५॥
ऋ० ४ । ४७ । १–३ ॥

भा०—(१) हे वायो ! प्राणात्मन् ! (दिविष्टिषु) दिव्य तेज की साधना के अवसरों में मैं (शुक्र) वीर्यवान् तेजस्वी होकर (ते) तेरे लिये (अग्रम्) सबसे पूर्व (मध्व.) अमृत ब्रह्मानन्दरस को (अयामि) प्राप्त करता हूं । हे आत्मन् ! देव ! (स्पार्ह.) अति स्पृहा का पात्र तू (नियुत्वता) नियुत्=प्राण और मनरूप अश्व अर्थात् बलवान् साधन से (सोमपीतये) सोमरस पान करने के लिये (आयाहि) प्राप्त हो ।

(२) हे वायो ! प्राण और (इन्द्र. च) इन्द्र ! आत्मन् ! आप दोनों ही (सोमानां) ज्ञानों या ब्रह्मानन्द रसों का (पातं) पान करने के (अर्हथ.) योग्य हैं । (इन्दवः) समस्त सोम और ब्रह्मरस का आनन्द लेने हारे योगी लोग भी (युवा) आप दोनों के प्रति (सध्र्यक्) एक साथ (निम्न) नीचे ढालू स्थान पर (आप. न) जलों के समान (यन्ति) चले जाते हैं ।

(३) हे (वायो) ज्ञानवन् ! (इन्द्रः च) और ऐश्वर्यवन् ! आत्मन् ! जीव ! (शवसस्पती) आप दोनों बल के परिपालक हैं, आप (नियुत्वता) मनरूप अश्व से युक्त (शुष्मिणा) बलशाली होकर (सोमपीतये) आत्मज्ञान रूप सोम के पान करन और (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा करने के लिये (आयातम्) आइये, हमें प्राप्त हों ।

इन्द्रियों का आत्मा और प्राण के प्रति प्रजाओं का राजा या नरपति के प्रति और योगियों का भी आत्मा और प्राण के प्रति समानरूप से वचन है।

१ २ ३ १२ २३ ३ १ २ ३ १२ २३
[१६३१] अध क्षपा परिष्कृतो वाजाँ अभिप्रगाहसे ।
१ २ ३१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
यदी विवस्वतो धियो हरिं हिन्वन्ति यातवे ॥१॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६३२] तमस्य मर्ज्जयामसि मदो य इन्द्रपातमः ।
१२ २३ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
य गाव आसभिर्दुहः पुरा नूनञ्च सूरयः ।
१२ २३ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१६३३] तङ्गाथया पुराण्या पुनानमभ्यनूषत ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
उतो कृपन्त धीतयो देवानां नाम बिभ्रतीः ॥३।६॥
अ० ६ । ११ । २–४ ॥

भा०—(१) (यदि) जब (विवस्वतः) सूर्य के समान प्रेरक या दिव्ययोगी की (धियः) अपनी चित्तवृत्तियां अपनी ध्यान और धारणा शक्तियों को (हरिं) प्राण, या मन, या दुःखहारी प्रभु को (यातवे) आत्मा के समीप प्राप्त होने के लिये (हिन्वन्ति) प्रेरित करती है (अध) तब हे सोमरूप आत्मन् ! (क्षपा [१]) अन्धकार, अज्ञानों का नाश करने हारी चित् शक्ति से (परिष्कृतः) सुभूषित होकर (वाजान्) नाना बलों और बल से साध्य कार्यों या ज्ञानों को (अभि) साक्षात् स्वयं तू (प्र गाहसे) पार कर जाता है ।

(२) (अस्य) इस सोमरूप प्राण या आत्मा के (तं) उस रसरूप को ओषधिरस के समान (मर्ज्जयामसि) परिष्कृत करते हैं (यः) जो (मदः) आनन्दस्वरूप होकर (इन्द्रपातमः) आत्मा द्वारा उत्तम रीति से आस्वादन किया जाता है । (यं) जिसको (गावः) ज्ञान इन्द्रियगण और (सूरयः) प्राणेन्द्रिय (पुरा) पूर्वकाल में और (नून च) अब भी (आसभिः) देह में अपने नियत स्थानों या मुखद्वारों से (दुहः) धारण

१६३१—१. 'वाजी अभिप्रगाहते' इति ऋ० ।
१. क्षपा क्षपयित्री सेना, इति सायण ।

करते हैं। अथवा जिसको (गाव सूरय) वेदज्ञ विद्वान् पूर्वकालों में और अब भी, अपने (आसभि) मुखों द्वारा वाणियों और स्तुतियों द्वारा (दधु) धारण करते हैं।

(३) (त) उस (पुनान) पवित्र करने हारे और स्वत पवित्र सोम को (पुराण्या) पुरातन (गाथया) गानरूप छन्दोमय वेदवाणी से (अभि अनूषत) स्तुति करते हैं (उत उ) और (दवाना) देवों, सूर्य, वायु, अग्नि आदि दिव्य पदार्थों का (नाम) नाम या स्वरूप (बिभ्रती) धारण करती हुई (धीतय) वेदवाणियां भी उसको ही (कृपन्त) समर्थन करती हैं, उसका ही गुणगान करती है।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[२६३४] अश्वन्न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निमोभिः ।
३ १ २ ३ १ २
सम्राजन्तमध्वराणाम् ॥१॥
१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
[२६३५] स घा न सूनु शवसा पृथुप्रगामा सुशेव ।
३ २ ३ १ २
मीढ्वा अस्माक बभूयात् ॥२॥
१ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ १ २
[२६३६] स नो दूराच्चासाच्च नि मर्त्यादघायो ।
३ १ ३ १ २ ३ १ २
पाहि सदमिद्विश्वायु ॥३॥७॥ ऋ० १ । २७ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [१७] पृ० ६ ।

(२ (स घ) वह ही परमेश्वर ! (पृथुप्रगामा) विशाल ब्रह्माण्ड में व्यापक (शवसा सूनु) समस्त संसार को अपने बलसे प्रेरण करने हारा (न) हमें (सुशेव) उत्तम रूप से भजन करने योग्य है वह (अस्माक) हमारे (मीढ्वान्) सब सुखों को वर्षण करने वाला, मेघ के समान आनन्दकारी (बभूयात्) होवे।

(३) (सः) वह आप जगदीश्वर (विश्वायुः) समस्त प्राणियों को पूर्ण आयु देने हारा (दूरात्) दूर, वर्तमान और (आसात् च) समीप में वर्त्तमान (अघायोः) पापी (मर्त्यात्) मनुष्य से (नः) हमारे (सदम्) देह और गृह को और प्रतिष्ठा को (इत्) भी (नि पाहि) नित्य रक्षा करो।

१ २ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ १ २
[१६३७] त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अशस्तिहा जनिता वृत्रतूरसि त्वन्तूर्य तरुष्यतः ॥१॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ड ३ २ ३ १ २
[१६३८] अनु ते शुष्मन्तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरा ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ १ २
विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि
।२॥८॥ ऋ० । ८ । ६६ । ५, ६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [३११] पृ० १५६ ।

(२) (तुरयन्त शिशुम्) गमन करते हुए बालक के प्रति (मातरा न) जिस प्रकार मा बाप जाते हैं उसी प्रकार (तुरयन्तं) गति प्रदान करते हुए तेरे या स्वतः देह से देहान्तर में गति करते हुए तेरे (शुष्म) बल के साथ (क्षोणी) द्यौ और पृथिवी, प्राण और अपान (ईयतुः) गमन करते हैं । हे इन्द्र ! आत्मन् ! (यत्) जब (वृत्रं) विघ्नकारी अज्ञान तम का तू (तूर्वसि) नाश करता है तब (मन्यवे) मन्युस्वरूप या ज्ञान स्वरूप, मननशील (ते) तेरे आगे (विश्वाः) समस्त (स्पृधः) स्पर्धा करने वाले काम और क्रोध आदि अन्त:शत्रुओं की सब चेष्टाएं (श्नथयन्त) शिथिल हो जाती हैं ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

---

३ १२ २१ ३ २ड ३ १ २
[१६३९] यद्ध इन्द्रमवर्धयद्यद्भूमिं व्यवर्तयत् ।
३ १ २ ३ १ ३ २
चक्राण ओपशं दिवि ॥ १ ॥

३ १२ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१६४०] व्या३न्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना ।
२ ३ १ २१ ३ २
इन्द्रो यदभिनद्बलम् ॥ २ ॥
१२ २१ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २१ ३ २
[१६४१] उदुगा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन् गुहा सतीः ।
३ १ २ ३ २
अराञ्चमुदे वलम् ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ८ ३४ । ५,७,८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१२१] पृ० ६५ ।

(२) (यद्) जब (इन्द्र) आत्मा (बलम्) घेर लेने वाले काम क्रोधादि तामस आवरण को (अभिनत्) तोड़ डालता है तब (सोमस्य) ज्ञान और शुक्र के (मदे) आनन्द हर्ष में (रोचना) प्रकाशमान (अन्तरिक्षम्) भीतर विराजमान चित्त को भी (व्यतिरत्[1]) अधिक शक्तिशाली बनाता है ।

भौतिक पक्ष में इन्द्र सूर्य है, बल मेघ है अन्तरिक्ष द्यौ, और पृथिवी के मध्य का बड़ा भाग जहां मेघ विचरता है । साम वायु का वेग है । जिस प्रकार वायु के बल से सूर्य मेघ का छिन्न भिन्न करता और अन्तरिक्ष को स्वच्छ कर देता है उसी प्रकार योगी का आत्मा प्राण के बल से अज्ञान आवरण को हटाकर अन्तःकरण को स्वच्छ कर देता है । इस प्रकार की उपमा का आधार लेकर रिक्षएवचा द्वारा दोनों तत्व दर्शाये हैं ।

(३) इन्द्र आत्मा ने (अङ्गिरोभ्य) अङ्ग अर्थात् देह में रस अर्थात् सार प्राणरूप से वर्त्तमान इन्द्रियों के लिए (गुहा) अन्तःकरण रूप गुहा में (सतीः) वर्त्तमान (गाः) गमनशील, ज्ञानग्राहक शक्तियों को (आविष्कृण्वन्) प्रकाशित करता हुआ (उद् आजत्) ऊपर को प्रेरित

१६४०—[1] व्यतिरद् व्यरर्पयदिति सायणः ।

करता है और (बलम्) बलवान् तामस आवरण को (अवांञ्च) नीचे (नुनुदे) पटक देता है, अर्थात् विनाश करता है।

अथवा—(इन्द्र) परमेश्वर (गुहा सती गा आविष्कृणवन्) निगूढ़ स्थान अन्धकूप में वर्त्तमान वेदवाणियों को प्रकट करता हुआ (अंगिराभ्य. उदाजत्) विद्वानों, ज्ञानी ऋषियों को प्राप्त कराता है और (बलम् अवांच्च नुनुदे) पाशविक तामस स्वभाव को उस ज्ञान के नीचे कर देता है।

[१६४२] त्वमु ष्व सद्मा सादि विश्वासु गीर्ष्वायतम्।
आ च्यावयस्यूतये ॥ १ ॥

[१६४३] युध्म सन्तमनर्वाणं सोमपामनपच्युतम्।
नरमवार्यक्रतुम् ॥ २ ॥

[१६४४] शिक्षा ण इन्द्र राय आ पुरु विद्वाँ ऋचीषम।
अवा न पार्ये धन ॥ ३ ॥ १० ॥ ऋ० ८ ६२। ७ ६ ॥

भा०—(१) हे विद्वन् (युध्म) काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि भीतरी शत्रुओं को मार भगाने हारे (सन्त) सत्स्वरूप, सदा विद्यमान (अनर्वाण) कूटस्थ, अन्य की अपेक्षा करके न चलने हारे, ध्रुवस्वरूप (सोमपाम्) ज्ञान आनन्दरस का पान करने हारे (अनपच्युतम्) अपने शुद्ध पद से न गिरने हारे (नर) नेतारूप, (अवार्य क्रतुम्) अनिवार्य, नित्य, अविनाशी कर्म=उत्पत्ति स्थिति और प्रलय के करने हारे, अथवा अविनाशी ज्ञानवाले इस इन्द्ररूप परमेश्वर को अपनी रक्षा के निमित्त स्मरण कर।

(२) हे (ऋचीषम) स्तुतियों द्वारा प्राप्त करने योग्य इन्द्र ! परमेश्वर ! आप (विद्वान्) सर्वज्ञ हैं। आप (न) हमें (राय.) धन नाना

प्रकार के दान (पुरु) बहुत बार, एवं बहुत से प्रकारों से (आ शिष) दान दो। और (पार्ये) परम उत्कृष्ट (धन) धन, मोक्ष के प्राप्त करने में (न) हमें (अव) रक्षा कर।

सायण ने 'पार्य धन' इसका अर्थ किया है—"पारा शत्रव तत्र भवे धन" अर्थात् शत्रुओं का धन लूटने के अवसर पर ईश्वर हमारी रक्षा करे। इन्द्र अर्थात्-राजा के पक्षमें यह अर्थ संगत है। ईश्वर पक्षमें मोक्ष को 'पर पार' कहा जाता है। उस में प्राप्त करने योग्य धन मोक्षानन्द है। उस को प्राप्त करने में आने वाले विघ्नों के बीच रक्षा करने की ईश्वर से प्रार्थना है। यही अर्थ आचार्य और गुरु के पक्ष में भी संगत है।

[१६४५] तव त्यदिन्द्रिय बृहत्तव दत्तमुत क्रतुम्।
वज्रं शिशाति धिषणा वरेण्यम् ॥ १ ॥

[१६४६] तव द्यौरिन्द्र पौंस्य पृथिवी वर्धति श्रव।
त्वामाप पर्वतासश्च हिन्विरे ॥ २ ॥

[१६४७] त्वां विष्णुर्बृहन् क्षयो मित्रो गृणाति वरुण।
त्वां शर्धो मदत्यनु मारुतम् ॥३॥११॥ऋ०७।१५।७,८,९ ॥

भा०—(१) हे इन्द्र ! (तव) तेरे (त्यत्) वह (वरेण्य) वरण करने योग्य (इन्द्रिय) ऐश्वर्यमय स्वरूप को (बृहत्) बड़ा भारी (तव दत्तम्) तेरे बल सामर्थ्य, अनन्त शक्ति का और (क्रतुम्) उस महान् कर्म= ब्रह्माण्ड संचालन का और वरण करने योग्य ज्ञानरूप (वज्र) देहबन्धन काटने हारे मोक्षसाधन को हमारी (धिषणा) बुद्धि और वाणी (शिशाति) साक्षात् करती है, उसकी महिमा को दिखलाती है।

(२) हे इन्द्र ! (तव) तेरे (पौंस्य) बल, पौरुष को (द्यौ) वह द्यौलोक जिसमें समस्त सूर्य, नक्षत्र आदि तेजस पिण्ड भ्रमण करते

हैं (वर्द्धति) विशाल रूप में प्रकट करता है । और (तव श्रव) तेरी कीर्ति का (पृथिवी) यह पृथिवी (वर्द्धति) बढ़ा रही है। (आप) ये जल, नदियें और (पर्वताश्च) पहाड़ (त्वा) तेरी ही (हिन्वरे) स्तुति गान कर रहे हैं।

(३) हे परमेश्वर (बृहन्) बड़ा भारी (सदय) निवास स्थान (विष्णु) सर्वव्यापक आकाश या पृथिवी (मित्र) स्नेहवान् जल (वरुण) वरण करने योग्य अग्नि आदि ये सब दिव्य पदार्थ (त्वां गृणाति) तेरी स्तुति करते हैं। (मारुतं) वायु का (शर्ध) बल, वेग (त्वा) तेरे ही (अनुमदति) अनुकूल रहकर हर्ष को प्राप्त होता है, नाना प्रकार से नृत्य करता है।

इति तृतीय खण्ड ।

---

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६४८] नमस्ते अग्ने ओजसे गृणन्ति देव कृष्टय ।
१ २ ३ १ २
अमैरमित्रमर्दय ॥ १ ॥
३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१६४९] कुवित्सु नो गविष्टयेऽग्न सवेषिपो रयिम् ।
१ २ ३ १ २
उरुकृदुरु णस्कृधि ॥ २ ॥
१ २ ३ १२ २१ ३ १ ३
[१६५०] मा नो अग्ने महाधने परावर्गारुषा धाः ।
३ १ ३ २ ३ १ २
सत्रर्ण स रावज्जय ॥३॥ १२ ॥ अ० ८। ७१। १० १२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अष्टक स० [११] सू० ५ ।

(२) हे (अग्ने) परमेश्वर ! आप (न) हमारे (गविष्टये) आत्मा और इन्द्रियों के हृष्ट साधन के लिए (रयिम्) उपयुक्त विषयरूप धन और ब्रह्मरूप ज्ञानैश्वर्य को (सनुषि) प्राप्त कराते हैं। हे (उरुकृत्)

महान् कार्यसम्पादक आप (न) हमें भी (उरु कृधि) महान कीजिये।

(३) हे अग्न ! (यथा भारभृत्) जिस प्रकार बोझा उठाने वाला अपना बोझ परे फेंक दिया करता है उस प्रकार (महाधने) मोक्षरूप धन की प्राप्ति के अवसर में(न) हमें बाधक्सा जानकर (मा परा वर्ग्) परे न हटा, बल्कि हमें (सवर्गं) उत्तम मोक्षरूप (रयिं) धन को (सनय) प्राप्त करा द।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६५१] समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टय ।
३ १ २ ३ १ २
समुद्रायेव सिन्धव ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६५२] वि चिद् वृत्रस्य दोधत शिरो बिभेद वृष्णिना ।
१ २ ३ १ २
वज्रेण शतपर्वणा । २ ॥
२ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २
[१६५३] ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत्समवर्तयत् ।
२ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥ ३ ॥ १३ ॥ ऋ० ८ । ६ । ४ ६, ७॥

भा०—(१) व्याख्या दशा अविकल स० [१३७] पृ० ७५ ।

(२) (दोधत) समस्त जगत् को कपान हारे (वृत्रस्य) आवरक अज्ञान या विघ्न क शिर) शिरोभाग मूल जड़ को परमेश्वर अपन (शत पर्वणा) सैकड़ों पारओं=पालक शक्तियों क बने (वृष्णिना) सुखों क वर्षक (वज्रेण) वज्रसरा ज्ञान स (बिभेद) तोड़ डालता है ।

(३) (तत्) उस समय (अस्य) इस परम आत्मा का (ओज) सामर्थ्य और तेज (तित्विष) प्रकाशित होता है (यत्) जब (इन्द्र) परमेश्वर (उभे रोदसी) द्यौ और पृथिवी दोनों को (चर्म इव) मानों चमड़े से ढोल के समान (समवर्त्तयत्) मढ़कर तैयार कर दता है । अर्थात् सृष्टि के प्रकट होने पर ही ईश्वर की विभूति का

पता चलाता है। अथवा (अस्य तत् आत्न तिविष) इसका वह तेज ही चमकता है। (यत् द्यन्द चम इव उभ रादसी समवतयत्) जिसको वह दोनों आकाश और पृथिवी पर चाम के समान मढ़े हुए हैं। अर्थात् उसी का सर्वत्र तेज है।

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१६५४] सुमन्मा यस्वी रन्ती सूनरी ॥ १ ॥ (यजु०)
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २१ ३ २
[१६५५] सरूप वृषन्नागहीमौ भद्रौ धुर्यावभि।
२ ३ १ ४२
तानिमा उपसर्पत ॥ २ ॥
१ २१ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१६५६] नीव शीर्षाणि मृद्नन मध्य आपस्य तिष्ठति।
१ २ ३ १ २ ३ २
स्थेक्षभिर्दशभिर्दिशन् ॥ ३ ॥ १४ ॥ तिस्रोऽपि ऋचो न सन्ति॥

भा०—(१) (सूनरी) उत्तम शरीर-रथ की नेत्री चितिशक्ति रूप ही (रन्ती) समस्त क्रीड़ा चेष्टा व्यापार करने हारी (यस्वा) प्राणरूप यमुओं की स्वामिनी (सुमन्मा) उत्तम रूप से मनन करने हारी है।

(२) हे (सरूप) चितिशक्ति के समान रूपवान् (इन्द्र) आत्मन्! (वृषन्) सर्वश्रेष्ठ! (आगहि) आ प्रकट हो। (इमौ) ये दोनों (भद्रौ) कल्याण और सुखकारी (धुर्यौ) शरीर के धारक प्राण और अपान (अभि) प्रत्यक्षरूप में विराज रहे हैं। (तौ इमौ) वे दोनों शरीर या नासिका में (उपसर्पत) गति करते हैं।

(३) हे विद्वान् पुरुष! आत्मा (आपस्य) इस प्राप्त देह के (मध्ये) भीतर (दशभिः) दस (मृद्नभि) प्राणों द्वारा (दिशन्) ज्ञान और कर्म करता हुआ (तिष्ठति) विराजमान रहता है। आप लोग

१६५४—१ अग्निरात्मा चोत्तरौ द्वावृचौ।

उन (शीर्षाणि) शिरोभाग में रहने वाले दशों ही प्राणों को (नि मृड्वम्) वश करो।

इति चतुर्थ खण्ड ।

इति सप्तदशोऽध्याय ।

इति अष्टमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्ध ।

अथ अष्टादशोऽध्यायः ॥

अथाष्टम प्रपाठकस्य द्वितीयार्द्ध ।

ऋषि —मेधातिथि काण्व, त्रिशोकमेधातिथिर्वा । २ शुनश्शेप आजीगर्त । ४ नृमेधाङ्गिरस । ५, १५ मेधातिथि काण्व । ६, ९ वसिष्ठ । ७ आयु काण्व । ८ अम्बरीष ऋजिश्वा च । १० विरूपनेत्रा वैयश्व । ११ सोभरि काण्व । १२ सप्तधृत । १३ कलि प्रागाथ । १४, १७ विश्वामित्र । १६ निध्रुवि काश्यप । १८ भरद्वाजो बार्हस्पत्य १९ एतत्साम ॥ देवता—१, २, ४, ६, ७ ९, १०, १३ १५ इन्द्र । ३ ११ १८ अग्नि । ५ विष्णु ८ १२, १६ पवमान सोम । १४, १७ इन्द्राग्नी । १९ एतत्साम ॥ छन्द —१–५ १४, १६–१८ गायत्री । ६, ७, ९, १३ प्रागाथम् । ८ अनुष्टुप् । १० उष्णिक् । ११ प्रागाथ काकुभम् । १२, १५ बृहती । १९ इति साम ॥ स्वर | १–५ १४, १६–१८ षड्ज । ६, ८, ९, ११–१३, १५ मध्यम । ८ गान्धार । १० ऋषभ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५५७] पन्य पन्यामित्स्तानार आ यावत मद्याय ।
१ २ ३ २ ३ १ २
सोम वीराय शूराय ॥ १ ॥

[१६५८] ऐह हरी ब्रह्मयुजा शग्मा वक्षत सखायम् ।
इन्द्रङ्गीर्भिर्गिर्वणसम् ॥ २ ॥

[१६५९] पाता वृत्रहा सुतमा घा गमन्नार अस्मत् ।
नियमते शतमूति ॥३॥१॥ *० ८ । २ । २५ २७, २६ ।

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [१२३] पृ० ।

(२) (इह) इस पिण्ड में (ब्रह्मयुजा) ब्रह्म के साथ समाधि द्वारा युक्त होने वाले, (शग्मा) शक्तियुक्त (हरी) दोनों प्राण और अपान (सखाय) परमेश्वर के मित्रभूत (गिर्वणसम्) गिराओं, वेदवाणियों का सेवन करने हारे (इन्द्रम्) इस जीव को (गीर्भि) स्तुतियों, प्रार्थना और उपासनाओं के साथ २ (आ वक्षत) ब्रह्म तक प्राप्त कराते हैं ।

(३) (सुत) आनन्दरस का या प्रेरक बल को (पाता) पान करने या धारण करने और (वृत्रहा) विघ्नों का नाश करने वाला यह आत्मा (अस्मत्) हमारे (आरे) समीप (घ) ही (आगमन्) प्राप्त है वह (शतमूति) सैकड़ों प्रकार से शक्तिशाली होकर (नियमते) संयम साधना करता है ।

[१६६०] आ त्वा विशन्त्विन्दव समुद्रमिव सिन्धव. ।
न त्वामिन्द्रातिरिच्यते ॥ १ ॥

[१६६१] विश्वमत्था महिना वृषन्भव सोमस्य जागृवे ।
य इन्द्र उक्थरपु ते ॥ २ ॥

[१६६२] अरन्त इन्द्र कुक्षय सोमो भवतु वृत्रहन् ।
अरन्धानभ्यं इन्दव ॥३॥ २ ॥ अ० ८ । ६२ । २२-२४ ॥

१६५७—२. "गीर्भि श्रुतं गिर्वणसम्" इति अ० ।

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१६७] पृ० १०४ ।

(२) हे इन्द्र ! प्रभो परमेश्वर ! (यः) जो सोमरूप[1] संसार (ते जठरेषु) तेरे भीतर, तेरे उदर या मध्यभाग में, तेरे आश्रय में है, हे (वृषन्) सब सुखों के वर्षक ! उस (सोमस्य) समस्त संसार के (मघं) स्वरूप से प्राप्त को भी हे (जागृवे) जागरणशील ! तू ही (महिना) अपनी महिमा से (विव्यक्थ) व्याप्त कर रहा है ।

आत्मपक्ष में हे इन्द्र ! तेरे (अन्तः) हृदयाकाश में, अन्तः इन्द्रियों में जो सोम ब्रह्मज्ञान का आस्वाद है उस सोम के आस्वाद को भी तू अपने (महिना) बड़े सामर्थ्य से प्राप्त करता है । सोमरस और राजा के प्रकरण में स्पष्ट है । भौतिक पक्ष में—सूर्य इन्द्र अपने जठर=रश्मियों से जल का उठा लेता है और सदा देदीप्यमान रहकर अपनी विशाल शक्ति से जल के उस सूक्ष्म अंश को धारण किये रहता है ।

(३) सूर्य जिस प्रकार प्रकाश के आवरण को दूर हटाता है उसी प्रकार पाप का नाश करने हारे हे (वृत्रहन्[2]) विघ्नकारी तामस आवरण के नाशक ! (सोम.) यह समस्त सोमरूप उत्पन्न हुआ संसार (ते) तेरी (कुक्षये) कोख में या गर्भ में रहकर तेरी महती शक्ति को दर्शाने के लिये (अरं भवतु) पर्याप्त है, वह बहुत बड़ा और महान् है (इन्दवः) बहुत से इसी प्रकार के ब्रह्माण्ड या देदीप्यमान लोक (धामभ्य) तेरी बड़ी २ धारणा शक्तियों का साक्षात्कार कराने के लिये भी (अरं) पर्याप्त है अर्थात् वही तेरी शक्ति की महत्ता के भारी दृष्टान्त हैं ।

[१६६३] जगृभ्रो ध्रुवद्रिविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय ।
स्तोम रुद्राय दृशीकम् ॥ १ ॥

१६६२—१ सूयत इति सोमः, ।

२ वृत्रहन् पापस्य वा इन्द्र, इति सायण ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१६६५] स नो महाँ अनिमानो धूमकेतु पुरुश्चन्द्र ।
३ १ २ २ १
धियं वाजाय हिन्वतु ॥ २ ॥
२ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
[१६६६] स रेवा इव विश्पतिर्दैव्य केतु शृणोतु न ।
३ २ ३ २ ३ १ २
उक्थैरग्निर्बृहद्भानु ॥३॥३॥ अ० १ । २७ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५ ; पृ० ७ ।

(२) वह अग्निरूप सब का मार्गदर्शक सर्वज्ञ, परमेश्वर (महान्) महान् (अनिमान) अनन्त अपरिमेय (धूमकेतु) समस्त संसार का रञ्जन या गति देने हार सामर्थ्य से जानने योग्य (पुरुश्चन्द्र) सबसे अधिक प्रकाशमान सब प्रकाशमान पदार्थों का प्रकाशक परमात्मा (न) हमें (धिय) विचारशक्ति, बुद्धि और (वाजाय) बल और सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये प्रेरित कर ।

(३) (स) वह (अग्नि) सबका नेता, ज्ञानवान् (उक्थैः) वेद की ज्ञानराशियों से (बृहद्भानु) विशाल तेज सम्पन्न (दैव्य) सब दिव्यगुणों से युक्त (केतु) समस्त संसार का ज्ञापक (विश्पति) प्रजा का पालक प्रजापति परमात्मा (रेवान् इव) बड़े भाग धन से युक्त पुरुष के समान (न) हम उपासकों की (शृणोतु) प्रार्थना अवश्य करें ।

१ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २
[१६६६] तद्वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने ।
२ ३ १ ३ १ २
शं यदुर्वे न शाकिने ॥ १ ॥
२ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ १ २
[१६६७] न घा वसुर्नियमते दानं वाजस्य गोमतः ।
२ ३ १ ३ १ ३ १ २
यत्सीमुपश्रवद् गिर ॥ २ ॥

[१६६८] ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ २ ३ १ २ २
कुवित्सस्य प्र हि व्रजङ्गामन्तन्दस्युहा गमत्।
१ २ ३ १ २
शचीभिरप नोवरत् ॥ ३ ॥ ४ ॥ ऋ० ६ । ४५ । २२-२४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [११५] पृ० ६२ ।

(२) (यत्) जब (सीम्) वह (गिर) हमारी स्तुतिमय वाणियों को (उपश्रवत) सुन लेता है तब वह (वसु) सब संसार को बसाने हारा और सर्वव्यापक (गोमत) रश्मियों, इन्द्रियों और प्राणों या वेदवाणियों से युक्त वाजस्य) ज्ञान और बल के (दान) ब्रह्मदान अन्नदान और जीवन दान को देने से (न घा) कभी नहीं (नियमते) रुकता है।

(३) (स) वह (दस्युहा) उपक्षय करने हारे या क्षयशील विनाशी देह, या अज्ञान का विनाश करने हारा आत्मा (गोमन्त) ज्ञानेन्द्रिय और प्राणेन्द्रिय रूप गौओं के निवासस्थान (व्रज) बड़ा रूप देह को (हि) निश्चय से (कुवित्) बहुत बार (न अगमत्) प्राप्त कर लेता है। परन्तु (स्य) वह ही उसको (शचीभि) ज्ञान और कर्मसाधनाओं से (न.) हमारे उस देहबन्धन को (अप अवरत्) परे हटा देता है और मुक्त होजाता है। अथवा—(कुवित्सस्य[1]) कुत्सित ज्ञान वाले अल्पज्ञानी जीव के या अपना बहुत सा नाश करने हारे मूढ़ अज्ञानी के (गोमन्त व्रज दस्युहा अगमत्) अज्ञान दस्यु का विनाशक गुरु या परमदेव परमात्मा उसके गोमान् व्रज अर्थात् अन्तःकरण में प्राप्त होकर (शचीभि) अपनी ज्ञान प्रेरणा आदि से उस बन्धन को (न) हमारे कल्याण के लिये (अप अवरत्) दूर कर देता है। अथवा— कुवित्स' बहुत से देहों का नाश करने हारे अर्थात् जो बहुत से जन्म लेकर बहुतसे देहों को त्याग चुकता है उस जीव को ईश्वर पुनः देह बन्धन से मुक्त कर देता है।

१.६८—१ कुत्सितं विन्दते वेत्ति मनुते च तस्य, अथवा कुवित् बहुशः, स्यात-हिनस्ति इति कुवित्स इति सायण ।

बहूना जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ॥ गीता ॥

इति प्रथम खण्ड ।

— ० —

[१६६९] इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।
समूढमस्य पांसुले ॥ १ ॥

[१६७०] त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।
अतो धर्माणि धारयन् ॥ २ ॥

[१६७१] विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३ ॥

[१६७२] तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ ४ ॥

[१६७३] तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ ५ ॥

[१६७४] अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे ।
पृथिव्या अधि सानवि ॥ ६ ॥ ८ ॥

ऋ० १ । २२ । १६-२१ १८, ॥

भा०—(१) (विष्णुः) सर्व व्यापक परमात्मा ने (इदं) यह समस्त विश्व (विचक्रमे) बनाया और उस को व्याप्त किया । (त्रेधा) तीन प्रकार से (पदं) व्याप्यशक्ति को (निदधे) स्थापन किया । (अस्य) इसके (पांसुले) जीवों का आश्रय करने हारे यज्ञ में यह समस्त विश्व (समूढम्) उत्तम रीति से स्थित है । व्याख्या ऋ० स० [२२२] पृ०

(२) (गोपाः) समस्त गतिशील लोकों का पालक (अदाभ्यः) नित्य अविनाशी (विष्णुः) वह व्यापक परमात्मा (अतः) निरन्तर गति द्वारा ही (धर्माणि) समस्त लोकों का (धारयन्) धारण करने हारा होकर (त्रीणि) तीन (पदा) शक्तियों से (विचक्रमे) समस्त विश्व को बना और चला रहा है।

(३) (विष्णोः) उस सर्वव्यापक परमात्मा के (कर्माणि) आश्चर्य जनक कार्यों को (पश्यत) देखो (यतः) जिन कर्मों को देखकर (व्रतानि) जीव समस्त ज्ञानों को (पस्पशे) प्राप्त करता है। वह ही परमात्मा (इन्द्रस्य) इस जीवात्मा का (युज्यः) सदा साथ रहने हारा (सखा) समान ख्याति अर्थात्=नाम से युक्त आत्मा, उसका मित्र है।

(४) (विष्णोः) सर्व व्यापक परमेश्वर के (परमं) परम उत्कृष्ट (पदं) धाम परमबल, या मोक्षज्ञान को शास्त्रदृष्टि से (सूरयः) विद्वान् आदित्य के समान ज्ञानी पुरुष (सदा) निरन्तर (पश्यन्ति) देखते हैं। वह परम ज्ञान (दिवि) आकाश और पृथिवी में (चक्षुः इव) सर्व पदार्थों के दर्शक सूर्य के समान (आततम्) सर्वत्र व्यापक है।

(५) (विष्णोः) सर्वव्यापक ईश्वर का जो (परमं) उत्कृष्ट (पदं) ज्ञानमय स्वरूप है (तत्) उसको (विपन्युवः) विशेष रूप से सत्य का यथार्थ वर्णन करने हारे (विप्रासः) मेधावी विद्वान् (जागृवांसः) निरन्तर ज्ञानदृष्टि से जागरण करने हारे, प्रमादरहित होकर (समिन्धते) प्रदीप्त करते हैं, उसको प्रकाशित करते हैं, उसको अपने हृदय—मंदिर में प्रज्वलित करते हैं, उसकी ज्योति जगाते हैं।

(६) (यत्) जिस कारण से (विष्णुः) सर्वव्यापक परमेश्वर (विचक्रमे) सर्व संसार को रचता और चलाता है (अतः) उसी बल से

१६७०—६. 'पृथिव्या सप्तधामभिः' इति ऋ०।

(देवा) समस्त दिव्य पदार्थ अग्नि, वायु जल, पृथिवी, आकाश आदि भूत और सूर्य, चन्द्र आदि सब लोक, या विद्वान्गण (पृथिव्या) इस लोक के (अधि सानवि) उच्च से उच्च भाग पर या उत्कृष्ट पद मोक्ष के विषय में भी (नः) हमें (अवन्तु) प्राप्त करावें ।

इन मन्त्रों पर भाष्यकारों का अद्भुत मतभेद है और वह सभी विचार योग्य है । हम संक्षेप से उल्लेख करते हैं—

(१) सायण—(विष्णु) त्रिविक्रमावतारधारी ने इस जगत् को उद्देश करके (विचक्रमे) विशेष रूप से क्रमण किया और तब (त्रेधा पदं निदधे=त्रिभि प्रकार स्वकीय पद निक्षिप्तवान्) तीन प्रकारों से अपना पद रक्खा । (अस्य पांसुले समूढ=विष्णो धूलियुक्त पादस्थाने इदं सर्वं जगत् सम्यगन्तर्भूतम्) उस विष्णु के धूली वाले पैर में यह सब जगत् भली प्रकार छिपा है ।

(२) उव्वट यज्ञ में दक्षिण शकट के दायें चक्र के समीप सुवर्ण रख कर इस मन्त्र से होम करता है । ('इदं' 'जगत्' विष्णुर्विचक्रमे' विक्रान्तवान् सर्वप्राणिनो हि भूतेन्द्रियमनोजीवकायेनाविशति इति विष्णु किंच "त्रेधा निदधे पदं' पदयत ज्ञापयत अनेनेति पदं भूम्यन्तरिक्षद्युलोकेषु अग्निवायुसूर्यरूपेण त्रिधा निहितवान् पदं । किंच "समूढमस्य पांसुरे" अस्य विष्णोरन्यत् पदान्तरं विज्ञानघनानन्दमजमैक्यमक्षरमित्यबलक्षणम् समूढम्-तर्हितमविज्ञातमकृतात्मभिः । पांसुरे लुप्तोपममेतत् । पांसुल इव प्रदेशे निहितं न दृश्यते तत्समूढमिति, अर्थात्—सब प्राणियों में पञ्चभूत इन्द्रिय मन और जीव इन सब में प्रवेश करने से यह विष्णु है । उसने इस जगत् का क्रमण किया जिससे ज्ञान किया जाय वह 'पद' है । भूमि अन्तरिक्ष और द्युलोक में अग्नि, वायु, सूर्य, रूप से तीन रूपों में वह पद (ज्ञानसाधन) या ज्ञापक चिह्न रक्खा । इस ही विष्णु का अन्य एक 'पद' है विज्ञानघन, आनन्दस्वरूप, अज, अद्वैताय, अक्षर

स्वरूप जिसका अकृतात्मा, असाधक, अविद्वान् पुरुष नहीं जानते । यह लुप्तोपमा है । जिस प्रकार धूल भरे स्थान में पड़ी वस्तु नहीं दीखती उस प्रकार इत्यादि ।

(३) महीधर—इस भाष्यकार ने सायण और उव्वट दोनों का अंश लिया है । इतना विशेष लिखा है कि ('समूढमस्य पांसुरे" पांसवो भूम्यादिलोकरूपा विद्यन्ते यस्य तत्पांसुर तस्मिन् पांसुरे अस्य विष्णोः पदं समूढं सम्यग् अन्तर्भूतं विश्वमिति शेष यद्वेति उव्वटवत्) अर्थात् पांसुर-भूमि आदि लोक जिसमें स्थित हैं उस पांसुर पद में सब विश्व छिपा है । यद्वा' से आगे दूसरा अर्थ उव्वट के समान ही है ।

ग्रीफिथ—'इस संसार में विष्णु ने पैर रक्खे तीन बार उसने पैर जमाये और सब उसके पैर की धूल में जमा हो गया ।

सायण और महीधर ने यह मन्त्र पौराणिक आशय को लेकर लगाया है । उव्वट का वह अर्थ सम्मत नहीं । उसने पद का अर्थ ज्ञापक लिङ्ग किया है । और संसार में ईश्वर के तीन ज्ञापक अग्नि, वायु, और सूर्य बतलाये हैं । और चतुर्थ ज्ञापक वह परम अक्षर बतलाया है जिसका ज्ञान योगी मुमुक्षु लोग करते हैं ।

सायण के आशय से विष्णु ने तीन चरण रक्खे और धूलियुक्त चरण में समस्त लोक छिपे हैं । उसके मत में 'पद' क्या वस्तु है यह प्रतीत नहीं होता । महीधर ने 'पद' शब्द की उव्वट कृत व्याख्या को माना है । और भूम्यादिलोकमय पांसु से युक्त समस्त ब्रह्माण्ड को एक पद माना है । और अग्नि, वायु सूर्य रूप से तीनों लोकों में विष्णु का एक २ ज्ञापक भी स्वीकार किया है । इसमें महीधर के मत में त्रिविक्रम का निरूपण आलंकारिक है । महर्षि दयानन्द—(इदं) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जगत् को व्यापक ईश्वर ने (विचक्रमे) यथायोग्य प्रकृति परमाणवादि पादों का अर्थात् अंशों का विक्षेप करके सावयव किया । इस जगत् के

(पासुरे) प्रशान्त रजुआ वाल अन्तरिक्ष म (अधा निदध पद) और तीन प्रकार से प्राप्त करन योग्य 'पद' धरा। वह उत्तम रीति स जानन योग्य पदार्थ 'पद' कहाता है। भावार्थ यह है कि यह तीन प्रकार का ससार बनाया (१) प्रत्यक्ष पृथिवीमय जो प्रकाश से रहित है, (२) कारणरूप अदृश्य, (३) प्रकाशमय सूर्यादिक।

(२) धर्माणि=अग्निहोत्र आदि, (सा०) कर्माणि=कर्म, (उव्वटो महीधरश्च) स्वस्वभावजान्य धर्म, (दया०), अत इन तीन लोकों में, (सा०) तीनों पदों से (उ०, म०)

(३) विष्णो कर्माणि=वीर्याणि (उ०), सृष्टिसहारादि (म०), जगदुत्पत्ति पालन-न्यायकरणप्रलय आदि (द०), व्रतानि=अग्निहोत्रादि (सा०), लौकिकवैदिककर्म (म०), कर्म=आधान, पशु साम याग आदि, अथवा अग्नि वायु और सूर्य का अपना २ कार्य।

(४) विष्णो परम पद=उत्कृष्ट स्थान (सा०), विज्ञानघनसुख आनन्दस्वरूप विष्णु का परमपद आदित्य (उ०) आकाश्य (द०)।

(५) समिन्धत दीपयन्ति (सा०, उ० य०) प्रकाशयन्त आप्नुवन्ति (द०)।

(६) देवा=विष्णु आदि (सा०) विद्वान् लोग और अग्नि आदि पदार्थ (द०)।

[१६७४] मोषु त्वा वाघतश्च नार अस्मन्निरीरमन्
आरात्ताद्वा सधमादन्न आगहीह वा सन्नुपश्रुधि ॥ १ ॥
[१६७५] इमे हि ते ब्रह्मकृत सुते सचा मधौ न मक्ष आसते।
इन्द्रे कामञ्जरितारो वसूयवो रथे न पादमादधु ॥२॥६॥
ऋ० ७। ३२, १, २॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२८४] पृ० १४२ ।

(२) इ इ द[1] (मधौ) मधु-शहद पर (मक्ष न) जिस प्रकार मक्खी आ बैठता है उसी प्रकार (इम) ये (ब्रह्मकृत हि) ब्रह्मयज्ञ करने हारे वेद के विद्वान् गण (त सचा) तेरे साथ साथान द प्राप्त करने के लिये (आसत) आ बैठते हैं और ब्रह्म का रस प्राप्त करते हैं । और (इन्द्र) उस इन्द्र परमात्मा में ही (वसूयव) वसु=आत्मा को प्राप्त करने की इच्छा वाले (जरितार) स्तुतिशील विद्वान्गण (कामम्) अपना अभिलाषा को इस प्रकार (आदधु) रख देते हैं जिस प्रकार (वसूयव रथ पादम्) धनाभिलाषा क्षत्रिय लोग अपना चरण रथ पर रखते हैं और फिर देशों का विजय करते हैं ।

[१६७७] अस्तावि म म पूर्व्य ब्रह्मेन्द्राय वोचत ।
पूर्वीर्ऋतस्य बृहतीरनूषत स्तातुर्मेधा असृक्षत ॥ १ ॥

[१६७८] समिन्द्रो राया बृहतीरधूनुत सङ्क्षोणी समु सूर्यम् ।
स शुक्राभः शुचय स गवाशिर सोमा इन्द्रमम्न्दिषुः ॥ २ ॥ ७ ॥ प० ८ ५२ । ९, १० ॥

भा०—(१) (अस्तावि) परमेश्वर की हा स्तुति की जाता है । इसलिये (पूर्व्य) पूर्ण तृप्तिकारक अति प्राचीन (म म) मनन करने योग्य (ब्रह्म) वेदमन्त्र का (इन्द्राय) उस परमेश्वर की स्तुति के लिये (वोचत) पाठ करो । (ऋतस्य) वेद की या यज्ञविषयक या आत्म, और ब्रह्मविषयक सब यज्ञानसम्बन्धी (पूर्वी) प्राचीन या पूर्ण (बृहती) बृहती छन्द के वेद मन्त्रों से (अनूषत) स्तुति करते हुए (स्तातु) स्तुतिकर्ता विद्वान् के (मेधा) नाना प्रकार के ज्ञान (असृक्षत) उत्पन्न होते हैं ।

(२) (इन्द) परमेश्वर न (बृहती) बड़ी २ (राय) सम्पत्ति यां और शक्तियां (सम् अधूनुत) प्राप्त की हैं (उत) और (द्यावी) बहुतसी पृथिवियों अर्थात् बहुतस लोकों का आकाशमण्डल म चला रक्खा है। और (सम् उ सूयम्) सूय का भा चला रक्खा है। (शुचय) कान्तिमान् (शुक्रस) शुद्ध कम करन हार निष्पाप पुरुषात्मा (मनो शिर) ज्ञान का आश्रय करने हार या मा=वदवाणी का आश्रय लेन हार और मा=इन्द्रियों का दमन करन हार चित्तेन्द्रिय (सामा) यागा मुमुक्षु आत्माए उस (इन्दम्) इन्द परमेश्वर का (सम् अमन्दिषु) प्रसन्न करत हैं।

[१६७९] इन्द्राय सोमपातम ऋभुम पारोपवयम ।
नर च दक्षिणावते धीराय सदनासदे ॥ १ ॥

[१६८०] न सखाय पुरुरुच वय यूय च सूरय ।
अश्याम वाजगन्ध्य सनम वाजपस्त्यम् ॥ २ ॥

[१६८१] परि त्य हर्यत हरिम्०॥३॥८॥ ऋ० ६। ३८। १० १२,७॥

भा०—(१) ग्यारवा दसो अविकल स० [१०१] ६।

(२) ह (सखाय) मित्रगण[1]। सूरय) विद्वान् (यूय) आप लोग और (वय च) हम लाग सब (वाजगन्ध्य) ज्ञान की सुगन्ध स युक्त (वाजपस्त्यम्) और बल क एकमात्र आश्रय सर्वशक्तिमान् (पुरुरुच) अपने प्रकाश स सबक प्रकाशक (त) उस साम परमात्मा का (अश्याम) प्राप्त हा। सोम आषधि पक्ष में—(वाजगन्ध्य) अन्नगन्धा और (वाज पस्त्य) बलकारी साम का भाग करें।

१६७९—१ 'स्थाय स नामर' २. 'पुरुरुच यूय वय च सूरय ३ हरि त्व हर्यतहरिं' इति ऋ०।

(३) "परि त्यं हर्यतं हरिम्" यह प्रतीकमात्र उद्धृत किया गया है । इसकी व्याख्या देखो अविकल सं० [१५२] पृ० २७७ ।

[१६८२] कस्तमिन्द्र त्वा वसो० ॥ १ ॥

[१६८३] मघोन॰ स्म वृत्रहत्येषु चोदय ये ददति प्रिया वसु ।
तव प्रणीती हर्यश्वसूरिभिर्विश्वा तरेम दुरिता ॥२॥६॥

ऋ० ७ । ३२ । १४,१५॥

भा०—(१) 'कस्तमिन्द्र त्वावसो०' यह प्रतीकमात्र है । व्याख्या देखो अविकल सं० [२८०] पृ० १४३ ।

(२) हे इन्द्र ! परमात्मन् ! (मघोनः) ज्ञानी पुरुषों को (वृत्रह॰ त्येषु) आवरणकारी अज्ञान अन्धकार और विघ्नकारी, दुष्ट पुरुषों के विनाश के कार्यों में (चोदय स्म) प्रेरित कर । (ये) जो (प्रियाः) प्रिय (वसु) वास योग्य उपकरण गृह आदि अथवा अपने धनों को (तव प्रणीती) तेरे, प्रणय=प्रेम के कार्य में या तेरे बनाये हुए वेदानुकूल मार्ग में (ददति) दान करते हैं उन (सूरिभि.) विद्वानों, त्यागियों की सहायता से (विश्वा) समस्त (दुरिता) पापों को (तरेम) हम पार करें ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

[१६८४] पदु मघोर्मदिन्तर सिञ्चाध्वर्यो अन्धसः ।
पवा हि वीरस्तवते सदावृधः ॥ १ ॥

१६८१—१. कस्त्वामि वा वसुमा, इति ऋ० ।

१६८३—१. "पदु मघो मदिन्तर सिञ्चाध्वर्यो"

[१६८५] इन्द्र स्थातर्हरीणां नकिष्टे पूर्व्यस्तुतिम् ।
उदानशे शवसा न भन्दना ॥ २ ॥

[१६८६] त वो वाजाना पतिमहूमहि श्रवस्यव ।
अप्रायुभिर्यज्ञेभिर्वावृधन्यम् ॥ ३ ॥ १० ॥

ऋ० ८ । २४ । १६–१८ ॥

भा०—(१) व्याख्या तेरहवें अधि० स० [२८५] पृ० १४६ ।

(२) हे इन्द्र ! हे (हरीणा) समस्त गतिमान् सूर्य, चन्द्र नक्षत्र आदिकों के (स्थात) प्रतिष्ठापक ! परमेश्वर ! (ते) तेरी (पूर्व्यस्तुतिम्) पूर्व के ऋषि महर्षियों द्वारा गाई गई, सत्य, यथार्थ गुणवर्णना को (शवसा) अपने बल से (नकि) कोई भी नहीं (उदानशे) पा सकता । और (न भन्दना) न कोई संसार के प्रति सुख कल्याण के कार्य करके भी तेरी महती स्तुति को पा सकता है । अर्थात् तू सबसे अधिक शक्तिमान् और सब का कल्याणकारी है तेरे तुल्य दूसरा ' न भूतो न भविष्यति ' न हुआ, न होगा ।

(३) हम लोग (व) आप लोगों के (वाजाना) ज्ञान, धन, बल और अन्नों के (पतिं) परिपालक, (अप्रायुभि) प्रमादों से रहित, विनाशरहित, (यज्ञभि) बड़ी सृष्टि स्थिति, प्रलय आदि विशाल कर्मों तथा प्रजापालनादि सत्कर्मों से (वावृधन्यम्) अपने यश और महिमा में सब से बड़े (त) उस परमेश्वर को (श्रवस्यव) धन, अन्न, और ज्ञान, बल की कामना करने हारे हम लोग (महूमहि) नित्य स्मरण करते हैं ।

यहां 'व' इस युष्मत् के प्रयोग से समस्त संसार के प्राणी अभिप्रेत हैं क्योंकि स्तुतिकर्त्ता की दृष्टि में अपनेसे अतिरिक्त सब युष्मत् पदवाच्य हैं । परमात्मा केवल 'तत्' पदवाच्य है ।

१ २ ३अ २ब ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६८७] त गूर्धया स्वर्णर दवानो देवमरति ददन्विरे ।
३ २ ३ १ २
देवत्रा हव्यमूहिषे ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६८८] विभूतरातिं विप्रचित्रशाचिषमग्निमीडिष्व यन्तुरम् ।
३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अस्य म ध्वस्य साम्यस्य सोभरेप्रमध्वराय पूर्व्यम् ॥२॥११॥
ऋ० ८ । १६ । १, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या दखो अवि० स० [१०६] पृ० ४८ ।

(२) हे (सोभरे) उत्तम रीति स ज्ञान का धारण करन हार ! हे (विप्र) मधाविन् ! ब्राह्मण ! ज्ञानोपायक ! शिष्य ! तू (अध्वराय) अविनश्वर या हिंसादि दोषों स सर्वथा रहित स्वाध्याय यज्ञ या गुरु परम्परा स कभी विनाश को प्राप्त न होन हार अविच्छिन्न ज्ञानयज्ञ क निमित्त (विभूतरातिम्) बहुत अधिक ज्ञानराशि क दान करन हार, (चित्रशाचिष) सग्रह करन योग्य ज्ञान और तप आदि तजस्कर गुणों स युक्त (अस्य) इस (साम्यस्य) ज्ञानयुक्त या ज्ञान क आनन्द प्राप्त करान हार (मध्वस्य) पवित्र यज्ञ क (यन्तुर) नियामक व्यवस्थापक, (पूर्व्यम्) सबस पूर्व विद्यमान सबस श्रेष्ठ आचार्य रूप परमेश्वर की (इडिष्व) उपासना कर ।

१ २ ३ १र २ ३ १र २र ३ १ २
[१६८९] आ साम सोमा आद्रभिस्तिरा वाराण्यव्यया ।
२ ३ २ ३ १ क ३ २ ३ १ ३ १ २
जगा न पुरि चम्वोर्विशद्धरि सदा वनपु दधिषे ॥ १ ॥
१ २ ३ १र २र २क २र ३ २ब ३ १ २ ३
[१६९०] स मामृजे तिरो अण्वानि मेष्या मीढ्वात्सप्तिर्न वाजयु ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अनुमाद्य पवमानो मनीषिभि सोमो विप्रभिरूयते
॥ २ ॥ १८ ॥ ऋ० ९ । १०७ । १०, ११ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५१३] पृ० २५३।

(२) जिस प्रकार सोमरस को दृढ़ प्रस्तरों से कूटकर, भेड़ी के लोम से बने दशापवित्र नामक कम्बल के टुकड़े से स्वच्छ कर लिया जाता है उसी प्रकार उस आत्मस्वरूप ज्ञान के रस को भी स्वच्छ कर लिया जाता है, उसी का दर्शन करते हैं। योगी का आत्मा (ससि न) अति वेगवान् अश्व के समान (वाजयु) बल और ज्ञान को प्राप्त करने हारा (स) वह (मध्य) चितिशक्ति के (अप्वानि) सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्वों को (तिर) प्राप्त करके (मीढ्वान्) सब सुखों का स्वयं वर्षण करने हारा धर्ममय होकर (मामृज) शुद्ध पवित्र हो जाता है। यही (सोम) शमदमादि गुणों से युक्त सोमस्वरूप आत्मा (पवमान) पवित्र होता हुआ और अन्य इन्द्रियवृत्तियां ज्ञानवृत्तियों को पवित्र करता हुआ (मनीषिभि) मनन करने में गतिशील (विप्रभि) मेधावी (ऋक्वभि) वेदज्ञों द्वारा (अनुमाद्य) आनन्द लाभ करने योग्य, प्रशंसनीय होता है।

३ १ २ ३ १२ २४ ३ २ ३ १ २
[१६६१] चमेतामिदाक्षाऽ अपमेह वज्रिणम्।
१ २ ३ २ २४ ३० ३ ० २ १ २ ३ २
तस्मा उ अद्य सवने सुत भरा नूनं भूषत श्रुत ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ ४ १ २
[१६६२] वृक्षश्चिदस्य वारण उरामथिरा वयुनेषु भूषति।
२४ ३ १ २ ३ २४ ४ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
सद्म नस्तासद्रुषाण आमहीन्द्र प्रचित्रया धिया॥२॥१३
अ० ८ । ६६ । ७, ७ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२७२] पृ० १३६।

(२) (अस्य) इस आत्मा का (वारण) पापों से निवारण करने हारा साधन (वृक चित् [1]) कुत्ते या भेड़िये के समान (उरामथि) भेड़ के

१६६१—२. 'माध्दे मासन यति ऋ०।

समान वालों से छिपे चोरों बड़े २ संकटों को भी मथन करने हारा होकर (वयुनेषु) प्रज्ञा या महान् कार्यों में (आभूषति) शोभा देता है। हे आत्मन्! (स) वह आप (इम) इस (स्तोमं) स्तुतिमय वचन को (जुजुषाण.) स्वीकारते हुए (चित्रया) ज्ञानयुक्त (धिया) प्रज्ञाबुद्धि से (आगहि) हमें साक्षात् दर्शन दो।

अथवा—(अस्य) इस इन्द्र का (वृक चित्) आदित्य ही (वारण) अन्धकार दूर करने का साधन (उरामथिः) महान् अन्धकार को मथन कर देने हारा होकर (वयुनेषु) समस्त लोकों में (आभूषति) शोभा देता है। अथवा—(वृकश्चित्) आदित्य के समान इसका (वारण.) वरणीयस्वरूप (उरामथि.) अज्ञानों का नाश करने हारा (वयुनेषु) समस्त प्रज्ञावान् पुरुषों के आत्माओं में (आभूषति) शोभा देता है।

अथवा—(वृकश्चिद् अस्य वारण उरामथि) भूमि को काटने हारा हल ही इसका वरण करने योग्य पदार्थ है जो उरामथि=पृथिवी की ऊन के समान जमी घास को मथन करता है और वही (वयुनेषु) नाना ज्ञानयुक्त कार्यों में (आभूषति) प्रयोग किया जाता है। शोभा देता है। अथवा—(वृकश्चिद् अस्य वारण उरामथि) सब पापों का निवारक ज्ञानरूप वज्र ही इस आत्मा के शत्रुओं का नाशक वारण=आयुध है जो (वयुनेषु) सब प्राणों में और प्रज्ञानों में (आभूषति) शोभा देता है।

अथवा—राजा के पक्ष में (अस्य) इस इन्द्र राजा का (वृक) वज्र अर्थात् खड्ग और (उरामथि) शत्रुओं का मथन करने हारा (वारण.) गज बल दोनों (वयुनेषु) संग्राम के मैदानों में या राजकार्यों में (आभूषति) शोभा देते हैं। वह राजा (इम) इस (नः) हमारे (स्तोम) ज्ञानसमूह और देश के विद्वान् सब को (जुजुषाण) प्रेम से अपनाता हुआ (चित्रया) विचित्र या ज्ञानयुक्त (धिया) बुद्धि, राजनीति या देश को धारण करने हारी दण्डनीति द्वारा (आगहि) उत्तम रूप से शासन करे। अन्य

भाष्यकारों ने 'वृक' शब्द से स्तेन आदि का ग्रहण किया है सो असंगत प्रतीत होता है। ४. वृको लाङ्गलं विकर्त्तनात् (नि० ६। ख० २६) ५; वृक इति वज्रनाम विकर्त्तनादेव । (निघ० २। २०)। वृक आदान (भ्वादिः) इति इगुपधलक्षण. क.। वृणक्तीवौं पृषोदरादित्वाद्। वृणोतेर्वा औणादिक. कः नकारजकारलोपश्च। यद्वा वृजी वर्जन (अदादि०) इत्यत. औणादिक. कः नकारजकारलोपश्च। यद्वा वृणक्तेर्वधकर्मण। विपूर्वकस्य कृन्ततेर्वा पृषोदरादि त्वाल्लिपातनम्। ६. 'दानो मृगो न वारण'(१८८) अत्रापि वारणो गजपर्यायः सायणसम्मत उपलभ्यते।

अथवा—(वृकश्चिद् अस्य वारण उरामथिरायुनेषु भूपति) जंगली भेड़िया भी जो भेड़ों को मारता है इन्द्र की आज्ञा में रहता है। वारणः—जगली। श्वा अपि वृक उच्यते। विकर्त्तनात्। वृकश्चिदस्य वारण उरामथि'। उरणमेथि उरण ऊर्णावान् भवति। (निरु० ५। ४। २) आदित्यो पि वृक उच्यते यदावृङ्क्ते (निरु० ५। ५। १)

[१६९३] इन्द्राग्नी रोचना दिव. परि यासेषु भूपथ.।
तद्वां चेति प्रवीर्यम् ॥ १ ॥
[१६०४] इन्द्राग्नी अपसस्परि० ॥ २ ॥
[१६९५] इन्द्राग्नी तविषाणि वां० ॥३॥ १४ ॥ ऋ०३।१२।१ ७.८ ॥

भा०—(१) हे इन्द्राग्नी ! आप (दिव रोचना) द्यौलोक को प्रकाशित करने हारे इन्द्र अर्थात् सूर्य या विद्युत् के समान प्राण और अपान होकर इस मूर्धास्थल को प्रकाशित करते हो और (वाजेषु भूपथ.) सब कार्यों में या ज्ञानयज्ञ में शोभा देते, कार्य सम्पादन करते हो। (तत् वीर्यं) यह सब सामर्थ्य (वां च) आप दोनों ही का है। राजपक्ष में इन्द्राग्नी सेना सनाध्यक्ष। और वाजेषु संग्रामों में।

(२) 'इन्द्रमी अपसस्परि०' प्रतीकमात्र है। व्याख्या देखो अवि० सं० [१५७७] पृ० ६७१ ।

(३) 'इन्द्राभी तविषाणि वा०' यह भी प्रतीकमात्र है। व्याख्या देखो अविकल्प सं० १५७८] पृ० ६७१।

[१६८६] कुहं वसु सुते सचा० ॥ १ ॥

[१६८७] दाता सूरो न धारण पुरुत्रा चरथं दधे ।
नकिरस्या नियमदा सुत मघा महोधरन्याजसा ॥ २ ॥

[१६८८] य उग्र सन्नाग इव तस्थिवाँ अपीच्य वृषभ ।
यादृङ्ता तुविमघा शरद्यन्नन्द्रायोप-यामगतम् ॥३॥१५

प० ८ । ३३ । ७-९

भा०—(१) कुहं वसु सुत सचा० प्रतीकमात्र है। व्याख्या देखो अवि० सं० २१७ पृ० १२२।

(२) (सूर) बैलेला (धारण) हाथी (न) जिस प्रकार (दाता) अपने मदजलों के कारण (पुरुत्रा) बहुत से स्थलों पर (चरथ) विचरण (दधे) करता है और उसका कोई (नकि नियमत) नहीं रोकता उसी प्रकार हे इन्द्र आप भी मत्त हाथी के समान (दाता) अपने नाना प्रकार के दानों रूप सामर्थ्यों सहित (पुरुत्रा) सर्वत्र (चरथ दधे) विचरण करते हो । (सुत) इस उत्पन्न विश्व में (अस्या) आपका (नकि. नियमत) कोई भी रोकने वाला नहीं है। आप (महान्) सबसे बड़े होकर (आजसा) अपने पराक्रम सामर्थ्य से (धृषि) सबत्र विचरण करते हो। आप (सुत) इस विश्व में और हमारे हृदय और यज्ञ में (आगम) व्याप्त हो।

(२) (य) जो अपना (वप्र) प्रेरणावान् शक्तिमान् (अनिशृत) अविनाशी, किसी से न मारा गया (स्थिर) कृत्स्य, स्थिर (रयाय) सर्वत्र विश्व में और इस देह में रमण करने के लिये (संस्कृत) संस्कार किया गया नाना कर्म फलों से या तप साधनों से शुद्ध किया गया है। (यदि) जब (मघवा) ज्ञानवान् आत्मा (स्तातु) स्तुति करने हारे विद्वान् की (हव) पुकार को (शृण्वत्) सुनलेता है तो (इन्द्र) वह पुरुषार्थवान् आत्मा (न यावति) पृथग् नहीं रहता प्रत्युत (आगमत्) उस प्रभु को जाता है।

परमात्मा के पक्ष में—(संस्कृत) नाना गुणों से उपासित होकर जब वह अपने भक्त की पुकार सुनता है तो उसके हृदय में प्रकट होता है।

३ तृतीय खण्ड।

—०—

[१६९९] पवमाना असृक्षत सोमा शुक्रास इन्दव ।
अभि विश्वानि काव्या ॥ १ ॥

[१७००] पवमाना दिवस्पय-न्तरिक्षादरुहत ।
पृथिव्या अधि सानवि ॥ २ ॥

[१७०१] पवमानास आशव शुभ्रा असृग्रमिन्दव ।
अन्तो विश्वा अभिक्षिप ॥ ३ ॥ १६ ॥

अ० ९। ६३। १२ २० २, ॥

भा०—(पवमाना) शुद्ध पवित्र (शुक्रास) शुद्ध शुक्ल कर्मों के करने हारे (सोमा) शमादिगुणसम्पन्न (इन्दव) योगी विद्वान् जन (विश्वानि) समस्त (काव्या) वेदवाणियों का (अभि) साक्षात् (असृक्षत) करते हैं।

(२) (पवमानाः) शुद्ध पवित्र, या गति करने हारे, या ज्ञानवान् पुरुष (दिवस्परि) द्यौ अर्थात् प्रकाशमान् लोकों में (अन्तरिक्षात्) और अन्तरिक्ष में और (पृथिव्याः) पृथिवी के (अधि सानवि) उच्च पर्वत भागों में (असृक्षत) तप और विद्या का सम्पादन करते हैं।

(३) (शुभ्राः) शुभ्रगुणयुक्त, (आशवः) शीघ्र गति करने हारे, अप्रमादी, (पवमानासः) सब को पवित्र करने हारे, (इन्दवः) ज्ञानी पुरुष (विश्वः) सब (द्विषः) द्वेष करने हारे पुरुषों को, या द्वेषभावों को (अप घ्नन्तः) दूर मार भगाते हुए (अस्मभ्यम्) कार्य सम्पादन करते हैं।

यज्ञपक्ष में पवमाना, शुक्र, आशव, शुभ्रा, इन्दव, आदि सब विशेषण गौणवृत्ति से सोमरसों में लगते हैं।

[१७०२] ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ तोशा वृत्रहणा हुवे स जित्वानपराजिता। ३ १ २ ३ १ २ इन्द्राग्नी वाजसातमा ॥ १ ॥

[१७०३] १ २ ३ १ २ प्र वामर्चन्त्युक्थिन ० ॥ २ ॥

[१७०४] १ २ ३ १ २ २ इन्द्राग्नी नवतिं पुरः० ॥ ३ ॥ १७ ॥ अ० ३ । १२ । ४, ९ ॥

भा०—(१) (तोशा) भीतरी रोगादि शत्रुओं के नाशक, (वृत्रहणा) अज्ञान के हनन करने वाले, (सजित्वाना) समान रूप से विजय करने हारे, प्रबल, (अपराजिता) कभी न हारने वाले अनथक, (वाजसातमा) बल के देने वाले (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि प्राण और अपान आत्मा और अन्तःकरण, परमात्मा और जीवात्मा, राजा सेनापति, गुरु शिष्य होते हैं।

(२. ३) " प्रवामर्चन्त्युक्थिन • " और "इन्द्राग्नी नवतिंपुरः" यह दोनों प्रतीकमात्र हैं। व्याख्या देखो अवि० सं०[१४७९, १४७६] पृ०६७१।

[१७०५] उप त्वा रण्वसन्दृश प्रयस्वन्त सहस्कृत ।
अग्ने ससृज्महे गिर ॥ १ ॥

[१७०६] उपच्छायामिव घृणेरग्म शर्म ते वयम् ।
अग्न हिरण्यसन्दृश ॥ २ ॥

[१७०७] य उग्र इव शर्यहा तिग्मशृङ्गो न वंसग ।
अग्न पुरो दरार्जथ ॥ ३ ॥ १८ ॥

ऋ० ६ । १६ । १७-१९ ॥

भा०—(१) हे (सहस्कृत) बल और साधना से साक्षात् करने योग्य अग्ने ! (प्रयस्वन्त) ज्ञानी मुमुक्षु हम लोग (रण्वसन्दृश) रमण करने हारे या रमणीय और दर्शन करने योग्य या सबके द्रष्टा (त्वा) आप परमेश्वर के (उप) समीप प्राप्त होने के लिये (गिरः) स्तुतियों या वेदवाणियों का (ससृज्महे) उच्चारण करें ।

(२) जिस प्रकार (घृणेः) देदीप्यमान सूर्य के तेज से सन्तप्त होकर लोग (छायाम् इव) छाया का आश्रय लेते हैं उसी प्रकार हे (अग्ने) ज्ञानवन् प्रभो ! (हिरण्यसन्दृशः) सूर्य समान स्वरूप वाले (ते) आपके (शर्म) शरण सुख को (वयं) हम (उप अग्न्म) प्राप्त हों ।

(३) (यः) जो (शर्यहा) बाण से मारने हारे पाखी के (इव) समान (उग्रः) अति भयंकर शत्रुशाली (वंसगः न) बैल के समान (तिग्मशृङ्गः) तीक्ष्ण शृंग अर्थात् प्रखर तेज वाला, है वही आप हे (अग्ने) प्रभो ! (पुरः) सब दुर्गों का (दरार्जिथ) ज्ञान वज्र से तोड़ डालते हैं और मुमुक्षुओं का मुक्त कर देते हैं ।

सायण ने अग्नि का स्वरूप मानकर त्रिपुर दहन की कथा का उल्लेख है । लिखा है—" यदा वा एष यदग्नि. " इति श्रुत । रुद्रकृतमपि त्रिपुर-

दहनम् अग्निकृतमवति श्रूयत । यद्वा त्रिपुरदहनसाधनभूत बाण अग्निर नाकरवनावस्थानादग्नि पुराणि नग्नवान् इत्युच्यत । " अर्थात् रुद्र अग्नि का नाम है ऐसी ब्राह्मण श्रुति है । अत रुद्र का किया त्रिपुरदहन अग्नि ही का किया कहा जाता है । अथवा त्रिपुर क दहन करन में साधन बन बाण में अग्नि सहायक था इससे अग्नि न पुरों का तोड़ा ऐसा कहा जाता है । परन्तु इस का रहस्य सायण न स्पष्ट नहीं किया, यह आलङ्कारिक है । वस्तुत —

वेदत्रयी त्रिनयनाग्नि त्रिपुर त्रिगुण वपु । (पु०)
भस्मीकरोति तद्यत्त्रिपुरघ्नस्ततः स्मृत ॥ (स्कन्द० महे० कौ० ख० २ । अ० २६)

अर्थात्—रुद्र क तीन वेद तीन नेत्र हैं, त्रिगुण रूप त्रिपुर है उसको वह ज्ञानरूप से प्रकट होकर भस्म कर देन स त्रिपुरघ्न कहा जाता है ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७०८] ऋतायान वैश्वानरस्तुतस्य ज्यानिदस्यामि ।
१ २ ३ १ २
अजश्च घर्ममीमहे ॥ २ ॥
२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ४ १२ ३ २
[१७०९] य इद प्रनिपप्रथ यज्ञस्य सदनित्तिरन् ।
३ २ १ १२ ३ १
ऋतून्सृजत ऋतुभी ॥ २ ॥
१ २ ३ २ ३ १ २ १ १ २ ३ १ ३ १ २
[१७१०] अग्नि प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य ।
३ २४ ३ १ २
सम्राजन्तमध्वराणाम् ॥ ४ ॥ १९ ॥

१७०९ नाम्न । मन्त्र यजु० २६ । ६ आर्च० ६ ३६ । १ ॥ द्वि० ब्राह्मण० ६ । २६ । २ ॥ तृतीया यजु० १२ । ११७ ।

१७०८—२ न विषा शत्रव स्तुत ऋतून् सृजत वर्षी धम्य अग्नि' इत पाठ भाष्यसम्मत कि । ३ कान्त पशु न गमु' इति भाष्य० ।

भा०—(१) हे अग्ने ! (ऋतावान) सत्यज्ञान से युक्त या इस ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले (वैश्वानरम्) समस्त नर अर्थात् आत्माओं में भी व्यापक, सबके हितकारक (ज्योतिष पतिं) सब ज्योतिष्मान् सूर्य आदि विशाल लोकों के प्रतिपालक (यजस्र) अजादि, नित्य (घर्मं) शुद्ध दीप्ति मान् आपको (इमह) उपासना करते हैं ।

(२) (य) जो अग्नि[1] परमात्मा (यज्ञस्य) आत्मा का (स्व) आनन्दमय मोक्ष (उत्तिरम्) प्रदान करता है और (इद) समस्त ब्रह्माण्ड को (प्रतिपप्रथ) रचता है और सब का वशकर्त्ता, अधिष्ठाता होकर (ऋतून्) प्राणों का और गतिशील पिण्डों और छहों कालरूप वसन्त आदि ऋतुओं को सूर्य के समान (उत्सृजत) उत्कृष्ट रूप में बनाता और प्रकट करता है ।

(३) वह (अग्नि) सब का पूजनीय प्रकाशस्वरूप परमात्मा (भूतस्य) समस्त भूतकाल और उसमें उत्पन्न हुए समस्त पदार्थों और (भव्यस्य) भविष्यत् काल और उसमें होने वाले समस्त जगत् का (काम) मूल उत्पादक सकल्प के समान आदिकारण (प्रियेषु) अति श्रेष्ठ और विभूतियुक्त श्रेष्ठ (धामसु) लोकों में (एक) एकमात्र अद्वितीय (सम्राट्) सार्वभौम सम्राट् परमेश्वर स्वामी होकर (विराजति) विशेष रूप से विराजमान है ।

इति चतुर्थ खण्ड ।

इत्यष्टादशोऽध्यायः समाप्तः ।

इति द्वितीयोऽर्ध प्रपाठक ।

---

१. वा ी परमेश्वरस्या ग्ने ्वरीकरा सोऽग्नि ।इति सायण ।

अथैकोनविंशोऽध्यायः ।

अथाष्टमप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः ।

ऋषयः—१ विरूप आङ्गिरसः । २, १८ अवत्सारः । ३ सिंदधित्र. । ४ देवातिथि. काण्वः । ५, ८, ९, १६ गोतमो राहूगण. । ६ वामदेवः । ७ प्रस्कण्वः काण्वः । १० वसुश्रुत आत्रेयः । ११ गृत्समदो भार्गवः । १२ अत्र्यत्रिगणा आत्रेयाः । १३ कुणारिर्विश्वामित्रो गाथी । १४ वसिष्ठ आङ्गिरस. । १५ अग्निः । १७ दीर्घतमा औचथ्यः ॥ देवता—१, १०, १३ अग्निः । २, १८ पवमानः सोमः । ३–५ इन्द्रः । ६, ८, ११, १४, १६ उषा. । ७, ९ १२, १५, १७ अश्विनौ ॥ छन्दः—१, २, ६ ७, १८ गायत्री । ३ ५ बृहती । ४ प्राजापत्या । ८, ९ उष्णिक् । १०–१२ पङ्क्ति. । १३–१५ त्रिष्टुप् । १६, १७ जगती ॥ स्वरः—१, २, ७, १८ षड्ज. । ३, ४, ५ मध्यमः । ८, ९ ऋषभः । १०—१२ पञ्चमः । १३–१५ धैवतः । १६, १७ निषाद. ॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २
[१७११] अग्निः प्रत्नेन जन्मना शुम्भानस्तन्वो३ स्वाम् ।
३ १ १ १
कविर्यज्ञस्य मातृषे ॥ १ ॥
३ १ १ १ ३ १ १ ३ । १ ३ १ १
[१७१२] ऊर्जो नपातमाहुवध्निं पावकशोचिषम् ।
३ २ ३ १ २ ३ २
अस्मिन्यज्ञे स्वध्वरे ॥ २ ॥
१ २ ३ १ १ ३ १ १ ३ १ १
[१७१३] स नो मित्रमहस्त्वमग्ने शुक्रेण शोचिषा ।
३ १ १ १ ३ १ २
देवैरासत्सि बर्हिषि ॥ ३ ॥ १ ॥ ष० ८ । ४४० १२-१४॥

१७११—१. "जन्मना" इति ऋ० ।

भा०—(१) (अग्नि.) ज्ञानस्वरूप प्रकाशमय आत्मा (प्रत्नेन) अपने पुराने अर्थात् पूर्व के किये (जन्मना) जन्म अर्थात् स्वरूप से या जन्म में किये कर्मों द्वारा (स्वां) अपने (तन्वां) शरीर को (शुम्भान) उत्तम रूप से सुशोभित करता हुआ (कविः) क्रान्तदर्शी, मेधावी, ज्ञानी होकर (विप्रेण) मेधावी ज्ञानमय परमेश्वर के संग (वावृधे) अपनी वृद्धि और अभ्युदय प्राप्त करता है।

सायण ने 'जन्मना' और 'विप्रेण' का अर्थ स्तोत्र किया है। तुलसीरामजी-'प्रत्नेन जन्मना' पुराने जन्म से सनातनस्वरूप से। ग्रीफिथ पुराने तरीके से।

(२) (ऊर्जोनापातम्) बल वीर्य का विनाश न होने देने हारे (पावकशोचिषम्) लोकों को शोध कर पवित्र करने हारे तेज से युक्त (अग्निम्) अग्निस्वरूप आत्मा को (अस्मिन्) इस (स्वध्वरे) उत्तमरूप, अविनाशी (यज्ञे) दान प्रतिदान स्वरूप यज्ञ या इष्टदेवपूजा या समाधि दशा में या सर्व पूज्य परमात्मा में (आहुवे) समर्पित करता हूं।

(३) हे (अग्ने) आत्मन् ! हे (मित्रमहः) अपने मित्र परमस्नेही परमेश्वर के संग से स्वतः तेजस्विन् ! (त्वम्) तू (शुक्रेण) शुद्ध (तेजसा) तेज से (दवैः) अपनी इन्द्रियों के साथ (बर्हिषि) इस देह में (आ सत्सि) विराजमान है।

परमात्म पक्ष में-हे मित्र ! या सूर्य के समान कान्ति वाले या सब के मित्र एवं पूजनीय परम प्रभो ! (त्वं) आप शुद्ध कान्ति से दिव्य गुण युक्त विद्वानों और सूर्यादि 'देव' लोकों के संग इस (बर्हिषि) ब्रह्माण्ड में (आ सत्सि) विराजमान हो।

[१७१४] उत्ते शुष्मासो अस्थू रक्षो भिन्दन्तो अद्रिवः।
नुदस्व याः परिस्पृधः ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १२ २ ३ २ २२ ३ २
[१७१५] अया रुजा वृषा रथमक्षे योनित।
२ ३ १ २ ३ २
स्तवा अविभ्युषा हृदा ॥ २ ॥
१ २ ३ २ ३ २८ ३ १ २ २८ २२
[१७१६] अस्य व्रतानि नाधृषे पवमानस्य दूड्या।
२ १२ २२ ३ १ २
रुज यस्त्वा पृतन्यति। ३ ॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७१७] न ते विष्णवीति मदच्युत हरिं नदीषु वाजिनम्।
२ ३ १ २ ३ २
इन्दुमिन्द्राय मत्सरम् ॥ ४ ॥ २ ॥ ऋ० ९। ५३। १-४ ॥

भा०—(१) हे (साम) सर्वोत्पादक[1] हे (अद्रिव) आदरणीय[1] अक्षयवन्[1] परमात्मन्[1] आदर करने वाले भक्तों के स्वामिन्[1] (त) तेरे (शुष्मिन्) बलप्रयोग (वृष) दुष्ट पुरुषों का या विघ्नों का (भिन्दन्त) विनाश करते हुए (उत् अक्षु) सबसे ऊपर विराजमान हैं (या) जो (स्पृध) तुझ से स्पर्द्धा करते हैं उन नास्तिकों का तू (नुदस्व) नाश किया करता है।

(२) हे (साम) ऐश्वर्यवन्[1] परमात्मन्[1] आप (अया) इस प्रकार के (आजसा) तेज और बल से विघ्न और विघ्नकारियों का (निजानि) संहार करने हारे हो। (रथमग) इस रमण करने योग्य रमणीय रमस्वरूप संसार को हृदय में और धन[2] तृप्ति देने योग्य भोग्य पदार्थ के (हित) प्राप्त होने पर मैं (अविभ्युषा) निर्भय (हृदा) चित्त से (स्तवै) आपकी स्तुति करता हूं।

(३) (अस्य) इस (पवमानस्य) पवमान सर्वप्रेरक व्यापक और सब को पवित्र करने हारे स्वयं पवित्र परमेश्वर की (व्रतानि) व्यवस्थाएं (दूड्या) दुष्ट बुद्धि वाले मूढ़ अभिमानी पुरुष से (न

१७१४—२ धन विशेषतः गौ० (निरु० अ० १। पा० ९) विशेषतः गौ० (निघण्टु० अ० ५)।

आदृप) अपमान या विनाश नहीं हो सकती। हे परमात्मन् ! (य) जो (त्वा) आपका (वृतन्यति) विरोध करता है आपके नियमों और आज्ञाओं का उल्लंघन करता है आप उसको, (रज [२]) पीड़ा उत्पन्न करते हैं या उसका विनाश कर देते हैं।

(४) (त) उस (मदच्युत) आनन्द रस के प्रदान वाले, (वाजिनम्) ज्ञानमय, (हरिं) दुःखों के हरण करनेहार सर्वव्यापक (मरुत्वन्तम्) स्वयं परमसुखस्वरूप आनन्दस्वरूप (इन्दुम्) परमेश्वर को (इन्द्राय) अपने आत्मा के हित के लिये (हिन्वन्ति) उपासना करते हैं।

[१७१८] आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः ।
मा त्वा के चिन्नियेमुरिन्न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि ॥१॥

[१८१९] वृत्रखादो वलं रुज पुरा दमो अपामजः ।
स्थाता रथस्य हर्योरभिस्वर इन्द्रा हृढा चिदारुजः ॥२॥

[१७२०] गम्भीराँ उदधीँरिव क्रतुं पुष्यसि गा इव ।
प्र सुगोपा यवसं धेनवो यथा हृदं कुल्या इवाशत
॥ ३ ॥ ३ ॥ ऋ० ३ । ४५ । १—३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२४६] पृ० १२६ ।

(२) (वृत्रखादः) आवरणकारी अज्ञान का नाशक (वलं रुज) बलन करने वाले, प्राण धारण करने वाले देह, या मोह को अपराध करने वाले तामस आवरण को तोड़ डालने हार, (पुरा दमः) प्रकाश रूप पुरियों के विदारक, (रथस्य स्थाता) इस रथ या देह या विशाल ब्रह्माण्ड

२ रजा भङ्क्ष (तुदादि) रल विसर्गश्च (चुरादि)।

रूप रथ क अधिष्ठाता (अपाम् अज) कर्मों और मन सकल्पों क प्रेरणा करन वाल, (हर्यो अभिस्वर) प्राणादिय और ज्ञानेन्द्रिय अथवा प्राण और अपान इनका साक्षात् रूप स प्रेरक (इन्द) आत्मा और परमात्मा (दृढ़ाचित्) दृढ़ स दृढ़, कठोर से कठोर बन्धनों या विघ्नों को भी (आरुज) विनाश कर दता है ।

(३) हे इन्द ! (त्व) आप (गभारान्) गभार (उदधीन् इव) समुद्रों को जिस प्रकार निरन्तर सहस्रों जलधारा पुष्ट करती हैं । और वह सूखत नहीं उसी प्रकार आप इस (ऋतु) जीवात्मा का नाना जीवन धारामों स पुष्ट करत हो कभा विनाश नहीं होन दत । और (सुगोपा) उत्तम गोपालक (गा इव) जिस प्रकार अपना गौओं का (प्र पुष्यति) खूब खिलाकर पुष्ट करता है उसी प्रकार आप जीवों का भी खूब अन्नादि दकर पुष्ट करत हैं । और (यथा) जिस प्रकार (धनव) गौए (वत्सं) अपन चार पर आता हैं उसी प्रकार य जावगण आपक पास पहुच जात हैं और (कुल्या इव) जिस प्रकार सब नहरें या नदिया (ह्रद) विशाल ताल या समुद में आ गिरती हैं उसा प्रकार य जाव आप में ही सब भदभाव त्याग कर आ मिलत हैं ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ड ३ १र २र
[१७२१] यथा गौरा अपीकृत तृष्यन्त्यवारिणम् ।
३ १ २ ३ २ड ३ १ २ ३ १ २ ३ २ड ३ १ २
आपित्वे न प्रपित्वे तूयमागहि कण्वेषु सु सचा पिब ॥१॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१७२२] मन्द तु त्वा मघवन्निन्द्र दावने राया देवाय सुन्वते ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ड ३ १ २ ३ १ १
आमुष्या सोममपिबश्चमूसुत ऽयष्ट तद्धिष सह ॥२॥४॥

ऋ० ८ । ४ । ३, ४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देख अवि० सं० [२५२] पृ० १२८ ।

(२) हे (मघवन्) ज्ञानवान् आत्मन् ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (इन्दव) ये सोमरस ज्ञान और आनन्ददायक समाधि के विशेष अनुभव (त्वा) तुझको (मदन्तु) हर्षित करें। (सुन्वते) ज्ञानरस का उत्पन्न करने हारे साधक विद्वान् योगी के (राधसे) सिद्धि (दयाय) प्राप्त कराने के लिये (चमू सुतः) प्राण और अपान रूप चमू दोनों से उत्पन्न किये गये (सोमम्) सोम अर्थात् आनन्दरस को (अमुष्य) गुप्तरूप से प्राप्त करके स्वयं (सोमम्) ब्रह्मानन्द को (अपिब) पान करता है और तू (तत्) उस अलौकिक (ज्यष्ठ) सबसे महान् (सह) सह स्वरूप सर्वशक्तिमान् ईश्वर को अपने भीतर (दधिषे) धारण करता है।

[१७२३] त्वमङ्ग प्रशंसिषो देव शविष्ठ मर्त्यम्।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥१॥

[१७२४] मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसोऽस्मान् कदाचनादभन्।
विश्वा च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ ॥२॥५॥

ऋ० १ । ८४ । १६, २० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२४७] पृ० १२८।

(२) हे (वसो !) सर्व संसार के बसाने हारे परमात्मन् ! (ते) तेरे (राधांसि) बलस्वरूप पञ्चभूत (कदाचन) कभी (मा दभन्) विनाशकारी न हों। और (त ऊतयः) तेरी समस्त पालक शक्तियां (अस्मान्) हम कभी (मा दभन्) विनाश न करें। और हे (मानुष) मनुष्य ! तू (विश्वा च) समस्त (वसूनि) आवास-साधनों को (उप मिमीहि) स्वयं उत्पन्न कर और उनका ज्ञान कर। और (नः चर्षणिभ्यः) हम विद्वान् पुरुषों को वे नाना पदार्थ जो तू जानता और तैयार करता है (आ) प्रदान कर।

इति प्रथमः खण्डः।

—०—

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१७२४] प्रति प्या सूनरी जनी व्युच्छन्ती परि स्वसु ।
३ १ २ ३ २
दिवो अदर्शि दुहिता ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७२५] अन्येव चित्रारुषी माता गवामृतावरी ।
१ २ ३ १ २ ३ १
सखाभूदश्विनोषा ॥ २ ॥
३ १२ २२ ३ १ ३ १ ३ १ २२
[१७२६] उत स्वास्यश्विनोरत माता गवामसि ।
१ २ ३ १ २
उतोषा वस्त्र इशिषे ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ४ । ५२ । १–३ ।

भा०—(१) (स्या) वह (दिव) सूर्य की (दुहिता) पुत्री उषा (परि स्वसु) रात्रि के उपरान्त (व्युच्छन्ती) तम को दूर करती हुई, (सूनरा) उत्तम नेत्र रूप (जनी) स्त्री के समान (प्रति अदर्शि) प्रकट होती है ।

अथवा—(स्या सूनरी जनी) वह उषा उत्तम पुत्र उत्पन्न करने हारी, शुभ कन्या से युक्त स्त्री के समान (स्वसु परि) अपनी बहनी के पीछे २ (व्युच्छन्ती) अपना रूप प्रकट करती हुई लोक में प्रकट होती है उसी प्रकार यह (दिव) आदित्य के समान प्रकाशमान वाणी की (दुहिता) आनन्द रस का पूरण करने वाली ज्योतिष्मती प्रज्ञा (स्वसु) स्वयं सरण करने वाला आप से आप प्रकट होने वाली प्रतिभा के (परि) साथ २ (जनी) उत्पन्न होती हुई ज्ञान उत्पन्न करने हारी (सूनरा) उत्तम मोक्ष मार्ग की नेत्री होकर (प्रति अदर्शि) दिखाई देती है ।

(२) (उषा) अज्ञानान्धकार का दहन करने हारी उषा साधक की विशाला प्रज्ञा (अन्धा) व्यापनशील विद्युत् के समान (चित्रा) विचित्र सज्ञानवती (अरुषी) सब प्रकार से कान्तिमती तेजस्विनी, (गवां) इन्द्रियरूप गौओं की (माता) उत्पादन करने वाली (ऋतावरी) सत्य

ज्ञान को वरण करने हारी या प्राप्त करने हारी ऋतम्भरा स्वरूप (अश्विना) शरीर भर में व्यापक प्राण और अपान इन दोनों की (सखा) साथ रहने वाली, उनके साथ ही वर्णन की जाने योग्य, अथवा समान रूप से इन्द्रिय देशों में व्याप्त (अभूत्) है।

(३) पूर्व ऋचा के समान ही है (उप) ज्योतिष्मति! विशोका नामक प्रज्ञे! (उत) यद्यपि (अश्विनो) अश्वि अर्थात् प्राण और अपान दोनों की तू (सखा असि) सखा है (उत गवा माता असि) और गो अर्थात् इन्द्रियों की तू उत्पादक माता के समान है। अथवा उनके गृहीत ज्ञान को भी ग्रहण करने हारी, प्रमाणी है (उत) तथापि हे उष! प्रकाश-स्वरूप प्रज्ञे! तू (वस्व) आत्मा या प्राण की (ईशिषे) शक्ति को धारण करती है।

[१७२८] एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिव।
स्तुष वामश्विना बृहत् ॥ १ ॥

[१७२९] या व्रुक्षा सिन्धुमातरा मनोतरा रयीणाम्।
धिया देवा वसुविदा ॥ २ ॥

[१७३०] वध्यन्ते वां ककुहासो जूर्णायामधि विष्टपि।
यद्वां रथो विभिष्पात् ॥ ३ ॥ ७ ॥ अ० १। ४६। १—३॥

भा०—(१) (एषा उ) यह (उषा) उषा, सकल पापदाहिका विशोका प्रज्ञा (अपूर्व्या) योगी के अनुभव में पूर्व कभी न आई हुई (दिव) प्रकाशमान आत्मा की (प्रिया) अत्यन्त प्रेमपात्र है। हे (अश्विना) देह में निरन्तर गति करने हारे प्राण और अपान इस विशोका की प्राप्ति के लिये (वां) आप दोनों के (बृहत्) बहुत अधिक (स्तुष) गुणकारी होने का यथार्थ वर्णन करता हूं।

(२) (या) जो दोनों (देवा) देव, प्राण और अपान (दस्रा[1]) अत्यन्त दर्शनीय, अथवा काम क्रोधादि मलों के नाशक, अथवा सब कर्म कराने हारे, या रोग विनाशक, शरीर के भीतर सब के कर्म के करने कराने हारे (सिन्धुमातरौ) देह के सब रक्तप्रवाहिनी नाड़ियों या प्राणों को प्रवाहित करने हारे उनको ठीक रीति से संचालक, (रथीणां) सब ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के ज्ञान और कर्मों को (मनोतरा) मनोबल द्वारा प्रेरणा करने और मनोबल से ही उनके ज्ञान और क्रिया को स्वयं प्राप्त करने कराने हारे (धिया) ध्यान वृत्ति से (वसुविदा) वसु, आत्मा का ज्ञान कराने वाले या, उस तक स्वयं पहुंचने वाले हैं।

(३) पूर्वोक्त रूप से वर्णित किये गये हे अश्विनौ ! (वां) आप दोनों का (रथः) रमणस्थान यह आत्मा (यत्) जब (त्रिभिः) पदार्थों तक पहुंचने वाले प्राणगणों सहित (जूर्णीषाम्) अतिप्रशंसा योग्य वा सनातन (अधि विष्टपि) मोक्षस्थान पर (पतात्) गमन करता है तब (वां) आप दोनों के (कक्षुहासः) उत्तम गुण (वध्यन्ते) वर्णन किये जाते हैं। उन दोनों का (रथः) रमण स्थान यह देह (जूर्णीषाम् अधिविष्टपि) जीर्णदशा, वृद्धावस्था तक पहुंच जाता है। पूर्णायु भोग लेता है तब उन दोनों के गुण वर्णन किये जाते हैं।

१।२८—१. दसि दर्शनयोः। दसि दन इत्येके (चुरादि०), दसि भावार्थः (चुरादिः), दसु उपक्षये दसु च (दिवादिः) अयेतेभ्यो 'स्फायितञ्चि०' औणादिको रक् (उणा० २ । १३)। दस्यति रोगान् उपक्षपयति अनि दस्रः (दसु० उणा०) दस्रा द्वौ दासयितारौ, दमयितारौ, कर्मणा कृष्यादीनां कारयितारौ। यद्वा दस्यतिर्विधौ कर्म कारयन्तौ दुर्यौ वा इति दुर्गाचार्यः (निरु० अ० ६ ख० २६) नीकरणीयौ।

२ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[१७३१] उपस्तश्चित्रमाभरास्मभ्य वाजिनीवति ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
येन तोक च तनय च धामहे ॥ १ ॥
१ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[१७३२] उषो अद्येह गोमत्यश्वावति विभावरी ।
३ २ ३ १ २
रेवद्अस्मे व्युच्छ सूनृतावति ॥ २ ॥
३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१७३३] युक्ष्वा हि वाजिनीवत्यश्वा अद्यारुणॉ उप ।
१ २ ३ २ ४ १ २ ३ १ २
अथा नो विश्वा सौभगान्यावह ॥ ३ ॥ ८ ॥

अ० १ । ६२ । १३–१५ ॥

भा०—(१) हे (उष) कमनीय कन्या के समान विशोकप्रज्ञे ! उषोतिष्मति ! हे (वाजिनी वति) ज्ञानमय वाणी से युक्त ! (अस्मभ्य) हमें (तत्) वह (चित्र) समस्त योग्य प्राप्तव्य ज्ञान (आभर) प्राप्त करा । (येन) जिससे (तोक) पुत्र के समान प्रिय एवं क्रीड़ाशील चित्त और (तनय) समान जालन पालन योग्य इस देह को (धामहे) धारण करें, चिरकाल तक जितेन्द्रिय, चिरायु होकर रहें।

(२) हे (विभावरि !) ज्योति से सम्पन्न या विशेष कान्ति से वरण करने योग्य या कान्ति से सम्पन्न उषोतिष्मति ! हे (उष) आभ्यन्तर मलों को दाह करने हारी चितिशक्ति ! हे (गोमति) वाणी या ज्ञानेन्द्रियों या रश्मियों से युक्त ! हे (अश्वावति) अश्व अर्थात् कर्मेन्द्रिय या मनरूप अश्व वाली ! हे (सूनृतावति) उत्तम ऋत अर्थात् त्रिकालबाधित ज्ञान से सम्पन्न

---

१ ७३३—१ उष दाहे (भ्वादि) उदम प्रभातभाव (कण्ड्वादि) तयो रूप-
२ क्विपि अभिरौणा" (उणादि० ४ । २३४) । आपत्रि दहतीति उष ,
३ कणच्छिद्र, पवनभदो वा, (क्रिया) प्रभातसमय (दया०) । ,

अथवा सृष्टि वेदवाणी का दर्शन मनन और निदिध्यासन करने हारी तू (अस्मे) हमारे लिये (रेवत्) रयि, अर्थात् ज्ञान प्राण और ऐश्वर्य से युक्त आत्म स्वरूप को (व्युच्छ) हमारे सामने खोल दे ।

(३) हे उषः ! हे वाजिनीवति ! (अद्य) आज (अरुणान्) चेत नाश से युक्त दीप्तिमान्, अथवा रोगरहित (अश्वान्) प्राणों को (युङ्ध हि) इस देहरूप रथ में प्रेरित कर । (अथा) और (नः) हमें (विश्वा) समस्त (सौभगानि) उत्तम सुखदायी पदार्थों को (आवह) प्राप्त करा ।

[१७३४] आश्वना वर्तिरस्मदागोमद्दस्रा हिरण्यवत् ।
अर्वाग्रथं समनसा नियच्छतम् ॥ २ ॥

[१७३५] एह देवा मयोभुवा दस्रा हिरण्यवर्तनी ।
उषर्बुधो वहन्तु सोमपीतये ॥ २ ॥

[१७३६] यावित्था श्लोकमा दिवो ज्योतिर्जनाय चक्रथुः ।
आ न ऊर्जं वहतमश्विना युवम् ॥ ३ ॥ ६ ॥

ऋ० १ । ९१ । १६, १८ १७ ॥

भा०—(१) हे (अश्विनौ) देह में व्यापनशील ! प्राण और अपान ! आप दोनों (दस्रौ) रोगों के विनाशक हो । अतः आप दोनों (समनसा) हमारे मन के मानस बल के साथ होकर (हिरण्यवत्) आत्मा से युक्त और (गोमत्) इन्द्रियों से युक्त (रथम्) इस रमण योग्य उत्तम रथ रूप देह को (अर्वाग्) अपने अधीन करके साक्षात रूप से (नियच्छतम्) नियम में रक्खो ।

(२) (इह) इस देह में (उषर्बुधः) ज्योतिष्मती प्रज्ञा को ज्ञान-जागृति से चेतन कर लेने वाले अथवा प्रबुद्ध योगी जन (हिरण्यवर्तनी)

आत्मा के बल पर अपनी चेष्टा करने वाले अथवा आत्मारूप रथ पर चढ़े हुए, अथवा हिरण्य=आत्मा को, वर्त्तनि अर्थात् अपना प्रेरक और आश्रय बनाने हारे, (दस्रा) मलादिशोधक, अतएव (मयोभुवा) सुख और आरोग्य के उत्पादक, (देवा) दिव्यगुणयुक्त प्राण और अपान दोनों को (सोमपीतये) तद्ज्ञानरस को पान करने के लिये (आवहन्तु) अपने वश करें ।

(३) हे (अश्विनौ) पूर्वोक्त प्राण और अपान ! (यौ) जो आप दोनों (इत्था) इस प्रकार से (दिवः) द्यौलोक या मूर्धाभाग से (श्लोकं) प्रशंसनीय या अतिघनीभूत ज्योति विशोका, विवेक ख्याति को (जनाय) साधक पुरुष के लिये (चक्रथुः) उत्पन्न करते हो वे ही (युवं) आप दोनों (नः) हम लोगों के लिये (ऊर्जं) परम पोषक रसरूप बल को (आवहतम्) प्राप्त कराओ ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

---

३ ५१ २१ ३ २३ ३ २ ३ १२ २१ ३ १ २ २ ३ १ २
[१७३७] अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यन्ति धेनवः । अस्तमर्वन्त
३ २३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आभर ॥१॥
३ ५३ ३ १ २ ३ ५१ २१ ३ १ २ ३ २१ ३ २
[१७३८] अग्निर्हि वाजिन विश ददांति विश्वचर्षणि । अग्नी राये
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
स्वाभुवं स प्रीतो याति वार्यमिष स्तोतृभ्य आभर ॥२॥
२ १२ २१ ३ २३ ३ १ २ ३ १ २ १२ २१
[१७३९] सो अग्निर्यो वसुर्गृणे सं यमायन्ति धेनवः । समर्वन्तो
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
रघुद्रुवः समु जातासः सूर्य इव स्तोतृभ्य आभर ॥३॥
१० ॥ अ० ५ । ६ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५२५] पृ० ।

(२) (हि) निश्चय से (विशे) प्रजाओं के हित के लिये (अग्नि-) ज्ञानस्वरूप परमात्मा इसे (वाजिन) बलवान् पुरुष, ज्ञानी पुरुष और अन्नादि पदार्थ (ददाति) देता है। वह (विश्वचर्षणि) समस्त संसार को देखने वाला सर्वसाक्षी, (अग्नि) प्रत्येक अंग २ में व्यापक सबका प्रकाशक है।(स॰) वह (प्रीत॰) उत्तम प्रेम से परिपूर्ण एवं प्रसन्न होकर प्रभु (स्वा भुवम्) अपने आश्रय पर प्राण धारण करने वाले जगत् को (राये) उत्तम कल्याण के लिये (याति) प्राप्त होता है और वही (स्तोतृभ्य॰) विद्वान् वेदज्ञों का (वार्यम्) वरण करने योग्य (इष) ज्ञान और अन्न का (आभर) प्रदान कर।

(३) (स) वह (अग्नेः) 'अग्नि' (गृणे) कहा जाता है (यः) जो (वसुः) समस्त संसार को बसाने हारा और स्वयं सब में बसने हारा, सब का आच्छादक, शरण्य है। और (य) जिसके शरण में (धेनव) गौएं, वाणियां एवं ज्ञानरस का पान करने और कराने हारे विद्वान्जन (सम् आयन्ति) पहुंचते हैं। और जिसके शरण (रघुद्रुव) ज्ञान मार्ग में गमन करने वाले विद्वान् (सम्) प्राप्त होते हैं, उपासना करते हैं, और (सुजातास॰) संसार में उत्तम स्थिति को प्राप्त कृतकृत्य, यशस्वी (सूरय) सूर्य के समान प्रजाओं को धर्ममार्ग में चलाने हारे महापुरुष जिसके शरण में (सम्) आजाते हैं वह तू परमेश्वर ज्ञानस्वरूप (स्तोतृभ्य) विद्वान् उपासकों को (इष) उत्तम ज्ञान और अन्न का (आभर) प्रदान कर।

---

२ 'सप्रीतो याति' इति पाठ सायणादिसम्मतः। अस्मैरुद्रिते तु 'सुप्रीतो' इति नितरामनादरणीय, क्वापि नोपलम्भात्, ऋक्पाठविरोधाच्च 'सप्रीता' इत्येव ऋग्वेदीयः पाठः।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३
[१७४०] महे नो अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती । यथा चिन्नो
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अबोधय सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते॥१
१ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३
[१७४१] या सुनीथे शोचद्रथे व्यौच्छो दुहितर्दिव । सा व्युच्छ
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते॥२
१ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३
[१७४२] सा नो अद्यो भरद्वसुर्व्युच्छा दुहितर्दिव । यो व्यौच्छ
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते
॥ ३ ॥ ११ ॥ अ० २ । ७९ । १-३ ॥

भा०—(१) हे (उषः) उषा के समान ज्योतिष्मति विदुषि प्रजे ! तू (दिवित्मती) ज्योतिष्मती होकर (अद्य) आज, अब (महे) बड़े भारी (राये) आत्मज्ञानरूप धन को प्राप्त करने के लिये (नः) हमें (बोधय) जगा, ज्ञानवान् कर, प्रबुद्ध कर । हे (अश्वसूनृते) व्यापक आत्मा में शुभ, ऋत अर्थात् उत्तम ज्ञान का पूर्ण करने और वाणी को धारण करने वाली प्रजे ! (वाय्ये) सुख जाल वाय्य सूत्र के समान अविच्छिन्न, निरन्तर विद्यमान, सब इन्द्रियों को उस सूत्र में पिरोने हारे (सुजाते) उत्तम रूप से प्रादुर्भाव होने वाले (नः) हमारे (सत्यश्रवसि) सत्य सङ्कल्पकारी आत्मा में (यथाचित्) जिस प्रकार से उत्तम रीति से हो सके उस प्रकार (अबोधय) तू ज्ञान का प्रकाश कर । देखो व्याख्या अविकल संख्या [४२१] पृ० २१६।

(२) (दिव) हे सूर्य के समान प्रेरक आत्मा के (दुहितः) आनन्दरस का दोहन करने हारी उषः ! अतम्भरे ! (या) जो तू (सुनीथे) उत्तम पद पर प्राप्त शुक्र (शोचद्रथे) अति पवित्र, शुद्ध चित्स्वरूप आत्मा में, (व्यौच्छ) अज्ञान आवरण को हटाती रही है वैसे ही अब, हे

(अरवसूनृते) आत्मामें सत्य आत्मज्ञान ब्रह्मज्ञान को सभ्यवाणी और धारण करने हारी ऋतम्भरे ! (सा) वह तू (वाय्ये) तन्तु या पट के समान निरन्तर अविच्छिन्न क्रिया साधन करने हारे (सत्यश्रवसि) सत्यज्ञानमय (सुजाते) उत्तम रूप से प्रादुर्भूत (सहीयसि) सहनशील बलवान् आत्मा में भी (म्युच्छ) अज्ञान के आवरण को दूर कर ।

(३) हे (दिव दुहित) आत्मा के रस दोहन करने हारी विदुषी के ! (भरद्-वसु) वसुरूप प्राणों और मुख्य आत्मा को ज्ञान से भरपूर करने वाली पूर्वोक्त ! तू (या) जो (सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते) सहनशील तपस्वी, सत्यज्ञानी, अविच्छिन्न, उत्तम, शुभरूप से प्रकाशमान आत्मा से (म्युच्छ) आवरण को दूर करती है (सा) वह तू हे (अरवसूनृत) आत्मा को सत्यज्ञान से पूर्ण करने हारी तू (न) हमारे अज्ञान को भी , अद्य) आज (म्युच्छ) दूर कर ।

उषा के दृष्टान्त से गृहपत्नी के कर्त्तव्य भी इस सूक्त में बतलाये हैं ।

[१७४३] प्रात प्रियतम रथ वृषण वसुवाहनम् ।
स्तोता वामश्विना वृषि स्तोममिर्भूषति प्रति ।
माध्वी मम श्रुत हवम् ॥ १ ॥

[१७४४] अत्यायातमश्विना तिरो विश्वा अह सना ।
दस्रा हिरण्यवर्त्तनी सुपुण्या सिन्धुवाहसा ।
माध्वी मम श्रुत हवम् ॥ २ ॥

[१७४५] आ नो रत्नानि बिभ्रतावश्विना गच्छत युवम् ।
रुद्रा हिरण्यवर्त्तनी जुषाणा वाजिनीवसू ।
माध्वी मम श्रुत हवम् ॥ ३ ॥ १२ ॥ अ० ४।७।११-१३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४१८] पृ० १३ ।

(२) हे (अश्विना) पूर्वोक्त प्राण अपानरूप अश्विदेवो ! आप (दस्रा) दोषों के परिशोधक, (हिरण्यवर्त्तनी) आत्मा के आश्रय पर विराजमान, (सुपुम्णा) उत्तम सुख के देने हारे, अथवा 'सुपुम्ना' उत्तम रूपसे शरीर में व्यापक सुषुम्ना रूप से विद्यमान, (सिन्धुवाहसा) गतिशील नाड़ियों में रुधिर को प्रेरित करने हारे, (माध्वी) मधुर, अमृतमय मधुविद्या से युक्त (सना) सनातन से वर्त्तमान, आप दोनों (अतिआयातम्) सब बाधाओं को पार करके प्राप्त होवो (अह) और मैं आत्मा (विधाः) सब को (तिरः) पार करूं। अत आप (मम) मेरी (हवम्) उपासना या आज्ञा या वचन को (श्रुत) श्रवण करो।

(३) हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (युव) आप दोनों (रत्नानि) रमण साधन इन्द्रियों को धारण करते हुए (न) हमारे पास (आगच्छत) आओ। आप दोनों (रुद्रा) देह को छोड़ते समय कष्ट देने हारे, रुलाने हारे, (हिरण्यवर्त्तनी) आत्मरूप रथ पर गति करने वाले (वाजिनीवसू) ज्ञानमयी और बलमयी चित्ति शक्ति में बसने हारे (माध्वी) मधु-विद्या, आत्मविद्या जानने हारे, (सुपाणा) नित्य इस जीवन यज्ञ को सेवन करने वाले (मम हव श्रुत) मेरे वचन को श्रवण करो। मेरे वशवर्ती रहो।

इति तृतीय. खण्ड. ।

[१७४६] अयोऽग्निः समिधा जनानामुदु ध्वनुमिवायतीमुषासम् । यद्वा इव प्रयामुज्जिहाना प्र भानव सस्रत नाकमच्छ ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१७४७] अयोधि होता यजथाय देवान्ऊर्ध्वो अग्नि सुमना
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १
प्रातरस्थात् । समिद्धस्य रशदर्दर्शि पाजा महान्दवस्त-
२र ३ १ २
मसो निरमोचि ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७४८] यदीं गणस्य रशनामजीग शुचिरङ्क्ते शुचिभिर्गोभि
३ २ १र २र ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
रग्निः । आद्दक्षिणा युज्यते वाजयन्त्यूत्तानामूर्ध्वो अ-
३ १ २
धयज्जुहूभि ॥ २ ॥ १३ ॥ ऋ० ५ । १ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [७३] पृ० ३८ ।

(२) (देवान्) विद्वानों और ३३ देवों को (यजथाय) एकत्र संगति करने के लिये, (होता) समस्त जगत् का दान अर्थात् उत्पत्ति और आदान अर्थात् प्रलय का कर्त्ता (अग्नि) सूर्य के समान स्वयं प्रकाशक परमात्मा, (सुमना) उत्तम ज्ञान से युक्त (अयोधि) सदा उदित होता है । वही सबसे (ऊर्ध्वः) ऊपर विराजमान होकर भी (प्रातः) प्रकृष्ट रूप से व्यापक होकर प्रातः उदित सूर्य के समान सर्वत्र (अस्थात्) विद्यमान रहता है । (समिद्धस्य) दीप्यमान उस महान् प्रभु का (रशत्) तत्त्व (पाजः) बल (अदर्शि) साक्षात् दीखता है । वही (महान् देवः) महान् देव सूर्य के समान महादेव समस्त चर अचर संसार का (तमसः) मृत्युरूप तम से (निरमोचि) सर्वथा मुक्त कर निश्रेयस प्राप्त कराता है । प्रातः —प्राप्तेरतन् (उणादि० ५ । ५१) प्रकृष्टमतति गच्छति इति प्रातः (दया० ८०) ।

(३) (यद्) जब (ईं अग्निः) यह अग्नि स्वयंप्रकाश समस्त जगत् का प्रकाशक सब का प्रबोधक परमात्मा (गणस्य) सब प्राणियों और स्थावर पदार्थों की (रशनां) भोग सामग्री और उसमें व्यापक चेतना शक्ति और नियामक शक्ति का स्वयं (अजीग) अपने वश में किये

है अपने आप समट हुए हैं और वहा (अग्नि) सूय क समान प्रकाशक (शुचिभि) शुद्ध (शोभि) रश्मिया और वद्वाणियों द्वारा और तजस्वी विद्वों द्वारा (अदृक्ष) समस्त विश्व क ज्ञानों और पदार्थों का प्रकाशित कर रहा है तब (वाजयन्ता) ज्ञान और कम का सम्पादन और बल का प्रकाश करन वाला (दक्षिणा) विध्वसनकरिणा शक्ति का (यु यत) ससार का महान् कार्यों में लगाता है। और (उत्ताना) उत्कृष्ट रूप स सवत्र विस्तृत उस शक्ति का (ऊध्व) वह सबस उच्च पद पर विराजमान पर मात्मा (जुहूभि) अपना दान आदान क्रियाओं द्वारा (अधयत्) अपन वश करता और अपना बल प्रदान करता है उसका अपन भातर हो ज्ञान करता या धारण करता है।

अशरच्च (उण दि० २ । ७८) अशनुत व्याप्नोत इति रशना,

(दया० उ०)

[१७४९] इद श्रेष्ठ ज्यातिषा ज्यातिरागाच्चित्र प्रकेता अजनिष्ट
विभ्वा। यथा प्रसूता सवितु सवायैवा रात्र्युषसे
योनिमारैक ॥ १ ॥

[१७५०] रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगुकृष्णा सदनान्यस्या ।
समानबन्धू अमृत अनूची द्यावा वर्ण चरत आमिमान
॥ २ ॥

[१७५१] समाना अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तम या याचरतो देवशिष्टे।
न मेथेते न तस्थतु सुमेक नक्षापासा समनसा विरूप
॥ ३ ॥ १४ ॥ ऋ० १ । ११३ । १ ३ ॥

भा०—(१) (इद) यह साक्षात् (श्रेष्ठ) सबसे उत्कृष्ट (ज्योतिषा ज्योति) सब ज्योतिष्मान् दिव्य विषयों को भी प्रकाशित करने हारा ज्योति (आगात्) प्राप्त होता है। और इसी ज्योति से यह (चित्रः) अद्भुत आश्चर्यजनक परमपूजनीय प्रहण करने योग्य (प्रकेत०) उत्तम प्रज्ञान (अजनिष्ट) उत्पन्न होता है। (यथा) जिस प्रकार उत्पन्न हुई उषा (सवितु) सूर्य के (सवाय) उत्पन्न होने के लिये पूर्वरूप है और (रात्री) रात्रि (उषसे) उषा के लिये (योनिम्) पूर्वरूप को (अरैक्) त्यागती है (एवा) उसी प्रकार ऋतम्भरारूप उषा (सवितु) सब प्रेरक ब्रह्म के (सवाय) ज्ञान प्रादुर्भाव के लिये पूर्वरूप है और (रात्री) सब को सुख प्रदान करने वाली सुषुप्ता (उषसे) ऋतम्भरा प्रज्ञा के उदय के लिये (योनिं) आश्रय स्वरूप आत्मा को (अरैक्) सम्पर्क करा देती है।

रात्र्यादिभ्यो त्रिप् (उणादि० ४ । ६७) रातिसुखं ददाति इति रात्रि० (दया० ३०)

(२) (श्वेया) जिस प्रकार शुक्लवर्णा गौ या महिला के समान उषा (रुशता) दीप्तियुक्त होकर (रुशद्वासा) देदीप्यमान सूर्य को अपने श्वेत वस्त्र के समान साथ लिये आती है और (उ) मानो (कृष्णा) श्याम गौवा महिला के समान रात्रि (अस्ता) उस श्वेत गौर उषा के लिये (सदनानि) विश्राम के निमित्त स्थान (अरैक्) खाली कर देती है, आदर से छोड़ देती है मानो प्रतीत होता है कि दोनों (समानबन्धू) समान रूप से प्रिय बन्धु हों। और दोनों ही (अमृते) कभी न मरने हारी (अनूषा) अनिर्वचनीय होकर (वर्षं) समस्त जगत् के वर्णनीय रूप को साक्षात् करने योग्य (आमिनाने) बनाती हुई (याभ्यां) तमोरूप होकर (यातं) विचरण करती है। उसी प्रकार यह उषा रूप विशोका प्रज्ञा रूप अध्यात्म ज्योतियों से सम्पन्न होकर अपने उपमान आत्मक

प्राण को या इसरूप आत्मा को साथ लिये प्रकट होती है और कृष्णा= आकर्षण करने वाली या दुःखों को काटने वाली सुषुम्ना वृत्ति (अस्याः सदनानि आरैक्) इस विशोका ज्योतिष्मती प्रज्ञा के लिये उचित भूमि या आधार तैयार कर देती है। ये दोनों ही (अमृते अनूची समानवन्धू) अमृतरस, आत्मानन्द से पूर्ण, अवर्णनीय और समान नामक सर्वगत प्राण द्वारा बद्ध होती है, या परस्पर समान रूप से सम्बद्ध होती है। ये दोनों (वर्णं आमिनाने) वरण करने योग्य आनन्द या आत्मज्ञान को उत्पन्न करती हुई (आवा चरतः) प्रकाशस्वरूप आत्मा के साथ वर्तमान रहती हैं।

(२) (स्वस्रो) रात्रि और उषा इन दोनों भगिनियों या भाई बहनों का (समानः) समान रूप से (अनन्त) अनन्त (अध्वा) मार्ग है। (त) उस मार्ग पर (देवशिष्टे) देवरूप सूर्य से अनुशिक्षित होकर ये दोनों (अन्या अन्या) एक २ करके (चरत) चलती हैं। (सुमेके) शुभ लक्षण वाली (नक्तोषासा) रात्रि और उषा दोनों (विरूपे) विरुद्ध रूप काली और श्वेत, तम और प्रकाश रूप होकर भी (समनसा) एकचित्त होकर परस्पर (न मेथेते) न लड़ती भिड़ती हैं और (न तस्थतुः) न कभी कहीं रुकते हैं। इसी प्रकार इन रात्रि और उषा के समान इस देह में विशोका और सुषुम्ना वृत्ति इन दोनों (स्वस्रो, अथवा समान) बहनों का या स्वयं सरण करने वाली, स्वयं प्रकट होने वाली दोनों वृत्तियों का (अध्वा) मार्ग या आश्रय समान है या वह सर्वत्र देह में समभाव से वर्तमान आत्मा ही है। (देवशिष्टे) प्रकाशमान ज्ञानी आत्मा से अनुशासित होकर दोनों (अन्या अन्या) जुदी जुदी (न चरतः) वही को प्राप्त होती है। अर्थात् ये दोनों अवस्थाएं उसी आत्मा की है। ये दोनों (सुमेके) उत्तम रूप से आनन्द को उत्पन्न करने हारी धर्ममेघ समाधि के धारण करने वाली (विरूपे) सुख और ज्ञान दो प्रकार के भिन्न २

अनुभव कराने से विभिन्न २ रूप वाली होकर (समनसा) समान रूप से एक ही मन का आश्रय लेने वाली (न मेथते) एक दूसरे का बाधक नहीं होतीं और (न तस्थतुः) निरन्तर स्थिर भी नहीं रहतीं प्रत्युत क्रम २ से प्रकट होती हैं ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २
[१७५२] आभात्यग्निरुषसामनीकमुद्विप्राणान्देवया वाचो अस्थुः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अर्वाञ्चा नून रथ्येह यातं पीपिवांसमश्विना घर्म-
२ २
मच्छ ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १
[१७५३] न सस्रुतं प्रमिमीतो गविष्ठान्ति नूनमश्विनोपस्तुतेह ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
दिवाभिपित्वेऽवसागमिष्ठा प्रत्यवर्तिं दाशुषे शम्भविष्ठा
॥ २ ॥
३ १ २ २ ३ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७५४] उताया सद्मत्वे प्रातरह्नो मध्यन्दिन उदिता सूर्यस्य ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २ २
दिवानक्तमवसा शन्तमेन नेदानीम्पीतिरश्विना ततान ॥
३ ॥ १५ ॥ अ० २ । अ० ६ । १–३ ॥

भा०—(१) (अग्निः) सूर्य (उषसाम् अनीकम्) मानो उषाओं का मुख हो ऐसे (आभाति) प्रकाशित होता है । (विप्राणा) मेधावी विद्वान् भक्त पुरुषों की (देवया) इष्टदेव परमात्मा तक पहुंचने वाली (वाचः) वेदमन्त्र स्तुतियां (उद्-अस्थुः) उठने लगती हैं । हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! प्राण और अपान एवं स्त्री पुरुषो ! हे (रथ्या) रहरूप रथपर आरूढ प्राण और अपान आप दोनों ! (इह) इस देह में (अर्वाञ्चम्) निम्न देश में गति करने वाले होकर भी (यातम्) अब ऊपर आओ और (पीपिवांसम्) बराबर बढ़ते हुए (घर्मं) ज्योतिःस्वरूप रस को (अच्छ) साक्षात् करो । अथवा

(अग्नि , उषसा अनीक) अग्निहोत्र की अग्नि उषाओं का मुखरूप होकर (आभाति) प्रकाशित होता है ।

अथवा—अध्यात्मपक्ष में विशोका प्रज्ञाओं का (अनीक) पूर्वरूप मुखरूप (अग्नि) विशेष तेज (आभाति) धारणाप्रदेशों में प्रकाशित होता है । उसी समय विद्वान् पुरुषों की इष्टदेव आत्मविषयक वेदवाणियां प्रकट होती हैं । शेष पूर्ववत् हे (अश्विनौ) प्राण और अपान ! तुम दोनों रथपर देह के हितकारी होकर (अर्वाञ्चा) साक्षात् रूप से प्रकट होकर (पीवोवास धर्मम्) बराबर बढ़ते हुए तेज को (अच्छ यात) उत्तम रीति से प्राप्त होओ या प्राप्त कराओ । जैसाकि श्वेताश्वर उपनिषद् (अ० २ । ११ । १२ ।) में लिखा है—

नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशिनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥
पृथ्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥

योग समाधि के अभ्यास के अवसर में ब्रह्मसाक्षात् के पूर्व नीहार धूम सूर्य, अग्नि, विद्युत् स्फटिक आदि के रूप प्रकट होते हैं । उस समय पांचों भूतों पर वश हो जाता है । जरा और मृत्यु हट जाती है शरीर योगाग्निमय हो जाता है ।

(२) हे (उपस्तुता) प्रशंसनीय ! आदर योग्य ! हे (अश्विनौ) अश्विनाम प्राण और अपान ! या हे पुरुषो ! आप दोनों (आयन्त) आयन्त समीप (गमिष्ठा) प्राप्त होने हारे (संस्कृत उत्तम रूप से तैयार किये इस ब्रह्मरस को (न प्रमिमाते) विनाश नहीं करते । प्रत्युत (दिवा अभिपित्वे) प्रकाश या दीप्ति के प्राप्तिकाल में आप दोनों (अवसा) अपने पालक बल सहित (आगमिष्ठा) अवश्य प्राप्त होते हो और (दाशुषे) अपने को समर्पण करने हारे साधक के (अवसि) पुण्य जीवन में चोट

कर न आने अर्थात् मुक्त हो जाने के निमित्त (शम्भविष्टा) कल्याण-कारी होते हो ।

(३) हे (अश्विना) अश्विगण ! प्राण और अपान आप दोनों (अह्न) दिन के (प्रात) प्राप्त होने पर प्रात काल में (उत) भी (आयातम्) आइये । और (सूर्यस्य) सूर्य के (उदिता) ऊर्ध्वस्थान पर प्राप्त होने के (मध्यन्दिन) मध्याह्न काल में भी आइये । और (शन्तमेन) अति कल्याण कारी सुख शान्तिदायक (अवसा) अपने पालक बल द्वारा प्राप्त होइये । (इदानीं) इस समय अन्य इन्द्रियों की (पंक्ति) रसास्वादन की क्रिया (न आततान) नहीं की जाती बल्कि यह केवल ब्रह्मरस के आस्वादन का भाग आपके ही करने का है । प्रातः मध्याह्न और साय इन तीनों कालों में प्राणायाम करने से योगियों को विशेष सुख की प्राप्ति होती है । अथवा तब पुष्पों के प्रकट होने के प्रारम्भ, मध्य और नैरन्तर्य काल में अर्थात् जब दिवारात्र अर्थात् रात दिन समान रूप से हो तब भी प्राण और अपान ही ब्रह्मरसास्वादन में भारी सहायक है ।

इति चतुर्थ खण्ड ।



३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१७१५] एना उ त्या उषस केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसो भानु
३ ३ १२ २१ ३ २ ३ २ ३ १२ २१
मञ्जते। निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णव आ प्रति गावोषसं
३ १ २
वीरयन्त मातर ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १ २
[१७१६] उदपप्तन्नरुणा भानवो वृथा स्वायुजो अरुषीगा अयुक्षत ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २१
अक्रुप्रासो वयुनानि पूर्वथा रुशन्त भानुमदपीरशिश्रयुः
॥ २ ॥

[१७५७] अर्चन्ति नारीरपसो न विष्टिभि समानेन योजनेना
परावत। इषं वहन्ती सुकृत सुदानव विश्वदह यजमानाय
सुन्वते ॥ ३ ॥ १६। अ० १ ह २। १—३॥

भा०—(१) उषापक्ष में—(एता उ त्या) य व (उपस) उषाए अन्तरिक्ष लोक में (पूर्व अर्द्ध) पूर्व के आध भाग में (भानुम्) सूर्य का (अञ्जते) प्रकट करती हैं। माना (केतुम्) सब का अपना आगमन दशान के लिये ज्ञापक चिह्न ध्वजा-झण्ड के समान (अकृत) बना लती हैं। (अरुषी) प्रकाशमान (मातर) मातास्वरूप उषाए (अरुषी) दासिमान् (गाव) किरणों का (आयुधानि इव) अपन हथियारों के समान (निष्कृण्वाना) सजाता हुई (धुष्णव) शत्रुओं का मानदलन करने वाल सुभटों के समान (प्रतियन्ति) अन्धकार को दूर करन के लिये युद्धयात्रा सी करती हैं।

अध्यात्म पक्ष में—(एता उ त्या) य व जिनका वणन पूव किया और जो योगाभ्यासा क लिय अपूव हैं व (उपस) नइ नइ विशाका ज्योतिष्मती प्रज्ञाए (केतुम्) अपन ज्ञापक (भानुम्) आदित्य क समान स्वय प्रकाश और विशाका क प्रकाशक प्राणा मा का (रजस [1]) नाहार या धूम क प्रकटाभाव हान क (शुचय) पूण रूप स (अर्द्ध [2])

१७५५—१. 'रजस' रजति रज्यति वा त रजा। भूरञ्जिभ्या सित्। (उणा० ४। २१७) लोक सूक्ष्ममूल स्त्रीपुरुषगुणा वा इति दयानन्द उणादि व्याख्यायाम् रज रागे [भ्वा दि दिवादिश्च]

२ अर्धो हरतेविपरी त धारयतेर्वा स्याद्भूतं भव यूधतेर्वा स्यद्धतमो विभा। (निरु०)। ऋधु वृद्धौ (दिवादि)। ऋधु वृद्धौ छ दसि (स्त्रा)।

दधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति। यत्रेदमुक्तं—'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येव तावत्स प्रजानीते इति। एषा द्वयी विशोका विषयवती चास्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते। यया योगिनश्चित स्थिति-पद लभते।'

अर्थात्—हृदय पुण्डरीक में धारणा करते हुए योगि को बुद्धिसत्व अर्थात् मानस दिव्य प्रज्ञा की सिद्धि होती है। वह बुद्धिसत्व मानस भास्वर=सूर्य के समान प्रकाशवान् विशाल आकाश के समान व्यापक प्रभापटल साक्षात् होता है, उस दशा में योगी का चित्त अति आनन्द-जनक, स्थिर स्थिति का प्राप्त करता है। वहां वह बुद्धिसत्व या चितिशक्ति सूर्य, चन्द्र शुक्रादि ग्रह, दिव्य मणियों की विशेष प्रभा का स्वरूप होकर स्वय प्रकाशित होता है, उस समय वह बुद्धितत्व सुषुम्ना में रहता है। उसकी उत्पत्ति वैकारिक अहंतत्व से ही होने के कारण अतिसात्विक होने से अस्मितामात्र 'अहं' ऐसा ही भान होता है। उस समय वह चित्त तरङ्गरहित, विशाल समुद के समान शान्त और अनन्त प्रतीत होता है। इसी दशा को उपनिषत्कार महर्षियों ने उपनिषदों में लिखा है—"तमणु-मात्रमात्मानमनुविद्याऽस्मीत्येव स प्रजानीते" इत। अर्थात् उस अणुपरि-माण आत्मा का प्राप्त करके 'अस्मि' मैं हू इस प्रकार ज्ञान कर लेता है। विशोका दो प्रकार की होती है एक 'विषयवती' जिसमें गन्धादि पाचों ग्राह्य विषयो की तीव्र भवित् की जागृति होती है और दूसरी 'अस्मिता-मात्र' इसमें 'अह' तत्व या मनस्तत्व का साक्षात् अनुभव होता है। दोनों प्रकार की विशोका 'ज्योतिष्मती' नाम से ही कही जाती है। इसके साक्षात होने से योगी आनन्द में मग्न हो जाता है और फिर उसका चित्त इसी के द्वारा स्थिति पद का प्राप्त हो जाता है। इस ज्यो-तिष्मती के सग एक चित्तवृत्ति का दूसरा रूप भी होता है उस को योग शास्त्र में 'स्वप्नज्ञान' या निद्राज्ञान' दो नामो से पुकारा जाता है उसका

आलम्बन करके भी योगी का चित्त मग्न हो जाता है । यह सात्विकी निद्रावृत्ति है । उपासनारूप में साधक लोग इसका स्वरूप ऐसा निधारण करते हैं जैसे चन्द्रमण्डल से निकलने वाली, कोमल मृणाल खण्ड के समान शुभ्रवर्णा मानों चन्द्रकान्तमणि की बनी हो । बहुत से उसी को इष्टदेव की मूर्ति जानकर उसकी उपासना करते हैं । उसी निद्रा या सुप्तावस्था का भी ब्रह्म का स्वरूप कहा करते हैं वेद में उसको उषा के साथ नक्त या रात्रि नाम से पुकारा है । योगी का इस प्रकार धारणा या प्राणायाम द्वारा स्थिर चित्त जिस विषय पर बैठ जाय वहां ही उसी की 'तत्स्थ–तदञ्जनता' हो जाती है । अर्थात् वह उसी में तन्मय तदाकार हो जाता है । यह समापत्ति' कहाती है यह सवितर्का' और 'निर्वितर्का' सविचारा और निर्विचारा' भेद से चार प्रकार की होती है । ये चारों ही समाधि' दशा कहाती हैं । इनमें निर्विचार दशा में चित्त पर कोई अशुद्धि या मल का आवरण नहीं रहता । उस समय बुद्धिसत्व का प्रवाह स्वच्छ सिन्धु के समान रहता है । उसी दशा में योगी का अध्यात्मप्रसाद' और 'प्रज्ञालोक' उत्पन्न होता है ।' निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद" (१ । ४७) । और उसी समय 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा (१ । ४८) 'ऋतम्भरा' नामक सत्यदर्शिनी बुद्धि का उदय होता है । प्रायः उषा देवता के मन्त्रों में इसी विशोका प्रज्ञा' और स्वप्न ज्ञान और चारों समाधियों और ऋतम्भरा का वर्णन है । सक्षेप से यहां विषय दर्शाया है । इसका विशेष ज्ञान, योगदर्शन पर व्यासमुनिकृत भाष्य देखने से प्राप्त होगा ।

(२) उषा पक्ष में—(अरुषी) दीप्तिमान् (भानव) उषाकाल का किरण (वृषा) सर्वव्यापन करती हुई अथवा अनायास, आप से आप (उदपप्तत्) ऊपर उठती है । मानों उषा के रथ में (स्वायुज) आपस में जुड़ने वाली सुशील (अरुषी) दीप्तिवाली (गा) गौओं या बैल' के समान रश्मियों का (अयुक्षत) लगाया हो । इस प्रकार

उषाए (पूर्वथा) सोने के पूर्व वर्त्तमान गत दिवस के (वयुनानि) ज्ञान और व्यवहारों को (अकन्) पुन उत्पन्न करती है । तब (अरुषी) देदीप्यमान उषाए (रुशन्त भानुम्) देदीप्यमान सूर्य का (अशिश्रयु) आश्रय लेती हैं ।

अध्यात्मपक्ष म—(अरुषा भानव वृथा उदपप्तन्) कान्तिमान् रश्मियां या अलोक सहज ही मूर्धाभाग का आवरण करने हार नाना धारणा प्रदेशों में प्रकट होते हैं अर्थात् बहुत से सवित् उत्पन्न होते हैं । व (स्वायुज) स्व=अपने २ विषयों स या आत्मा स जुड़न हारी (गा) इन्द्रिय वृत्तिया (अरुषी) विशेष आलोक स आलोकित होकर (अयुक्त) समाधि द्वारा प्रकट होती हैं अर्थात् य विषयवती विशोकाए हैं । ये सब उषाए या ज्ञानालोक (पूर्वथा) पूर्वकाल स वर्त्तमान (वयुनानि) चित्त के सब संस्कारों स्मृतिज्ञानों को (अकन्) जागृत कर देते हैं । और य सब प्रज्ञाए (अरुषी) देदीप्यमान होकर (रुशन्त भानु) देदीप्यमान आत्मा को (अशिश्रयु) आश्रय किये रहता हैं ।

(३) जिस प्रकार (विष्टिभि) अपने वेतनों के कारण (आपरावत) दूर देश से भी आई (समानेन योजनन) समान उद्योग में लगी हुई (अपस:) काम करने वाली (नारी) स्त्रिया (सुदानव) उत्तम दानशील, (सुकृते) उत्तम कर्मशील (सु-वते) सोम सवन करते हुए (यजमानाय) यजमान वेतनदाता स्वामी पुरुष के लिये इष) उत्पादित अन्न उस के अभिलषित कार्य को झार पछार कर तैयार करती हुई (अचन्ति) उसका यश गान करती हैं (न) उसी प्रकार यह उषाए=ज्योतिष्मती विशोका प्रज्ञाए (विष्टिभि) तत्व में प्रवेश करने वाली रश्मियों से (समानेन योजनन) समान रूप समाधि योग से (सुन्वते) आनन्दरस के उत्पादक (सुदानव) आत्म समर्पक, (सुकृत) निष्ठ, कुशल (यजमानाय) आत्मा के लिये (विश्वा इद् अह) समस्त (इष) ज्ञान और बल (वहन्ती) प्राप्त करती हुई

(परावतः) दूर देशों तक विद्यमान पदार्थों का (अर्चन्ति) ज्ञान करा देती हैं और उसी की महिमा का प्रकाश करती है।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ २ १ ३ ३ ३क २र
[१७५८] अवोध्यग्निर्जर उदेति सूर्यो व्यूऽउषाश्चन्द्रा मह्यावो
३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
अर्चिषा। आयुक्षातामश्विना यातवे रथं प्रासावीद्देवः
२ ३ २क ३ १ २
सविता जगत्पृथक् ॥ १ ॥
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३
[१७५९] युञ्जाथे वृषणमश्विना रथं घृतेन नो मधुना क्षत्रमुक्ष-
३ २ ३ २ ३ १ १ ३२ज ३ १ २
तम्। अस्माकं ब्रह्म पृतनासु जिन्वतं वयं धना शूर-
साता भजेमहि ॥ २ ॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
[१७६०] अवांङ्त्रिचक्रो मधुवाहनो रथो जीराश्वो अश्विनायातु
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
सुष्टुतः। त्रिवन्धुरो मघवा विश्वसौभगः शञ्न आवच्छद्
३ २ ३ १ २
द्विपदे चतुष्पदे ॥ ३ ॥ १७ ॥ ऋ० १ । १५७ । १–३ ॥

भा०—(१) (उमे) पृथिवी में (अग्निः) अग्नि जिस प्रकार अग्निहोत्र के समय (अबोधि) जगाया जाता है और (सूर्यः) सूर्य (उदेति) उदय होता है। और (चन्द्रा) आह्लादकारिणी (उषाः) उषाएं भी (महती) विशाल रूप में (वि आनः) विविध तेजों सहित प्रकट होती और अन्धकारों को हटाती है उसी प्रकार इस आत्मारूप वेदि में ज्ञानरूप अग्नि प्रदीप्त होजाता है और ब्रह्मरूप सूर्य उदित होता वा आनन्दरस को उत्पन्न करने हारी विशोका ज्योतिष्मती उषा के समान (अर्चिषा) अपने तेज से (वि आवः) मलावरणों को दूर कर देती है इस कारण हे (अश्विना) प्राण और अपान! तुम दोनों (यातवे) आत्मा तक पहुंचने के लिये (रथम्) इस देह या मनरूप रथ को (आ-

अयुक्षताम्) योगाभ्यास द्वारा युक्त करो । जिनसे (सविता) सबका प्रेरक (देव.) प्रकाशमान् आत्मा (जगत्) समस्त जगत् के पदार्थों को (प्रासावीत्) उत्तम रूप से ज्ञान करे ।

(२) हे (अश्विना) प्राण और अपान आप दोनों (यत्) जब (वृषण) सुखों के वर्षक (रथे) रमणसाधन, चित्त या आत्मरूप रथ को (युञ्जाथे) योगाभ्यास द्वारा समाहित करते हो तब आप (न) हमारे (चत्रम्) प्रेरक आत्मा को (घृतेन) देदीप्यमान तेज से (उक्षतम्) सेचन करते हो और (अस्माकं) हमारे (पृतनासु) विषयों का ग्रहण करने हारी इन्द्रियवृत्तियों में (ब्रह्म) विशेष सत्य संवित् ज्ञान को (जिन्वतं) उत्पन्न करते हो और (वयं) हम (शूरसातौ) आत्मज्ञान की प्राप्ति में (धना) नाना दिव्य ज्ञानों को (भजेमहि) प्राप्त करते हैं ।

(३) (अश्विनोः) उन प्राण और अपान का (त्रिचक्र·) तीन चक्रों से युक्त (मनुवाहन·) अमृत='ओ३म्' अथवा एकमात्र वहन करने हारे आत्मारूप अश्व से युक्त (जीराश्वः) बहुत प्राचीन सनातन अमर अविनाशी अश्व अर्थात् आत्मा से युक्त (सुस्तुत) उत्तमरूप से वर्णित किया गया रथ (अर्वाङ्) साक्षात्रूप से (यातु) गति करता है । (मघवा) वह ज्ञानवान् योगी आत्मा रथरूप, (त्रिबन्धुरः) तीन प्रकार के सारथिपीठों या बन्धनों से युक्त है और उनमें आत्मा मन और इन्द्रिय या तीन गुण या वात, पित्त, कफ आदि तीन धातु ये तीन ही प्रकार के सारथि या बन्धन के हेतु हैं । और वह (विश्वसौभगः) समस्त संसार को सौभाग्य या सुखैश्वर्य का देने हारा अथवा समस्त संसार के सब उत्तम ऐश्वर्यों को सिद्ध करने हारा होकर (नः) हमारे (द्विपदे) समस्त मनुष्य संसार और (चतुष्पदे) पशु संसार को (शं) कल्याण (आवहत्) करे ।

इसी सनातन अश्व के पीछे लग रथ की कल्पना का प्रकारान्तर से श्वताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार बतलाया है —

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजत यद् उ अनड्वान् ।
एव स देवो भगवान् वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठ यक ॥
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिप सचरति स्वकर्मभि ।
अगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूप सकल्प हक रसमन्वितो य ॥

इसी प्रकार मुण्डक में—

'दिव्य ब्रह्मपुर ह्यस्मिन्या मा प्रतिष्ठित ।
मनोमय प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदय सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृत यद् विभाति । इत्यादि ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[१७६१] प्र ते धारा असश्चतो दिवा न यन्ति वृष्टय ।
२ ३ १ २ ३ १ २
अच्छा वाज सहस्रिणम् ॥ १ ॥
३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१७६२] अभि प्रियाणि काव्या विश्वा चक्षाणो अर्षति ।
१ २ ३ २ २२
हरिस्तुञ्जान आयुधा ॥ २ ॥
१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१७६३] स मर्मृजान आयुभिरभो राजेव सुव्रत ।
३ १२ २२
श्येनो न वसु षीदति ॥ ३ ॥
२ ३ १ २ ३ १उ ३ १ २ ३ २ १२
[१७६४] स नो विश्वा दिवा वसूता पृथिव्या अधि ।
३ १ २ ३ १ २
पुनान इन्दवाभर ॥ ४ ॥ १८ ॥ अ० ६ । ७७ । १—४ ॥

भा०—(१) इ साम ' आत्मन् ' (असश्चत) सगरहित (दिव) प्रकाशस्वरूप (ते) तरी (धारा) धारणा शक्तियां (दिव) द्यौलोक स (वृष्टय) वर्षाओं के समान (सहस्रिण) अतिबलवान् या सहस्रों ज्ञानों

से युक्त (वाज) ज्ञानस्वरूप परमात्मा को (अरुह) प्राप्त होती हैं अथवा ब्रह्मानन्द की धाराएं आत्मा को प्राप्त होती हैं ।

(२) यह आत्मा ! (विश्वा) समस्त (प्रियाणि) मनोहर (काव्या) जगत् के सूक्ष्म ज्ञानों को (अभि । साक्षात् रूप में (चक्षाणः) दर्शन करता हुआ (आयुधा) अपने प्रहार करने हारे ज्ञान से (तुंजान) कर्म बन्धनों को काटता हुआ (हरि) मोक्षपद में गमन करने वाला मुक्तात्मा होकर (अभि अर्षति) सर्वत्र विचरता है ।

(३) (सः) वह आत्मा (आयुभि) दीर्घायु ज्ञानवान् तपस्वियों द्वारा (मृज्यमानः) योग साधनों से परिमार्जित किया गया (इभः) निर्भय (राजा इव) राजा के समान और (श्येन न) पक्षि संसार में निर्भय बाज़ या गरुड़ के समान (सुव्रतः) उत्तम कर्मों से युक्त (वंसु) अपने इच्छानुकूल समस्त लोकों में (सीदति) विचरता है ।

(४) हे इन्दो ! सोम ! ऐश्वर्यवन् ! परमात्मन् ! (सः) वह तू (नः) हमें (दिवः) द्यौलोक के (उत उ) और (पृथिव्याः अधि) पृथिवी पर के (विश्वा वसू) समस्त पदार्थों को (पुनानः) पवित्र करता हुआ (नः) हमारे लिये (आ भर) प्राप्त करा ।

उक्त चारों मन्त्र परमात्मा पक्ष में भी स्पष्ट है ।

(१) (असश्चतः ते धारा दिवो वृष्टयो न सहस्रिणं वाजं अरुह) हे ईश्वर तुझ असङ्ग परम पुरुष की धारणपोषणकारी शक्तियां सहस्रों धनों से युक्त बल को दान करती हैं ।

(२) (प्रियाणि विश्वा काव्यानि चक्षाणः आयुधा तुंजानः हरि अभि अर्षति) मनोहर समस्त लोकों का देखता हुआ अपने बल से विघ्नों का नाश करता हुआ परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है ।

(३) (स आयुभिर्मृज्यमानः इभो राजा इव सुव्रत श्येनो न वसु सीदति) पुरुषों द्वारा हृदय में स्वच्छरूप में साक्षात् करने योग्य वह

अभयरूप उत्तम कर्मों को सम्पादक परमेश्वर राजा के समान और आत्मा के समान सब लोकों में विराजमान है ।

४) चतुर्थ स्पष्ट है ।

इति पञ्चम खण्ड ।

इति तृतीयोऽर्धप्रपाठक । इति अष्टम प्रपाठक समाप्त ।

इति एकोनविंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ विंशोऽध्यायः ॥

अथ नवमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धं ॥

ऋषि —१ नृमध । ३ प्रियमध । ४ दीर्घतमा औचथ्य । ५ वामदेव । ६ प्रस्कण्व काण्व । ७ वृहदुक्थो वामदेव्य. । ८ विन्दुः पूतदक्षो वा । ९ जमदग्निभार्गव । १० सुकक्ष । ११—१३ त्रसदस्यु । १४ सुदा पैजवन । १५ मधातिथि काण्व प्रियमेधाङ्गिरस । १६ नीपातिथि काण्व । १७ जमदग्नि । १८ परुच्छेप दैवोदासि । २ एतत्साम ।। देवता —१, १७ पवमान सोम । ३,७ १० १६ इन्द्र । ४,५ १८ अग्नि । ६ अग्निरश्विनावुषा । ९८ मन्त्र ९ सूर्य । ३ एतत्साम ॥ छन्द—१ ८ १०, १५ गायत्री । २ अनुष्टुप् पथमस्य गायत्री उत्तरयो । ४ उष्णिक् । ११ भुरिगनुष्टुप । १३ विराडनुष्टुप् । १४ सतो । १६ अनुष्टुप । १७ द्विपदा गायत्री । १८ अभयष्टि । २ एतत्साम । स्वर —१, ८, १० १५ १७ षड्ज । २ गान्धार प्रथमस्य, षड्ज उत्तरयो ४ ऋषभ । ११, १३, १६, १८ गान्धार । ५ पञ्चम । ६, ८, १२ मध्यम. ७, १४ धैवत । २ एतत्साम ॥

२ ~ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२
[१७६५] प्रास्य धारा अक्षरन्वृष्ण सुतस्यौजस ।
३ १२ २१ ३ १ २
दवा अनु प्रभूषत' ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१७६६] सप्तिं मृजन्ति वेधसा गृणन्त कारवो गिरा ।
१ २ ३ २ ~ क २१
ज्योतिर्जज्ञानमुक्थ्यम् ॥ २ ॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७६७] सुपर्णा सोम तानि ते पुनानाय प्रभूवसो ।
१ २ ३ १ २
वर्धा समुद्रमुक्थ्य ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० ३ । २६ । १-३ ॥

भा०—(१) (सुतस्य) सबके प्रेरक, (वृषण) सुखों के वर्षक (देवान्) देवों के (अनु प्रभूषतः) इन्द्रिय वृत्तियों को अपने अनुकूल रखकर उन पर वश करने वाले, (अस्य) इस आत्मा के (ओजस) शक्ति और तेज की धाराएं (अक्षरन्) चारों और प्रवाहित होती हैं ।

परमात्मापक्ष में देव, पञ्चभूत आदि दिव्य पदार्थ और विद्वान् गण ।

(२) (कारव) कर्मण्य, कर्ता, कर्मयोगी (वेधस·) मेधावी, विद्वान् पुरुष (उक्थ्यम्) 'आ३म्' इस प्रकार के उक्थ नाम से कहाने योग्य स्तुत्य, वेदसूत्रों के प्रतिपाद्य, श्रेष्ठ (जज्ञानम्) प्रादुर्भाव होती हुई (ज्योति) ज्योति को (गिरा) अपनी वाणी द्वारा (गृणन्त·) स्तुति करते हुए (सप्तिम्) सर्पणशील सात इन्द्रियों से युक्त आत्मा को ही (मृजन्ति) मांजते, शुद्ध, पवित्र, परिष्कृत किया करते हैं । सप्ति= सात मूर्धागत प्राण, जैसे-दो नाक, दो आंख, दो कान, एक मुख और आठवीं वाणी ।

(३) हे सोम ! हे (उक्थ्य) वेदप्रतिपाद्य परमात्मन् ! या आत्मन् ! हे (प्रभूवसो) प्रभूत ऐश्वर्यसम्पन्न परमेश्वर ! अथवा हे सामर्थ्यवान् होकर सब विश्व में बसने हारे अन्तर्यामिन् ! प्रभो ! (ते) तेरे (तानि)

व समाधि दशा में प्रकट हान हार तज (सुसहा) अन्य सब चित्त वृत्तियों और व्युथान सस्कारों का उत्तम रीति स विनाश करन हार हात हैं। अत इनस ही तू (समुदम्) उस रसों क आन दायक स्रोत का (अव) और चल।

व्याख्यिमता विशोका क विवरण में व्यासदव न लिखा है—

हृदयपुण्डरीक प्रारयता या बुद्धिसविद् बुद्धिस व हि भास्वरमा काशकल्प तत्र स्थितवैशारद्यात् प्रवृत्ति सूय दुग्रहमणिप्रभारूपाक रण विकल्पत तथा अस्मितायां समापन्न चित्त निस्तरङ्गमहोदधिकल्प शान्तमन न्तमस्मितामात्र भवति। इसका विवरण देखा अवि० स० [१७५६] पृ० ७५३–७५७ पर उद्धरण टिप्पण। इस मन्त्र म समुद शब्द स निस्तर गमहोदधिकल्प चित्तदशा का हा ग्रहण होता है।

३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
[१७८८] एष ब्रह्मा य क्षत्रिय इन्द्रो नाम श्रुता गण ॥ १ ॥
३१ २ १ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २
[१७६६] त्वामिच्छवसस्पत यन्ति गिरो न सवत ॥ २ ॥
२ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१७७०] विश्रुतयो यथा पथा० ॥ ३ ॥ २ ॥ सप्तम् अर्ध्व ना ते।

भा०—(१) (३) व्याख्या देखा अविकल्प स० [४३८] पृ० २२२। और [४५३] पृ० २२७।

(२) इ (शवसस्पत) बल क स्वामिन्! सर्वशक्तिमन्! (सवत) प्राणों का सयम करन हार साधक ईश्वर प्रणिधान क अभ्यासी पुरुष का (गिर न) वाणिया क समान समस्त (गिर) वदवाणिया (त्वाम् इत्) तुझका ही (यन्ति) प्राप्त होती ह।

१७६८—३ अर्चीरमात्र दीगई ह।

[१७७१] आ त्वा रथं यथानय० ॥ १ ॥

[१७७२] तुविशुष्म तुविक्रतो शचीवो विश्वया मते ।
आ पप्राथ महित्वना ॥ २ ॥

[१७७३] यस्य ते महिना महः परिष्टमाय॰तमीयतुः ।
हस्ता वज्रं हिरण्ययम् ॥ ३ ॥ ३ ॥ अ० ८ । ३८ । ०–२७

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३२४] पृ० १८३ यह प्रतीकमात्र है ।

(२) हे (तुविशुष्म) प्रभूत अनन्त शक्तिशालिन् ! हे (तुविक्रतो) विशाल प्रभूत कर्म करने वाले ! अथवा बहुप्रज्ञ ! अनन्तज्ञान ! हे (शचीव) शक्ति के स्वामिन् ! परमेश्वर ! आप (विश्वया) समस्त विश्व में व्यापक (महित्वना) महिमा या महान् सामर्थ्य से (आ पप्राथ) सर्वत्र व्यापक हैं ।

(३) (यस्य महः) जिस महान् तेरी (महिना) बड़ीभारी शक्ति से (हस्तौ) तेरे हनन साधन दो विशाल शक्तियां (परि) सर्वत्र (ज्मायन्त) व्यापक (हिरण्ययम्) गतिशील (वज्रं) वज्र को (ईयतुः) ग्रहण करती हैं वह तू इन्द्र है ।

[१७७४] आ य पुरं नार्मिणीमदीदेदित्य कविर्नभन्योः ३ नाम ।
सूरो न रुरुक्वाञ्छुतात्मा ॥ १ ॥

[१७७५] अभि द्विजन्मा त्री रोचनानि विश्वा रजांसि शुशुचानः ।
अन्धान् होता यजिष्ठो अपा सधस्थे ॥ २ ॥

३ २ ३ २ ३२ ३ १ २ ३१२ ४२ ३ २
[१७७६] अय स होता या द्विजन्मा विश्वा दधे वार्याणि श्रवस्या
२ ३ १ २ ३१२ ३१२
मर्तो यो अस्मै सुतुको ददाश ॥ ३ ॥ ४ ॥
ऋ० ११ १४६ । ३-२ ॥

भा०—(१) (य) जो (नार्मिणीं) नर=आत्मा और मन के निवास योग्य (पुर) इस देहरूप पुरी को (अदीदेत्) प्रकाशित करता है चेतन बनाय रखता है । वह (कविः) क्रान्तदर्शी इन्द्रियों द्वारा क्रमण करके देखने हारा (नभन्य) अन्तरिक्ष आकाश अर्थात् विचरण करने वाले व्यापक वायु=के समान प्राणरूप हृदयाकाश में व्यापक (अर्वा न) अश्व के समान वेगवान् और (सूर न) सूर्य के समान (रुरुक्वान्) कान्तिमान् (शतात्मा) सैकड़ा प्राणियों में आत्मारूप से विराजमान है ।

(२) यह अग्नि (द्विजन्मा) ज्ञान और कर्म इन दोनों से अपना प्रादुर्भाव करने हारा अथवा कर्त्ता भोक्ता रूप से , अथवा साधारण अग्नि जिस प्रकार दो अरणियों के रगड़न से उत्पन्न होता है उसी प्रकार देह और प्रणव इन दो अरणियों से प्रकाशमान अन्तरात्मा (श्री) तीन (रोचनानि) नू अन्तरिक्ष और द्यौ लोकों को (शुशुचान) प्रकाशित करता हुआ अथवा तीनों प्रकृति के सत्व रजस, तमस इनको परिशोधित परिष्कृत करता हुआ (विश्वा) समस्त (रजांसि) लोकों में या देहों में (अस्थात्) विराजमान है । और वही (होता) सबका ग्रहण करने हारा (यजिष्ठ) सबसे बड़ा यज्ञकर्त्ता होकर (अपा) लोकों के या कर्म और ज्ञानों के (सधस्थे) एक साथ रहने के स्थान ब्रह्माण्ड में (अस्थात्) विराजमान है ।

(३) (य) जो अग्नि (द्विजन्मा) कर्त्ता और भोक्ता इन दो रूपों में प्रकट होने हारा अथवा पूर्वोक्त रूप से देह और 'ओ३म्' इन दो अर-

स्त्रियों स निष्पादित हान वाला (हाता) सब का दाता और अदानकर्त्ता है (स) वह (विधा) समस्त (वायाणि) वरण करन याग्य उत्तम, (धवस्या) कीर्त्ति क योग्य कार्यों को (दध) धारण करता है । (य) जा (मत्य) मरणधर्मा पुरुष (अस्मै) इसक निमित्त अपन का (ददाश) समपण करता है वह (सुतुक) उतम स तृप्ति वाला हाजाता है ।

[१७७७] अत्र तमद्याश्वघ स्तोमै क्रतुन भद्र हृदिस्पृशम् ।
ऋध्यामा त ओहै ॥ १ ॥

[१७७८] अधा ह्यग्न क्रतोभद्रस्य दक्षस्य साधो ।
रथीऋतस्य बृहती बभूथ ॥ २ ॥

[१७७९] पामर्ा अक्रमेषा नो अग्नाक्स्वा३ण ज्योति ।
अग्न विश्वभि सुमना अनीकै ॥३॥५॥ ऋ०४ १०।१ ३॥

भा०—(१) व्याख्या दखा अविकल स० [४३४] पृ० २२० ।

(२) (अध हि) और क्योंकि ह अग्न ! परमश्वर ! आप (बृहत) बड़ भारा (ऋतस्य) सत्य ज्ञान और इस महान् ब्रह्माण्ड क (रथा) धारण करन हार (बभूथ) हा और (क्रता) प्रज्ञानस्वरूप (भद्रस्य) भजन या सवन करन याग्य कल्याणकारा (साधा) अभाष्ट फलों क साधक यज्ञ क भा (रथा) प्रवतक हा ।

(३) ह (अग्न) प्रकाशस्वरूप (ज्योति) ज्याति स्वरूप आप (स न) सूर्य क समान (विश्वभि) समस्त (अन कै) सुखस्वरूप (सुमना) उतम चित्त होकर (न) हमारे (अवाक) समक्ष (एभि) इन (अक) अचन याग्य तजा स (भव) प्रकट ह ओ ।

इति प्रथम वर्ग ।

— ० —

[१७८०] अग्ने यवस्यदुपसश्चिन्न राधो अमर्त्य ।
आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ उषर्बुध ॥ १ ॥
[१६८१] जुष्टो हि दूतो असि हव्यवाहनोऽग्ने रथीरध्वराणाम् ।
सजूराश्विभ्यामुषसा सुवीर्यमस्मे धेहि श्रवो बृहत् ॥२॥
॥ ६ ॥ ऋ० १ । ४४ । १, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [८०] पृ० १७।

(२) हे (अग्ने) परमात्मन्! आप (अध्वराणां) सब यज्ञों के (रथी) नेता और (जुष्ट) सब विद्वानों से सेवित (हव्यवाहनः) समस्त स्तुतियों के धारण करने हार एवं समस्त जगत् के धारण करने हार (दूत) सर्वव्यापक या उपासित (असि) है। आप (अश्विभ्यां) प्राण और अपान के द्वारा (उषसा) ज्योतिष्मती विशाल प्रज्ञा द्वारा (अस्मे) हमें (सुवीर्यं) उत्तम बल और (बृहत्) विशाल (श्रवः) ज्ञान (धेहि) धारण करावें।

[१७८२] विधु दद्राणः समना बहूनां युवाल्पः पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥१॥
[१७८३] शाक्मना शाकं पयसः पयस्वाँ आ मे गृहममृतेषु प्रशस्तम् ।
दधीह यद्विरूपं सुप्रतीकं श्यामं वसु स्पार्हमुत त्रेतोत दातां ॥ २ ॥
[१७८४] एभिर्ददे वृष्ण्या पौंस्यानि यभिरौशद्रघवच्छ्न्याय वज्री ।
ये कर्मणः क्रियमाणस्य मह्न ऋते कर्ममुदजायन्त देवाः
॥ ३ ॥ ७ ॥ ऋ० १० । ५५ । ५–७ ॥

भा०— १) •पाख्या दक्षा आवे० स० [३२५] पृ० १६७ ।

(२) (य) जो (शूर) सर्वरक्षक (सनाद्) सनातन, नित्य, (अनीड) स्वत सबका आश्रय होने स किसी अन्य पदार्थ का आश्रय न लन हारा सब का स्वय मूलकारण (अरुण) दीप्तिमान् सब का प्रेरक, (सुरथ) उत्तम ज्ञानवान् सबका उत्तम पालक (शवसना) अपनी ही शक्ति स (शाक) सर्वशक्तिमान् परमात्मा (यत्) जो कुछ भी (चिकेत) स्वय जानता और ऋषियों क हृदय में ज्ञान उत्पन्न करता है (तत्) वह सब (सत्यम् इत्) सत्य ही हाता है (न मोघ) वह कभी व्यर्थ निष्प्रयोजन नहीं हाता । वही उस (स्पार्हं) सब क अभिलाषा योग्य, (वसु) आवास योग्य सब भूमियों का (जेता) विजेता (उत) और (दाता) भीवों को सब पुरुषार्थ का दान करन हारा है ।

(३) परमात्मा (एभि) इन सद्गुण रूप शक्तियों से (वृष्ण्या) सुखों क वपान वाल (पौंस्यानि) नाना पौरुषयुक्त बलों का (दद) अपन वश में कर रहा है (यभि) जिन भगवती शक्तियों स (वृत्रहा याय) प्राणियों क उपद्रव शान्त करन क लिय अथवा अज्ञान विघ्नों का विनाश करन क लिय, (औक्षद्) सुखों जलों और ज्ञानों की वर्षा करता है । और (य देवा) जो दव विद्वान्गण और दिव्य शक्तियां (महून) बड़ भारी (क्रियमाणस्य) किय जान योग्य (कर्मण) जगत् प्रचालनरूप कम क (ऋत) तथ्य ज्ञान में विराज मान हाकर (कर्मम्) कमबन्धन का (उद अयासन्त) पार करक मुक्त हो जाते हैं ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ ३
[१७८५] अस्ति सोमो अय सुत पिबन्त्यस्य मरुत ।
३ २ ३ १ २ ३ १ ३
उत स्वराजा अश्विना ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १२ ८२ ३ २ ३ १ २
[१७-६] पिबन्ति मित्रो अर्यमा तना पूतस्य वरुण ।
३ २ ३ १ २
त्रिषधस्थस्य जावत ॥ २ ॥
३ १ २ ३ २३ १२ २२ ३ २ ३ १ २
[१७८७] उतो नस्य जापमा इन्द्र सुतस्य गोमत ।
३ १२ ८२
प्रातर्होतेव मत्सति ॥ ३ ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । ६४ । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१७४] पृ० ६२ ।

(२) (मित्र) सूर्य के समान स्नेह करने हारा, सबको अपने २ कर्म में प्रवृत्त कराने हारा, (अर्यमा) सबका स्वामी, न्यायकारी (वरुण) सब दुखों का निवारक, ये तीनों देव (जावत) ज्ञान के उत्पादक, आनन्दजनक (त्रिषधस्थस्य) प्राण, अपान और समान, या इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना तीनों में विराजमान सोमरूप ब्रह्मानन्द का (पिबन्ति) पान करते हैं । मित्र, अर्यमा, और वरुण ये तीनों योगियों के तीन भेद हैं । १ सूर्य के समान प्रज्ञालोकवान् मित्र, भूतजय करने हारा इन्द्रिय-सवित् द्वारा स्थितिप्राप्त अर्यमा और विशाल आकाशकल्प समुद्र के समान शान्त, शुद्धचित्त सत्त्व का अनुभवी योगी वरुण कहाता है ।

(३) (प्रात) प्रातःकाल के अवसर में (होता इव) जिस प्रकार सामयाग करने वाला होता प्रसन्न हो जाता है उसी प्रकार (इन्द्र) अध्यात्मयोगी का आत्मा (उत) भी (नु) निश्चय से (अस्य) इस (गोमत) इन्द्रियों के सवित् ज्ञानों से युक्त (सुतस्य) उत्पादित ब्रह्मरस का (जापम्) सेवन कर लिया (आ मत्सति) खूब मग्न हो जाता है ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७८८] वामहँ अस्मि सूर्य वडादित्य महाँ असि ।
३ १ २ ३ १२ ३ २ ३ १ २ १ २ १ २
महस्ते सतो महिमा पनिष्टम मह्ना देव महाँ असि ॥१॥

[१७८९] वट सूर्य श्रवसा महाँ असि सत्रा देव महाँ असि ।
महा देवानामसुर्य पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम्
॥ २ ॥ ९ ॥ ऋ० ७ । ३२ । १७ १२ ।

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२७९] पृ० १४१ ।

(२) हे सूर्य ! सबके प्रेरक परमात्मन् ! आप (श्रवसा) ज्ञान और यश के द्वारा (वट) सचमुच (महान्) सबसे बड़े (असि) हो । हे देव ! प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! आप (सत्रा) सचमुच निश्चय से (महान् असि) सबसे बड़े हो आप ही (देवाना) सब विद्वानों के (महा) अपने महत्व या शक्ति से (असुर्य) प्राणों का चलाने हारे, (पुरोहित) साक्षात् पुरोहित के समान प्रवर्त्तक उनका साक्षात् धारण करने हारे और साक्षीरूप द्रष्टा हो आप ही वास्तव में (विभु) सर्वत्र विशेष रूप से व्यापक, (अदाभ्यम्) अविनाशी, नित्य (ज्योति) ज्योति समान प्रकाशस्वरूप हैं ।

इति द्वितीय खण्ड ।

[१७९०] उप नो हरिभि सुत याहि मदानामपते ।
उप नो हरिभि सुतम् ॥ १ ॥
[१७९१] द्विता या वृत्रहन्नमो वद हरिवः शतक्रतु ।
उप नो हरिभि सुतम् ॥ २ ॥
[१७९२] त्वं हि वृत्रहन्नेषां पाता सोमानामसि ।
उप नो हरिभि सुतम् ॥३।१०॥ ऋ० ८ । ९३ । ९१ ३२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१२०] पृ० ८४ ।

(२) (य) जो (वृत्रहन्तम) समस्त विघ्नों का विनाशक और (शतक्रतु) सकड़ों कर्मों का करने हारा है उसको (द्विता) दो रूपों में (विद) मैं जानता हूं। एक परमात्मा रूप से और दूसरा जीवात्मा रूप से। वह (न सुतम्) हमारे उत्पन्न किये पदार्थों का। (हरिभि) अपने हरणकारी वायु आदि साधनों और आत्मपक्ष में इन्द्रियों द्वारा (उप) प्राप्त करें।

(३) हे (वृत्रहन्) अज्ञान के विनाशक ! (एषा) इन (सोमा ना) सोमों, समस्त जगत् के जीवों का (पाता) पालनकर्त्ता (त्व) तू ही (असि) है। (न) हमारे (सुतम्) योग साधनों से परिष्कृत आत्मा को (हरिभि) ज्ञानों द्वारा (उप) प्राप्त हो।

[१७६३] प्र वो महेमहे वृत्रे भरध्व प्रचर्षणे प्र सुमतिं कृणुध्वम्।
विश पूर्वीं प्रचरचर्षणिभ्या ॥ १ ॥

[१७६४] उरुव्यचसे महिन सुवृक्तिमिन्द्राय ब्रह्म जनयन्त विप्रा ।
तस्य व्रतानि न मिनन्ति धीरा ॥ २ ॥

[१७६५] इन्द्र घाणीरनुत्तमन्युमव सप्ता राजान वरिव सहध्यै।
हर्यश्वाय बर्हया समापीन् ॥ ३ ॥ ११ ॥

ऋ ७ । ३१ । १०–१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३२८] पृ० १६६ ।

(२) (विप्र) विद्वान् ब्राह्मण लोग (उरुव्यचस) महान् ब्रह्माण्ड में व्यापक (महिने) बड़े नाम (इन्द्राय) परमात्मा की (सुवृ

इम्) उत्तम स्तुतिरूप (ब्रह्म) वेद का (जनयन्त) ज्ञान करते हैं । (धीरा) वे विद्यावान् ध्यानवान् पुरुष (तस्य) उसके (व्रतानि) उपदेश किये नियमों को (न मिनन्ति) विनाश नहीं करते, उल्लघन नहीं करते ।

(३) (वाणी) वेदवाणियाँ और (सप्त) समस्त विश्व के (राजान) प्रकाशक स्वामी (अनुत्तमन्यु) अद्वितीय नित्य ज्ञानी नित्य सामर्थ्यवान् (इन्द्र) इन्द्र को (सहध्यै) सब पर दमन करने के लिये (दधिरे) धारण करती हैं । अत , हे नर (हर्यश्व) समस्त लोकों और जीवों में व्यापक ईश्वर के किये (आपीन्) अपने समीप आप सब बन्धुओं को (सम् वर्हय) उत्तम रीति से बढ़ा, उन्नत कर ।

[१७६६] यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय ।
स्तोतारामद्धिये रदावसो न पापत्वाय रासिषम् ॥१॥

[१७६७] शिक्षेयमन्महयते दिवेदिवे राय आ कुहचिद्विदे ।
न हि त्वदन्यन्मघवन्न आप्य वस्यो अस्ति पिता च न
॥ २ ॥ १२ ॥ अ० ७ । ३२ । १८, १६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३१०] पृ० १२८ ।

(२) परमेश्वर का सकल्प है कि (महयते) दानशील या मेरी स्तुति करने हारे (कुहचिद्विदे) कहीं भी हो वहां ही उस (दिवे दिवे) प्रतिदिन (राय) धनों को (आ शिक्षेयम्) दान दिया करता हूं । इस प्रकार की ईश्वर की दयादृष्टि दान से भक्त का भी सकल्प होता है कि हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (त्वदन्यत्) तेरे से दूसरा कोई और व्यक्ति (न) हमारे लिये (वस्य) आवास देने हारा, (आप्य) प्राप्त करने योग्य इष्टदेव, उत्तम वस्तु (नहि) नहीं है और तुझ से उत्तम दूसरा (पिता च) पिता पालक भी (न) नहीं है ।

३ १र २र ३ २ड ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१७९८] श्रुधी हव विपिपानस्यार्द्रयो या विप्रस्यार्चतो मनीषाम्।
३ २ड १ २ ३ २ ३ ३
कृष्वा दुवांस्यन्तमा सचेमा ॥ १ ॥
२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ड २र
[१७९९] न ते गिरो अपि मृष्ये तुरस्य न सुष्टुतिमसुर्यस्य विद्वान्।
१ २ ३ १ २
सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि ॥ २ ॥
२ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१८००] भूरि हि ते सवना मानुषेषु भूरि मनीषी हवते त्वामित्।
२ड ३ १ २ ३ १ २
मारे अस्मन्मघवन्निज्याङ् ॥३॥१३॥ अ० ७ । २२।४-६॥

भा०—(१) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्[1] (विपिपानस्य) आनन्दरस का पान करने हारे (अद) आदरणीय और ज्ञानी, एवं पर्वत के समान दृढ़, काम क्रोध आदि से दीर्ण न होने वाले योगाभ्यासी के (हव) पुकार को (श्रुधि) श्रवण कर (अर्चत) स्तुति करते हुए (विप्रस्य) मेधावी विद्वान् पुरुष की (मनीषाम्) मनन की गति, या स्तुति का (वाघ) आप जानते हो। और (सचा) आप सहायक रूप से (इमा) इन (दुवांसि) शुभ कामनाओं को (अन्तमा) हृदयगम (कृष्व) कीजिये।

(२) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्[1] (असुर्यस्य) प्राणों के हितकारी, (तुरस्य) शत्रुओं के नाशक, अथवा सबके प्रेरक (ते) तेरा वर्णन करने हारी (गिर) वाणियों को भी (न मृष्ये) कभी परित्याग नहीं करता। और (विद्वान्) ज्ञानवान् होकर मैं (ते सुस्तुतिम्) तेरी उत्तम स्तुति को भी कभी नहीं त्यागता। (ते) तेरे (स्वयशः) यशस्वरूप उज्ज्वल (नाम) नाम को (सदा) नित्य (विवक्मि) विविध प्रकार से बखाना करता हूं।

(३) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्[1] (ते) तेरे लिये (मानुषेषु) मनुष्यों में (भूरि) बहुत से (सवना) उपासना प्रकार, या ऐश्वर्य हैं। (मनीषी) मननशील विद्वान् भी (त्वाम् इत्) तेरी ही (भूरि) बहुत (हवते) स्तुति करता है। हे

(मघवन्) ज्ञानाश्रय ! हे सर्वशक्तिमन् ! आप (अस्मत्) हमसे (आरे) दूर (ज्योक्) कभी भी (मा कः) मत होवें ।

इति तृतीय. खण्ड ।

—०—

[१८०१] प्रोष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूषमर्चत । अभीके चिदु लोककृत्सङ्गे समत्सु वृत्रहा । अस्माकं बोधि चोदिता नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ १ ॥

[१८०२] त्वं सिन्धूँरवासृजोऽधराचो अहन्नहिम् । अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि वार्यम् । तं त्वा परिष्वजामहे नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ २ ॥

[१८०३] विषु विश्वा अरातयोऽर्यो नशन्त नो धियः । अस्ताम्नि शत्रवे वधं यो न इन्द्र जिघांसति । या ते रातिर्ददिर्वसु नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ ३ ॥ १४ ॥

ऋ० ८० । १३३ । १–३ ॥

भा०—(१) (अस्मै इन्द्राय) इस ऐश्वर्यवान् प्रभु के (पुरो-रथम्) विश्व, ब्रह्माण्ड रूप रथ को पूर्ण करने हारे, या पालन करने वाले, या गति देने वाले (शूषम्) बल को (प्र सु अर्चत उ) यथार्थरूप से वर्णन करो । देखो, वह ईश्वर (अभीके) अत्यन्त समीप, चित्त में साक्षात् (चित् उ) हो (लोककृत्) सब का दर्शन करता है, सबको देखता है, या चित्त में सब के प्रकाश करता है । और (सङ्गे) संग हो जाने पर आत्मा को प्राप्त कर (समत्सु) इन्द्रियवृत्तियों में (वृत्रहा) तामस आवरण का नाश

कर देता है और हमारे भावों को जान जाता है (अस्माकं) हमें (बोधि) ज्ञान देता है और हमारे भावों को जान जाता है (अन्यकेषां) हमारे आभ्यन्तर तुच्छवृत्ति शत्रु, काम आदि के (धन्वसु) कमानों पर (अधि) चढ़े हुए (ज्याका·) निर्बल चिल्ले भी (नभन्तां) टूट फूट जाते हैं।

(२) हे (इन्द्र) परमेश्वर[1] तूने (सिन्धून्) सब नदियों को और शरीर की नाड़ियों को (अधराच । नीचे जाने हारी (अवासृजः) रचा है। और तू (अहिम्) न दबने वाले या अघात या पीड़ाकारी तामस आवरण, या मेघ को (अहन्) विनाश करता है। हे इन्द्र[1] तू (अशत्रु·) शत्रुरहित सब का मित्र (जज्ञिषे) जाना जाता है। ऐसे ही (त) उस सब के मित्र परमस्नेही (त्वा) आपको (परिष्वजामहे) हम आलिंगन करते हैं, अपना निरन्तर का सङ्गी बनाते हैं, अपनाते हैं, हृदय में धारण करते हैं।

(३) हे इन्द्र ! (नः) हमारे (विश्वा) समस्त (अपः) शत्रु रूप, हम पर चढ़ाई करने वाले (अरातयः) अज्ञानशक्ति, उचित कर न देने हारे, (विश्वा) सब शत्रुसैन्य (वि सु नशन्त) नाना प्रकार से खूब नाश को प्राप्त हों। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (यः) जो (नः) हमें (जिघांसति) विनाश करना चाहता है उस (शत्रवे) शत्रु पर (वधं) अपने हननकारी वज्र को (अस्ताभि) प्रयोग कर। और (यः) जो (ते) तेरी (रातिः) दान और कृपा है वह हमें (वसु) धन आदि पदार्थों का (ददिः) दान करे। (अन्यकेषां ज्याका धन्वसु नभन्ताम्) और अन्य तुच्छ शत्रुओं के धनुषों की निर्बल डोरियाँ नष्ट हो जावें।

[१८०४] रेवां इद्रेवतस्तां स्यात्तवावतो मघोनः।
प्रेदु हरिवः सुतस्य ॥ १ ॥

[१८०५] उक्थं च न शस्यमान नागो रायराचिकत ।
न गायत्र गीयमानम् ॥ २ ॥

[१८०६] मा न इन्द्र पीयत्नव मा शधते परा दा ।
शिक्षा शचीव शचीभि ॥३॥१५॥ अ० ८ २।१३—१५॥

भा०—(१) इ (हरिव) गतिमान् समस्त लोका क स्वामिन् अथवा किरणों और प्राणों क प्राण ! इ प्रभा ! लाक में (रवत) धनाढ्य पुरुष का (स्तोता) स्तुति करन हारा (रवत्) धनवान् हा जाता है और ज्ञानी पुरुष का उपासक ज्ञानवान् (स्यात्) हा जाता है । फिर (स्वावत) तुम्हजैस अनुपम (मघान) ज्ञानी और धनसम्पन्न सु तस्य) एश्वयवान् अथवा ब्रह्मानन्दरस क उ पादक प्रभु का ता (प्र वत् उ) फिर क्या कहना ! तरा उपासक ता भारा धना और ज्ञाना हा हा जायगा ।

(२) व्याख्या दखा अवि० स० [२२५] पृ० ११६ ।

(३)) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (न) हमें (पायत्नव) हिंसक, दुष्ट पुरुष क हाथों में (मा परा दा) मत डाल । और हमें (शधत) हमारा मान भग करन हार हिंसक पुरुष क हाथों में (मा परादा) मत डाल । तू (शचीभि)अपन ज्ञानों और शक्तियों स ही इ (शचीव) शक्तिमन् ! हम (शिक्ष) शिक्षित कर दण्डित कर अथवा ज्ञान प्रदान कर ।

[१८०७] इन्द्रा याहि हरिभिरुप कण्वस्य सुष्टुतिम् ।
दिवा अमुष्य शासतो दिव यय दिवावसो ॥ १ ॥

[१८०८] अत्रा वि नभिरप्तुरा न धूनुत वृक ।
दिवा अमुष्य शासतो दिव यय दिवावसो ॥ २ ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ २ १२ २२
[१८०६] आ त्वा ग्रावा वदन्निह सोमी घोषेण वक्षतु ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
दिवा अमुष्य शासतो दिव यय दिवावसो ॥ ३ ॥ १६ ॥
ऋ० ८ । ३४ । १, ३, २ ।

भा०—(१) व्याख्या दक्षिय अवि० सं० [३४८] पृ० १८० ।

(२) (वृक) भेड़िया (उरा न) जिस प्रकार भेड़ को (धुनुते) धुन देता है भय से कंपित करता है उसी प्रकार (वृषा) इन प्रजाओं का (नभि) नमन करने हारा वश करने हारा, आत्मा भी उस (उरा) चित्तिशक्ति को (विधूनुते) अपने बल से प्रचालित करता है । (दिव) प्रकाशमान, प्रकाशस्वरूप विश्व में रमण या क्रीड़ा करने हार (शासत) शासकरूप (अमुष्य) इस परमात्मा के (दिव) ज्योतिर्मय ज्ञान को हे (दिवावसो) ज्योतिरूप प्रकाश में वास करने हार जीवात्मन् ! तू (यय) प्राप्त हो ।

(३) हे प्रभो ! (इह) इस संसार में, इस जन्म में (सोमी) सोमरस का आस्वादन करने हारा या मुझ नेता (ग्रावा) विद्वान्, ज्ञानोपदेशक (त्वा) तेरी (वदन्) स्तुति करता हुआ (घोषेण) वेद ज्ञान के साथ ही (त्वा वक्षतु) तुझ प्रभु को प्राप्त हो । हे (दिवावसो) आत्मन् ! (अमुष्य शासत दिव दिव यय) आत्मक्रीड, आत्मरति होकर उस शासन करने हार परमात्मा के प्रकाशस्वरूप मोक्ष लोक को तू प्राप्त हो ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ , २
[१८१०] पवस्व सोम मन्दयन्निन्द्राय मधुमत्तम ॥१॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ १ २
[१८११] ते सुतासो विपश्चित शुक्रा वायुमसृक्षत ॥ २ ॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१८१२] अक्रान्त देवगीतये याजयन्तो रथाँ इव ॥ ३ ॥ १७ ॥
ऋ० ६ । ६७ । १६ १८, १७ ॥

भा०—(१) हे (सोम) ज्ञानैश्वर्य सयुक्त (मधुमत्तम) अतिशय ज्ञान सम्पन्न हाकर (मन्दधन्) आनन्दमय हाता हुआ यागिन् ! तू इन्द्राय परमेश्वर का प्राप्त होन क लिय (पवस्व) गतिकर ।

(२) (त) वे (विपश्चित) ज्ञानसम्पन्न, ज्ञानों का सग्रह करने हार या ज्ञानरूप अग्नि का चयन करन हारे परमा मदर्शी (शुक्र) तजस्वी, या शुक्ल कर्म करन हार (सुताम) सिद्ध यागी (वायुम्) सब प्रेरक प्रभु परमात्मा का (असृक्षत) प्राप्त हात हैं ।

(३) आत्मस्वरूप यागी गण (वाजयन्त) सग्राम करने हारे विरथी (रथा इव) रथों क समान स्वय (वाजयन्त) ज्ञानस्वरूप हाकर (रथा) केवल आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हाकर (देववातय) ईश्वर को प्राप्त हाने क लिय (असृग्रम्) जा रहे हैं ।

सात चतुथ खण्ड ।

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १र
[१८१३] अग्नि होतार मन्ये दास्वन्तं वसो सूनु ।
१र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
सहसो जातवदस विप्रम जातवेदसम् ॥
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
य ऊर्ध्वया स्वध्वरादवाच्या कृपा ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
घृतस्य विभ्राष्टिमनुशुक्रशोचिष आजुह्वानस्य सापय ॥१॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३
[१८१४] यजिष्ठ त्वा यजमाना हुवेम ज्येष्ठमङ्गिरसा विप्र
१ २ ३ १ २ ३ १ २
मन्मभिर्विप्रम शुक्र मन्मभि ॥
१ २ ३ १र २र ३ २
परिष्टमानामिव द्यां होतार चर्षणीनाम् ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
शोचिष्केश वृषण यमिमाविश प्रायन्तु जूतये विश ॥२॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
[१८१५] स हि पुरूचिद्दोजसो विरुक्मता दीद्यानो ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
भवति द्रुहन्तरः परशुर्न द्रुहन्तरः ॥
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
वीडुचिदस्य समृतौ श्रुवद्यतेव यत्स्थिरम् ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
निष्पहमाणो यमते नायते धन्वासहा नायते ॥३॥१८॥
ऋ० १ । १२७ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४६५] पृ० २३४ ।

(२) हे (विप्र) ज्ञानवन् ! अग्ने ! परमेश्वर ! इम (यजमानाः) देवोपासना करने हारे लोग (यविष्ठं) सब उपासकों में से सबसे अधिक श्रेष्ठ (अगिरसां) समस्त ज्ञानवान् आत्माओं से भी (ज्येष्ठ) श्रेष्ठ परमात्मरूप आपको (विप्रेभिः) विशेष रूप से आपके महत्व को दर्शाने हारे ज्ञानमय (मन्मभिः) विचारों, मन्त्रों से (त्वा) आपको (हुवेम) स्मरण करते हैं । हे (शुक्र) तेजःस्वरूप सबके प्रकाशक ! (पारियान्त्र) सर्वव्यापक, (रयां) तेजस्वरूप, (मर्तानां) समस्त मनुष्यों को (होतरं) कृपा का दान करने हारे (शोचिष्केशं) कान्तिमान् सूर्यादि विषयों को वश करने हारे (वृषण) सब सुखों के वर्षक (यं) जिस आपको (हमा.) ये समस्त (विशः) आप में आश्रय पाने हारे जीवगण (आवन्) प्राप्त होते हैं ।

(३) (सः हि) निश्चय से वह अग्नि (विरुक्मता) विशेष कान्ति से युक्त (भ्राजसा) तेज से (पुरुचित्) अति अधिक (दीद्यानः) प्रकाशित होता हुआ (द्रुहन्तर) वृक्षों का विनाश करने हारे (परशुः न) फरसे के समान (द्रुहन्तरः) दुष्टशीलः विनाशी इस देह बन्धन को काटने हारा (भवति) होता है, (यस्य) जिसका (सम् ऋतौ) सामङ्ग में साधान् प्राप्त कर लेने पर (वीडु) दृढ़ और (यत्) जो (स्थिरं)

स्थिर, स्थायी यह ससार या देहरूप धन (चित्) भी (घना इव) जगल या जसों कसमान (ध्रुवत्=स्तुवत्) छितरा जाता है। अग्नि के सयोग जिस प्रकार जगल जल जाता या जल भाफ होकर विलीन होजाता है उसी प्रकार यह समस्त ससार भी जिस में प्रलय काल में विलीन होजाता है वह (नि सहमान) समस्त ससार की सब विरोधिनी शक्तियों को अपने वश करता हुआ (यमत) समस्त ससार का व्यवस्था करता है और उसी में क्रीडा करता है एव (धन्वा सहा न) धनुर्धर विजयी के समान (अयते) ससार के रण क्षेत्र में भी आता है और (न अयते) और इसके भीतर पाश में भी नहीं आता।

इति नवमस्य प्रपाठकस्य प्रथमाऽर्धप्रपाठक *

अथ नवमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः ॥

ऋषि —१ अग्नि पावक । २ सोभरि काण्व । ५, ६ अवत्सार काश्यप अन्ये च ऋषयो दृष्टलिङ्गा * । ८ व सप्री । ९ गाधूत्तरवत्सूक्तिनौ काण्वायनौ । १० त्रिशिरास्त्वाष्ट्र सिन्धुद्वीपो वाम्बरीष । ११ उला वातायन । १३ वेन । ३, ४, ७, १२ इति साम ॥ देवता—१, २ ८ अग्नि । ५, ६ विश्वे देवा । ९ इन्द्र । १० अग्नि । ११ वायु । १३ वेन । ३, ४, ७, १२ इतिसाम ॥ छ द —१ विष्टारपङ्क्ति, प्रथमस्य, सतोबृहती उत्तरेषा त्रयाणा, उपरिष्टाज्ज्योतिः अत उत्तरस्य त्रिष्टुप चरमस्य । २ प्रागाथम् बार्हतम् । ५ ६, १३ त्रिष्टुप् । ८-११ गायत्री । ३ ४, ७, १२ इतिसाम ॥ स्वर —१ पञ्चम प्रथमस्य मध्यम उत्तरेषा त्रयाणा, धैवत चरमस्य । २ मध्यम । ५, ६, १३ धैवत । ८-११ षड्ज । ३, ४, ७, १२ इति साम ॥

*केषा चिन्मतेनात्र विंशाध्यायस्य, पञ्चमखण्डस्य च विराम ।

[१८१६] अग्न तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो ।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं३दधासि दाशुषे कवे ॥२॥

[१८१७] पावकवर्चा शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि भानुना ।
पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसी उभे ॥२॥

[१८१८] ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिर्मंदस्व धीतिभिर्हितः ।
त्वे इष सन्दधुर्भूरिरेतसः स्त्रियो यामजाता ॥३॥

[१८१९] इरज्यन्नग्ने प्रथमस्य जन्तुभिरस्मे रायो अमर्त्य ।
स दर्शतस्य वपुषो विराजति पृणक्षि दर्शत क्रतुम् ॥४॥

[१८१०] इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतस क्षयन्तं राधसो महः । रातिं
वामस्य सुभगां महीमिष दधासि सानसिं रयिम्॥५

८२१] ऋतावान महिष विश्वदर्शतमग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो
जना. । श्रुत्कर्ण सप्रथस्तम त्वा गिरा देव्या मानुषा
युगा ॥ ६ ॥ १ ॥ *० २० । १४० । १–६ ॥

भा०—(१) हे (अग्ने, ज्ञानस्वरूप ! प्रकाशक ! परमात्मन् ! (विभावसो) अपने विशेष प्रकाश से सब को चमकाने और सर्वत्र स्वयं बसनेहारे व्यापक परमात्मन् ! (तव) तेरा (श्रव) कीर्ति और (वयः) ज्ञान, बल (महि) महान् है और तेरी (अर्चय) ज्वालायें सूर्य आदि रूप में

*ऋग्विधाना दया० भाष्ये पाठः १८१६—३. 'तन्दम्बधीतिभि.' ४. पृणक्षिमानुषि' इति ऋ० ।

(आवन) प्रकाशित हो रही हैं । हे (वृहद्भाना) सब प्रकाशों से महान् ! आप (उक्थ्य) वेद द्वारा प्रतिपादनीय (वाज) ज्ञान दो । हे (कवे) मेधाविन् ! तू (दाशुष) आत्मसमर्पण करने हारे शिष्य का आचार्य के समान (दधासि) धारण करता है ।

(२) हे अग्ने ! तू (पावकवर्चा) पवित्र करने हारे तेज से युक्त (शुक्रवर्चा) शुद्ध, निर्मल कान्ति से सम्पन्न (अनूनवर्चा) सब से अधिक तेजस्वी होकर (भानुना) प्रकाशक तेज के सहित (उद्-इयर्षि) उदय होता है, हृदय में प्रकट होता है । जिस प्रकार (पुत्र) पुत्र (मातरा) मातृस्वरूप या माता बाप दोनों के समीप (विचरन्) विचरता हुआ उनको पुनः पालता और पावता है और जिस प्रकार यह सूर्य आकाश और पृथिवी दोनों के बीच विचरता हुआ (उभे) दोनों (रोदसी) लोकों को साक्षात् करता और पालन पोषण करता है उसी प्रकार तू भी समस्त लोकों का (उपावसि) स्वयं उन में व्यापक होकर रक्षा करता और (पुष्यसि) पालन करता है । इसी प्रकार देहगत जीवात्मा पर भी यह मन्त्र स्पष्ट है ।

(३) हे (ऊर्जो नपात्) बल को, सामर्थ्य को एवं ब्रह्मानन्दरस को कभी न परित्याग करने हारे ! हे (जातवेद) सर्वज्ञ ! तू (सुशस्तिभि) उत्तम स्तुतियों से और (धीतिभि) वेदाध्ययन और अग्निहोत्रादि यज्ञ कर्मों से (मन्दस्व) प्रसन्न हो अपना आनन्दमय स्वरूप प्रकट कर । (भूरिवर्पसं) नानारूप (चित्रातय) विचित्र या मनोहर बुद्धि वाले (वामजाता) उत्तम प्रकृति के कुलीन विद्वान् लोग भी (त्व) तेरे निमित्त ही (इष) नाना अन्न आदि हवियों को (सदधु) अग्नि में डालते हैं । या तेरे आश्रय नाना कामनाएं करते हैं ।

(४) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! हे (अमर्त्य) अविनाशी परमात्मन् ! आप (ज तुभि) उत्पन्न होने हारे जो तुओं द्वारा (राय्यम्) ऐश्वर्य

को बढ़ाते हुए (अस्मे) हमारे (राय·) धनों को (प्रथयस्व) बढ़ाओ । (स·) वह आप (दर्शतस्य) दर्शनीय (वपुष) अपने बीज वपन करने हारे, उत्पादक सामर्थ्य से (विराजसि) सब पर ईश्वर होकर विराजमान हैं । और आप (दर्शत) दर्शनीय (ऋतु) अपने बनाए हुए इस संसार को (पृणक्षि) पालन पोषण करते हो ।

(५) (अध्वरस्य) इस महान् जगत् मय यज्ञ के (इष्कर्तारम्) प्रेरणा करने हारे, या पूर्णरूप से संचालन करने हारे (प्रचेतस·) उत्तम, ज्ञानवान् (मह·) बड़े श्रेष्ठ, (राधस) आराधनीय, या साधनयोग्य धन या ज्ञान को (क्षियन्त) अपने वश करने हारे, उसके स्वामी और (वामस्य) प्राप्त करने योग्य उत्तम श्रेष्ठ पदार्थों के (रातिं) दाता की हम स्तुति करते हैं । हे परमात्मन् ! आप (मही) बहुत बड़ी (सुभगा) उत्तम सौभाग्ययुक्त, शुभ (इषे) अन्न आदि सम्पदा को और (सानसि) परस्पर विभाग करके भोगने योग्य अथवा प्रत्येक को पृथक २ प्राप्त (रयिम्) प्राण देह आदि अध्यात्म-सम्पत्ति को (दधासि) धारते और प्रदान करते हो ।

(६) (जना) मनुष्य लोग (ऋतावान) सत्यज्ञान से युक्त, (महिष) बड़े सामर्थ्यवान्, (विश्वदर्शतम्) सबसे अधिक दर्शनीय, विश्व के द्रष्टा एवं सब पदार्थों के प्रदर्शक विद्वान् (अग्निम्) अग्नि अर्थात् आचार्य के समान अग्रणी ज्ञानप्रकाशक परमेश्वर को अपने (पुर) समक्ष साक्षिरूप से और मार्गदर्शक रूप से (सुम्नाय) सुख प्राप्त करने एवं प्रत्येक कार्य पर उत्तम रूप से मनन करने और स्वयं उसका उत्तम ज्ञान प्राप्त करने के लिये (दधिरे) पुरोहित, आचार्य और गुरुरूप में रखते हैं । उसी प्रकार हे परमात्मन् ! (मानुषा) मननशील (युगा) नर नारियों के जोड़े (सप्रयस्तम) सर्वत्र अति प्रसिद्ध, विख्यात (श्रुत्कर्णम्) श्रुतिरूप कर्णों से युक्त अथवा वेद के अनुसार समस्त जगत् के रचने हारे (गिरा)

उस वेदवाणी के अनुसार (दैव्य) दिव्यगुणों से युक्त (त्वा) तुझको अपने सुख सम्पादन के लिये (पुरो दधिर) सब कार्यों में साक्षी या आचार्य पुरोहित के समान स्थापन करते हैं ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

—०—

[१८२२] प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तरति वाजकर्मभिः ।
यस्य त्वं सख्यमाविथ ॥ १ ॥

[१८२३] तव द्रप्सो नीलवाञ्छश्वत्क्रत्विय इन्वति सिष्णवा ददे ।
त्वं महीनामुषसामसि प्रियः क्षपो वस्तुषु राजसि ॥ २ ॥ २॥ ऋ० ८ । १९ । ३०,३१ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१०८] पृ० ५८८ ।

(२) हे (सिष्णो) आनन्दरस से हृदय के सेचन में समर्थ ! धर्म मेघरूप आत्मन् ! (तव) तेरा (द्रप्स) द्रवणशील व्यापक रस (नील-वान्) आश्रयदाता, (वाश.) कमनीयरूप, (क्रत्वियः) प्राणों में रहने वाला (इन्धान.) प्रदीप्त होकर (आददे) मन से ग्रहण किया जाता एवं सबको अपने वश करता है, जाना जाता है । (त्वं) तू (महीना) विशाल या पूजनीय (उषसा) ज्ञानोदय से युक्त विशोका ज्योतिष्मती प्रज्ञाओं का (प्रिय.) प्रिय (असि) है और (क्षपः) सर्व दुःखों के नाश करने वाली, रात्रि के समान अन्त सात्विक निद्रा से सम्बद्ध (वस्तुषु) तत्वों में (राजसि) प्रकाशमान, जागृत रहता है ।

[१८२४] तमोषधीरुदधिर्गर्भमृत्वियं तमापो अग्निं जनयन्त मातरः ।
तमित्समानं वनिनश्च वीरुधस्तमोषतीश्च सुवते च विश्वहा ॥ ३ ॥ ३ ॥ ऋ० १० । ९१ । ६ ॥

भा०—(१) (तं) उस (ऋत्विय) ऋतुओं में सूर्य के तेजो रूप से प्रकट होने हारे अग्नि को (ओषधीः) ओषधिगण अपने भीतर रसरूप से (दधिरे) धारण करती हैं (तं) उसी (अग्नि) अग्नि को (मातरः) सब के मूल-कारण (अपः) आप:=जल भी (जनयन्त) उत्पन्न करते हैं और (तम् इत्) उसको ही (समानं) समान रूप से (वनिनः) वन के बड़े २ वृक्ष भी धारण करते और उत्पन्न करते हैं और उसी अग्नि को (अन्तर्वतीः) गर्भ धारण करने हारी पुष्पिणी (च) और (वीरुधः) विशेष रूप से रोहण करने हारी लताएं (विश्वहा) सर्वदा उत्पन्न करती हैं। उसी प्रकार वनस्पति और लताओं के दृष्टान्त से आत्मा की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं—(मातरः) माताएं, (आपः) प्राप्त होने योग्य पतियों से संगत (ओषधीः) तेज=वीर्य को धारण करने वाली (तं) उस आत्मरूप अग्नि को (ऋत्वियं) ऋतुकाल में होने वाले (गर्भं दधिरे) गर्भरूप से धारण करती हैं (तं) उसी को (जनयन्त) बालक रूप से उत्पन्न करती हैं। (च) और (वनिनः) नर वृक्षों के समान पुरुष और (वीरुधः) लताओं के समान (अन्तर्वतीः च) गर्भिणी स्त्रिया (विश्वहा) सदा (समानं) समान भाव से (सुवते) उसको प्रसव करती हैं।

फलतः वृक्ष वनस्पतियों में भी वही जीव है। एवं जो जल वृष्टिरूप से पृथिवी पर आकर वनस्पति रूप से उत्पन्न होता है और खाये जाकर वही वीर्य बनकर पुनः पुरुषों द्वारा वही गर्भों में निषिक्त होता है और वही गर्भ में जमकर पुनः पुत्ररूप से उत्पन्न होता है, यह सूक्ष्म रहस्य उपनिषदों में पञ्चाहुति प्रकरणों में दर्शाया गया है।

[१८२५] अग्निरिन्द्राय पवते दिवि शुक्रो विराजति।
महिषीव विजायते ॥ ४ ॥

भा०—(१) । अग्निः) वह आत्मा (इन्द्राय) परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (पवते) विवेक से निर्मल होकर उसकी ओर गति करता

है । (शुक्रः) शुक्लकर्मा, निर्मल कान्तिमान् होकर (दिवि) मोक्ष में (विराजति) प्रकाशित होता है । (महिषी इव) जिस प्रकार (महिषी) राजमहिषी, महारानी नाना प्रकार के रूप धारण करके प्रजा के सम्मुख उपस्थित होती है उसी प्रकार वही आत्मा (विजायते) नाना रूपों में प्रकट होता अथवा (महिषी इव) दुग्धरस देने हारा भैंस के समान वही आत्मा आनन्दरस की धार वर्षण करने हारी कामधेनु बनकर चितिशक्ति के रूप में ऋतम्भरा रूप स प्रकट होती है ।

अथवा अग्नि=परमात्मा इस इन्द=आत्मा के लिये प्रकट होता है वही मोक्ष में शुद्ध रूप से विराजमान है । वही उसको रस देने हारी कामधेनु के समान नाना पदार्थ प्रदान करता है ।

[१८२६] यो जागार ऋमृच कामयन्ते यो जागार ऋतु सामानि यन्ति । यो जागार तमय साम गाय त्वाहमस्मि सख्ये न्योका: ॥ १ ॥ ५ ॥ ऋ० ६ । ४४ । १४ ॥

भा०—(१) जो विद्वान् ब्रह्मवेत्ता (जागार) अविद्या की नींद से जाग जाता है (त) उसको (ऋच) ऋग्वेद की ऋचाएं और उन के समान ज्ञानप्रद जन भी (कामयन्ते) चाहते हैं । और (यः) जो (जागार) अविद्या निद्रा से जग जाता है (तम् उ) उसको ही (सामानि) साम के उपासनापरक मन्त्र और उपासना करने वाले भक्त लोग भी (यन्ति) प्राप्त होते हैं (य.) जो (जागार) ज्ञानमार्ग में जागृत सावधान रहता है (तम्) उसको ही (अयं) यह (सोम.) सोमरूप, सब का प्रेरक जगदीश्वर, या ससार का ऐश्वर्य भी (आह) कहता है कि (तव सख्ये) तेरी मित्रता में ही (अहम्) मैं भी (न्योका.) निवास करता हू । इसी ऋचा से अगली ऋचा में इस जागरणशील निरा लस तपस्वी को 'अग्नि' नाम से बतलाया है ।

[१७२७] अग्निर्जागार तमृचः कामयन्तेऽग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति। अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योका. ॥ १ ॥ ६ ॥

भा०—(१) पूर्व ऋचा के (कः) 'जो' की जिज्ञासा में ही यह उत्तर ऋचा कही जाती है। इससे विद्वान् निरालस आत्मा के साथ २ परमात्मा का भी वर्णन इस रूप से होता है। अर्थात्—अग्नि=परमात्मा ही सदा जागता है, ऋग्वेद की ऋचाएं उसका चाहती हैं, उसी का सामगण गान करते हैं और यजु. स्थानीय सोम अथवा कर्मप्रधान यह जीव भी उस परमेश्वर का ही कहता है कि हे भगवन्! मैं आपके मित्रभाव में सदा आश्रय प्राप्त करूं।

[१७२८] नमः सत्रिभ्यः पूर्वसद्भ्यो नमः साकंनिषेभ्यः। युञ्जे वाचं शतपदीम् ॥ १ ॥

[१७२९] युञ्जे वाचः शतपदीं गायत्र्यैष्टुभं जगत्। गायत्रं त्रैष्टुभं जगद्विश्वा रूपाणि सम्भृता। देवा ओकांसि चक्रिरे ॥ ३ ॥ ७ ॥ ऋग्वेदे नास्ति ॥

भा०—(१) (पूर्वसद्भ्यः) पूर्ववत्, साथ धाम में विराजमान (सत्रिभ्यः) मेरे आत्मा के समान आसन वाले मुक्तात्माओं को (नमः) मैं नमस्कार करता हूं। और (साकंनिषेभ्यः) साथ ही विराजमान विद्वान् मित्रों के लिये भी (नमः) आदरपूर्वक नमस्कार है। मैं आप लोगों के समान ही (शतपदीं) सैकड़ों ज्ञानों से पूर्ण (वाचं) वेदवाणी का (युञ्जे) समाहित चित्त से विचार करता हूं।

(२) (शतपदीं) सैकड़ों ज्ञानों से युक्त (वाचः) वाणी का (युञ्जे) योगसमाधि द्वारा मनन करता हूं और (सहस्रवर्त्मनि)

सहस्रों मार्ग से युक्त सहस्रवर्त्मा सामवेद जिसमें (गायत्र) गायत्र (त्रैष्टुभ) त्रैष्टुभ और (जगत्) जगत् साम विशेष है उसका (गाये) गान करता हूं।

(३) (गायत्रं, त्रैष्टुभ, जगत्) गायत्र, त्रैष्टुभ और जगत् इन तीन मुख्य सामों के ही (विश्वा रूपाणि)) नाना प्रकार के रूप (सम्भृत।) बनाये गये हैं। और उनमें ही (देवा) विद्वान् लोग (ओकासि[1]) संहिताओं का या ज्ञानवाक्यों का (चक्रिरे) साक्षात् कर प्रकाश करते हैं।

[१८२१] अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निरिन्द्रो ज्योतिर्ज्योतिरिन्द्र ।
सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य ॥ १ ॥

[१८३२] पुनरूर्जान वर्तस्व पुनरग्न इषायुषा ।
पुनर्नः पाह्यंहसः ॥ २ ॥

[१८३३] सह रय्या न वर्त्स्वाग्न पिन्वस्व धारया ।
विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि ॥ ३ ॥ ८ ॥

ऋग्वेद नास्ति । आद्या यजु० ३ । ६ ।। द्वितीया यजु० १२ । ४० ।। तृतीया यजु० १२ । ४१ ।।

भा०—(१) (अग्निः) अग्नि (ज्योतिः) ज्योति स्वरूप है और (ज्योतिः) ज्योतिस्वरूप ही (अग्नि) अग्नि है। (इन्द्रः) इन्द्र भी (ज्योतिः) ज्योति स्वरूप है और (ज्योतिः) ज्योतिर्मय पदार्थ ही (इन्द्रः) इन्द्र है। (सूर्यः) सब का प्रेरक सूर्य (ज्योति) ज्योतिर्मय है।

१८३०—१ ओकासि—बाहुलकादवतरोणादिक कम् । (उणा० ३ । ४१) ओक —राशिः स्थान वा । अथवा वचेः सार्वधातुभ्योऽसुन् (उणा० ४ । २१६) उच्यते इत्योक ।

१८३१—१. अग्निर्ज्योतिरग्निः स्वाहा सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा" इति याजुषः पाठः । मध्यमः पाठो यजुर्मन्त्रे नास्ति ।

(ज्योति) ज्योतिर्मय पदार्थ हो (सूर्य) सूर्य है । फलतः ज्योतिर्मय होने से हे अग्नि इन्द्र और सूर्य तीनों नाम एक पदार्थ के हैं । वह समानरूप से तीन नाम एक पदार्थ के और इनका चौथा पर्याय ज्योति है । ये चारों नाम मुख्यता से ईश्वर के और गौणरीति से अन्य के हैं ।

(२) हे अग्ने परमात्मन् ! आप (ऊर्जा) रसस्वरूप आनन्दघन रूप से और (इषा) ज्ञानरूप से और (आयुषा) जीवनरूप से (पुनः पुनः) बार बार हमें (नि वर्तस्व) प्रकट हों । अर्थात् प्रत्येक समाहित दशा में एवं प्रतिजन्म में आपके सत् चित् और आनन्द तीनों रूपों के हमें दर्शन हों ।

(३) हे (अग्ने) परमात्मन् ! (रय्या) अपने रमणीय मनोहर माधुर्यरूप से हमें (नि वर्तस्व) पुनः प्राप्त हो । हे अग्ने ! तू हमें (विश्वतः परि) सबसे अधिक एवं सबपर शासन करने हारे (विश्वपर्या) समस्त संसार को अपने भीतर लेलेने हारी सर्वव्यापिनी (धारया) अपनी रसधारा से (पिन्वस्व) तृप्त कर ।

इति षष्ठः खण्डः ।

[१८३४] यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत् ।
स्तोता मे गोसखा स्यात् ॥ १ ॥

[१८३५] शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे ।
यदहं गोपतिः स्याम् ॥ २ ॥

[१८३६] धेनुष्ट इन्द्र सूनृता यजमानाय सुन्वते ।
गामश्वं पिप्युषी दुहे ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । १४ । १—३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१२२] पृ० ।

(२) (यद्) यदि (अहं) मैं (गोपति) वाणी भूमि और गौओं का पति=पालक (स्याम्) होऊं तो हे (शचीपते) शक्तिमन् ईश्वर ! आत्मा और ब्रह्मविद्या के स्वामिन् ! मैं (अस्मै) इस (मनीषिणे) मनस्वी, जितेन्द्रिय बुद्धिमान् पुरुष को (दित्सेय) दान कर दूं और (शिक्षेय) विद्या की शिक्षा दूं।

(३) हे (इन्द) परमात्मन् ! (ते) तेरी (सूनृता) उत्तम सत्य तत्वों के दर्शाने हारी, सत्यमयी (धेनु) ज्ञानरस का पान कराने हारी वेदवाणी (सुन्वते) ज्ञान सम्पादन करने वाले (यजमानाय) स्वाध्याय यज्ञ के करने हारे अध्येता को (विष्पुषी) पुष्ट करती हुई (गाम्) वाणी और (अश्वं) आत्मिक सामर्थ्य युक्त आत्मा का भी बल (दुह) प्रदान करती है

[१८७] आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।
महे रणाय चक्षसे । १ ॥
[१८३८] यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः ।
उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥
[१८३९] तस्मा अरङ्गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥ १० ॥
अ० १०१ । ६ । १-३ ॥ अथर्व० १ । ५ । १-३ ॥

भा०—(१) हे (आपः) प्राप्त होने हारी ज्ञान जलधाराओ ! आप ही (मयोभुवः) शान्ति और कल्याण के उत्पन्न करने हारी (स्थ) हो। ज्ञानजल (नः) हम (ऊर्जे) बल या आनन्द रस प्राप्त करने के लिये (दधातन) अपने में धारण करें। और वे ही हम (महे) बड़े (रणाय) रमणीय, दर्शनीय इष्टदेव के (चक्षसे) दर्शन प्राप्त करने के लिये (दधातन) समर्थ और पुष्ट करें।

(२) हे (आप) प्राप्तव्य योगभूमियो ! (य) जो (व) आप का (शिवतम) अति कल्याणकारी, शान्तिदायक, सर्वोत्तम (रस) आनन्दरस है (तस्य) उसका (इह) इस लोक में (न) हमें (भाजयत) प्राप्त कराओ। आप साक्षात् (उशती) पुत्रों के प्रति उनका पुष्टि करने की लालसा से भरी (मातर) माताओं के समान हम मुमुक्षुओं का (मातर) ज्ञान देने हारी हो।

(३) हे (आप) प्राप्यतम योगभूमियो ! (तस्मा) उस रस के प्राप्त करने के लिये हो (व) आपके प्रति हम (अर) अच्छा प्रकार (गमाम) प्राप्त हों। (यस्य) जिसके (क्षयाय) ऐश्वर्य के लिये आप (जिन्वथ) हमें प्रेरित करते हो। (न) और जिसके लिये हमें (जन यथ) उत्पन्न करती हो उसके लिये समर्थ भी होती हो।

उन मन्त्रों में आप जल हैं। यह व जल हैं या आत्मा नदी में बहते हैं। जिसका वर्णन व्यासदेव ने किया है—

' आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था सत्यादका शीलतटा दयोर्मि " ॥

अथवा जिसमें यह कर भक्त कहा करते हैं —

' ओषध जाह्नवीतोय वैद्यो नारायणो हरि ।"

[१८४०] वात आ वातु भेषज शम्भु मयोभु नो हृदे ।
प्र न आयूंषि तारिषत् ॥ १ ॥

[१८४१] उत वात पितासि न उत भ्रातोत न सखा ।
स नो जीवातवे कृधि ॥ २ ॥

१८४०—ऋषिर्देवता च नान्यत्र सहित मुपलभ्यते । अतस्तस्य स्वरूपन्तु जीवानन्द मुद्रापित्तसायणभाष्यमालोक्यैव ज्ञेय । अजमेरमुद्रितसहितायां कण्व शाक्त साम' इतिमात्र प्रदर्शितम् ।

[१८४२] यदद्यो वात ते गृहेऽमृतन्निहित गुहा ।
तस्य नो धेहि जीवसे ॥३॥११॥अ० १० । १८६ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० स० [१८४] पृ० ६६ ।

(२) हे वात ! सर्वव्यापक परमात्मन् ! आप (न) हमारे पिता असि) प्राणवायु के समान साक्षात् पालक हैं, (उत भ्राता) और प्राण वायु के समान भरण पोषण करने वाले और (न सखा) हमारे आत्मा के समान हमारे प्रेमी मित्र हैं । (स) वह आप (न) हमें (जीवातवे) जीवनमय यज्ञ के लिये सदा समर्थ (कृधि) करो ।

(३) हे (वात) प्राणों के प्राण परमात्मन् ! (यत्) जो (अद) वह कभी न भूलने योग्य (अमृत) अमृतरस, परमज्ञान (ते) तेरे (गुहा) शरण में (गुहा) हृदयरूप गुहा में (निहित) गुप्तरूप से रक्खा है भग वन् ! (तस्य) उसको (न जीवसे) हमारे जीवन के निमित्त (धेहि) प्रदान करो ।

[१८४३] अभि वाजी विश्वरूपो जानत्र हिरण्यय बिभ्रदर्क सुपण । सूर्यस्य भानुनृतुथा वसान परिस्पश मेधमृजो जजान ॥ १ ॥

[१८४४] अप्सु रेत शिश्रिये विश्वरूप तज पृथन्यामधि यत्स यभूव । अन्तरिक्षे स्वम्महिमान मिमान कानक्रान्ति वृष्णो अश्वस्य रेत ॥ १ ॥

[१८४५] अय सहस्रा परि युक्ता वसान सूर्यस्य भानु यज्ञा दा धार । सहस्रदा शतदा भूरिदावा धता दिवा भुवनस्य विश्पति ॥३॥१२॥ कश्चन नास्ति । अथवणि यजुषि च नो लभ्यते ।

भा०—(१) (विश्वरूप) नाना प्रकार के रूपों का धारण करने हारा जीवात्मा (वाजी) ज्ञानवान् और बलवान् होकर (सुपर्ण) उत्तम ज्ञान और पालन करने के सामर्थ्य से सम्पन्न या उत्तम मार्गगामी (ऋत्वा) कर्माशयों का परिपाक करके (हिरण्यय) तेज सम्पन्न (जनित्रम्) अपने मूलभूत (अक्त) आत्मस्वरूप को (बिभ्रत्) परिपुष्ट करता हुआ (ऋतुथा) प्राणों के बलपर अथवा नियत कालके अनुसार स्वयं (सूर्यस्य) आदित्य के (भानु) कान्ति और तेज का (वसान) धारण करता हुआ (स्वयं) आप से आप (मधु) उस पवित्र परमपुरुष का (परिजज्ञान) ज्ञान कर लेता है मुक्त होजाता है।

(२) (विश्वरूप तन) नाना प्रकार के नर तिर्यक् आदि रूप धारण करने हार जीवात्मारूप ज्योति ने (अप्सु) जलों में (रत) वीर्य रूप होकर (शिश्रिय) आश्रय प्राप्त किया (यत्) पुनः उसके बाद वह (पृथिव्याम्) पृथिवी में (अधि सम्बभूव) गर्भरूप से उत्पन्न हुआ उसके बाद वह (स्व) अपने (माहिमान) सामर्थ्य को (अन्तरिक्ष) अन्तरिक्ष में भी (मिमान) व्यापारित करता हुआ अर्थात् पक्षी या सूर्य रूप से प्रकट होकर (वृष्ण) उस वीर्यसेक्ता सब के पिता (अश्वस्य) परमात्मा के (रत) वीर्य की (कनिक्रदति) महिमा का वर्णन करता है।

(३) वह विश्वरूप अग्नि (यज्ञ) आत्मारूप (दिव) स्वर्ग का (धर्त्ता) धारक और (भुवनस्य) इस लोक की (विश्पति) समस्त देहधारी प्रजाओं का परिपालक, (सहस्रदा) सहस्रों पदार्थों का दाता (शतदा) सैकड़ों पदार्थों का दाता और (भूरिदावा) हरेक वस्तु की बहुतसी मात्रा का दाता अथवा बहुत बार देने वाला (सहस्रा) हजारों (युक्ता) देहों का (वसान) धारण करता हुआ (सूर्यस्य) सूर्य के (भानु) तेज को भी (दाधार) धारण करता है।

यह समष्टि रूप से जीव शक्ति के वर्णन किया है जिसका व्यष्टि रूप से वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस रूप से किया है।

गुणान्वयो य, फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपत्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिप सञ्चरति स्वकर्मभि ॥
अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूप सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्ट ॥
सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्यात्मविवृद्धिजन्म ।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसम्प्रपद्यते ॥
स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति ।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥
अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

[श्वेता० अ० ५]

[१८४६] नाके सुपर्णमुप यत्पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा । हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम् ॥ १ ॥

[१८४७] ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधि नाके अस्थात्प्रत्यङ्चित्रा बिभ्रदस्यायुधानि । वसानो अत्कं सुरभिन्दृशं क स्वाः३ण नाम जनत प्रियाणि ॥ २ ॥

[१८४८] द्रप्सः समुद्रमभि यज्जिगाति पश्यन् गृध्रस्य चक्षसा विधर्मन् । भानुः शुक्रेण शोचिषा चकानस्तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि ॥ ३ ॥ १३ ॥ ऋ० १० । १२३ । ६-८ ॥

भा०—(१) हे (वन) कर्म सन्तान उत्पन्न करने हारे आत्मन् ! कान्तिमन् ! दृष्ट (त्वा) तुझको (यद्) जब (हृदा) हृदय से, मन से (वेनन्तः) कामना करते हुये विद्वान् लोग (अभि अचक्षत) साक्षात् करते हैं तब व

(हिरण्यपक्ष) ज्योति स्वरूप, (वरुणस्य) सबसे वरने योग्य, दुखों के निवारक परमात्मा के (दूत) पास गमन करने हारे और (भुरण्युम्) अपने सामर्थ्यों को धारण करने वाले (शकुनम्) शक्तिमान् तुझ को उस समय (यमस्य) समस्त संसार के नियामक जगदीश्वर के (नाके) दुःखरहित (योनौ) आश्रयस्थान मोक्षपद में (उप पतन्त) विचरण करते हुए (सुपर्णे) उत्तम ज्ञान और कर्म रूप पक्षों के धारक पक्षी के समान (अभ्यचरत) देखते हैं।

(२) (गन्धर्व) गौ=किरणों के धारण करने हारे सूर्य के समान अपनी इन्द्रियों का धारण करने वाला वह वेन=मेधावी आत्मा प्रत्यक्ष रूप से (चित्रा) विचित्र दर्शनीय (आयुधानि) यम नियमादि साधनाओं को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (क) आनन्दमय, सुख रूप (स्वान) सूर्य के समान तेजोमय (नाम) परम रूप को (दृश) देखने के लिये (अधिनाके) मोक्ष मार्ग में (अस्थात्) स्थिति प्राप्त करता है और (प्रियाणि) अपने प्रिय यथेष्ट कामनाओं को (जनयत) उत्पन्न करता है, यथेष्ट विचरता है।

(३) वह ज्ञानी आत्मा (यत्) जब (द्रप्स) स्वयं बहने हारे नद के समान गति करता हुआ (समुद्रम्) उस आनन्द-रस के अगाध समुद्र के समान गभीर परम जगदीश्वर को (जिगाति) प्राप्त होता है या (विधर्मन्) अपने विशेष धारण करने हारे भगवान् की दया में स्थित होकर (गृध्रस्य) इसकी आकांक्षा करने हारे याचक के समान मोक्ष अभिलाषी की (चक्षसा) दृष्टि से (परयन्) अपने स्वामी को देखता है तब वह स्वयं (भानु.) सूर्य के समान (शुक्रेण) शुद्ध (शोचिषा) तेज से (चकान.) देदीप्त होता हुआ (तृतीये) तारण करने हारे, परम, सर्वोत्कृष्ट, (रजसि) प्रकाशमान पद में (प्रियाणि) अपने प्रिय मनोरथों को (चक्र) पूर्ण करता है। इति सप्तम. खण्ड. ।

इति विंशोऽध्यायः समाप्तः ॥

इति नवमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः ।

अथैकविंशोऽध्यायः

अथ नवमप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्ध ॥

ऋषि —१—४ अप्रतिरथ ऐन्द्र । ५ अप्रतिरथ ऐन्द्र प्रथमयो पायुभारद्वाज चरमस्य । ६ अप्रतिरथ पायुर्भारद्वाज, प्रजापतिश्च । ७ शामो भारद्वाज, प्रथमया । ८ पायुभारद्वाज प्रथमस्य, तृतीयस्य च । ९ जय ऐन्द्र. प्रथमस्य, गोतमो राहूगण उत्तरयो ॥ देवता—१, ३, ४ आद्योरिन्द्र चरमस्यमरुत । इन्द्र । बृहस्पति प्रथमस्य, इन्द्र उत्तरयो ५ अध्वा प्रथमस्य, इन्द्रो मरुता वा द्वितीयस्य इषव चरमस्य । ६ ८ लिंगोक्ता सेनामार्गाश्च । ७ ऐन्द्र. प्रथमयो । ९ इन्द्रः प्रथमस्य, विश्वेदेवा उत्तरयो ॥ छन्द —१ ४, ६ त्रिष्टुप् । ५, ८ त्रिष्टुप प्रथमस्य अनुष्टुबुत्तरयो । ६, ७ बृहती चरमस्य, अनुष्टुप् द्वयो ॥ स्वर —१—४, ६ धैवत. । ५, ८ धैवत प्रथमस्य, गान्धार उत्तरयो । ६, ७ पञ्चम चरमस्य, गान्धारो द्वयो ॥

[१८४९] आशुं शिशानो वृषभा न भीमो घनाघन क्षोभणश्चर्षणीनाम् । सङ्क्रन्दनोऽनिमिष एकवीर. शत सेना अजयत्साकमिन्द्र ॥ १ ॥

[१८५०] सङ्क्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना । तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्व युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा ॥ २ ॥

[१८५१] स इषुहस्तै स निषङ्गिभिर्वशी स स्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन । स सृष्टजित्सोमपा बाहुशर्ध्यूऽग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता ॥ ३ ॥ १ ॥ ऋ० १०। १०३। १—३ ॥

भा०—(१) (इन्द्र) ऐश्वर्यशील इन्द्र राजा जिस प्रकार (शिशान) तीक्ष्णमति, (शीशु·) शीघ्रगामी, (वृषभ न भीमः) वृषभ के समान अति भयकर (घनाघन) शत्रुओं को बार २ मारने वाला, (चर्षणीना) मनुष्यों और प्रजाओं को (चाभण) विक्षुब्ध करने कंपा देने हारा, (सक्रन्दन.) शत्रुओं क सुलान वाला या उनको सग्राम के लिये बुलाने वाला, (अनिमिष) आलस्यरहित (एकवीर.) एकमात्र वीर होकर भी (साक) एक साथ ही (शत) सैंकड़ों (सेना·) सेनाएं (अजयत्) विजय कर लेता है उसी प्रकार यह इन्द्ररूप आत्मा (आशु) व्यापक (शिशान) अतिसूक्ष्म, सूक्ष्म २ तत्वों में भी जान के लिये तीक्ष्णमति (वृषभ. न भीम) जिस पकार बैल अपने दोनों सींगों से भय पैदा करता है उसी प्रकार तप और ज्ञान से सबके हृदय में आतङ्क बैठान वाला, (घनाघन) आनन्द का निरन्तर वर्षान के लिये साक्षात् धर्ममघ स्वरूप, (चर्षणीना) पदार्थ देखन हारा, इन्द्रियों को कपाने हारा उनम गति देने हारा, (सक्रन्दन) उत्तम रीति से ईश्वरस्तुति का उच्चारण करने वाला (अनिमिष) आलस्यरहित, निद्रा को भी वशकारी (एकवार) इन्द्रियों में एकमात्र सामर्थ्यवान् हाकर वह (साक) एक साथ ही (शत सना) सैंकड़ों चित्तवृत्तियों को (अजयत्) विजय कर लेता है।

(२) हे (नर) पुरुषा ! आप लोग (सक्रन्दनेन) शत्रुओं को रुलाने वाल (अनिमिषण) आख न झपकने वाल, निरालसी, सावधान, (जिष्णुना) विजयशील, (युत्कारेण) युद्ध करने हारे, (दुश्च्यवनेन) अविचलित रहन हार (धृष्णुना) धैर्यवान् (इषुहस्तेन) धनुष बाण हाथ म लिय, (वृष्णा) बलवान् (इन्द्रेण) राजा से जिस प्रकार शत्रुओं का दबाया जाता है और युद्धों में विजय प्राप्त किया जाता है उसा प्रकार आप लोग स्वराज स भी अधिक कष्टसाध्य मोक्ष को (सक्रन्दनेन)

स्मृतिशील, (अनिमिषया) अनालसी, (जिष्णुना) सब इन्द्रियों विषयों पर नयी, (युक्त्वा) विघातक विघ्नों स युद्ध करन हार (दुश्च्यवनन) साधना स अविचल (धृष्णुना) धैयवान् (हरिहस्तन) ज्ञान का हाथ म लिय (वृष्णा) सुखवषक (इन्द्रेण) इस इन्द्र आत्मा स (तत् सहध्वं) वह सब सहन करो और (युधा) आन वाल आभ्यन्तर शत्रुओं को (जयत) जीत जाओ ।

(३) जैस (स , इन्द्र) वह इन्द्र राजा (हरिहस्तै) धनुष बाण हाथ में लिय सुभटों स (वशी) सब राष्ट्र पर वश करता है उसी प्रकार वह आत्मा भी हरि अर्थात् कामनाओं स प्रीति, मरुत् अर्थात् एकादश प्राणों स समस्त शरीर पर वश करता है और ईश्वर अपन विद्युत् जल वायु एव प्रवहण आदि मरुतों द्वारा समस्त ससार पर वश कर रहा है । (स) वह इन्द्र राजा जिस प्रकार (निषङ्गिभि) बाणों स भर तूणीर तर्कस वाल सुभटों क द्वारा नगर व राष्ट्र का (वशी) विजय करता है उसी प्रकार आत्मा इन्द्र नित्य निरन्तर सङ्ग रहन हार प्राणों द्वारा हा शरीर पर एव परमात्मा प्रतिपरमाणु में व्याप्त पञ्चभूतों द्वारा सब ब्रह्माण्ड पर वश कर रहा है (स इन्द्र) वह इन्द्र राजा जिस प्रकार (युध) युद्ध करन हारा होकर (गणन) अपन सहायक प्रजागण स (सरुद्भि) मिल कर (सस्पृधिन्) अपन विपक्ष में मिल शत्रुसघ का जीत लता है उसी प्रकार वह इन्द्र आत्मा (युध) समस्त दहों का चलाता हुआ (गणन सरुद्भि) अपन प्राणगण स हा इस दह का उत्तम रीति स नियम सयम करक स्वय अपन स विरुद्ध न सङ्गठन किय काम क्रोध लाभ मादि इन्द्रिय व्यसनों को एक बार ही मार लता है । और परमात्मा भी (गणन) प्राकृतिक वैकारिक गण द्वारा समस्त ससार का (मरुद्भि) रचन हारा होकर ही सब ससार क सघ त स बन पदार्थों का अपन वश करता है । और जिस प्रकार राजपुरुषों क साथ राजा सामर्थ्य क प्राप्त करक (शत्रुसंघों)

अपने बाहुबल में उत्कृष्ट होकर (उग्रधन्वा) भयंकर धनुष लेकर (प्रतिहिताभि) फेंके गये बाणों से ही (अस्ता) सब शत्रुओं का नाश करता है उसी प्रकार यह इन्द्र आत्मा (सोमपा) ज्ञान और योगाभ्यास रस का आस्वादन करके प्राण और अपान इन दो बाहुओं के बल से सम्पन्न होकर ओंकाररूप धनुष को तान कर (प्रति हिताभिः) प्रेरित इडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि नाड़ियों से इस देह-बन्धन को शीघ्र ही काट डालता है। और वह परमात्मा भी समस्त संसाररूप सोम या सूर्यरूप सोम का पान या अदान करने, या अपने वश करने हारा अपने प्रेरक बल से सर्वशक्तिमान् उग्ररूप में संसार की कर्म व्यवस्था से सब को धुन डालने हारा होकर अपनी प्रेरित शक्तियों से (अस्ता) संहार करता है।

[१८५२] बृहस्पते परिदीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः।
प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणा युधा जयन्नस्माकमेध्यविता
रथानाम् ॥ १ ॥

[१८५३] बलविज्ञाय स्थविरः प्रवीरः सहस्वान्वाजी सहमान
उग्रः। अभिवीरो अभिसत्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथमा
तिष्ठ गोवित् ॥ २ ॥

[१८५४] गोत्रभिद् गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा। इमं सजाता अनुवीरयध्वमिन्द्रं सखायो अनुसं
रभध्वम् ॥ ३ ॥ २ ॥ ऋ० १० । १०३ । ४७६ ॥

भा०—(१) (बृहस्पते) बृहती, वद वाणी के परिपालक आत्मन्! जिस प्रकार बृहती=बड़ी भारी सेना का स्वामी, सनापति (रक्षोहा) दुष्ट पुरुषों का विनाशक, (अमित्रान्) शत्रुओं का दूर ही से मार भगाता हुआ अपने (रथेन) रथ से युद्धक्षेत्र में चारों ओर परिक्रमा करता है उसी प्रकार हे आत्मन्! तू भी (रक्षोहा) सब समाधिविघातक विघ्नों, काम, क्रोध आदि भावों का विनाश कर। (अमित्रान्) स्नेह वृत्ति के विनाशक, शत्रुभावों के उत्तेजक प्रलोभनों, या द्वेषभावों का वितर्कबाधना द्वारा दूर करता हुआ (रथेन) अपने मन या देहरूप रथ से (परिदाया) परिवार् होकर मोक्ष मार्ग पर गमन कर। और जिस प्रकार सनापति (सेना प्रभञ्जन्) शत्रु सेनाओं को तोड़ता फोड़ता हुआ और (युधा) अपने प्रहारों से (प्रमृणन्) प्रतिहिंसक शत्रुओं को (जयन्) जीतता हुआ अपने पक्ष के रथों का रक्षक होजाता है उसी प्रकार हे बृहस्पते इन्द्र! आत्मन्! तू भी (सेना प्रभञ्जन्) मोह से उत्पन्न दोषवृत्तियों का विनाश करता हुआ (युधा प्रमृण जयन्) प्राणायाम के बल से विरोधी इन्द्रियों को वश करता हुआ (अस्माक) हमारे (रथानाम्) इन देहों का (अविता) परिपालक (एधि) हो।

(२) जिस प्रकार सेनापति (बलविज्ञाय) अपने समस्त सेना सामर्थ्य को भली प्रकार जानता हुआ और साथ ही शत्रुपक्ष को भी जानता हुआ, (स्थविर) पुराना अनुभवी या स्थिर रूप से युद्ध के अवसर पर जमने वाला, (प्रवीर.) सब वीरों में उत्तम सामर्थ्यवान्, (सहस्वान्) शत्रु के आक्रमण को सहन करने हारा, (वाजी) ज्ञान और वेग से युक्त, (सहमान.) शत्रु पर विजय प्राप्त करता हुआ (उग्र) तीक्ष्णस्वभाव होकर (अभिवीर) वीर सुभटों को साथ लिये (अभि (सत्वा) सात्विक बल और तेज को धारण कर (गाविद्) अपने अर्थों

को रामों स सम्भाल कर (जैत्र रथ) विजयशील रथ पर चढ़ता है उसी प्रकार हे (इन्द) आत्मन् ! तू भी (बलविज्ञाय) आत्मिक बल का ज्ञान कर (स्थविर) यागसाधनों अर्थात् मुमुक्षु मार्ग के योग्य तप साधनों में स्थिर रूप स रह कर अथवा पुरातन, तू (प्रवीर) उत्कृष्ट सामर्थ्यवान् होकर (सहस्वान्) सहनशील (वाजा) ज्ञानवान् (सहमान) तपस्वी तितिक्षु (उग्र) तेजस्वी (अभिवीर) चारों ओर अपने सामर्थ्यवान् प्राणों का संग किये (अभिसत्वा) सत्व गुण में प्रतिष्ठित होकर (सहो जा) ओजस्वी और (गाविद्) जितेन्द्रिय, वेदवाणियों का ज्ञानी या आत्मारूप गौ को प्राप्त होकर (जैत्र रथ) मोक्षमार्ग पर विजय करने हारे रथरूप ब्रह्म पर (आ तिष्ठ) आ बैठ, उसी में स्थिर होजा।

(३) जिस प्रकार (गात्रभिद) शत्रुकुलों का नाश करने (गो विद) पृथिवी के विजेता या विद्वान् (वज्रबाहु) वज्र अर्थात् खड्ग हाथ में लिये (अजन जयन्त) संग्राम करते हुए (आतसा) अपने बल से (प्रमृणन्त) शत्रु का नाश करते हुए सेनापति का उसके सहवर्त्ती सहायक लोग और बान्धव लोग प्रोत्साहित करते और उसके साथ ही स्वयं भी उसकी आज्ञा के अनुसार युद्ध करते हैं। उसी प्रकार हे (सजोष) समान आख्यान या नाम से पुकारे जाने वाले इन्द्रियगण और विद्वानों ! हे (सजूर्वा) उसके साथ ही अपना सामर्थ्य प्रकट करने हारे ! आप लोग भी (गात्रभिद) उस देहबन्धन को तोड़ने हारे (गाविद्) आत्मा को या परमेश्वर को प्राप्त करने हारे ज्ञानी, (वज्रबाहु) वैराग्य या ज्ञानरूप तलवार को हाथ में लिये (आतसा) अपने तप और ज्ञान के सामर्थ्य से काम क्रोध आदि अन्तः शत्रुओं का (प्रमृणन्त) मर्दन करते हुए (अजम) चरम प्राप्य स्थान तक (जयन्त) विजय करने हारे (इम) इस (इन्द्रम्) आत्मा के (अनुमादयध्वम्) पाद २ उसकी आज्ञा में रह कर

सामर्थ्यवान् रहा और (अनु सरभ्व) और उसके शासन में ही सब कार्य करो ।

[१८५५] अभिगात्राणि सहसा गाहमानाऽदया वीर शतमन्यु
इन्द्र । दुश्च्यवन पृतनाषाडयुध्योऽअस्माक सेना
अवतु प्रयुत्सु ॥ १ ॥

[१८५६] इन्द्र आसामता बृहस्पतिदक्षिणा यज्ञ पुर एतु सोम ।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतां यन्त्वग्रम् ॥ २

[१८५७] इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्याना मरुता शर्ध उग्रम् । महामनसा भुवनच्यवाना घोषो देवा जय-
तामुदस्थात् ॥ ३ ॥ ३ ॥ अ० १० । १०३ । ६—८ ॥

भा०—(१) जिस प्रकार (इन्द्र) वीर सेनापति या राजा, (गात्राणि अभि) शत्रुकुलों के प्रति चढ़ाई करता हुआ और उनका (सहसा) अपने बल से गाहमान) चारता हुआ, (अदय) उन पर दयाभाव न रखता हुआ, (वीर) वीर सामर्थ्यवान् (शतम यु) सैकड़ों प्रकार से उन पर क्रोध करता हुआ (दुश्च्यवन) शत्रुओं से अविचालित, (पृतनाषाट्) शत्रुसेनाओं का विनाश (युसु) युद्धों में अपनी सेनाओं की रक्षा करता है उसी प्रकार (गात्राणि अभि) देहों के भीतर (सहसा गाहमान) अपने बल के सामर्थ्य से विचरता हुआ (अदय) तरस्वी आदि द्वारा शत्रु के मुख पर विचार न कर निर्दय होकर तप करता हुआ (वीर) सामर्थ्यवान् (इन्द्र) आत्मा (शतम यु) सैकड़ों प्रज्ञानों से युक्त होकर

को रासों से सम्भाल कर (जैत्रं रथ) विजयशील रथ पर चढ़ता है उसी प्रकार हे (इन्द) आत्मन् ! तू भी (ब्रह्मविज्ञायः) आत्मिक बल को जान कर (स्थविरः) योगसाधनों अर्थात् मुमुक्षु मार्ग के योग्य तपः साधनों में स्थिर रूप से रह कर अथवा पुरातन, तू (प्रवीर·) उत्कृष्ट सामर्थ्यवान् होकर, (सहस्वान्) सहनशील (वाजी) ज्ञानवान्, (सहमान·) तपस्वी तितिक्षु, (उग्र·) तेजस्वी, (अभिवीरः) चारों ओर अपने सामर्थ्यवान् प्राणों को लग किये, (अभिसत्वा) सत्व गुण में प्रतिष्ठित होकर (सहोजाः) ओजस्वी और (गोविन्) जितेन्द्रिय, वेदवाणियों को ज्ञानी या आत्मारूप गौ को प्राप्त होकर (जैत्र रथ) मोक्षमार्ग पर विजय करने हारे रथरूप ब्रह्म पर (आ तिष्ठ) आ बैठ, उसी में स्थिर होजा।

(३) जिस प्रकार (गोत्रभिद) शत्रुकुलों का नाश करने, (गो· विदं) पृथिवी के विजेता या विद्वान्, (वज्रबाहु) वज्र अर्थात् खड्ग हाथ में लिये (अजम जयन्त) संग्राम करते हुए (ओजसा) अपने बल से (प्रमृणन्त) शत्रु का नाश करते हुए सेनापति को उसके सहवर्त्ती सहायक लोग और बान्धव लोग प्रोत्साहित करते और उसके साथ ही स्वयं भी उसकी आज्ञा के अनुसार युद्ध करते हैं। उसी प्रकार हे (सखायः) समान आख्यान या नाम से पुकारे जाने वाले इन्द्रियगण और विद्वानों ! हे (सजातः) उसके साथ ही अपना सामर्थ्य प्रकट करने हारो ! आप लोग भी (गोत्रभिदं) उस देहबन्धन को तोड़ने हारे, (गोविदं) आत्मा को या परमेश्वर को प्राप्त करने हारे ज्ञानी, (वज्रबाहु) वैराग्य या ज्ञानरूप तलवार को हाथ में लिये (ओजसा) अपने तप और ज्ञान के सामर्थ्य से काम, क्रोधादि अन्त-शत्रुओं को (प्रमृणन्त) मर्दन करते हुए (अजम) चरम, प्राप्य स्थान तक (जयन्त) विजय करने हारे (इम) इस (इन्दम्) आत्मा के (अनुवीरयन्त) पीछे २ उसकी आज्ञा में रह कर

सामर्थ्यवान् रहो और (अनु सरभध्व) और उसके शासन में ही सब अय करो।

[१८५] अभिगात्राणि सहसा गाहमानोऽदया वीर शतमन्यु
इन्द्र। दुश्च्यवन पृतनाषाडयुध्योऽस्माक सेना
अवतु प्रयुत्सु ॥ १ ॥

[१८५] इन्द्र आसाम्नता बृहस्पतिदक्षिणा यज्ञ पुर एतु साम।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतां यन्त्वग्रम्॥२
[१८५७] इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध
उग्रम्। महामनसां भुवाच्यवानां घोषो देवा जय-
तामुदस्थात् ॥ ३ ॥ ३ ॥ अ० १० । १०२ । ६—८ ॥

भा०—(१) जिस प्रकार (इन्द्र) वीर सेनापति वा राजा, (गात्राणि अभि) शत्रुओं के प्रति चढ़ाई करता हुआ और उनका (सहसा) अपने बल से (गाहमान) घुसता हुआ, (अदय) उन पर दयाभाव न रखता हुआ, (वीर) वीर सामर्थ्यवान्, (शतमन्यु) सैकड़ों प्रकार से उन पर क्रोध करता हुआ। (दुश्च्यवन) शत्रुओं से अविचालित, (पृतनाषाट्) शत्रुसेनाओं का विजेता। (युत्सु) युद्धों में अपनी सेनाओं की रक्षा करता है उसी प्रकार (इन्द्र अभि) दलों के भीतर (सहसा गाहमान) अपने बल से सामर्थ्य से घुसता हुआ (अदय) तरस्या आदि द्वारा शत्रु के सुख पर विचार न कर निर्दय होकर वार करता हुआ (वीर) सामर्थ्यवान्, (इन्द्र) सेना (अवतु यु) सैकड़ों प्रहारों से युद्ध होता

(दुश्च्यवन०) ऋद्धि सिद्धि के प्रलोभनों में न गिरकर, कूटस्थ होकर, (पृतनाषाट्) दुर्वृत्तियों को दबाता हुआ, (अयुध्य) अद्वितीय होकर, (युत्सु) सग्रामों में आसुर और सात्विक भावों के परस्पर सग्राम के अवसरों पर (अस्माक सेना) हमारी सात्विक सेना, उत्तम प्राण वृत्तियों की (प्र अवतु) रक्षा करे ।

(२) (इन्द्रः) जिस प्रकार राजा (आसा) इन मरुद्गण वैश्यों का या वायु के समान चढ़ाई करने में तेज सेनाओं का नेता होता है, उसी प्रकार (इन्द्र) आत्मा मरुद्गण प्राणों का भी नेता है । उसके (पुर०) आगे आगे (बृहस्पति) बृहती=वाक् का पालक मन, राजा के मन्त्री के समान, (दक्षिणा) कार्यकुशल, बलशालिनी क्रियाशक्ति और (यज्ञ०) पूजनीय परमात्मा और (सोम०) सबका प्रेरक प्राण ये आगे २(एतु) चलते हैं । (अभिभञ्जतीनां) असुर सेनाओं का विनाश करने वाली, (जयन्तीनां) असुर वृत्तियों पर विजय करने वाली (देवसेनानां) दिव्यगुणवाली सात्विक वृत्तियों के (अग्रं) आगे २ मुख्य स्थान पर (मरुतः) एकादश प्राण (यन्तु) गमन करते हैं ।

(३) (वृत्र०) सुखों की वर्षा करने हारे सिद्ध, धर्ममेघ समाधि के साधक (इन्द्रस्य) इन्द्र, आत्मा का, (राज्ञ) सबके स्वामी (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ परमात्मा का और (आदित्यानां) १२ आदित्य और (मरुतां) प्राण इनका (उग्र) अति प्रबल । शर्द०) बल सफल हो । (महामनसां) विशाल चित्त एवं ज्ञान के धारणकर्त्ता (भुवनच्यवानां) भुवन अर्थात् देह के बन्धन को नाश करने हारे (जयताम्) आसुरभावों पर विजय करने वाले (देवानां) इन सात्विक साधकों का (घोष०) नाद (उद् अस्थात्) ऊपर उठे ।

धार्मिक राजा और उसकी सेनाओं के विषय में यह मन्त्र स्पष्ट है । परमात्मा पक्ष में भी इन मंत्रों की योजना है । प्रलय काल में तीनों लोकों का विनाश ही त्रिपुरदहन है । उस कल्पना को चित्त में रखकर इस अर्थ कार को लगाना उचित है ।

[१८५८] उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनांसि ।
उद्वृत्रहन्वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः ॥ १

[१८५९] अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता
जयन्तु । अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मां उ देवा
अवता हवेषु ॥ २ ॥

[१८६०] असौ या सेना मरुतः परेषामभ्येति न ओजसा स्पर्धमाना । तां गूहत तमसापव्रतेन यथैतेषामन्यो अन्यं न जानात् ॥ ३ ॥ ४ ॥

आव इव ऋ० १० । १०३ । १० । ११ । यजुः १७ । ४२ । ४१ । तृतीया ऋचोरे नास्ति किन्त्व यजुः १७ । ४१ । अथ० ३ । २ । ६ ॥

भा०—(१) हे (मघवन्) राजन् ! (आयुधानि) युद्ध के साधनों को (उद् हर्षय) ऊंचा कर । (मामकानां) मेरे सम्बन्धी (सत्वनां) सात्विक और बलवान् पुरुषों के (मनांसि) हर्ष को (उत्) हर्षित करो । हे (वृत्रहन्) दुष्ट को घेरने हारे शत्रु के नाशक राजन् ! सेनापते ! (वाजिनां) ज्ञानी पुरुषों और अश्वों के (वाजिनानि) ज्ञानपूर्ण कर्म कौशल और वेगों को (उत्) बढ़ाओ और (जयतां) रथों) विजय-

(दुरस्यवन) ऋद्धि सिद्धि के प्रलोभनों में न गिरकर दूरस्थ होकर, (पृतनायाट्) दुर्वृत्तियों का दबाता हुआ, (शयुभ्य) अदितीय होकर, (युषु) संग्राम में आसुर और सात्विक भावों के परस्पर संग्राम के अवसरों पर (अस्माक सना) हमारी सात्विक सेना उत्तम प्राण वृत्तियों की (प्र अवतु) रक्षा करे ।

(२) (इन्द्र) जिस प्रकार राजा (आमा) इन मरुद्गण वीरों का या वायु के समान चढ़ाई करने में तेज सेनाओं का नेता होता है, उसी प्रकार (इन्द्र) आत्मा मरुद्गण प्राणों का भी नेता है । उसके (पुर) आगे आगे (बृहस्पति) बृहता=वाक् का पालक मन राजा के मन्त्री के समान, (दक्षिणा) कार्यकुशल बलशालिनी क्षितिशक्ति और (यज्ञ) पूजनीय परमात्मा और (साम) सबका प्रेरक प्राण ये आगे २ (एतु) चलते हैं । (आभभञ्जतानां) असुर सेनाओं का विनाश करने वाला, (जयन्तीनां) असुर वृत्तियों पर विजय करने वाली (दवनानां) दिव्यगुणवाली सात्विक वृत्तियों के (अग्रे) आगे २ मुख्य स्थान पर (मरुत) एकादश प्राण (यन्तु) गमन करते हैं ।

(३) (वृष्ण) सुखों की वर्षा करने हारे सिद्ध धर्ममेघ समाधि के साधक (इन्द्रस्य) इन्द्र आत्मा का (राज्ञ) सबके स्वामी (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ परमात्मा का और (आदित्यानां) १२ आदित्य और (मरुतां) प्राण इनका (उग्र) अति प्रबल (शर्ध) बल सफल हो । (महामनसां) विशाल चित्त एवं ज्ञान के धारण करने (भुवनच्यवानां) भुवन अर्थात् देह के बन्धनों का नाश करने हारे (जयताम्) आसुरभावों पर विजय करने वाले (दवानां) इन सात्विक साधकों का (घोष) नाद (उद् अस्थात्) ऊपर उठे ।

धार्मिक राजा और उसकी सभा के विषय में यह मन्त्र स्पष्ट है। परमात्मा पक्ष में भी इन मन्त्रों की योजना है। प्रलय काल में तीनों लोकों का विनाश ही त्रिपुरदहन है। उस कल्पना को चित्त में रखकर इस अलङ्कार को लगाना उचित है।

[१८५८] उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनांसि।
उद्वृत्रहन्वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः ॥१

[१८५९] अस्माकमिन्द्र समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता
जयन्तु। अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मां उ देवा
अवता हवेषु ॥ २ ॥

[१८६०] असौ या सेना मरुतः परेषामभ्येति न ओजसा स्पर्धमाना।
तां गूहत तमसापव्रतेन यथैतेषामन्यो अन्यं
न जानात् ॥ ३ ॥ ४ ॥

आप इव अ० १० । २०३ । १० । ११ । यजु १७ । ४२ । ४३ ।
तृतीया ऋग्वेदे नास्ति किन्तु यजु १७ । ४१ । अथ० ३ । २ । ६ ॥

भा०—(१) हे (मघवन्) राजन्! (आयुधानि) युद्ध के साधनों को (उद् हर्षय) ऊंचा कर। (मामकानां) मेरे सम्बन्धी (सत्वनां) सात्विक और बलवान् पुरुषों के (मनांसि) हृदयों को (उत्) हर्षित कर। हे (वृत्रहन्) दुष्टों को दण्ड देने वाले शत्रु के नाशक राजन्! सेनापते! (वाजिनां) ज्ञानी पुरुषों और अश्वों के (वाजिनानि) ज्ञानयुक्त कर्म (रथानां) रथों के (उत्) बढ़ावा और (जयतां) रथों के (यन्तु) विजय-

शील रथों के (घोषा) नाद (उद्) ऊंचे उठें। इसी प्रकार अध्यात्म पक्ष में—(मघवन् आयुधानि उद्हर्षय) हे परमात्मन्! या आत्मन्! हमारी दुष्टवृत्तियों से युद्ध करने के, या उनको प्रहार करके निकाल भगाने के साधनों को उद्यत करो। (मामकाना सत्वना मनांसि उत्) मेरे निजी बलशाली सात्विक प्राणों को उत्तम बलयुक्त करो। हे (वृत्र-हन्!) (वाजिना वाजिनानि उत्) अज्ञान आवरणों के विनाशक प्रकाश-स्वरूप आत्मन्! इन्द्रियों की सविद् शक्तियों को बढ़ाओ। (जयता रथाना घोषा., उत्) विजयशील सिद्ध आत्माओं के घोष, वेदपाठ और स्तुतियां भी उच्च स्वर से हों।

(२) (इन्द्रः) राजा (अस्माक ध्वजेषु समृतेषु) हमारे झण्डे जब शत्रुओं के झण्डों में जा मिलें तब भी हमारी रक्षा करें। (अस्माक या इषव ता जयन्तु) हमारे जो बाण हैं वे ही विजयशील हों।। अस्माक वीरा., उत्तरे भवन्तु) हमारे वीर उत्कृष्ट बलशाली विजयी रहें। (देवाः हवेषु अस्मान् उ भवन्तु) देव=दिव्य शस्त्रधारी विद्वान् सेनापति-गण युद्धों में भी हमारी रक्षा करें। अध्यात्मपक्ष में—(इन्द्र) आत्मा (अस्माक) हमारे (ध्वजेषु) प्राणों के (समृतेषु) परस्पर संगत हो जाने पर रक्षा करे, (या') जो (इषव') मानसवृत्तियां हैं (ता.) वे (जयन्तु) बलवान् हों। (अस्माक वीरा) हमारे प्राणरूप बलशाली योद्धा (उत्तरे) उत्कृष्टतर होकर रहें। (देवा.) विद्वान् लोग या इन्द्रिय शक्तियां (हवेषु) ईश्वर की उपासना के अवसरों में (अस्मान्) हमें (अवन्तु) बुरे मार्ग में जाने से बचावें।

(३) (हे (मरुत) वायु के समान वेगवान् वीरो या मारनेहारी विपैली गैसो! (असौ या परेषां सेना) यह जो शत्रुओं की सेना (नः ओजसा स्पर्धमाना) बल से हमारे साथ स्पर्धा करती हुई (अभ्येति)

हमारी तरफ बढ़ती चली आ रही है (ता) उसका (अपगतन तमसा गूहत) क्रियाशक्ति का नष्ट करनहार तम या मूर्छा से ढक दो (यथा अमी अन्यो अन्य न जानान्) जिससे व एक दूसरे को न पहचान सकें, इसी प्रकार अध्यात्मपक्ष में—हे (मरुत) प्राणो ! (असौ) यह (या) जो (सेना) मोहादि वृत्तियों की परम्परा (परषा) प्रलोभना की अपने आत्मा से अतिरिक्त अन्य अनात्म पदार्थों का (आजसा) आत्मा के बल से प्रतिस्पर्द्धा करती हुई, उसके बल या तेज पर आवरण डालती हुई (अभ्यैति) साक्षात् आरही है और मुग्ध कर रही है (ता) उसको (व्रतेन) कर्म और ज्ञान के दृढ़ सकल्प द्वारा (तमसा) उसको शिथिल कर डालने वाले बल से (अप गूहत) दूर करदो । (यथा जिससे (अन्य.) एक अनात्मभाव (अन्य) दूसरे भाव को (न जानात्) न उत्पन्न करे ।

[१८६१] अमीषा चित्त प्रतिलोभयन्ती गृढाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभिप्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् ॥ १ ॥

[१८६२] प्रेतो जयता नर इन्द्रो व शर्म यच्छतु ।
उग्रा व सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथाऽसथ ॥ २ ॥

[१८६३] अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।
गच्छामित्रान्प्रपद्यस्व मामीषां कं च नोच्छिषः ॥३॥५॥

आद्ये ऋचौ, ऋ० १० । १०२ । १२, ११ ॥ आद्या, यजु० १७ । ४५ ॥
द्वितीया यजु० १७ । ४७ ॥ तृतीया ऋ० ६ । ७५ । १६ ॥ यजु० १७ । ४२ ॥

भा०—(१) (अमीषा) इन शत्रुओं के (चित्त) चित्त को (प्रति लोभयन्ती) विमोहित करती हुई हे (अप्वे) पापप्रवृत्ते ! व्याधे ! या हे भीति ! (अङ्गानि) उनके अङ्गों को (गृहाण) पकड़ ले अर्थात् उनके शरीरों का नाश करदे । (अभिप्रेहि) उनतक पहुंच और (हृत्सु) हृदयों में प्रवेश करके उनको (शोकैः) शोकों द्वारा (निर्दह) जला । (अमित्राः) शत्रुगण (अन्धेन तमसा) अन्धकारमय मोह से (सचन्ताम्) युक्त हो जाय । अध्यात्मपक्ष में—हे पापप्रवृत्ते ! (अप्वे) कुमार्ग से दूर हटाने वाली । (अमीषां) इन हमारे प्राणों के (चित्तं) चेतन सामर्थ्य को (प्रतिलोभयन्ती) प्रलोभन करती हुई तू (अंगानि) हमारे अंगों, शरीरों को (गृहाण) ग्रहण करती है । अतः (परेहि) तू दूर हट जा । और तू स्नेह न करने हारे, द्वेष करने वाले पुरुषों के पास (अभिप्रेहि) जाती है और उनको (शोकैः) शोकों द्वारा (हृत्सु) हृदयों में (निर्दह) दाह उत्पन्न करती है, इसलिये (अमित्राः) द्वेषभावों से युक्त पुरुष ही (अन्धेन तमसा) अन्धकार और मोह से (सचन्ताम्) घिर जाते हैं ।

(२) हे (नरः) नेता लोगो ! (प्रेत) आगे बढ़ो (जयत) और विजय करो । (वः) आप लोगों को (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील परमात्मा (शर्म) सुख और शान्ति (यच्छतु) दे । (वः) आप लोगों की (बाहवः) बाहुएं (उग्राः) उग्र बलवान् (सन्तु) हों (यथा) जिससे (अनाधृष्याः) आप लोग किसी के भी वशीभूत, अपमानित न (असथ) होवें ।

(३) हे इषो ! हे (शरव्ये) शरकाण्ड के बने बाण ! हे (ब्रह्मसंशिते) मन्त्र द्वारा तीक्ष्ण किये गये ! (अवसृष्टा) तू छोड़ी जाकर (परापत) दूर जा । और (अमित्रान्) शत्रुओं का (प्र पतस्व) पहुंच और

(अमीषां) उनमें से (कंचन) किसी को भी (मा) मत (उच्छिषः) बचा रहने दे । अध्यात्मपक्ष में—हे (शरव्ये) अज्ञान के नाश करने वाली, हे (ब्रह्मसंशिते) ब्रह्मज्ञान या ब्रह्मोपासना से तीक्ष्ण की हुई आत्मशक्ति ! (अवसृष्टा) युक्त होकर (परा) इस देहबन्धन से दूर मोक्षधाम में (पत) चली जा और (गच्छ) ज्ञान प्राप्त कर, (अमित्रान्) मोहादि शत्रुओं और बाधक अन्तरायों को भी (प्रपथस्व) प्राप्त कर । (अमीषां) उनमें से भी (कंचन) किसी एक को भी (मा उच्छिषः) शेष न रहने दे ।

तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः ।
तदेतत्सत्यं तदमृतं तद् वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ॥
धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं संधयीत ।
आयम्य तद् भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि ॥
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत् ॥ (मुण्डक २ । २, ३, ४)

मुण्डक उपनिषद् में ब्रह्म को वेधन योग्य लक्ष्य मानकर उसको वेध करने के लिये औपनिषद्, ब्रह्मविद्यामय धनुष्, उपासना की शाण पर चढ़ा आत्मा रूप बाण और प्रणव ओंकार रूप धनुष् से निष्प्रमाद होकर छोड़ने पर ब्रह्ममय होजाने का उपदेश किया है ।

[१८६४] कङ्का॰ सुपर्णा अनुयन्त्येनान् गृध्राणामन्नमसावस्तु सेना । मैषां मोच्यघहारश्च नेन्द्र वयांस्येनाननुसंयन्तु सर्वान् ॥ १ ॥

३　　१ २ ३　　१ २ ३ २ ३ २
[१८६५] अनित्रसेना मघवन्नस्माञ्छत्रूयतीमभि ।
३ १२ २१ २　　३ १ २　　३ १ २
उभौ तस्मिन्द्र वृत्रहञ्जह्येथ दहतं प्रति ॥ २॥
१ २　३ २　३ १ २　　३ १ २ ३ १ २
[१८६६] यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव ।
१ २　३ १ २ ३ २ ३　२ ३　१ २
तत्र नो ब्रह्मणस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु ॥
३　२ ३ २ २
विश्वाहा शर्म यच्छन्तु ॥ ३ ॥ ६ ॥

आधे ऋग्वेदे न स्तः । तत्र द्वितीया अथर्व० ३ । १ । ३ ॥

तृतीया च० ३ । ७१ । १७ ॥ यजु० २७ । ४८ ॥

भा०—(१) (सुपर्णाः) उत्तम पक्ष वाले (कंकाः) गीध (एना) इन शत्रुओं पर (अनु यन्तु) जा दौड़ें । (असौ सेना) वह शत्रुसेना (गृध्राणां) गीधों का (अन्नम्) भोज्य (अस्तु) हो । हे इन्द्र ! राजन् (एषां) इनमें से कोई भी (मा मोचि) न बच रहे और (अवहारश्च) कोई पापी भी (न) न छूट जाय (एनान् सर्वान्) इन सब पर (वयांसि) गीध और कौवे ही (अनु संयन्तु) आ लगें ।

अध्यात्म पक्ष में—(सुपर्णाः) उत्तम ज्ञान वाले, (कंकाः) सुखाभिलाषी पुरुष (एनान्) अन्तः-शत्रुओं, ब्रह्मविद्या के विघ्नों के (अनुसंयन्तु) पीछे लग जावें ! अर्थात् उनका निर्मूल नाश किये बिना न छोड़ें। (असौ सेना) यह दुष्ट वासनाओं की सेना (गृध्राणाम्) गृध्र के समान उत्पतनशील प्राणों के (अन्नम्) भोज्य बने अर्थात् प्राणों के विरोध से उनका नाश किया जाय । (एषां मा मोचि) इन पापभावों में से एक भी न छूट जावे । हे इन्द्र ! आत्मन् ! (अवहारश्च न) पाप का भागी

१८६४—२. त्व युवं 'तामिन्द्र वृत्रहन्' इति अथर्व० ।

भी कोई विचार शेष न रह जाय । (वयासि) गतिशील प्राण भी (एनान्) इनको (अनु सय तु) पीछा करके सर्वनाश करें ।

(२) हे (मघवन्) इन्द्र ! राजन् ! (अस्मान्) हमारे प्रति (अभि शत्रुयतीम्) साक्षात् शत्रुरूप होकर चढ़ाई करती हुई (ताम्) अत्यन्त बलवती (अमित्रसेना) शत्रु सेना का आप (अग्नि च) और अग्नि अग्रणी दोनों मिलकर (प्रति दहत) भस्म कर डालो । अध्यात्मपक्ष में- हे (इन्द्र) वृत्रहन् ! अज्ञाननाशक ! मघवन् ज्ञानवन् पुरुष ! तुम उस अमित्र-द्वेषभावों की परम्परा को अग्निरूप परमात्मा से मिलकर भस्म करदो ।

(३) (यत्र) जहां (विशिखा) शिखारहित (कुमारा इव) बालकों के समान (बाणा) बाण (सम्पतन्ति) पड़ रहे हों (तत्र) वहां (ब्रह्मणस्पति) वेद का विद्वान्, परमेश्वर (अदिति) अखण्डित सामर्थ्यवान् होकर हमें (शर्म) शान्ति और सुख (यच्छतु) प्रदान करें और (विश्वाहा) सदा (शर्म यच्छतु) कल्याण करें ।

[१८६७] वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज ।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासत ॥ १ ॥

[१८६८] वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यत ।
यो अस्मां अभि दासत्यधर गमया तम ॥ २ ॥

[१८६९] इन्द्रस्य वाहू स्थविरौ युवानावनाधृष्यौ सुप्रतीकाव
सह्यौ । तौ युञ्जीत प्रथमौ योग आगत याभ्यां जित
मसुराणां सहो महत् ॥ ३ ॥ ७ ॥

आव दे अ० १० । १४२ । ३ । ४ ॥ तृतीया ऋग्वेदे नास्ति ।

भा०—(१) हे इन्द्र ! हे वृत्रघन् ! (रक्षः) राक्षस पुरुष को (वि जहि) विनाश कर। और (मृध विनाहि) हमारे उत्तम द्रव्यों पर लोभ करने हारे पुरुषों का भी विनाश कर। (वृत्रस्य) हमें घेर कर नाश करने हारे विघ्नरूप शत्रु के (हनू) आघातकारी उन दाढ़ों को (वि रुज) तोड़ डाल, जिन्हें वे हमारे ऊपर गड़ाना चाहता है। और (अभिदासतः) हमारे नाश करने हारे और हमें दास की तरह पराधीन करने वाले (अमित्रान्) आभ्यन्तर व्यसनों के समान शत्रुओं के (मन्युं) अभिमान और क्रोध को भी (वि) विनाश कर।

(२) हे (इन्द) परमेश्वर ! (नः) हमारे (मृधः) शत्रुओं को (वि जहि) नाशकर और (पृतन्यतः) अपनी सेनाएं बढ़ाना चाहने वाले लोगों को भी (अधा वधैः) नीचे डाल दे। (यः) और जो (अस्मान्) हमें (अभिदासति) सब प्रकार से विनाश करता या दास के समान पराधीन करता है उसको (तमः) तृष्णा में या अन्धकार में (गमय) डाल। अध्यात्म पक्ष में—आभ्यन्तर शत्रुओं को इन्द्र आत्मा नाश करे। हृदय का स्पर्श करने वाले दुर्भावों का नियमन करे और विनाशक मोहादि भावों को दूर करे।

(३) (इन्द्रस्य) राजा के समान इस आत्मा की (युवानौ) जवानी भरी सदा बलवान् (स्थविरा) मजबूत, पक्की, सदा स्थिर रहने वाली, (अनाधृष्यौ) कभी पराजित न होने वाली (सुप्रतीकौ) उत्तम रीति से शत्रु का मुकाबला करने वाली, (असह्यौ) शत्रुओं के लिये असह्य (बाहू) उनको पीड़ा देने हारी, प्राण और अपान दो बाहुएं हैं (प्रथमे) प्रारम्भ में ही (योगे आगते) संग्राम के समान कठिन, श्रमदायी योग समाधि के अवसर प्राप्त होने पर (तौ) उन दोनों को उचित रीति से (युञ्जीत) समाधि साधना में प्रयोग करे, अर्थात् चित्तवृत्ति के स्थिर करने के लिये प्राणायाम का अभ्यास करे। (याभ्यां) जिनसे (असुराणां) अन्य प्राणों का (महत्) बड़ा भारी (सहः) बल (नितम्) वश किया जाता है।

[१८७०] मर्माणि ते वर्मणाच्छादयामि सोमस्त्वा राजामृतनानु-
वस्ताम् । उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा
मदन्तु ॥ १ ॥

[१८७१] अन्धा अमित्रा भवताशीर्षाणोऽहय इव ।
तेषां वो अग्निनुन्नानामिन्द्रो हन्तु वरं वरम् ॥ २ ॥

[१८७२] यो न स्वोऽरणो यश्च निष्ट्यो जिघांसति । देवास्तं सर्वे
धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरं शर्म वर्म ममान्तरम् ॥३॥८॥

प्रथमा तृतीया च ऋ० ६ । ७५ । १८ । १९ ॥ तृतीया अथर्व० २ । १६ ॥
३ ५ । एतयो पूर्वोत्तरार्धे । द्वितीया ऋग्वेदे नास्ति ॥

भा०—(१) (ते) तेरे (मर्माणि) कोमल मर्मों को (वर्मणा) कवच से (आच्छादयामि) ढकता हूं । (सोम राजा) दीप्तिमान् राजा के समान सबका प्रेरक सोम, परमेश्वर (अमृतेन) अमर आत्मशक्ति से (अनु वस्ताम्) और भी सुरक्षित करे । (वरुण) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर (ते) तुझे (उरोर्वरीय) अधिक से अधिक वरणीय उत्तम सुख (कृणोतु) उत्पन्न करे । (जयन्तं) चरम मोक्ष को प्राप्त होते हुए (त्वा) तुझको देखकर (देवा) विद्वान् लोग (अनु मदन्तु) हर्षित हों ।

(२) हे (अमित्रा) द्वेषभाव रखने हारे शत्रुओ ! तुम लोग (अशीर्षाणः) बिना दिमाग के, बिना सिरके, धड़ (अहय इव) सांपों

१८७०—३ यो न स्वो यो अर... [illegible] सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म [illegible] (३ । १२ । ८) इत्यपि,

क समान (अन्धा भवत) अन्धे, अविवेकी होजाओ। (अभितुग्राना) अपने ही क्रोध की आग से फुके हुए, (तेषा) उनके (वर वर) उत्तम २ पुरुष या शिर को (इन्द) राजा, प्रभु नाश करे।

(३) (य) जो (न) हमारा (स्व) सम्बन्धी होकर भी या स्वय (अरण) अप्रियाचरण करने वाला है और जो (निष्ट्य) दूर रहकर भी छुरा से (न) हमें (जिघासति) मारना चाहता है (त) उसक (सर्व) समस्त (दवा) विद्वान् पुरुष (धूवेन्तु) विनाश कर। (ब्रह्म) वेदज्ञान और परमेश्वर (मम) मेरा (अन्तर) भीतरी (वर्म) कवच या रक्षासाधन है। (शर्म) वह सुखकारी, आनन्दघन सब का शरण दाता है (मम) मेरा (अन्तरम्) भीतर का एकमात्र रक्षक साक्षी है।

[१८७३] मृगो न भीम कुचरो गिरिष्ठा परावत आ जगन्था
परस्या । सृक सं शाय पविमिन्द्र तिग्म वि शत्रू ताढि
वि मृधो नुदस्व ॥ १ ॥

[१८७४] भद्र कर्णेभि शृणुयाम देवा भद्र पश्येमाक्षभिर्यजत्रा. ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभि र्व्यशेमहि देवहित यदायु ॥

[१८७५] स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्ति न पूषा विश्ववेदा ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ३ ॥ ६ ॥

ऋ० अ० १० । ९८० । २ ॥ उत्तर ऋ० अ० १ । ८६ । ८, ६ ।

भा०—(१) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! आप (गिरिष्ठा. कुचर मृग न भीम) पर्वतों में रहने वाले, दुर्गम स्थान में विचरण करने वाले, जगत्

हिंसक हाथी या सिंह के समान भयकारी एवं आप (मृग) योगियों से भीतरी गुफा में खोजने योग्य, या आत्म-परिशोधन करने योग्य हैं, आप (कुचरः) कहां नहीं व्यापक हो ? अर्थात् सर्वव्यापक हो। आप (गिरिष्ठाः) विद्वानों, वाणियों एवं वेदमन्त्रों में शब्द और उसके अर्थ रूप में विद्यमान हो और साथ ही सबके ऊपर शासक होने से सब के भयप्रद हो। (आ परस्या परावत) दूर से दूर देश, अलभ्य मुक्तिधाम से हमारे हृदयों तक या परा ब्रह्मविद्या के भी (परावत.) निगूढ परम रहस्यमय भाग से आप (आजगन्थ) आते हो, या प्रकट होते हो। हे (इन्द्र) परमात्मन् (सृक) प्रसरणशील (तिग्म) तेजोमय, तीक्ष्ण (पविम्) परमपावन ज्ञानवज्र को (सशाय) अति तीक्ष्ण करके (शत्रून्) अन्तः-शत्रुओं को राजा के समान (वि तार्दि) विनाश करो और (मृध) हमारा सर्वस्व अपहरण करनहार डाकुओं के समान तामस भावों को (वि नुदस्व) परे करो, दूर हटाओ।

(२) हे (देवा) विद्वान् पुरुषो ! हम सब (कर्णेभिः) कानों से (भद्र) कल्याणकारी, एवं सदा सुखपूर्वक उत्तम उपदेशकों को (शृणुयाम) श्रवण करें। और हे (यजत्रा) सदा यज्ञ आदि धर्मकार्यों का अनुष्ठान करनहार भद्र पुरुषो ! हम सब (अक्षभि.) आंखों से (भद्र) सुखकारी एवं कल्याणकारी पदार्थों का (पश्येम) दर्शन करें और (तुष्टुवांस) ईश्वर का भजन एवं सत्य का वर्णन करते हुए (स्थिरै.) दृढ (अंगै) अंगों और (तनूभिः) दृढ शरीरों से (यद्) जो (आयु) आयु (दधहित) विद्वानों के हित में लगे या दत्त, परमात्मा जो दीर्घ आयु प्रदान करता उस दीर्घ ११६ या १२० वर्ष या इससे भी अधिक आयु का हम (वि अशमहि) भोग करें।

(३) (बृहद्रथा) महान्, यशस्वी और ज्ञानवान् (इन्द्र) परमेश्वर (न) हमारा (स्थविरो दधातु) कल्याण करे। (विश्ववेदा.) सर्वज्ञ,

सब पदार्थों का स्वामी, (पूषा) सब संसार का पालक पावक परमात्मा (न स्वस्ति दधातु) हमारा कल्याण करे। (अरिष्टनेमिः) जिसके काल-रूप महान् शासन का कोई विनाश नहीं करता वह (तार्क्ष्य) सर्व शक्तिमान् परमेश्वर (न स्वस्ति दधातु) हमारा कल्याण करे। (बृहस्पति) वेदवाणी का पति स्वामी पालक परमात्मा (न स्वस्ति दधातु) हमारा कल्याण करे।

॥ आऽइम् ॥ स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।

वेद भगवान् का स्वामी भगवान् हमारा सदा कल्याण करे।

इति तृतीयाऽऽर्भवपाठक नवमश्च प्रपाठक समाप्त ॥

इत्युत्तरार्चिक समाप्त ॥

इति सामवेदसंहिता समाप्ता ॥

रागस्त्वङ्मन्द्रन्द पष्ठ्या पौषे सिते शनौ ।
आलोकमाद्य वेदस्य साम्नोऽधिमुपागमत् ॥

इति श्रीला[illegible]गुरुकुलविश्वविद्यालय प्रतिष्ठिविद्यालंकारपदवीविभूषितेन
[illegible]विद्यालयस्थमीमांसासाहित्याध्यापकेनगुरुकुलप्रवर्तक
श्रीपरमपरिव्राजकाचार्य १०८ पूज्यपाद महर्षि दयानन्द
सरस्वतीशिष्येण श्री १०८ स्वामिश्रद्धानन्दसरस्वती
शिष्येण पौत्रेण [illegible]यणाचार्यवर्येण श्रीपण्डितसत्यव्रतशर्मणा
विरचिते [illegible]ख्यसामवेदभाष्याभाष्ये नवमप्रपाठ-
कस्योत्तरार्चिकभाष्यं पूर्तिमागात् ॥
समाप्तोऽयं सामवेदसंहिताऽऽर्चभाष्यम् ॥